ॐ

उपनिषद्-भाष्य

(सानुवाद)

खण्ड २

छान्दोग्योपनिषद्

(सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित)

गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ

छान्दोग्योपनिषद्

(सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित)

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९४ प्रथम संस्करण ४०००
सं० २०११ द्वितीय संस्करण ३०००

मूल्य ३॥।) तीन रुपया बारह आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

प्रस्तावना

छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। केनोपनिषद् भी तलवकारशाखाकी ही है। इसलिये इन दोनोंका एक ही शान्तिपाठ है। यह उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी वर्णनशैली अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म तथा उपासनाओंका बड़ा विशद और विस्तृत वर्णन है। यद्यपि आजकल औपनिषद कर्म और उपासनाका प्रायः सर्वथा लोप हो जानेके कारण उनके स्वरूप और रहस्यका यथावत् ज्ञान इने-गिने प्रकाण्ड पण्डित और विचारकोंको ही है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके मूलमें जो भाव और उद्देश्य निहित है उसीके आधारपर उनसे परवर्ती स्मार्त कर्म एवं पौराणिक और तान्त्रिक उपासनाओंका आविर्भाव हुआ है।

अद्वैतवेदान्तकी प्रक्रियाके अनुसार जीव अविद्याकी तीन शक्तियोंसे आवृत है, उन्हें मल, विक्षेप और आवरण कहते हैं। इनमें मल अर्थात् अन्तःकरणके मलिन संस्कारजनित दोषोंकी निवृत्ति निष्काम कर्मसे होती है, विक्षेप अर्थात् चित्तचाञ्चल्यका नाश उपासनासे होता है और आवरण अर्थात् स्वरूपविस्मृति या अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। इस प्रकार चित्तके इन त्रिविध दोषोंके लिये ये अलग-अलग तीन ओषधियाँ हैं। इन तीनोंके द्वारा तीन ही प्रकारकी गतियाँ होती हैं। सकामकर्मी लोग धूममार्गसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः जन्म लेते हैं। निष्कामकर्मी और उपासक अर्चिरादि मार्गसे अपने उपास्यदेवके लोकमें जाकर अपने अधिकारानुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन दोनों गतियोंका इस उपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है। इन दोनोंसे अलग जो तत्त्वज्ञानी होते हैं उनके प्राणोंका उत्क्रमण (लोकान्तरमें गमन) नहीं होता; उनके शरीर यहीं अपने-अपने तत्त्वोंमें लीन हो जाते हैं और उन्हें यहाँ ही कैवल्यपद प्राप्त होता है।

अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही है; इस विषयमें 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'अथ

येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' आदि बहुत-सी श्रुतियाँ प्रमाण हैं। निष्काम कर्म और उपासना मल और विक्षेपकी निवृत्ति करके ज्ञानद्वारा मुक्ति देते हैं। ज्ञानसे ही आत्मसाक्षात्कार होता है और फिर उसकी दृष्टिमें संसार और संसारबन्धनका अत्यन्ताभाव होकर सर्वत्र अशेष-विशेष-शून्य एक अखण्ड चिदानन्दघन सत्ता ही रह जाती है। इस प्रकार जब उसकी दृष्टिमें प्रपञ्च ही नहीं रहता, तब अपना पञ्चकोशात्मक शरीर और उसके स्थिति या विनाश ही कहाँ रह सकते हैं तथा उसके लिये जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भी प्रश्न नहीं रहता; वह तो नित्य मुक्त ही है। उसके इस वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण अन्य लोग उसमें जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका आरोप करते हैं; वह मुक्त होता नहीं, मुक्तस्वरूप ही है। श्रुति कहती है 'विमुक्तश्च विमुच्यते'।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि यद्यपि मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही है तथापि ज्ञानप्राप्तिका अधिकार प्रदान करनेवाले होनेके कारण कर्म और उपासना भी उसके साधन अवश्य हैं। इस शाखामें कर्मनिरूपण पहले किया जा चुका है; अब आत्मज्ञानका निरूपण करना है, इसीलिये यह उपनिषद् आरम्भ की गयी है। इसमें भी तत्त्वज्ञानमें उपयोगी होनेके कारण पहले भिन्न-भिन्न उपासनाओंका ही वर्णन किया गया है। इस उपनिषद्में कुल आठ अध्याय हैं, जिनमेंसे पहले पाँच अध्यायोंमें प्रधानतया उपासनाओंका वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायोंमें ज्ञानका।

इसमें उपासना और ज्ञान दोनों ही विषयोंका बड़ा सुन्दर विवेचन है। उन्हें सुगमतासे समझानेके लिये जगह-जगह कई आख्यायिकाएँ भी दी गयी हैं, जिनसे उन विषयोंके हृदयंगम होनेमें सहायता मिलनेके अतिरिक्त कई प्रकारकी शिक्षाएँ भी मिलती हैं। प्रथम अध्यायमें इभ्यग्राममें रहनेवाले उषस्तिकी कथा है। उषस्ति यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डमें बहुत कुशल थे। एक बार कुरुदेशमें, जहाँ वे रहते थे, ओले और पत्थरोंकी वर्षा होनेके कारण ऐसा अकाल पड़ा कि उन्हें कई दिनोंतक निराहार रहना पड़ा। जब प्राणसंकट उपस्थित हुआ, तब उन्होंने एक हाथीवानसे जाकर कुछ अन्न माँगा।

उसके पास कुछ उड़द थे; परंतु वे उच्छिष्ट थे, इसलिये उन्हें देनेमें उसे हिचक हुई। परंतु उषस्तिने उन्हींको माँगकर अपने प्राणोंकी रक्षा की। जब वह उच्छिष्ट जल भी देने लगा तो उन्होंने 'यह उच्छिष्ट है' ऐसा कहकर निषेध कर दिया। इसपर जब हाथीवानने शङ्का की कि क्या जूठे उड़द खानेसे उच्छिष्ट-भोजनका दोष नहीं हुआ? तो वे बोले—

'न वा अजीविष्यमिमानखादन्····कामो मे उदपानम्'

अर्थात् इन्हें खाये विना मैं जीवित नहीं रह सकता था, जल तो मुझे इच्छानुसार सर्वत्र मिल सकता है। इस प्रकार उच्छिष्ट जलके लिये निषेध करके उन्होंने यह आदर्श उपस्थित कर दिया कि मनुष्य आचारसम्बन्धी नियमोंकी उपेक्षा भी तभी कर सकता है जब कि उसके बिना प्राणरक्षाका कोई दूसरा उपाय ही न हो।

प्रथम अध्यायमें जो शिलक, चैकितायन और प्रवाहणका संवाद है तथा पञ्चम अध्यायमें जो उद्दालकके साथ प्राचीनशालादि पाँच महर्षियोंने राजा अश्वपतिके पास जाकर वैश्वानर आत्माके विषयमें जिज्ञासा की है, उन दोनों प्रसंगोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि सनातन शिष्टाचारके अनुसार उपदेश देनेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है; परंतु यदि कोई उत्कृष्ट विद्या किसी अन्य द्विजातिके पास हो तो भी ली जा सकती है। किसी भी कल्याणकारिणी विद्याको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको कितने त्याग, तप, सेवा, सत्य और विनय आदिकी आवश्यकता है—यह बात कई आख्यायिकाओंमें प्रदर्शित की गयी है। राजा जानश्रुतिने संवर्गविद्याकी प्राप्तिके लिये गाड़ीवाले रैक्वका तिरस्कार सहा और उन्हें बहुत-सा धन, राज्य एवं अपनी कन्या देकर भी उस विद्याको ग्रहण किया। इन्द्रने आत्मविद्याकी प्राप्तिके लिये एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया, सत्यकाम जाबालने जब अपने गुरु हारिद्रुमत गौतमसे उपनयनके लिये प्रार्थना की और उन्होंने उसका गोत्र पूछा तो उसने उस विषयमें अपने अज्ञानका कारण स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया; उसके इस स्पष्ट कथनसे ही आचार्यको निश्चय हो गया कि यह ब्राह्मण ही है और उन्होंने उसे दीक्षा दे दी। फिर सत्यकामने गुरु-सेवाके प्रभावसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ली। सत्यकाम आचार्य हारिद्रुमतके पास विद्याध्ययनके लिये गया था; आचार्यने उसका

उपनयन कर उसे चार सौ गौएँ देकर आज्ञा दी कि इन्हें जंगलमें ले जाओ; जबतक इनकी संख्या बढ़कर एक सहस्र न हो जाय तबतक मत लौटना। बालक सत्यकामने गुरुजीके इस आदेशका प्राणपणसे पालन किया और केवल गोचारणद्वारा ही उसे गुरुकृपासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। जिस समय वह गौओंको लेकर गुरुजीके पास आया उस समय उसके तेजको देखकर उन्हें भी कहना पड़ा—

'ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशास'

'हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा जान पड़ता है, तुझे किसने उपदेश दिया है ?' इसी प्रकार सत्यकामके शिष्य उपकोसलको भी नियमानुसार अग्निहोत्र करते-करते ही गुरुकृपासे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हो गयी। इन दृष्टान्तोंका आशय यही है कि जिस पुरुषका जिस समय जो कर्तव्य है उसे उस समय सर्वथा उसीको यथावत् रूपसे पालन करना चाहिये। अपने कर्त्तव्यका यथोचित रीतिसे पालन करना ही कल्याणकारक है।

सप्तम अध्यायमें सनत्कुमार और नारदका संवाद है। देवर्षि नारदजी आत्मज्ञानकी जिज्ञासासे सनत्कुमारजीकी शरणमें जाते हैं। सनत्कुमारजी पूछते हैं—'तुम मुझे यह बतलाओ कि कौन-कौन विद्याएँ जानते हो ? उससे आगे मैं उपदेश करूँगा।' नारदजी कहते हैं-'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षा, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड और संगीतविद्या—ये सब जानता हूँ।' इतनी विद्याएँ जाननेपर भी नारदजीको शान्ति नहीं है; शान्ति मिले कैसे ? किसी राजाको राज्य, वैभव, स्त्री, पुत्र और सम्मानादि सभी प्राप्त हों, परंतु उसके शरीरमें भयंकर पीड़ा हो तो वह सारा वैभव भी उसे शान्ति नहीं दे सकता ? इसी प्रकार संसारका बड़े-से-बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी आत्मज्ञानके बिना पूर्ण शान्ति प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। बिना भगवान्का साक्षात्कार किये दुःखोंसे छुटकारा पाना आकाशको चमड़ेके समान लपेट लेनेकी तरह असम्भव है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इसीसे नारदजी कहते हैं—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु । (७ । १ । ३)

'भगवन् ! मैं केवल शास्त्रज्ञ हूँ, आत्मज्ञ नहीं हूँ । मैंने आप-जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है और मुझे शोक है, इसलिये भगवान् मुझे शोकसे पार करें ।' इससे यह निश्चय होता है कि केवल शास्त्रज्ञानसे संसृतिचक्ररूप शोकसमुद्रको पार नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो अनुभवकी आवश्यकता है । जब सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, अशेषविद्यामहार्णव देवर्षि नारदको भी उनकी विद्या शान्ति प्रदान नहीं कर सकी तो हम-जैसे साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्में बहुत-से उपयोगी विषय हैं । प्राचीन कालसे ही इसका बहुत मान रहा है । वेदान्तसूत्रोंमें जिन श्रुतियोंपर विचार किया गया है उनमें सबसे अधिक इसी उपनिषद्की हैं । इसका ज्ञानकाण्ड तो जिज्ञासुओंकी अक्षय निधि है । जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य अद्वैतसम्प्रदायमें ब्रह्मात्मैक्य बोधका प्रधान साधन माना जाता है वह भी इसीके छठे अध्यायमें आया है । वहाँ आरुणिने भिन्न-भिन्न दृष्टान्त देकर नौ बार इसी वाक्यसे अपने पुत्र श्वेतकेतुको आत्मतत्त्वका उपदेश किया है ।

औपनिषद-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है । इसीसे भवभयका निरास होकर आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति होती है । इस दृष्टिको प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य है—यही परम पुरुषार्थ है । इसे पाये बिना जीवन व्यर्थ है, इसे न पा सकना ही सबसे बड़ी हानि है; यही बात केन-श्रुति भी कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (२ । ५)

अतः इस दृष्टिको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक पुरुषको प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये । भगवान् हमें इसे प्राप्त करनेकी योग्यता दें ।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ

१. शान्तिपाठ २५

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

२. सम्बन्ध-भाष्य २६
३. उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना ३१
४. उद्गीथका रसतमत्व ३३
५. उद्गीथोपासनान्तर्गत ऋक्, साम और उद्गीथका निर्णय ... ३५
६. ओंकारमें संसृष्ट मिथुनके समागमका फल ३९
७. उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना करनेका फल ४०
८. ओंकारकी समृद्धिगुणवत्ता ४०
९. ओंकारकी स्तुति ४२
१०. उद्गीथविद्याके जानने और न जाननेवालेके कर्मका भेद ... ४४

द्वितीय खण्ड

११. प्राणोपासनाकी उत्कृष्टता सूचित करनेवाली आख्यायिका ... ४७
१२. घ्राणादिका सदोषत्व ४९
१३. मुख्य प्राणद्वारा असुरोंका पराभव ५४
१४. प्राणोपासकका महत्त्व ५५
१५. प्राणकी आङ्गिरस संज्ञा होनेमें हेतु ५९
१६. प्राणकी बृहस्पति संज्ञा होनेमें हेतु ६१
१७. प्राणकी आयास्य संज्ञा होनेमें हेतु ६१
१८. प्राणदृष्टिसे ओंकारोपासनाका फल ६३

तृतीय खण्ड

१९. आदित्यदृष्टिसे उद्गीथोपासना ··· ··· ६४
२०. सूर्य और प्राणकी समानता तथा प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना ··· ६५
२१. व्यानदृष्टिसे उद्गीथोपासना ··· ··· ६७
२२. व्यानप्रयुक्त होनेसे वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथकी समानता ··· ६९
२३. उद्गीथाक्षरोंमें प्राणादिदृष्टि ··· ··· ७०
२४. उद्गीथाक्षरोंमें द्युलोकादि तथा सामवेदादि दृष्टि ··· ··· ७२
२५. सकामोपासनाका क्रम ··· ··· ७३

चतुर्थ खण्ड

२६. उद्गीथसंज्ञक ओंकारोपासनासे सम्बद्ध आख्यायिका ··· ७७
२७. ओंकारका उपयोग और महत्त्व ··· ··· ८०
२८. ओंकारोपासनाका फल ··· ··· ८१

पञ्चम खण्ड

२९. ओंकार, उद्गीथ और आदित्यका अभेद ··· ··· ८३
३०. रश्मिदृष्टिसे आदित्यकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल ··· ८४
३१. मुख्य प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना ··· ··· ८५
३२. प्राणभेददृष्टिसे मुख्य प्राणकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल ··· ८६
३३. प्रणव और उद्गीथका अभेद ··· ··· ८७

षष्ठ खण्ड

३४. अनेक प्रकारकी आधिदैविक उद्गीथोपासनाएँ ··· ··· ८९

सप्तम खण्ड

३५. अध्यात्म-उद्गीथोपासना ··· ··· ९८
३६. आदित्यान्तर्गत और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंकी एकता ··· ··· १००
३७. इनकी अभेददृष्टिसे उपासनाका फल ··· ··· १०३

अष्टम खण्ड

३८. उद्गीथोपासनाकी उत्कृष्टता प्रदर्शित करनेके लिये शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहणका संवाद ··· ··· १०६

नवम खण्ड

३९. शिलककी उक्ति—आकाश ही सबका आश्रय है ··· ··· ११७
४०. आकाशसंज्ञक उद्गीथकी उत्कृष्टता और उसकी उपासनाका फल ··· ११८

दशम खण्ड

४१. उषस्तिका आख्यान ··· ··· १२२
४२. राजयज्ञमें उषस्ति और ऋत्विजोंका संवाद ··· ··· १२८

एकादश खण्ड

४३. राजा और उषस्तिका संवाद १३१
४४. उषस्तिके प्रति प्रस्तोताका प्रश्न १३३
४५. उषस्तिका उत्तर—प्रस्तावानुगत देवता प्राण है १३३
४६. उद्गाताका प्रश्न १३५
४७. उषस्तिका उत्तर—उद्गीथानुगत देवता आदित्य है १३५
४८. प्रतिहर्ताका प्रश्न १३६
४९. उषस्तिका उत्तर—प्रतिहारानुगत देवता अन्न है १३६

द्वादश खण्ड

५०. शौवसामसम्बन्धी उपाख्यान १३८
५१. कुत्तोंद्वारा किया हुआ हिंकार १४२

त्रयोदश खण्ड

५२. सामावयवभूतस्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाएँ १४४
५३. स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाओंका फल १४७

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

५४. साधुदृष्टिसे समस्त सामोपासना १४९

द्वितीय खण्ड

५५. लोकविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १५४
५६. आवृत्तिकालिक अधोमुख लोकोंमें पञ्चविध सामोपासना ... १५७

तृतीय खण्ड

५७. वृष्टिविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १५९

चतुर्थ खण्ड

५८. जलविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १६१

पञ्चम खण्ड

५९. ऋतुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १६३

षष्ठ खण्ड

६०. पशुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १६५

सप्तम खण्ड

६१. प्राणविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना १६७

अष्टम खण्ड

६२. वाणीविषयक सप्तविध सामोपासना १७०

नवम खण्ड

६३. आदित्यविषयिणी सात प्रकारकी सामोपासना १७३

दशम खण्ड

६४. मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना १८१

एकादश खण्ड

६५. गायत्रसामकी उपासना १८७

द्वादश खण्ड

६६. रथन्तरसामकी उपासना १८९

त्रयोदश खण्ड

६७. वामदेव्यसामकी उपासना १९१

चतुर्दश खण्ड

६८. बृहत्सामकी उपासना १९२

पञ्चदश खण्ड

६९. वैरूपसामकी उपासना १९४

षोडश खण्ड

७०. वैराजसामकी उपासना १९६

सप्तदश खण्ड

७१. शक्करीसामकी उपासना १९८

अष्टादश खण्ड

७२. रेवतीसामकी उपासना १९९

एकोनविंश खण्ड

७३. यज्ञायज्ञीयसामकी उपासना २००

विंश खण्ड

७४. राजनसामकी उपासना २०२

एकविंश खण्ड

७५. सर्वविषयक सामकी उपासना २०४
७६. सर्वविषयक सामकी उपासनाका उत्कर्ष २०६

द्वाविंश खण्ड

७७. विनर्दिगुणविशिष्ट सामकी उपासना २०८
७८. स्तवनके समय ध्यानका प्रकार २१०
७९. स्वरादि वर्णोंकी देवात्मकता २१०
८०. वर्णोंके उच्चारणकालमें चिन्तनीय २१२

त्रयोविंश खण्ड

८१. तीन धर्मस्कन्ध २१४
८२. त्रयीविद्या और व्याहृतियोंकी उत्पत्ति २३०
८३. ओंकारकी उत्पत्ति २३१

चतुर्विंश खण्ड

८४. सवनोंके अधिकारी देवता २३३
८५. साम आदिको जाननेवाला ही यज्ञ कर सकता है २३४
८६. प्रातःसवनमें वसुदेवतासम्बन्धी सामगान २३५
८७. मध्याह्नसवनमें रुद्रसम्बन्धी सामगान २३८
८८. तृतीय सवनमें आदित्य और विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान ... २३९

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

८९. मधुविद्या २४२
९०. आदित्यादिमें मधु आदि दृष्टि २४३
९१. आदित्यकी पूर्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि ... २४४

द्वितीय खण्ड

९२. आदित्यकी दक्षिणदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि ... २४९

तृतीय खण्ड

९३. आदित्यकी पश्चिमदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि ... २५१

चतुर्थ खण्ड

९४. आदित्यकी उत्तरदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि ... २५२

पञ्चम खण्ड

९५. आदित्यकी ऊर्ध्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि दृष्टि ... २५४

षष्ठ खण्ड

९६. वसुओंके जीवनाश्रयभूत प्रथम अमृतकी उपासना ... २५७

सप्तम खण्ड

९७. रुद्रोंके जीवनाश्रयभूत द्वितीय अमृतकी उपासना २६२

अष्टम खण्ड

९८. आदित्योंके जीवनाश्रयभूत तृतीय अमृतकी उपासना ... २६४

नवम खण्ड

९९. मरुद्गणके जीवनाश्रयभूत चतुर्थ अमृतकी उपासना ... २६८

दशम खण्ड

१००. साध्योंके जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृतकी उपासना ... २७०

एकादश खण्ड

१०१. भोग-क्षयके अनन्तर सबका उपसंहार हो जानेपर आदित्यरूप ब्रह्मकी स्वस्वरूपमें स्थिति २७२
१०२. ब्रह्मलोकके विषयमें विद्वान्‌का अनुभव २७३
१०३. मधुविद्याका फल २७४
१०४. सम्प्रदायपरम्परा २७५

द्वादश खण्ड

१०५. गायत्रीद्वारा ब्रह्मकी उपासना २७८
१०६. कार्यब्रह्म और शुद्धब्रह्मका भेद २८४
१०७. भूताकाश, देहाकाश और हृदयाकाशका अभेद ... २८५

त्रयोदश खण्ड

१०८. हृदयान्तर्गत पूर्वसुषिभूत प्राणकी उपासना २८९
१०९. हृदयान्तर्गत दक्षिणसुषिभूत व्यानकी उपासना ... २९१
११०. हृदयान्तर्गत पश्चिमसुषिभूत अपानकी उपासना ... २९३
१११. हृदयान्तर्गत उत्तरसुषिभूत समानकी उपासना २९४
११२. हृदयान्तर्गत ऊर्ध्वसुषिभूत उदानकी उपासना २९५
११३. उपर्युक्त प्राणादि द्वारपालोंकी उपासनाका फल २९६
११४. हृदयस्थित मुख्य ब्रह्मकी उपासना २९८
११५. हृदयस्थित परम ज्योतिका अनुमापक लिङ्ग २९९

चतुर्दश खण्ड

(शाण्डिल्यविद्या)

११६. सर्वदृष्टिसे ब्रह्मोपासना ३०३
११७. समग्र ब्रह्ममें आरोपित गुण ३०६
११८. ब्रह्म छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा है ३११
११९. हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्मकी एकता ३१२

पञ्चदश खण्ड

१२०. विराट्कोशोपासना ३१६

षोडश खण्ड

१२१. आत्मयज्ञोपासना ३२३

सप्तदश खण्ड

१२२. अक्षयादि फल देनेवाली आत्मयज्ञोपासना ३३०

अष्टादश खण्ड

१२३. मन आदि दृष्टिसे अध्यात्म और आधिदैविक ब्रह्मोपासना ... ३३८

एकोनविंश खण्ड

१२४. आदित्य और अण्डदृष्टिसे अध्यात्म एवं आधिदैविक उपासना … ३४४

चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

१२५. राजा जानश्रुति और रैक्वका उपाख्यान … … ३५२

द्वितीय खण्ड

१२६. रैक्वके प्रति जानश्रुतिकी उपसत्ति … … ३६३

तृतीय खण्ड

१२७. रैक्वद्वारा संवर्गविद्याका उपदेश … … ३६९
१२८. संवर्गकी स्तुतिके लिये आख्यायिका … … ३७२

चतुर्थ खण्ड

१२९. सत्यकामका ब्रह्मचर्य-पालन और वनमें जाकर गौ चराना … ३८०

पञ्चम खण्ड

१३०. वृषभद्वारा सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश … ३८६

षष्ठ खण्ड

१३१. अग्निद्वारा ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश … … ३८९

सप्तम खण्ड

१३२. हंसद्वारा ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश … … ३९२

अष्टम खण्ड

१३३. मद्गुद्वारा ब्रह्मके चतुर्थपादका उपदेश … … ३९४

नवम खण्ड

१३४. सत्यकामका आचार्यकुलमें पहुँचकर आचार्यद्वारा पुनः उपदेश ग्रहण करना … … ३९७

दशम खण्ड

१३५. उपकोसलके प्रति अग्निद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश … ४००

एकादश खण्ड

१३६. गार्हपत्याग्निविद्या … … ४०९

द्वादश खण्ड

१३७. अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या … … ४१२

त्रयोदश खण्ड

१३८. आहवनीयाग्निविद्या ४१४

चतुर्दश खण्ड

१३९. आचार्यका आगमन ४१६
१४०. आचार्य और उपकोसलका संवाद ४१७

पञ्चदश खण्ड

१४१. आचार्यका उपदेश—नेत्रस्थित पुरुषकी उपासना ४२०
१४२. ब्रह्मवेत्ताकी गति ४२३

षोडश खण्ड

१४३. यज्ञोपासना ४२८
१४४. ब्रह्माके मौनभङ्गसे यज्ञकी हानि ४३०
१४५. ब्रह्माके मौनपालनसे यज्ञकी प्रतिष्ठा ४३२

सप्तदश खण्ड

१४६. यज्ञ दोषके प्रायश्चित्तरूपसे व्याहृतियोंकी उपासना ४३४
१४७. विद्वान् ब्रह्माकी विशिष्टता ४३८

पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

१४८. ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना ४४३
१४९. इन्द्रियोंका विवाद ४४६
१५०. प्रजापतिका निर्णय ४४७
१५१. वागिन्द्रियकी परीक्षा ४४८
१५२. चक्षुकी परीक्षा ४४९
१५३. श्रोत्रकी परीक्षा ४४९
१५४. मनकी परीक्षा ४५०
१५५. प्राणकी परीक्षा और विजय ४५१
१५६. इन्द्रियोंद्वारा प्राणकी स्तुति ४५२

द्वितीय खण्ड

१५७. प्राणका अन्ननिर्देश ४५८
१५८. प्राणका वस्त्रनिर्देश ४६०
१५९. प्राणविद्याकी स्तुति ४६३
१६०. मन्थकर्म ४६४

तृतीय खण्ड

१६१. पाञ्चालोंकी सभामें श्वेतकेतु ४७२
१६२. प्रवाहणके प्रश्न ४७३
१६३. प्रवाहणसे पराभूत श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आना ... ४७५
१६४. पिता-पुत्रका प्रवाहणके पास आना ४७७
१६५. प्रवाहणका वरप्रदान ४७९

चतुर्थ खण्ड

१६६. पञ्चम प्रश्नका उत्तर ४८१
१६७. लोकरूपा अग्निविद्या ४८३

पञ्चम खण्ड

१६८. पर्जन्यरूपा अग्निविद्या ४८७

षष्ठ खण्ड

१६९. पृथिवीरूपा अग्निविद्या ४८९

सप्तम खण्ड

१७०. पुरुषरूपा अग्निविद्या ४९१

अष्टम खण्ड

१७१. स्त्रीरूपा अग्निविद्या ४९३

नवम खण्ड

१७२. पञ्चम आहुतिमें पुरुषत्वको प्राप्त हुए आपकी गति ४९६

दशम खण्ड

१७३. प्रथम प्रश्नका उत्तर ५००
१७४. तृतीय प्रश्नका उत्तर ५०९

(देवयान और धूमयानका व्यावर्तनस्थान)

१७५. द्वितीय प्रश्नका उत्तर ५१४

(पुनरावर्तनका क्रम)

१७६. अनुशयी जीवोंकी कर्मानुरूप गति ५२१
१७७. चतुर्थ प्रश्नका उत्तर ५३१

(अशास्त्रीय प्रवृत्तिवालोंकी गति)

१७८. पाँच पतित ५३४
१७९. पञ्चाग्निविद्याका महत्त्व ५३५

एकादश खण्ड

१८०. औपमन्यव आदिका आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव ... ५३६
१८१. औपमन्यवादिका उद्दालकके पास आना ५३८
१८२. उद्दालकका औपमन्यवादिके सहित अश्वपतिके पास आना ... ५३९
१८३. अश्वपतिद्वारा मुनियोंका स्वागत ५४०
१८४. अश्वपतिके प्रति मुनियोंकी प्रार्थना ५४२
१८५. राजाके प्रति मुनियोंकी उपसत्ति ५४३

द्वादश खण्ड

१८६. अश्वपति और औपमन्यवका संवाद ५४५

त्रयोदश खण्ड

१८७. अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद ५४९

चतुर्दश खण्ड

१८८. अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद ५५१

पञ्चदश खण्ड

१८९. अश्वपति और जनका संवाद ५५३

षोडश खण्ड

१९०. अश्वपति और बुडिलका संवाद ५५५

सप्तदश खण्ड

१९१. अश्वपति और उद्दालकका संवाद ५५७

अष्टादश खण्ड

१९२. अश्वपतिका उपदेश—वैश्वानरकी समस्तोपासनाका फल ... ५५९
१९३. वैश्वानरका साङ्गोपाङ्ग स्वरूप ५६१

एकोनविंश खण्ड

१९४. भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये 'प्राणाय स्वाहा' इस पहली आहुतिका वर्णन ५६३

विंश खण्ड

१९५. 'व्यानाय स्वाहा' इस दूसरी आहुतिका वर्णन ५६५

एकविंश खण्ड

१९६. 'अपानाय स्वाहा' इस तीसरी आहुतिका वर्णन ५६६

द्वाविंश खण्ड

१९७. 'समानाय स्वाहा' इस चौथी आहुतिका वर्णन ५६७

त्रयोविंश खण्ड

१९८. 'उदानाय स्वाहा' इस पाँचवीं आहुतिका वर्णन ५६८

चतुर्विंश खण्ड

१९९. अविद्वान्के हवनका स्वरूप ५६९
२००. विद्वान्के हवनका फल ५६९

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

२०१. आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उपदेश ५७३

द्वितीय खण्ड

२०२. अन्य पक्षके खण्डनपूर्वक जगत्की सद्रूपताका समर्थन ... ५८२

तृतीय खण्ड

२०३. सृष्टिका क्रम ६०४

चतुर्थ खण्ड

२०४. एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान ६१३

पञ्चम खण्ड

२०५. अन्न आदिके त्रिविध परिणाम ६२३

षष्ठ खण्ड

२०६. अन्न आदिका सूक्ष्म भाग ही मन आदि होता है ६२९

सप्तम खण्ड

२०७. षोडशकलाविशिष्ट पुरुषका उपदेश ६३२

अष्टम खण्ड

२०८. सुषुप्तिकालमें जीवकी स्थितिका उपदेश ६४०

नवम खण्ड

२०९. सुषुप्तिमें 'सत्' की प्राप्तिका ज्ञान न होनेमें मधुमक्खियोंका दृष्टान्त ६६३

दशम खण्ड

२१०. नदीके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६६८

एकादश खण्ड

२११. वृक्षके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६७१

द्वादश खण्ड

२१२. न्यग्रोधफलके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६७६

त्रयोदश खण्ड

२१३. लवणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६८०

चतुर्दश खण्ड

२१४. अन्यत्रसे लाये हुए पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६८५

पञ्चदश खण्ड

२१५. मुमूर्षु पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६९४

षोडश खण्ड

२१६. चोरके तप्त परशुग्रहणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश ६९८

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

२१७. नारदके प्रति सनत्कुमारका उपदेश ७१०

द्वितीय खण्ड

२१८. नामकी अपेक्षा वाक्की महत्ता ७२१

तृतीय खण्ड

२१९. वाक्की अपेक्षा मनकी श्रेष्ठता ७२४

चतुर्थ खण्ड

२२०. मनसे संकल्पकी श्रेष्ठता ७२७

पञ्चम खण्ड

२२१. संकल्पकी अपेक्षा चित्तकी प्रधानता ७३४

षष्ठ खण्ड

२२२. चित्तकी अपेक्षा ध्यानका महत्त्व ७३८

सप्तम खण्ड

२२३. ध्यानसे विज्ञानकी महत्ता ७४२

अष्टम खण्ड

२२४. विज्ञानसे बलकी श्रेष्ठता ७४५

नवम खण्ड

२२५. बलकी अपेक्षा अन्नकी प्रधानता ७४९

दशम खण्ड

२२६. अन्नकी अपेक्षा जलका महत्त्व ७५२

एकादश खण्ड

२२७. जलकी अपेक्षा तेजकी प्रधानता ७५५

द्वादश खण्ड

२२८. तेजसे आकाशकी प्रधानता ७५८

त्रयोदश खण्ड

२२९. आकाशकी अपेक्षा स्मरणका महत्त्व ७६१

चतुर्दश खण्ड

२३०. स्मरणसे आशाकी महत्ता ७६४

पञ्चदश खण्ड

२३१. आशासे प्राणका प्राधान्य ७६७

षोडश खण्ड

२३२. सत्य ही जानने योग्य है ७७४

सप्तदश खण्ड

२३३. विज्ञान ही जानने योग्य है ७७६

अष्टादश खण्ड

२३४. मति ही जानने योग्य है ७७९

एकोनविंश खण्ड

२३५. श्रद्धा ही जानने योग्य है ७८०

विंश खण्ड

२३६. निष्ठा ही जानने योग्य है ७८१

एकविंश खण्ड

२३७. कृति ही जानने योग्य है ७८२

द्वाविंश खण्ड

२३८. सुख ही जानने योग्य है ७८३

त्रयोविंश खण्ड

२३९. भूमा ही जानने योग्य है ७८५

चतुर्विंश खण्ड

२४०. भूमाके स्वरूपका प्रतिपादन ७८६

पञ्चविंश खण्ड

२४१. सर्वत्र भूमा ही है ७९३

षड्विंश खण्ड

२४२. इस प्रकार जाननेवालेके लिये फलका उपदेश ७९८

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

२४३. दहर-पुण्डरीकमें ब्रह्मकी उपासना ८०३
२४४. पुण्यकर्मफलोंका अनित्यत्व ८१९

द्वितीय खण्ड

२४५. दहर-ब्रह्मकी उपासनाका फल ८२१

तृतीय खण्ड

२४६. असत्यसे आवृत सत्यकी उपासना और नामाक्षरोपासना ... ८२६

चतुर्थ खण्ड

२४७. सेतुरूप आत्माकी उपासना ८३६

पञ्चम खण्ड

२४८. यज्ञादिमें ब्रह्मचर्यादिदृष्टि ८४२

षष्ठ खण्ड

२४९. हृदयनाडी और सूर्यरश्मिरूप मार्गकी उपासना ८५४

सप्तम खण्ड

२५०. आत्मतत्त्वका अनुसंधान करनेके लिये इन्द्र और विरोचनका प्रजापतिके पास जाना ८६५

अष्टम खण्ड

२५१. इन्द्र तथा विरोचनका जलके शकोरेमें अपना प्रतिबिम्ब देखना ... ८७६

नवम खण्ड

२५२. इन्द्रका पुनः प्रजापतिके पास आना ८८७

दशम खण्ड

२५३. इन्द्रके प्रति स्वप्नपुरुषका उपदेश ८९४

एकादश खण्ड

२५४. सुषुप्त पुरुषका उपदेश ९०१

द्वादश खण्ड

२५५. मर्त्यशरीर आदिका उपदेश ९०६

त्रयोदश खण्ड

२५६. 'श्यामाच्छबलम्' इस मन्त्रका उपदेश ९३७

चतुर्दश खण्ड

२५७. कारणरूपसे आकाशसंज्ञक ब्रह्मका उपदेश ९३९

पञ्चदश खण्ड

२५८. आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और फलका वर्णन ९४३

चित्र-सूची

सं०	चित्र		पृष्ठ
१–	श्रीशंकराचार्यजी	(बहुवर्ण)	२५
२–	यज्ञशालामें उषस्ति	,,	१३१
३–	रैक्व और जानश्रुति	,,	३६६
४–	गुरुभक्त सत्यकाम	,,	३९७
५–	सत्यकाम और उपकोसल	,,	४१७
६–	राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक	,,	५४०
७–	आरुणि और श्वेतकेतु	,,	५७६
८–	सनत्कुमार-नारद-संवाद	,,	७१२
९–	इन्द्र और विरोचनको उपदेश	,,	८७८

ॐ

केशाः कज्ञालिकासाभाः
शमञ्जाम्बुनगौकसः ।
विविगोपतयो दद्युः
करकारिपिनाकिनः ॥

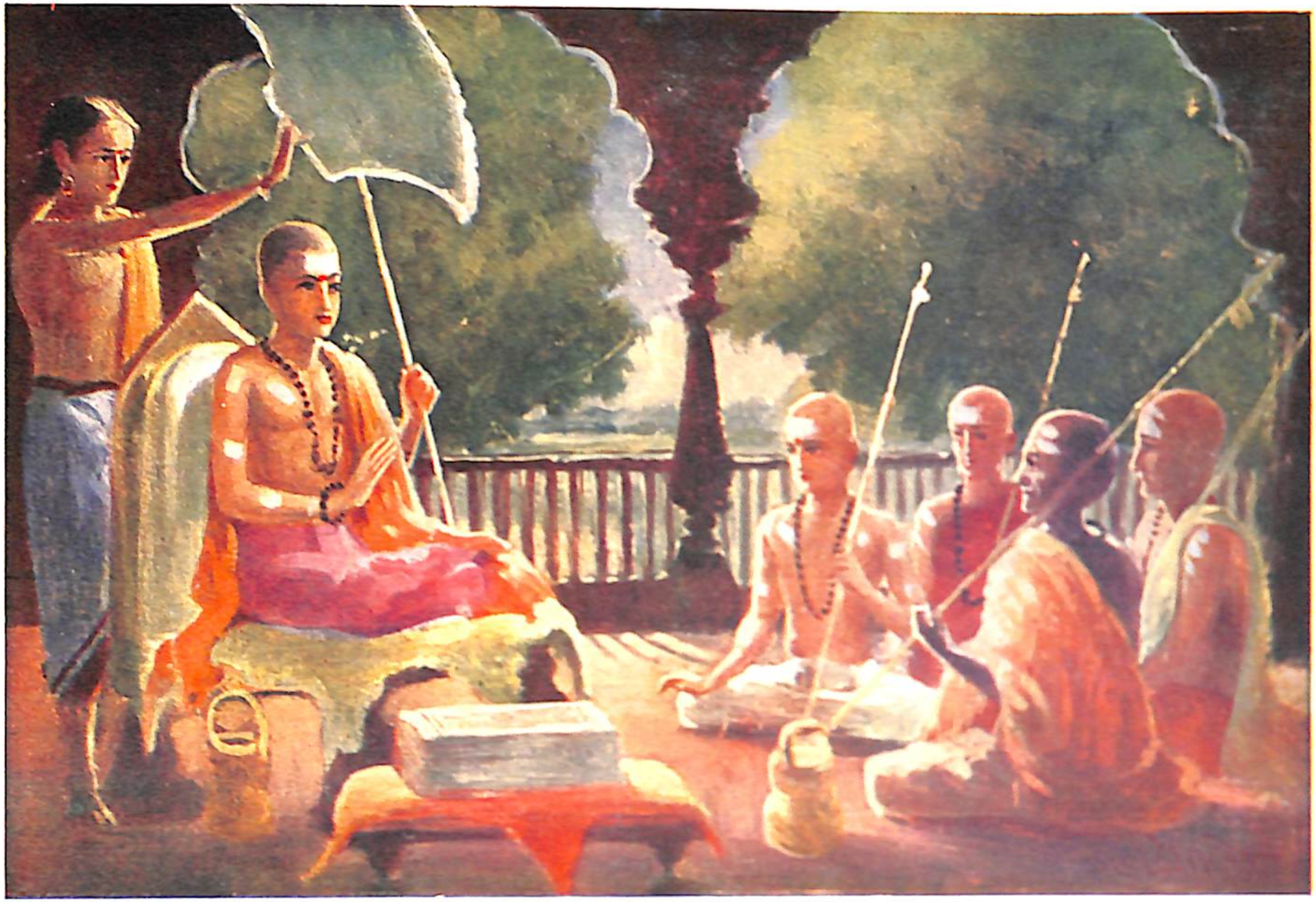

श्रीशंकराचार्यजी

[पृष्ठ २०

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

छान्दोग्योपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

सच्चिदानन्दसान्द्राय सर्वातीताय साक्षिणे ।
नमः श्रीदेशिकेन्द्राय शिवायाशिवघातिने ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मेरे [हाथ-पाँव आदि] अङ्ग सब प्रकारसे पुष्ट हों, वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र पुष्ट हों तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ बल प्राप्त करें । उपनिषद्में प्रतिपादित ब्रह्म ही सब कुछ है । मैं ब्रह्मका निराकरण (त्याग) न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे । इस प्रकार हमारा अनिराकरण (निरन्तर मिलन) हो, अनिराकरण हो । उपनिषदोंमें जो शम आदि धर्म कहे गये हैं वे ब्रह्मरूप आत्मामें निरन्तर रमण करनेवाले मुझमें सदा बने रहें, वे मुझमें सदा बने रहें । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापकी शान्ति हो ।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध-भाष्य

ओमित्येतदक्षरमित्याद्यष्टाध्यायी छान्दोग्योपनिषत् । तस्याः संक्षेपतोऽर्थजिज्ञासुभ्य ऋजुविवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते ।

तत्र सम्बन्धः—समस्तं कर्मा- प्रयोजनम् धिगतं प्राणादिदेवताविज्ञानसहितमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्रतिपत्तिकारणम् । केवलं च धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकप्रतिपत्तिकारणम् । स्वभावप्रवृत्तानां च मार्गद्वयपरिभ्रष्टानां कष्टाधोगतिरुक्ता ।

'ओमित्येतदक्षरम्' इत्यादि मन्त्रसे आरम्भ होनेवाला यह आठ अध्यायोंका ग्रन्थ छान्दोग्य उपनिषद् है । उसका अर्थ जाननेकी इच्छावालोंके लिये इस छोटे-से ग्रन्थके रूपमें उसकी सरल व्याख्या संक्षेपसे आरम्भ की जाती है ।

वहाँ [कर्मकाण्डके साथ] इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—[विहित और निषिद्ध रूपसे] जाने हुए समस्त कर्मका प्राणादि देवताओंके विज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करनेपर वह अर्चि आदि (देवयान) मार्गके द्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्तिका कारण होता है तथा केवल (उपासनारहित) कर्म धूमादि मार्गसे चन्द्रलोककी प्राप्तिका हेतु होता है । जो इन दोनों मार्गोंसे पतित एवं स्वभावानुसार प्रवृत्त होनेवाले होते हैं उनकी कष्टमयी अधोगति बतलायी गयी है ।

न चोभयोर्मार्गयोरन्यतरस्मिन्नपि मार्ग आत्यन्तिकी पुरुषार्थसिद्धिरित्यतः कर्मनिरपेक्षमद्वैतात्मविज्ञानं संसारगतित्रयहेतूपमर्देन वक्तव्यमित्युपनिषदारभ्यते ।

इन दोनों मार्गोंमेंसे किसी भी एक मार्गपर रहनेसे आत्यन्तिक पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती । अतः संसारकी [उपर्युक्त] त्रिविध गतियोंके हेतुभूत कर्मका निराकरण करते हुए कर्मकी अपेक्षासे रहित अद्वैत-आत्मज्ञानका प्रतिपादन करना है; इसी उद्देश्यसे इस उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है ।

ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्

न चाद्वैतात्मविज्ञानादन्यत्रात्यन्तिकी निःश्रेयससम्प्राप्तिः । वक्ष्यति हि—"अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति ।" (छा० उ० ७ । २५ । २) विपर्यये च "स स्वराड्भवति" (छा० उ० ७ । २५ । २) इति।

अद्वैतात्मविज्ञानके बिना और किसी प्रकार आत्यन्तिक कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती । जैसा कि आगे कहेंगे भी—"जो लोग इस (अद्वैतात्मज्ञान) से विपरीत जानते हैं, वे अन्यराज (अनात्माके अधीन) होते और क्षीण होनेवाले लोकोंमें जाते हैं ।" किंतु इससे विपरीत आत्मज्ञान होनेपर [श्रुति कहती है कि] "वह स्वराट् होता है ।"

तथा द्वैतविषयानृताभिसंधस्य बन्धनं तस्करस्येव तप्तपरशुग्रहणे बन्धदाहभावः संसारदुःखप्राप्तिश्चेत्युक्त्वाद्वैतात्मसत्याभिसंधस्या-

इसी प्रकार तपे हुए परशुको ग्रहण करनेसे चोरके जलने और बन्धनमें पड़नेके समान द्वैतविषयरूप मिथ्यामें अभिनिवेश रखनेवाले पुरुषका बन्धन होता है तथा उसे सांसारिक दुःखोंकी प्राप्ति होती है—यह बतलाकर [श्रुति]

तस्करस्येव तप्तपरशुग्रहणे बन्धदाहाभावः संसारदुःखनिवृत्तिर्मोक्षश्चेति ।

कर्मसमुच्चयनिराकरणम्

अत एव न कर्मसहभावि अद्वैतात्मदर्शनम् । क्रियाकारकफलभेदोपमर्देन "सत् ... एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्येवमादिवाक्यजनितस्य बाधकप्रत्ययानुपपत्तेः । कर्मविधिप्रत्यय इति चेत् ? न, कर्तृभोक्तृस्वभावविज्ञानवतस्तज्जनितकर्मफलरागद्वेषादिदोषवतश्च कर्मविधानात् ।

अधिगतसकलवेदार्थस्य कर्मविधानादद्वैतज्ञानवतोऽपि कर्मेति चेत् ?

अद्वैत आत्मारूप परम सत्यमें प्रतीति रखनेवाले पुरुषको, जो पुरुष चोर नहीं है उसके तप्त परशु ग्रहण करनेपर दाह और बन्धन न होनेके समान, संसार-दुःखकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्ति बतलावेगी ।

इसीसे [अर्थात् कर्म और ज्ञान दोनों विरुद्ध फलवाले हैं-ऐसा निश्चय होनेके कारण ही] अद्वैतात्मदर्शन कर्मके साथ होनेवाला नहीं है । क्योंकि क्रिया, कारक और फलरूप भेदका बाध करके "सत् [ब्रह्म] एक और अद्वितीय है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले अद्वैत आत्मज्ञानका कोई बाधक प्रत्यय होना सम्भव नहीं है । यदि कहो कि कर्मविधिविषयक ज्ञान ही [उसका बाधक] है तो ऐसा होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जो अपनेको स्वभावसे ही कर्ता-भोक्तारूप जानता है और उससे होनेवाले कर्मफलमें राग-द्वेषरूप दोषोंसे युक्त है, उसीके लिये कर्मका विधान किया गया है ।

शङ्का—जो सम्पूर्ण वेदार्थको जाननेवाला है उसीके लिये कर्मका विधान किया गया है; इसलिये अद्वैतात्मज्ञानीको भी तो कर्म करना ही चाहिये ?

न; कर्माधिकृतविषयस्य कर्तृभोक्त्रादिविज्ञानस्य स्वाभाविकस्य "सत्" "एकमेवाद्वितीयम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यनेनोपमर्दितत्वात् । तस्मादविद्यादिदोषवत एव कर्माणि विधीयन्ते नाद्वैतज्ञानवतः । अत एव हि वक्ष्यति—"सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा० उ० २ । २३ । १) इति ।

प्रकरणप्रतिपाद्यनिरूपणम्

तत्रैतस्मिन्नद्वैतविद्याप्रकरणेऽभ्युदयसाधनान्युपासनान्युच्यन्ते । कैवल्यसंनिकृष्टफलानि चाद्वैतादीषद्विकृतब्रह्मविषयाणि मनोमयः प्राणशरीर इत्यादीनि, कर्मसमृद्धिफलानि च कर्माङ्गसम्बन्धीनि । रहस्यसामान्यान्मनोवृत्तिसामान्याच्च; यथाद्वैतज्ञानं

समाधान—नहीं, क्योंकि कर्मके अधिकारीसे सम्बन्ध रखनेवाला कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप स्वाभाविक विज्ञान "सत् [ब्रह्म] एक और अद्वितीय है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि वाक्योंसे बाधित हो जाता है । इसलिये कर्मोंका विधान अविद्यादि दोषवान् पुरुषके लिये ही किया गया है, अद्वैतात्मज्ञानीके लिये नहीं किया गया । इसीलिये श्रुति आगे कहेगी—"ये सब [कर्मकाण्डी] पुण्यलोकोंको प्राप्त होते हैं तथा ब्रह्मनिष्ठ [परमहंस] अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।"

यहाँ इस अद्वैतविद्याविषयक प्रकरणमें अभ्युदयकी साधनभूता उपासनाएँ बतलायी जाती हैं, जिनका फल कैवल्यमोक्षका समीपवर्ती है और जो अद्वैतब्रह्मकी अपेक्षा 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादि वाक्योंके अनुसार कुछ विकारको प्राप्त हुए ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं । वे उपासनाएँ कर्माङ्गसे सम्बद्ध हैं और कर्मफलकी समृद्धि ही उनका फल है । क्योंकि रहस्यमें [अर्थात् उपनिषद् शब्दसे ज्ञातव्य होनेमें] तथा मनोवृत्तिरूप होनेमें उन (आत्मज्ञान और उपासनाओं) में समानता है [इसीसे वे उपासनाएँ आत्मविद्याके प्रकरणमें रक्खी गयी हैं] । जिस

मनोवृत्तिमात्रं तथान्यान्यप्युपासनानि मनोवृत्तिरूपाणीत्यस्ति हि सामान्यम् । कस्तर्ह्यद्वैतज्ञानस्योपासनानां च विशेषः ? उच्यते—

ज्ञानोपासनयोविशेषः

स्वाभाविकस्यात्मन्यक्रियेऽध्यारोपितस्य कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदविज्ञानस्य निवर्तकमद्वैतविज्ञानम्, रज्ज्वादाविव सर्पाद्यध्यारोपलक्षणज्ञानस्य रज्ज्वादिस्वरूपनिश्चयः प्रकाशनिमित्तः । उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसंतानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितमिति विशेषः ।

तान्येतान्युपासनानि सत्त्वशुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभासकत्वादद्वैतज्ञानोपकारकाण्यालम्बनविषयत्वात्सुसाध्यानि चेति पूर्वमुपन्यस्यन्ते । तत्र कर्माभ्या-

प्रकार अद्वैतज्ञान मनोवृत्तिमात्र है उसी प्रकार अन्य उपासनाएँ भी मनोवृत्तिरूप ही हैं—यही उन दोनोंकी समानता है । तो फिर अद्वैतज्ञान और उपासनाओंमें अन्तर क्या है ? सो बतलाया जाता है—

अद्वैतात्मज्ञान अक्रिय आत्मामें स्वभावसे ही आरोपित कर्ता आदि कारक, क्रिया और फलके भेदज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला है, जिस प्रकार कि प्रकाशके कारण होनेवाला रज्जु आदिके स्वरूपका निश्चय रज्जु आदिमें आरोपित सर्पादिके ज्ञानको निवृत्त कर देता है । किंतु उपासना तो किसी शास्त्रोक्त आलम्बनको ग्रहण कर उसमें विजातीय प्रतीतिसे अव्यवहित सदृश चित्तवृत्तिका प्रवाह करना है-यही इन दोनोंमें अन्तर है ।

वे ये उपासनाएँ चित्तशुद्धि करनेवाली होनेसे वस्तुतत्त्वकी प्रकाशिका होनेके कारण अद्वैतज्ञानमें उपकारिणी हैं तथा आलम्बनयुक्त होनेके कारण सुगमतासे सम्पन्न की जा सकती हैं—इसीलिये इनका पहले निरूपण किया जाता है । वहाँ [साधारण पुरुषोंमें]

सस्य दृढीकृतत्वात्कर्मपरित्यागेनोपासन एव दुःखं चेतःसमर्पणं कर्तुमिति कर्माङ्गविषयमेव तावदादावुपासनमुपन्यस्यते—

कर्माभ्यासकी दृढ़ता होनेके कारण कर्मका परित्याग करके उपासनामें ही चित्तको लगाना अत्यन्त कठिन है । इसीसे सबसे पहले कर्माङ्गसम्बन्धिनी उपासनाका ही उल्लेख किया जाता है—

उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इसकी उपासना करनी चाहिये । 'ॐ' ऐसा [उच्चारण करके यज्ञमें उद्गाता] उद्गान (उच्चस्वरसे सामगान) करता है । उस (उद्गीथोपासना) की ही व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम् । तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहण इव लोकः । तदिहेतिपरं प्रयुक्तमभिधायकत्वाद्व्यावर्तितं शब्दस्वरूपमात्रं प्रतीयते । तथा चार्चादिवत्परस्यात्मनः

उद्गीथशब्दवाच्य 'ॐ' इस अक्षरकी उपासना करे—'ॐ' यह अक्षर परमात्माका सबसे समीपवर्ती (प्रियतम) नाम है । उसका प्रयोग (उच्चारण) किया जानेपर वह प्रसन्न होता है, जिस प्रकार कि साधारण लोग अपना प्रिय नाम उच्चारण करनेपर प्रसन्न होते हैं । वह ओंकार यहाँ (इस मन्त्रमें) इतिपरक (जिसके आगे 'इति' शब्द है; ऐसा) प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् परमात्माका अभिधायक होनेके कारण इतिशब्दद्वारा व्यावर्तित (पृथक् निर्दिष्ट) होकर वह केवल शब्दस्वरूपसे प्रतीत होता है और इस प्रकार वह मूर्ति

प्रतीकं सम्पद्यते । एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम् । जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम् ।

अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मकमुद्गीथभक्त्यवयवत्वादुद्गीथशब्दवाच्यमुपासीत । कर्माङ्गावयवभूत ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्र्यलक्षणां मतिं संतनुयात् । स्वयमेव श्रुतिरोङ्कारस्योद्गीथशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—ओमिति ह्युद्गायति । ओमित्यारभ्य हि यस्मादुद्गायत्यत उद्गीथ ओङ्कार इत्यर्थः ।

आदिके समान परमात्माका प्रतीक ही सिद्ध होता है । इस तरह नाम और प्रतीकरूपसे वह परमात्माकी उपासनाका उत्तम साधन है—ऐसा सम्पूर्ण वेदान्त ग्रन्थोंमें विदित है । जप, कर्म और स्वाध्यायके आदि एवं अन्तमें इसका बहुधा प्रयोग होनेके कारण * इसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है ।

अतः वह यह वर्णरूप अक्षर उद्गीथभक्तिका † अवयव होनेके कारण 'उद्गीथ' शब्दवाच्य है, इसकी उपासना करे । अर्थात् [उद्गीथ-] कर्मके अङ्गभूत और परमात्माके प्रतीकस्वरूप ओंकारमें सुदृढ एकाग्रतारूप बुद्धिको अविच्छिन्न भावसे संयुक्त करे । ओंकारके 'उद्गीथ' शब्दवाच्य होनेमें श्रुति स्वयं ही हेतु बतलाती है—'ॐ' ऐसा कहकर उद्गान करता है—क्योंकि उद्गाता 'ॐ' इस अक्षरसे आरम्भ करके उद्गान करता है, इसलिये ओंकार उद्गीथ है ।

---

* जैसा कि भगवानने भी कहा है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (गीता १७ । २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।'

† सामवेदीय स्तोत्रविशेषका नाम 'उद्गीथभक्ति' है । ओंकार उसका अंश है । इसलिये इसे उद्गीथ कहा गया है ।

तस्योपव्याख्यानम्—तस्याक्षरस्योपव्याख्यानमेवमुपासनमेवंविभूत्येवंफलमित्यादिकथनमुपव्याख्यानम्, प्रवर्तत इति वाक्यशेषः ॥ १ ॥

[यहाँ] उसका उपव्याख्यान आरम्भ किया जाता है—उस अक्षरकी सम्यग् व्याख्या की जाती है । 'इस प्रकार उसकी उपासना होती है, यह उसकी विभूति है और यह फल है' इत्यादि प्रकारका जो कथन है, उसे उपव्याख्यान कहते हैं । यहाँ 'प्रवर्तते' (आरम्भ किया जाता है) यह क्रियापद वाक्यशेष है ॥ १ ॥

उद्गीथका रसतमत्व

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥२॥

इन [चराचर] प्राणियोंका पृथिवी रस (उत्पत्ति, स्थिति और लयका स्थान) है । पृथिवीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस पुरुष है, पुरुषका रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम है और सामका रस उद्गीथ है ॥ २ ॥

एषां चराचराणां भूतानां पृथिवी रसो गतिः परायणमवष्टम्भः । पृथिव्या आपो रसोऽप्सु हि ओता च प्रोता च पृथिवी, अतस्ता रसः पृथिव्याः । अपामोषधयो रसः, अप्परिणामत्वादोषधीनाम् । तासां पुरुषो रसः, अन्नपरिणामत्वात्पुरुषस्य ।

इन चराचर भूतोंका पृथिवी रस—गति-परायण अर्थात् आश्रय है । पृथिवीका रस आप् (जल) है, क्योंकि पृथिवी जलमें ही ओत-प्रोत है; इसलिये वह पृथिवीका रस है । जलका रस ओषधियाँ हैं, क्योंकि ओषधियाँ जलका ही परिणाम हैं । उन (ओषधियों) का रस पुरुष है, क्योंकि पुरुष (नरदेह) अन्नका ही परिणाम है ।

तस्यापि पुरुषस्य वाग्रसः, पुरुषावयवानां हि वाक्सारिष्ठा, अतो वाक् पुरुषस्य रस उच्यते । तस्या अपि वाच ऋग्रसः सारतरा । ऋचः साम रसः सारतरम् । तस्यापि साम्न उद्गीथः प्रकृतत्वादोंकारः सारतरः ॥२॥

उस पुरुषका भी रस वाक् है, पुरुषके अवयवोंमें वाक् ही सबसे अधिक सार वस्तु है, इसलिये वाक् पुरुषका रस कही जाती है । उस वाणीका भी उससे अधिक सारभूत ऋक् ही रस है, ऋक्का रस साम है जो उससे भी अधिक सारतर वस्तु है तथा उस सामका भी रस उद्गीथ (ॐकार) है । यहाँ उद्गीथ शब्दसे ओंकार ही लेना चाहिये; क्योंकि उसीका प्रकरण है, यह सामसे भी सारतर है ॥ २ ॥

एवम्—

इस प्रकार—

स एष रसानाꣳरसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

यह जो उद्गीथ है वह सम्पूर्ण रसोंमें रसतम, उत्कृष्ट, परमात्माका प्रतीक होने योग्य और [पृथिवी आदि रसोंमें] आठवाँ है ॥ ३ ॥

स एष उद्गीथाख्य ॐकारो भूतादीनामुत्तरोत्तररसानामतिशयेन रसो रसतमः परमः परमात्मप्रतीकत्वात् । परार्ध्यः—अर्धं स्थानं परं च तदर्धं च परार्धं तदर्हतीति परार्ध्यः परमात्मस्थानार्हः परमात्मवदुपास्यत्वादित्यभिप्रायः । अष्टमः पृथिव्यादिरससंख्यायां यदुद्गीथो य उद्गीथः ॥ ३ ॥

वह यह उद्गीथसंज्ञक ओंकार भूत आदिके उत्तरोत्तर रसोंमें अतिशय रस अर्थात् रसतम है, परमात्माका प्रतीक होनेके कारण परम (उत्कृष्ट) है, परार्ध्य है—अर्ध कहते हैं स्थानको, जो पर होते हुए अर्ध भी हो उसका नाम परार्ध है, उसके योग्य होनेसे यह परार्ध्य है; तात्पर्य यह है कि परमात्माके समान उपासनीय होनेके कारण यह परमात्माका आलम्बन होने योग्य है । तथा यह जो उद्गीथ है पृथिवी आदि रसोंकी गणनामें आठवाँ है ॥ ३ ॥

वाच ऋग्रस इत्युक्तम्—

वाणीका रस ऋक् है—ऐसा कहा गया—

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

अब यह विचार किया जाता है कि कौन-कौन-सा ऋक् है, कौन-कौन-सा साम है और कौन-कौन-सा उद्गीथ है ? ॥ ४ ॥

सा कतमा ऋक्? कतमत्तत्साम? कतमो वा स उद्गीथः? कतमा कतमेति वीप्सादरार्था।

ननु 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्।' न ह्यत्र ऋग्जातिबहुत्वम्, कथं डतमच्प्रयोगः?

कौन-सी वह ऋक् है, कौन-सा वह साम है और कौन-सा वह उद्गीथ है ? 'कतमा-कतमा' (कौन-कौन) यह द्विरुक्ति आदरके लिये है।

शंका—'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' * (५ । ३ । ९३) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार अनेक जातिके लोगोंमेंसे किसी एक जातिका निश्चय करनेके लिये प्रश्न होनेपर 'डतमच्' प्रत्ययका प्रयोग इष्ट माना गया है, किंतु यहाँ ऋग्जातिकी बहुलता सम्भव नहीं है, फिर 'डतमच्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे किया गया ?

---

* इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि जहाँ विभिन्न जातियोंके अनेक पदार्थ होते हैं वहाँ किसी एक जातिके पदार्थका निश्चय करनेके लिये प्रश्न उपस्थित होनेपर 'डतमच्' प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कठ आदि बहुत-सी वेदशाखाएँ हैं, उनका स्वाध्याय करनेवाले द्विज लोगोंकी जाति उन्हीं शाखाओंके नामसे प्रसिद्ध हुई है। उनमेंसे कठ जातिका निश्चय करनेके लिये ही 'कतमः कठः' ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। परंतु यहाँ तो ऋग्वेद एक ही जाति है, फिर उसमें 'डतमच्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे हो सकता है ?

नैष दोषः, जातौ परिप्रश्नो जातिपरिप्रश्न इत्येतस्मिन्विग्रहे जातावृग्व्यक्तीनां बहुत्वोपपत्तेः । न तु जातेः परिप्रश्न इति विगृह्यते ।

ननु जातेः परिप्रश्न इत्यस्मिन् विग्रहे कतमः कठ इत्याद्युदाहरणमुपपन्नम्, जातौ परिप्रश्न इत्यत्र तु न युज्यते ।

तत्रापि कठादिजातावेव व्यक्तिबहुत्वाभिप्रायेण परिप्रश्न इत्यदोषः । यदि जातेः परिप्रश्नः स्यात्कतमा कतमर्गित्यादावुपसंख्यानं कर्तव्यं स्यात् । विमृष्टं भवति विमर्शः कृतो भवति ॥४॥

समाधान–यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'जातिपरिप्रश्न' इस पदका 'जातिमें परिप्रश्न' ऐसा विग्रह करनेपर ऋक् जातिमें ऋक् व्यक्तियों (विभिन्न ऋचाओं) की अनेकता तो सम्भव है ही; यहाँ 'जातिका परिप्रश्न' ऐसा विग्रह नहीं किया जाता ।

शंका–किंतु 'जातिका परिप्रश्न' ऐसा विग्रह करनेपर ही 'कतमः कठः' (आपमें कठशाखावाला कौन है ?) इत्यादि उदाहरण सम्भव हो सकता है, 'जातिमें परिप्रश्न' ऐसा विग्रह होनेपर यह उदाहरण नहीं दिया जा सकता ।

समाधान–वहाँ भी कठादि जातिमें ही व्यक्तियोंकी बहुलताके अभिप्रायसे ऐसा प्रश्न किया गया है—यह मान लेनेसे कोई दोष नहीं आता । यदि यह प्रश्न (ऋगादि-) जातिसे सम्बन्ध रखता तो पूर्वोक्त सूत्रसे 'कौन-कौन ऋक् हैं ?' इत्यादि उदाहरण सिद्ध न होनेके कारण उसके लिये किसी पृथक् सूत्रका विधान किया जाता ।* [अब यह] विमृष्ट होता है अर्थात् इसका विचार किया जाता है ॥ ४ ॥

---

* तात्पर्य यह है कि यदि यहाँ जातिमें प्रश्न न मानकर जातिसम्बन्धी प्रश्न माना जाय तो 'कौन-कौन ऋक् हैं ?' यह प्रश्न असंगत हो जाता है; क्योंकि ऋक् एक जाति है, उसमें रहनेवाले–भिन्न-भिन्न मन्त्रोंकी पृथक्-पृथक् जाति नहीं है । अतः यहाँ ऋक्त्वजातिविशिष्ट मन्त्ररूप व्यक्तियोंके विषयमें ही प्रश्न किया गया है, ऐसा मानना चाहिये ।

विमर्शे हि कृते सति प्रतिवचनोक्तिरुपपन्ना—

इस प्रकार विचार करनेपर ही यह प्रतिवचन (उत्तर) रूप उक्ति संगत हो सकती है कि—

वागेवर्क्प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥

वाक् ही ऋक् है, प्राण साम है और ॐ यह अक्षर उद्गीथ है । ये जो ऋक् और सामरूप वाक् और प्राण हैं, परस्पर मिथुन (जोड़े) हैं ॥ ५ ॥

वागेवर्क्प्राणः साम, ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ इति । वागृचोरेकत्वेऽपि नाष्टमत्वव्याघातः, पूर्वस्माद्वाक्यान्तरत्वात्; आप्तिगुणसिद्धये हि ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ इति ।

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है तथा ॐ यह अक्षर उद्गीथ है। इस प्रकार वाक् और ऋक्की एकता होनेपर भी [तीसरे मन्त्रमें बतलाये हुए उद्गीथके] अष्टमत्वका व्याघात नहीं होता, क्योंकि यह पूर्व वाक्यसे भिन्न वचन है, 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः' यह वचन ओंकारके आप्तिगुणकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त हुआ है [और द्वितीय मन्त्र उसके रसतमत्वका प्रतिपादन करनेके लिये है] ।

वाक्प्राणावृक्सामयोनी इति वागेवर्क्प्राणः सामेत्युच्यते । यथाक्रममृक्सामयोन्योर्वाक्प्राणयोर्ग्रहणे हि सर्वासामृचां सर्वेषां च साम्नामवरोधः कृतः स्यात् ।

वाक् और प्राण क्रमशः ऋक् और सामके कारण हैं । इसलिये वाक् ही ऋक् है और साम प्राण है—ऐसा कहा जाता है । क्रमशः ऋक् और सामके कारणरूप वाक् और प्राणका ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण ऋक् और सम्पूर्ण सामका अन्तर्भाव हो जाता है, तथा

सर्वर्क्सामावरोधे चर्क्सामसाध्यानां च सर्वकर्मणामवरोधः कृतः स्यात् । तदवरोधे च सर्वे कामा अवरुद्धाः स्युः । ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ इति भक्त्याशङ्का निवर्त्यते ।

तद्वा एतदिति मिथुनं निर्दिश्यते । किं तन्मिथुनम्? इत्याह—यद्वाक्च प्राणश्च सर्वर्क्सामकारणभूतौ मिथुनम् । ऋक्च साम चेति ऋक्सामकारणावृक्सामशब्दोक्तावित्यर्थः । न तु स्वातन्त्र्येण ऋक्च साम च मिथुनम् । अन्यथा हि वाक्च प्राणश्चेत्येकं मिथुनमृक्साम चापरं मिथुनमिति द्वे मिथुने स्याताम् । तथा च तद्वैतन्मिथुनमित्येकवचननिर्देशोऽनुपपन्नः स्यात् । तस्मादृक्सामयोन्योर्वाक्प्राणयोरेव मिथुनत्वम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण ऋक् और सम्पूर्ण सामका अन्तर्भाव होनेपर ऋक् और सामसे सिद्ध होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है, और उनका अन्तर्भाव होनेपर समस्त कामनाएँ उनके अन्तर्भूत हो जाती हैं ।* 'उद्गीथ' शब्दसे सम्पूर्ण उद्गीथ-भक्ति न ले ली जाय, इस आशङ्काको 'ओम्' यह अक्षर ही उद्गीथ है' ऐसा कहकर निवृत्त किया जाता है ।

'तद्वा एतत्' इत्यादि वाक्यसे मिथुनका निर्देश किया जाता है । वह मिथुन कौन है? यह बतलाते हैं—यह जो सम्पूर्ण ऋक् और सामके कारणभूत वाक् और प्राण हैं मिथुन हैं । 'ऋक् च साम च' इसमें ऋक् और सामके कारण ही ऋक् और साम शब्दोंसे कहे गये हैं । ऋक् और साम स्वतन्त्रतासे मिथुन नहीं हैं; नहीं तो वाक् और प्राण यह एक मिथुन तथा ऋक् और साम - यह दूसरा मिथुन इस प्रकार दो मिथुन होने; और ऐसा होनेपर 'तद्वा एतन्मिथुनम्' इस वाक्य में जो एकवचनका निर्देश किया गया है, वह असंगत हो जाता । अतः ऋक् और सामके कारणभूत वाक् और प्राण ही मिथुन हैं ॥ ५ ॥

---

* इस प्रकार सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिका कारण होनेवाला ओंकार व्याप्तिगुणविशिष्ट है—यह सिद्ध होता है ।

ओंकारमें संसृष्ट मिथुनके समागमका फल

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

वह यह मिथुन ॐ इस अक्षरमें संसृष्ट होता है। जिस समय मिथुन (मिथुनके अवयव) परस्पर मिलते हैं उस समय वे एक-दूसरेकी कामनाको प्राप्त करानेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

तदेतदेवंलक्षणं मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते । एवं सर्वकामावाप्तिगुणविशिष्टं मिथुनमोंकारे संसृष्टं विद्यत इत्योंकारस्य सर्वकामावाप्तिगुणवत्त्वं प्रसिद्धम् । वाङ्मयत्वमोंकारस्य प्राणनिष्पाद्यत्वं च मिथुनेन संसृष्टत्वम् ।

वह यह ऐसे लक्षणवाला मिथुन ॐ इस अक्षरमें संयुक्त होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिरूप गुणसे युक्त मिथुन ओंकारमें संयुक्त रहता है, इसलिये ओंकारका सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिरूप गुणसे युक्त होना सिद्ध होता है। ओंकार वाङ्मय है और प्राणसे ही निष्पन्न होनेवाला है—यही उसका मिथुनसे संयुक्त होना है।

मिथुनस्य कामापयितृत्वं प्रसिद्धमिति दृष्टान्त उच्यते—यथा लोके मिथुनौ मिथुनावयवौ स्त्रीपुंसौ यदा समागच्छतो ग्राम्यधर्मतया संयुज्येयातां तदापयतः प्रापयतोऽन्योन्यस्येतरेतरस्य तौ कामम् । तथा च स्वात्मानुप्रविष्टेन मिथुनेन सर्वकामाप्ति-

कामनाओंकी प्राप्ति करा देना यह मिथुनका प्रसिद्ध धर्म है—इस विषयमें दृष्टान्त बताया जाता है—जिस प्रकार लोकमें मिथुन यानी मिथुनके अवयवभूत स्त्री और पुरुष परस्पर मिलते हैं—ग्राम्यव्यवहार (रति)के लिये आपसमें संसर्ग करते हैं, उस समय वे एक दूसरेकी कामना पूर्ण कर देते हैं। इसी प्रकार अपनेसे अनुप्रविष्ट मिथुनके द्वारा ओंकारका सम्पूर्ण

गुणवत्त्वमोंकारस्य सिद्धमित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

कामनाओंकी प्राप्तिरूप गुणसे युक्त होना सिद्ध होता है—यह इसका अभिप्राय है ॥ ६ ॥

उद्गीथदृष्टिसे ओंकारकी उपासना करनेका फल

तदुपासकोऽप्युद्गाता तद्धर्मा भवतीत्याह—

उस (ओंकार) का उपासक उद्गाता भी उसीके समान धर्मसे युक्त होता है, यह बतलाया जाता है—

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

जो विद्वान् (उपासक) इस प्रकार इस उद्गीथरूप अक्षरकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ७ ॥

आपयिता ह वै कामानां यजमानस्य भवति । य एतदक्षरमेवमाप्तिगुणवदुद्गीथमुपास्ते तस्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः । "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" (मं०ब्रा०२०) इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

यजमानकी कामनाओंको प्राप्त करा देनेवाला होता है । तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकार इस आप्तिगुणवान् अक्षर उद्गीथकी उपासना करता है उसे यह पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है, जैसा कि 'उसकी जिस-जिस प्रकार उपासना करता है वैसा ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

ओंकारकी समृद्धिगुणवत्ता

समृद्धिगुणवांश्चोंकारः, कथम्?

ओंकार समृद्धि गुणवाला भी है, सो किस प्रकार ?

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा । समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

वह यह ओंकार ही अनुज्ञा (अनुमतिसूचक) अक्षर है । [मनुष्य] किसीको जो कुछ अनुमति देता है तो 'ॐ' (हाँ) ऐसा ही कहता है । यह अनुज्ञा ही समृद्धि है । जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओंको समृद्ध करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

तद्वा एतत्प्रकृतमनुज्ञाक्षरमनुज्ञा च साक्षरं च तत् । अनुज्ञा चानुमतिरोङ्कार इत्यर्थः । कथमनुज्ञा ? इत्याह श्रुतिरेव—यद्धि किं च यत्किं च लोके ज्ञानं धनं वानुजानाति विद्वान्धनी वा तत्रानुमतिं कुर्वन्नोमित्येव तदाह । तथा च वेदे—"त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच" (बृ० उ० ३ । ९ । १) इत्यादि । तथा च लोकेऽपि तवेदं धनं गृह्णामीत्युक्त ओमित्येवाह ।

वह यह ओंकार ही, जिसका प्रकरण चल रहा है, अनुज्ञाक्षर है । जो अनुज्ञा हो और अक्षर भी हो उसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं । अनुज्ञा अनुमतिका नाम है, अर्थात् ॐकार अनुज्ञा है । वह अनुज्ञा किस प्रकार है ? सो स्वयं श्रुति ही बतलाती है—लोकमें कोई विद्वान् या धनी पुरुष जिस किसी ज्ञान अथवा धनके लिये अनुमति देता है तो उस सम्बन्धमें अपनी अनुमति देते हुए वह 'ॐ' ऐसा ही कहता है । तथा वेदमें भी "तैंतीस ऐसा कहनेपर [शाकल्यने] 'ॐ' ऐसा कहा"* इत्यादि उदाहरण हैं और लोकमें भी 'मैं तेरा यह धन लेता हूँ' ऐसा कहनेपर 'ॐ' (हाँ) ऐसा ही कहते हैं ।

---

* शाकल्यनामक एक ब्राह्मणने याज्ञवल्क्यसे पूछा कि कितने देवता हैं ? उसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा—'तैंतीस' । तब शाकल्यने 'ॐ' ऐसा कहकर अपनी अनुमति प्रकट की । (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अत एषा उ एवैषैव समृद्धिर्यदनुज्ञा; यानुज्ञा सा समृद्धिस्तन्मूलत्वादनुज्ञायाः । समृद्धो ह्योमित्यनुज्ञां ददाति । तस्मात् समृद्धिगुणवानोङ्कार इत्यर्थः । समृद्धिगुणोपासकत्वात्तद्धर्मा सन् समर्धयिता ह वै कामानां यजमानस्य भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यादि पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अतः 'एषा उ एव' अर्थात् यही समृद्धि है जो कि अनुज्ञा कहलाती है। जो अनुज्ञा है वही समृद्धि है, क्योंकि अनुज्ञा समृद्धिमूलक होती है । समृद्ध पुरुष ही 'ॐ' ऐसी अनुज्ञा देता है । अतः तात्पर्य यह है कि ओंकार समृद्धि गुणवाला है । जो ऐसा जाननेवाला पुरुष इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करता है, वह समृद्धिगुणयुक्त वस्तुका उपासक होनेके कारण उसके ही समान धर्मवाला होकर अपने यजमानकी कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) करनेवाला होता है-इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिये ॥ ८ ॥

* * *

ओंकारकी स्तुति

अथेदानीमक्षरं स्तौत्युपास्यत्वात्प्ररोचनार्थम्, कथम् ?

इसके बाद अब श्रुति उस अक्षर (ॐ) में रुचि उत्पन्न करनेके लिये उसकी स्तुति करती है, क्योंकि वह उपास्य है । कैसे स्तुति करती है, [यह बताते हैं]—

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ९

उस अक्षरसे ही यह [ऋग्वेदादिरूप] त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है । 'ॐ' ऐसा कहकर ही [अध्वर्यु] आश्रावण कर्म करता है, 'ॐ' ऐसा कहकर ही होता शंसन करता है तथा 'ॐ' ऐसा कहकर ही उद्गाता उद्गान करता है । इस अक्षर [परमात्मा] की पूजाके लिये ही [सम्पूर्ण वैदिक कर्म हैं] । तथा इसीकी महिमा और रस (व्रीहि-यवादि हवि) के द्वारा [सब कर्म प्रवृत्त होते हैं] ॥ ९ ॥

तेनाक्षरेण प्रकृतेनेयमृग्वेदादिलक्षणा त्रयीविद्या त्रयीविद्याविहितं कर्मेत्यर्थः । न हि त्रयीविद्यैवाश्रावणादिभिर्वर्तते । कर्म तु तथा प्रवर्तत इति प्रसिद्धम् । कथम् ? ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायतीति लिङ्गाच्च सोमयाग इति गम्यते ।

तच्च कर्मैतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै पूजार्थम् । परमात्मप्रतीकं हि तत् । तदपचितिः परमात्मन एव सा । "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" (गीता १८ । ४६) इति स्मृतेः ।

किं चैतस्यैवाक्षरस्य महिम्ना महत्त्वेन ऋत्विग्यजमानादि-

उस प्रकृत अक्षरसे ही यह ऋग्वेदादिरूप त्रयीविद्या अर्थात् त्रयीविद्यासे विधान किया हुआ कर्म प्रवृत्त होता है, क्योंकि आश्रावण आदि कर्मोंद्वारा स्वयं त्रयीविद्या ही प्रवृत्त नहीं हुआ करती । हाँ, यह प्रसिद्ध ही है कि कर्म इस प्रकार प्रवृत्त हुआ करता है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] ॐ ऐसा कहकर [अध्वर्यु] आश्रावण करता है, ॐ ऐसा कहकर [होता] शंसन करता है और ॐ ऐसा कहकर [उद्गाता] उद्गान करता है । इस प्रकार आश्रावण आदि तीनों कर्मोंके समाहाररूप लिङ्ग * (लक्षण) से जाना जाता है कि यह सोमयागका वर्णन है ।

तथा वह कर्म भी इस अक्षरकी ही अपचिति—पूजाके लिये है, क्योंकि वह परमात्माका प्रतीक है, अतः उसकी पूजा परमात्माकी ही पूजा है; जैसा कि "अपने कर्मसे उसका पूजन करके मनुष्य सिद्धि लाभ करता है" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है ।

तथा इस अक्षरकी महिमा—महत्त्व यानी ऋत्विज् एवं यजमान

---

* अध्वर्यु, होता और उद्गाता—इन तीनोंके कर्मोंका समाहार दर्शपूर्णमास आदिमें सम्भव नहीं है । अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें ही जो सोमयागसंस्थाके अन्तर्गत हैं उसकी सम्भावना है । अतः यहाँ उक्त तीनों कार्योंके समाहाररूप लिङ्ग (लक्षण) से यह सूचित होता है कि यहाँ ॐकारसे आरम्भ होनेवाले त्रयीविद्या-विहित कर्म-सोमयागका ही वर्णन है ।

प्राणैरित्यर्थः । तथैतस्यैवाक्षरस्य रसेन व्रीहियवादिरसनिर्वृत्तेन हविषेत्यर्थः; यागहोमाद्यक्षरेण क्रियते । तच्चादित्यमुपतिष्ठते । ततो वृष्ट्यादिक्रमेण प्राणोऽन्नं च जायते । प्राणैरन्नेन च यज्ञस्तायते । अत उच्यते 'अक्षरस्य महिम्ना रसेन' इति ॥ ९ ॥

आदिके प्राणोंसे ही तथा इस अक्षरके रस— व्रीहि-यवादिरससे निष्पन्न हुए हविष्यसे ही [वैदिककर्म सम्पन्न होते हैं] । [तो क्या वे प्राण और हवि उस अक्षरके विकार हैं ? इसपर कहते हैं—] वे याग-होमादि इस अक्षरके उच्चारणपूर्वक ही किये जाते हैं । वे कर्म आदित्यको प्राप्त होते हैं । फिर उससे वृष्टि आदि क्रमसे प्राण और अन्नकी उत्पत्ति होती है तथा प्राण और अन्नसे यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है । इसीलिये 'इस अक्षरकी महिमासे और रससे' ऐसा कहा गया है ॥९॥

उद्गीथविद्याके जानने और न जाननेवालेके कर्मका भेद

तत्राक्षरविज्ञानवतः कर्म कर्तव्यमिति स्थितमाक्षिपति—

ऐसी अवस्थामें जिसे अक्षर-विज्ञान है उसीको कर्म करना चाहिये— इस व्यवस्थामें श्रुति आक्षेप करती है—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

जो इस (अक्षर) को इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता वे दोनों ही उसके द्वारा [कर्म] करते हैं । किंतु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न-भिन्न [फल देनेवाली] हैं । जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे युक्त होकर किया जाता है वही प्रबलतर होता है, इस प्रकार निश्चय ही यह सब इस अक्षरकी ही व्याख्या है ॥ १० ॥

तेनाक्षरेणोभौ यश्चैतदक्षरमेवं व्याख्यातं वेद यश्च कर्ममात्रविदक्षरयाथात्म्यं न वेद तावुभौ कुरुतः कर्म । तयोश्च कर्मसामर्थ्यादेव फलं स्यात्किं तत्राक्षरयाथात्म्यविज्ञानेनेति । दृष्टं हि लोके हरीतकीं भक्षयतोस्तद्रसाभिज्ञेतरयोर्विरेचनम् । नैवम्, यस्मान्नाना तु विद्या चाविद्या च भिन्ने हि विद्याविद्ये । तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः ।

न ओँकारस्य कर्माङ्गत्वमात्रविज्ञानमेव रसतमाप्तिसमृद्धिगुणवद्विज्ञानम्, किं तर्हि ? ततोऽभ्यधिकम् । तस्मात्तदङ्गाधिक्यात्फलाधिक्यं युक्तमित्यभिप्रायः । दृष्टं हि लोके वणिक्छबरयोः पद्मरागादि-

उस अक्षरके द्वारा दोनों ही प्रकारके लोग कर्म करते हैं; [कौन-कौन ?] (१) जो इस अक्षरको जैसी कि ऊपर व्याख्या की गयी है उसी प्रकार जानते हैं; और (२) जो केवल कर्मको ही जानते हैं, अक्षरके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, वे दोनों ही कर्मानुष्ठान करते हैं । [अब यदि कोई कहे कि] उन्हें कर्मके सामर्थ्यसे ही फलकी प्राप्ति हो जायगी, अक्षरके याथात्म्यको जाननेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि लोकमें हरीतकी (हर्रे) के रसको जाननेवाले और न जाननेवाले इन दोनोंको ही हरीतकी खानेसे दस्त होते देखे गये हैं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि विद्या और अविद्या इन दोनोंमें भेद है—विद्या और अविद्या दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं । 'तु' शब्द पक्षकी व्यावृत्ति करनेके लिये है ।

ओंकार रसतम तथा आप्ति और समृद्धि इन गुणोंसे युक्त है—ऐसा जानना उसे केवल कर्माङ्गमात्र जाननेके ही तुल्य नहीं है, तो फिर कैसा है ? उससे सब प्रकार बढ़ा हुआ है । अतः अभिप्राय यह है कि कर्माङ्गज्ञानसे उत्कृष्ट होनेके कारण उसके फलकी उत्कृष्टता भी उचित ही है । लोकमें यह देखा ही गया है कि व्यापारी और भील——

मणिविक्रये वणिजो विज्ञानाधिक्यात्फलाधिक्यम् । तस्माद्यदेव विद्यया विज्ञानेन युक्तः सन् करोति कर्म श्रद्धया श्रद्दधानश्च सन्नुपनिषदा योगेन युक्तश्चेत्यर्थः, तदेव कर्म वीर्यवत्तरमविद्वत्कर्मणोऽधिकफलं भवतीति । विद्वत्कर्मणो वीर्यवत्तरत्ववचनादविदुषोऽपि कर्म वीर्यवदेव भवतीत्यभिप्रायः ।

न चाविदुषः कर्मण्यनधिकारः । औपस्त्ये काण्डेऽविदुषामप्यार्त्विज्यदर्शनात् । रसतमाप्तिसमृद्धिगुणवदक्षरमित्येकमुपासनम्, मध्ये प्रयत्नान्तरादर्शनात् । अनेकैर्हि विशेषणैरनेकधोपास्यत्वात् खल्वेतस्यैव प्रकृतस्योद्गीथाख्यस्याक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

इन दोनोंमेंसे व्यापारीको पद्मरागादि मणियोंकी बिक्रीका अधिक ज्ञान होनेके कारण अधिक फल होता है । अतः विद्या अर्थात् विज्ञानसे युक्त होकर श्रद्धासे यानी श्रद्धालु होकर और उपनिषद् अर्थात् योगसे युक्त होकर जो कर्म करता है वही प्रबलतर होता है—अविद्वान्के कर्मसे अधिक फल देनेवाला होता है । विद्वान्का कर्म प्रबलतर बतलाया गया है, इससे यह अभिप्राय सूचित होता है कि अविद्वान्का भी कर्म प्रबल तो होता ही है ।

अविद्वान्का कर्ममें अधिकार न हो—ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि औपस्त्यकाण्डमें (इस अध्यायके दशम खण्डमें) अविद्वानोंको भी ऋत्विक्कर्म करते देखा जाता है । वह अक्षर रसतम तथा आप्ति और समृद्धि गुणोंसे युक्त है—ऐसी एक उपासना है, क्योंकि इसका निरूपण करते समय बीचमें कोई और प्रयत्न नहीं देखा गया । अनेकों विशेषणोंद्वारा अनेक प्रकारसे उपास्य होनेके कारण निश्चय ही यह सब इस उद्गीथसंज्ञक प्रकृत अक्षर(ॐ)की ही व्याख्या है।१०

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

प्राणोपासनाकी उत्कृष्टता सूचित करनेवाली आख्यायिका

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है, [पूर्वकालमें] प्रजापतिके पुत्र देवता और असुर किसी कारणवश परस्पर युद्ध करने लगे। उनमेंसे देवताओंने यह सोचकर कि, इसके द्वारा इनका पराभव करेंगे, उद्गीथका अनुष्ठान किया ॥१॥

देवासुरा देवाश्चासुराश्च। आख्यायिकार्थ-निर्वचनम् देवा दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रियवृत्तयः। असुरास्तद्विपरीताः स्वेष्वेवासुषु विष्वग्विषयासु प्राणनक्रियासु रमणात्स्वाभाविक्यस्तमआत्मिका इन्द्रियवृत्तय एव। ह वा इति पूर्ववृत्तोद्भासकौ निपातौ। यत्र यस्मिन्निमित्त इतरेतरविषयापहारलक्षणे संये-

देवासुराः—देवता और असुरगण। 'देव' शब्द द्योतनार्थक 'दिव्' धातुसे सिद्ध हुआ है। इसका अभिप्राय शास्त्रालोकित इन्द्रियवृत्तियाँ हैं। तथा उसके विपरीत, जो अपने ही असुओं (प्राणों) में यानी विविध विषयोंमें जानेवाली प्राणनक्रियाओंमें (जीवनोपयोगी प्राणव्यापारोंमें) ही रमण करनेवाली होनेके कारण स्वभावसे ही तमोमयी इन्द्रियवृत्तियाँ हैं, वे ही 'असुर' कहलाती हैं। 'ह' और 'वै' ये पूर्व वृत्तान्तको सूचित करनेवाले निपात हैं। 'यत्र' जिस निमित्तसे अर्थात् एक-दूसरेके विषयोंके अप-

तिरे । संपूर्वस्य यततेः सङ्ग्रामार्थत्वमिति सङ्ग्रामं कृतवन्त इत्यर्थः ।

शास्त्रीयप्रकाशवृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविक्यस्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयोऽसुराः । तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थविषयविवेकज्योतिरात्मानो देवाः स्वाभाविकतमोरूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ता इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः सङ्ग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं देवासुरसङ्ग्रामोऽनादिकालप्रवृत्त इत्यभिप्रायः । स इह श्रुत्याख्यायिकारूपेण धर्माधर्मोत्पत्तिविवेकविज्ञानाय कथ्यते प्राणविशुद्धिविज्ञानविधिपरतया ।

अत उभयेऽपि देवासुराः प्रजापतेरपत्यानीति प्राजापत्याः । प्रजापतिः कर्मज्ञानाधिकृतःपुरुषः

हरणरूप जिस किसी निमित्तसे संयत हुए । 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'यत्' धातुका अर्थ संग्राम होनेके कारण इसका अभिप्राय 'उन्होंने संग्राम किया'—ऐसा समझना चाहिये ।

शास्त्रीय प्रकाशवृत्तिका पराभव करनेके लिये प्रवृत्त हुई स्वभावसे ही तमोरूपा इन्द्रियवृत्तियाँ असुर हैं । तथा उनसे विपरीत शास्त्रार्थविषयक विवेकज्योतिःस्वरूप देवगण स्वाभाविक तमोरूप असुरोंका पराभव करनेके लिये प्रवृत्त हैं । इस प्रकार परस्परकी वृत्तियोंके अभिभव-उद्भवरूप संग्रामके समान यह देवासुर-संग्राम अनादिकालसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रत्येक देहमें होता आ रहा है—ऐसा इसका अभिप्राय है । यहाँ श्रुति धर्माधर्मकी उत्पत्तिके विवेकका बोध करानेके लिये प्राणोंकी विशुद्धिके विज्ञानका विधान करते हुए आख्यायिकारूपसे उसीका वर्णन कर रही है ।

इसीसे ये देवता और असुर, दोनों प्रजापतिके पुत्र हैं इसलिये प्राजापत्य, "पुरुष ही उक्थ है, यही महान् प्रजापति है" इस अन्य श्रुतिके अनुसार प्रजापति, कर्म और ज्ञान

"पुरुष एवोक्थमयमेव महान्प्रजापतिः" इति श्रुत्यन्तरात् । तस्य हि शास्त्रीयाः स्वाभाविक्यश्च करणवृत्तयो विरुद्धा अपत्यानीव, तदुद्भवत्वात् ।

(उपासना) के अधिकारी पुरुषका नाम है [ब्रह्माका नहीं] । उसीकी शास्त्रीय और स्वाभाविक—ये परस्पर-विरुद्ध इन्द्रियवृत्तियाँ संतानके समान हैं, क्योंकि इनका आविर्भाव उसीसे होता है ।

तत्तत्रोत्कर्षापकर्षलक्षणनिमित्ते ह देवा उद्गीथमुद्गीथभक्त्युपलक्षितमौद्गात्रं कर्माजह्रुराहृतवन्तः । तस्यापि केवलस्याहरणासंभवाज्ज्योतिष्टोमाद्याहृतवन्त इत्यभिप्रायः । तत्किमर्थमाजह्रुः ? इत्युच्यते—अनेन कर्मणैनानसुरानभिभविष्याम इत्येवमभिप्रायाः सन्तः ॥ १ ॥

उत्कर्ष-अपकर्षरूप निमित्तके कारण होनेवाले उस संग्राममें देवताओंने उद्‌गीथका यानी उद्‌गीथ-भक्तिसे उपलक्षित उद्‌गाताके कर्मका आहरण—अनुष्ठान किया । अकेले उसीका अनुष्ठान होना असम्भव होनेके कारण उन्होंने ज्योतिष्टोम आदिका अनुष्ठान किया—ऐसा इसका अभिप्राय है । उन्होंने उसका अनुष्ठान किसलिये किया ? यह बतलाया जाता है—इस कर्मसे हम इन असुरोंका पराभव कर देंगे—ऐसे अभिप्रायवाले होकर [उन्होंने उद्‌गीथका अनुष्ठान किया] ॥ १ ॥

प्राणादिका सदोषत्व

यदा च तदुद्गीथं कर्माजिहीर्षवस्तदा—

जिस समय उन्होंने उस उद्‌गीथ कर्मका अनुष्ठान करना चाहा उस समय—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

उन्होंने नासिकामें रहनेवाले प्राणके रूपमें उद्गीथकी उपासना की। किंतु असुरोंने उसे पापसे विद्ध कर दिया । इसीसे वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनोंको सूँघता है, क्योंकि वह पापसे बिंधा हुआ है ॥ २ ॥

ते ह देवा नासिक्यं नासिकायां भवं प्राणं चेतनावन्तं घ्राणं प्राणमुद्गीथकर्तारमुद्गातारमुद्गीथभक्त्योपासांचक्रिरे कृतवन्त इत्यर्थः । नासिक्यप्राणदृष्ट्योद्गीथाख्यमक्षरमोङ्कारमुपासांचक्रिर इत्यर्थः । एवं हि प्रकृतार्थपरित्यागोऽप्रकृतार्थोपादानं च न कृतं स्यात् । 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य' इत्योङ्कारो ह्युपास्यतया प्रकृतः ।

ननूद्गीथोपलक्षितं कर्माहृतवन्त इत्यवोचः, इदानीमेव कथं नासिक्यप्राणदृष्ट्योङ्कारमुपासांचक्रिर इत्यात्थ ?

प्रसिद्ध है, उन देवताओंने नासिक्य—नासिकामें रहनेवाले प्राण यानी चेतनावान् घ्राणेन्द्रियकी, जो उद्गीथकर्ता—उद्गाता है, उद्गीथभक्तिसे उपासना की, तात्पर्य यह है कि उद्गीथसंज्ञक ओंकार अक्षरकी नासिकामें रहनेवाले प्राणके रूपमें उपासना की । इस प्रकार प्रकृत अर्थका परित्याग और अप्रकृत अर्थका ग्रहण नहीं करना पड़ता; क्योंकि 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य' इस श्रुतिवचनके अनुसार यहाँ उपास्यरूपसे ओंकारका ही प्रकरण है ।

शंका—किंतु तुमने तो कहा था कि उन्होंने 'उद्गीथ'शब्दसे उपलक्षित कर्मका अनुष्ठान किया । अब ऐसा क्यों कहते हो कि उद्गीथसंज्ञक ओंकार अक्षरकी ही नासिकामें स्थित प्राणके रूपमें उपासना की ?

नैष दोषः; उद्गीथकर्मण्येव हि तत्कर्तृप्राणदेवतादृष्ट्योद्गीथभक्त्यवयवश्चोङ्कार उपास्यत्वेन विवक्षितो न स्वतन्त्रः। अतस्तादर्थ्येन कर्माहृतवन्त इति युक्तमेवोक्तम्।

तमेवं देवैर्वृतमुद्गातारं हासुराः स्वाभाविकतमआत्मानो ज्योतीरूपं नासिक्यं प्राणं देवं स्वोत्थेन पाप्मनाधर्मासङ्गरूपेण विविधुर्विद्धवन्तः संसर्गं कृतवन्त इत्यर्थः। स हि नासिक्यः प्राणः कल्याणगन्धग्रहणाभिमानासङ्गाभिभूतविवेकविज्ञानो बभूव। स तेन दोषेण पाप्मसंसर्गी बभूव। तदिदमुक्तमसुराः पाप्मना विविधुरिति।

यस्मादासुरेण पाप्मना विद्धस्तस्मात्तेन पाप्मना प्रेरितो घ्राणः प्राणो दुर्गन्धग्राहकः प्राणिनाम्। अतस्तेनोभयं जिघ्रति लोकः

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ उद्गीथ कर्ममें ही उसका कर्ता जो प्राणदेवता है उसीकी दृष्टिसे उद्गीथभक्तिका अवयवभूत ओंकार उपास्यरूपसे विवक्षित है—स्वतन्त्र ओंकार नहीं। अतः उसीके लिये उद्गाताके कर्मका अनुष्ठान किया—ऐसा जो कहा है वह उचित ही है।

देवताओंसे इस प्रकार वरण किये हुए उस उद्गाता ज्योतिःस्वरूप नासिकास्थित प्राणदेवको स्वभावसे ही तमोमय असुरोंने अधर्म और आसक्तिरूप अपने पापसे बेध दिया; अर्थात् उससे संयुक्त कर दिया। वह जो नासिकास्थित प्राण है उसमें पुण्य गन्धको ग्रहण करनेके अभिमान और आसक्तिरूप दोष आ जानेसे उसके विवेक और विज्ञानका अभाव हो गया। उस दोषके कारण वह पापसे संसर्ग रखनेवाला हो गया। इसीसे यह कहा है कि असुरोंने उसे पापसे विद्ध कर दिया।

क्योंकि प्राण आसुर पापसे विद्ध है इसलिये उस पापसे प्रेरित हुआ ही वह प्राणियोंका घ्राणसंज्ञक प्राण दुर्गन्धको ग्रहण करनेवाला है। इसीसे लोक सुगन्धि और दुर्गन्धि

सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष यस्माद्विद्धः। उभयग्रहणमविवक्षितम्, 'यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छति' इति यद्वत्। "यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति" (बृ० उ० १।३।३) इति समानप्रकरणश्रुतेः॥ २॥

दोनोंहीको सूँघता है, क्योंकि यह पापसे बिंधा हुआ है। जिस प्रकार "जिसकी द्रवात्मक एवं पुरोडाशात्मक दोनों हवियाँ दूषित हो जायँ (वह इन्द्र देवताके लिये पाँच सकोरोंमें भात अर्पण करे)" इस वाक्यमें 'दोनों' पद विवक्षित नहीं है; उसी प्रकार यहाँ भी 'उभय' पदका ग्रहण करना इष्ट नहीं है।* [बृहदारण्यक-श्रुतिमें भी] इसीके समान प्रकरणमें यही सुना गया है कि "जो इस प्रतिकूल गन्धको सूँघता है।" [इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'उभय' शब्दको ग्रहण करना उचित नहीं है]॥२॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। ता२ँहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा॥ ३॥

फिर उन्होंने वाणीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की। किंतु असुरोंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। इसीसे लोक उसके द्वारा सत्य और मिथ्या दोनों बोलता है, क्योंकि वह पापसे बिंधी हुई है॥ ३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ४॥

---

[१] द्रवात्मक या पुरोडाशात्मक किसी एक प्रकारकी हवि भी यदि काक आदिके स्पर्शसे दूषित हो जाय तो उसके लिये प्रायश्चित्तकी आवश्यकता होती है, फिर उपर्युक्त वाक्यमें दोनों हवियोंके दूषित होनेपर प्रायश्चित्तकी व्यवस्था क्यों बतायी गयी। अवश्य ही वहाँ 'दोनों' (उभयम्) पद अनावश्यक या अविवक्षित है।

* क्योंकि 'पापसे विद्ध होनेके कारण लोक दुर्गन्धको ग्रहण करता है' केवल इतना ही कहना उचित है।

फिर उन्होंने चक्षुके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे विद्ध कर दिया । इसीसे लोक उससे देखनेयोग्य और न देखनेयोग्य दोनों प्रकारके पदार्थोंको देखता है, क्योंकि वह (चक्षु-इन्द्रिय) पापसे बिंधा हुआ है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳशृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने श्रोत्रके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे बेध दिया । इसीसे लोक उससे सुननेयोग्य और न सुननेयोग्य दोनों प्रकारकी बातोंको सुनता है, क्योंकि वह (श्रोत्रेन्द्रिय) पापसे बिंधा हुआ है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳसंकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

फिर उन्होंने मनके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरोंने उसे भी पापसे बेध दिया । इसीसे उसके द्वारा लोक संकल्प करनेयोग्य और संकल्प न करनेयोग्य दोनोंहीका संकल्प करता है, क्योंकि वह पापसे बिंधा हुआ है ॥ ६ ॥

मुख्यप्राणस्योपास्यत्वाय तद्विशुद्धत्वानुभवार्थोऽयं विचारः श्रुत्या प्रवर्तितः । अतश्चक्षुरादि-

मुख्य प्राणको उपास्य सिद्ध करनेके लिये उसकी विशुद्धताका अनुभव करानेके प्रयोजनसे श्रुतिने इस विचारका आरम्भ किया है । अतः चक्षु आदि

देवताः क्रमेण विचार्यासुरेण पाप्मना विद्धा इत्यपोह्यन्ते । समानमन्यत् । अथ ह वाचं चक्षुः श्रोत्रं मन इत्यादि । अनुक्ता अप्यन्यास्त्वग्रसनादिदेवता द्रष्टव्याः "एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिः" (बृ० उ० १ । ३ । ६) इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ३-६ ॥

देवता आसुर पापसे विद्ध हैं—इस प्रकार क्रमशः विचार करके उनका अपवाद किया जाता है । शेष सब भी इसीके समान हैं । इसी प्रकार उन्होंने वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन आदिको भी [पापसे विद्ध कर दिया] "इस प्रकार निश्चय ही ये देवता पापसे संयुक्त हैं" इस अन्य श्रुतिके अनुसार, यहाँ जिनका नाम नहीं लिया गया है, उन त्वक् एवं रसना आदि अन्य देवताओंको भी ऐसे ही पापविद्ध समझना चाहिये ॥ ३-६ ॥

मुख्य प्राणद्वारा असुरोंका पराभव

आसुरेण विद्धत्वाद्घ्राणादिदेवता अपोह्य—

आसुर पापसे विद्ध होनेके कारण घ्राणादि देवताओंका त्याग कर—

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत ॥ ७ ॥

फिर यह जो प्रसिद्ध मुख्य प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । उस (प्राणके) समीप पहुँचकर असुरगण इस प्रकार विध्वस्त हो गये जैसे दुर्भेद्य पाषाणके पास पहुँचकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

अथानन्तरं य एवायं प्रसिद्धो मुखे भवो मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तं हासुराः पूर्व-

अथ—इसके पश्चात् जो कि यह प्रसिद्ध मुख्य—मुखमें रहनेवाला प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । असुरगण पूर्ववत्

वदृत्वा प्राप्य विदध्वंसुर्विनष्टाः, अभिप्रायमात्रेण, अकृत्वा किंचिदपि प्राणस्य ।

कथं विनष्टाः ? इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथा लोकेऽश्मानमाखणं—न शक्यते खनितुं कुद्दालादिभिरपि, टङ्कैश्चच्छेत्तुं न शक्योऽखणः, अखण एव आखणस्तमृत्वा सामर्थ्याल्लोष्टः पांसुपिण्डः श्रुत्यन्तराच्चाश्मनि क्षिप्तोऽश्मभेदनाभिप्रायेण तस्याश्मनः किंचिदप्यकृत्वा स्वयं विध्वंसेत विदीर्येतैवं विदध्वंसुरित्यर्थः । एवं विशुद्धोऽसुरैरधर्षितत्वात् प्राण इति ॥ ७ ॥

उसे प्राप्त होते ही—प्राणका कुछ भी न बिगाड़कर केवल उसे विद्ध करनेका संकल्प करके ही विध्वस्त हो गये ।

वे किस प्रकार नष्ट हो गये ? इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जिस प्रकार लोकमें आखण-पाषाणको प्राप्त होकर—जिसे कुद्दालादिसे भी न खोदा जा सके तथा जो टाँकियोंसे भी छिन्न न किया जा सके उसे 'अखण' कहते हैं, 'अखण' ही 'आखण' (अभेद्य) कहा गया है उसीको प्राप्त होकर अर्थात् पाषाणकी ओर उसे फोड़नेके अभिप्रायसे फेंका हुआ लोष्ट—पांसुपिण्ड यानी मिट्टीका ढेला उस पत्थरका कुछ भी न बिगाड़कर स्वयं नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वे असुर भी विनष्ट हो गये । इस प्रकार असुरोंसे पराभूत न होनेके कारण मुख्य प्राण शुद्ध रहा—यह इसका तात्पर्य है । यहाँ प्रकरणके सामर्थ्यसे और दूसरी श्रुतिके अनुसार 'लोष्ट' शब्द अध्याहृत किया गया है ।७।

प्राणोपासकका महत्त्व

एवंविदः प्राणात्मभूतस्येदं फलमाह—

इस प्रकार जाननेवाले प्राणात्मभूत व्यक्तिके लिये श्रुति यह फल बतलाती है—

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳहैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार [मिट्टीका ढेला] दुर्भेद्य पाषाणको प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाशको प्राप्त हो जाता है जो इस प्रकार जाननेवाले पुरुषके प्रति पापाचरणकी कामना करता है अथवा जो इसको कोसता या मारता है; क्योंकि यह प्राणोपासक अभेद्य पाषाण ही है ॥ ८ ॥

यथाश्मानमिति, एष एव दृष्टान्तः; एवं हैव स विध्वंसते विनश्यति; कोऽसौ? इत्याह—य एवंविदि यथोक्तप्राणविदि पापं तदनर्हं कर्तुं कामयत इच्छति यश्चाप्येनमभिदासति हिनस्ति प्राणविदं प्रत्याक्रोशताडनादि प्रयुङ्क्ते सोऽप्येवमेव विध्वंसत इत्यर्थः। यस्मात्स एष प्राणवित् प्राणभूतत्वादश्माखण इवाश्माखणोऽधर्षणीय इत्यर्थः।

जिस प्रकार पाषाणको प्राप्त होकर इत्यादि—यही इसमें दृष्टान्त है। उसी प्रकार निश्चय ही वह नष्ट हो जाता है; कौन नष्ट हो जाता है? सो बतलाते हैं—जो इस प्रकार पूर्वोक्त प्राणको जाननेवाले उपासकके प्रति उसके अयोग्य पापाचरण करनेकी कामना—इच्छा करता है, तथा जो इसका हनन करता है--इस प्राणवेत्ताके प्रति गाली-गलौज एवं ताडनादिका प्रयोग करता है वह भी इसी प्रकार नष्ट हो जाता है—यह इसका अभिप्राय है; क्योंकि वह प्राणवेत्ता प्राणस्वरूप होनेके कारण दुर्भेद्य पाषाणके समान दुर्भेद्य पाषाण अर्थात् दुर्धर्ष है।

ननु नासिक्योऽपि प्राणो वाय्वात्मा यथा मुख्यस्तत्र नासिक्यः प्राणः पाप्मना विद्धः प्राण एव सन्न मुख्यः कथम् ?

नैष दोषः; नासिक्यस्तु स्थानकरणवैगुण्याद्विद्धो वाय्वात्मापि सन्; मुख्यस्तु तदसंभवात् स्थानदेवताबलीयस्त्वान्न विद्ध इति युक्तम्। यथा वास्यादयः शिक्षावत्पुरुषाश्रयाः कार्यविशेषं कुर्वन्ति नान्यहस्तगतास्तद्वद्दोषवद्घ्राणसचिवत्वाद्विद्धा घ्राणदेवता न मुख्यः ॥ ८ ॥

शंका—जैसा कि मुख्य प्राण है उसी प्रकार नासिकास्थित प्राण भी तो वायुरूप ही है; किंतु प्राणरूप होते हुए भी केवल नासिकागत प्राण ही पापसे विद्ध है, मुख्य प्राण नहीं है—सो कैसे ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। नासिकामें रहनेवाला प्राण तो वायुरूप होनेपर भी स्थानावच्छिन्न इन्द्रियके दोषके कारण असुरोंद्वारा पापसे विद्ध हो गया है; किंतु मुख्य प्राण आश्रयदोषकी असम्भवताके कारण तथा स्थानदेवतासे प्रबलतर होनेके कारण पापसे विद्ध नहीं हुआ——यह उचित ही है। जिस प्रकार बसूला आदि औजार सुशिक्षित पुरुषके हाथमें रहनेपर विशेष कार्य करते हैं, किंतु दूसरेके हाथमें पड़नेपर वैसा नहीं करते, उसी प्रकार दोषयुक्त घ्राणका साथी होनेके कारण घ्राणदेवता पापसे विद्ध है और मुख्य प्राण पापविद्ध नहीं है ॥ ८ ॥

* * *

यस्मान्न विद्धोऽसुरैर्मुख्यस्तस्मात्—

क्योंकि मुख्य प्राण असुरोंद्वारा पापविद्ध नहीं हुआ, इसलिये—

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति । एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

लोक इस (मुख्य प्राण)के द्वारा न सुगन्धको जानता है और न दुर्गन्धको ही जानता है; क्योंकि यह पापसे पराभूत नहीं है । अतः यह जो कुछ खाता या पीता है उससे अन्य प्राणोंका (इन्द्रियोंका) पोषण करता है । अन्तमें इस मुख्य प्राणको प्राप्त न होनेके कारण ही [घ्राणादि प्राणसमूह] उत्क्रमण करता है और इसीसे अन्तमें पुरुष मुख फाड़ देता है ॥ ९ ॥

नैवैतेन सुरभि दुर्गन्धि वा विजानाति घ्राणेनैव तदुभयं विजानाति लोकः । अतश्च पाप्मकार्यादर्शनादपहतपाप्मापहतो विनाशितोऽपनीतः पाप्मा यस्मात्सोऽयमपहतपाप्मा ह्येष विशुद्ध इत्यर्थः ।

यस्माच्चात्मंभरयः कल्याणासङ्गवत्त्वाद्घ्राणादयो न तथात्मंभरिर्मुख्यः, किं तर्हि ? सर्वार्थः कथम् ? इत्युच्यते—तेन मुख्येन यदश्नाति यत्पिबति

लोक इस मुख्य प्राणके द्वारा न सुगन्धको जानता है और न दुर्गन्धको ही । इन दोनोंको वह घ्राणके द्वारा ही जानता है । अतः पापका कार्य न देखे जानेके कारण यह अपहतपाप्मा है—जिससे पाप अपहत—विनाशित अर्थात् दूर कर दिया गया है वह यह मुख्य प्राण अपहतपाप्मा अर्थात् विशुद्ध है ।

क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियाँ अपने-अपने कल्याणमें आसक्त होनेके कारण अपना ही पोषण करनेवाली हैं और मुख्य प्राण उस प्रकार अपना ही पोषण करनेवाला नहीं है; तो फिर वह कैसा है ? वह तो सभीका हितकारी है । किस प्रकार ? सो बतलाया जाता है——उस मुख्य

लोकस्तेनाशितेन पीतेन चेतरान् घ्राणादीनवति पालयति । तेन हि तेषां स्थितिर्भवतीत्यर्थः । अतः सर्वंभरिः प्राणोऽतो विशुद्धः ।

कथं पुनर्मुख्याशितपीताभ्यां स्थितिरेषां गम्यते ? इत्युच्यते— एतं मुख्यं प्राणम्, मुख्यप्राणस्य वृत्तिमन्नपाने इत्यर्थः, अन्ततोऽन्ते मरणकालेऽवित्त्वालब्ध्वोत्क्रामति घ्राणादिप्राणसमुदाय इत्यर्थः । अप्राणो हि न शक्नोत्यशितुं पातुं वा । तेन तदोत्क्रान्तिः प्रसिद्धा घ्राणादिकलापस्य । दृश्यते ह्युत्क्रान्तौ प्राणस्याशिशिषा । अतो व्याददात्येवास्यविदारणं करोतीत्यर्थः । तद्ध्यन्नालाभ उत्क्रान्तस्य लिङ्गम् ॥९॥

प्राणके द्वारा लोग जो कुछ खाते-पीते हैं उस खाये-पियेसे वह मुख्य प्राण घ्राणादि दूसरे प्राणोंका पोषण करता है, क्योंकि उसीसे उन सबकी स्थिति होती है । इसलिये मुख्य प्राण सभीका पोषण करनेवाला है, अतः वह विशुद्ध है ।

किंतु मुख्य प्राणद्वारा खाये-पीये पदार्थोंसे अन्य प्राणोंकी स्थिति किस प्रकार जानी जाती है ? सो बतलाते हैं——इस मुख्य प्राणको अर्थात् इस मुख्य प्राणकी वृत्तिरूप अन्न-पानको न पाकर ही अन्त समय—मरण कालमें घ्राणादि इन्द्रियसमुदाय उत्क्रमण करता है, क्योंकि प्राणहीन पुरुष खाने या पीनेमें समर्थ नहीं होता । इसीसे उस समय घ्राणादि इन्द्रियसमुदायकी उत्क्रान्ति प्रसिद्ध है । उत्क्रमणके समय प्राणकी भोजन करनेकी इच्छा स्पष्ट देखी जाती है । इसीसे उस समय वह मुख बा देता है । यही उत्क्रमण करनेवाले घ्राणादिको अन्नादि प्राप्त न होनेका चिह्न है ॥ ९ ॥

* * *

प्राणकी आङ्गिरस संज्ञा होनेमें हेतु

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

अङ्गिरा ऋषिने इस (मुख्य प्राण) के ही रूपमें उद्गीथकी उपासना की थी । अतः इस प्राणको ही आङ्गिरस मानते हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गोंका रस है ॥ १० ॥

तं हाङ्गिरास्तं मुख्यं प्राणं हाङ्गिरा इत्येवंगुणमुद्गीथमुपासांचक्र उपासनं कृतवान्बको दाल्भ्य इति वक्ष्यमाणेन संबध्यते । तथा बृहस्पतिरिति, आयास्य इति चोपासांचक्रे बक इत्येवं संबन्धं कृतवन्तः केचित्; 'एतमु एवाङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यं प्राणं मन्यन्ते' इति वचनात् ।

भवत्येवं यथाश्रुतासंभवे संभवति तु यथाश्रुतम्, ऋषिचोदनायामपि श्रुत्यन्तरवत्; ''तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षत एतमेव सन्तमृषिमपि'' । तथा माध्यमो गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिरित्यादीन् ऋषीनेव प्राणमापादयति श्रुतिः । तथैतानप्यृषीन् प्राणोपासकानङ्गिरोबृहस्पत्यायास्यान्प्राणं करोत्यभेदविज्ञानाय

'तं हाङ्गिरा:' अर्थात् अङ्गिरा—ऐसे गुणवाले इस मुख्य प्राणरूप उद्गीथकी दाल्भ्य बकने उपासना की—इस प्रकार इसका आगेसे सम्बन्ध है । तथा किसी-किसीने 'दल्भपुत्र बकने बृहस्पति और आयास्यगुणवाले प्राणरूप उद्गीथकी उपासना की'—इस तरह इसका सम्बन्ध लगाया है; क्योंकि यहाँ 'इस प्राणको ही आङ्गिरस बृहस्पति और आयास्य मानते हैं' ऐसा वचन है ।

ठीक है, यदि यथाश्रुत अर्थ (श्रुतिका सरलार्थ) सम्भव न हो तो ऐसा [दूरान्वयी] अर्थ भी लिया जा सकता है । किंतु यहाँ तो ''अतः ऋषि होनेपर भी इसे (प्राणको) 'शतर्चिन' ऐसा कहकर पुकारते हैं'' इस अन्य श्रुतिके अनुसार ऋषियोंका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त यथाश्रुत अर्थ भी सम्भव है ही । इसी प्रकार श्रुति माध्यम, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव और अत्रि आदि ऋषियोंको ही प्राणभावकी प्राप्ति कराती है; ऐसे ही 'प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है' इत्यादिके समान अङ्गिरा,

'प्राणो ह पिता प्राणो माता' इत्यादिवच्च । तस्मादृषिरङ्गिरा नाम प्राण एव सन्नात्मानमङ्गिरसं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्र इत्येतत् । यद्यस्मात्सोऽङ्गानां प्राणः सन्रसस्तेनासावाङ्गिरसः ॥ १० ॥

बृहस्पति और आयास्य—इन प्राणोपासक ऋषियोंको भी श्रुति अभेदविज्ञानके लिये प्राण बनाती है । अतः इसका तात्पर्य यह है कि अङ्गिरा नामक ऋषिने प्राणस्वरूप होकर ही अङ्गिरस आत्मा प्राणरूप उद्गीथकी उपासना की; क्योंकि प्राण होनेके कारण वह अङ्गोंका रस है, इसलिये आङ्गिरस है ॥ १० ॥

प्राणकी बृहस्पति संज्ञा होनेमें हेतु

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥ ११ ॥

इसीसे बृहस्पतिने उस प्राणके रूपमें उद्गीथकी उपासना की । लोग इस प्राणको ही बृहस्पति मानते हैं; क्योंकि वाक् ही बृहती है और यह उसका पति है ॥ ११ ॥

तथा वाचो बृहत्याः पतिस्तेनासौ बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

तथा यह वाक् यानी बृहतीका पति है, इसलिये बृहस्पति है ॥ ११ ॥

प्राणकी आयास्य संज्ञा होनेमें हेतु

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

इसीसे आयास्यने इस प्राणके रूपमें ही उद्गीथकी उपासना की । लोग इस प्राणको ही आयास्य मानते हैं; क्योंकि यह आस्य (मुख) से निकलता है ॥ १२ ॥

तथा यद्यस्मादास्यादयते निर्गच्छति तेनायास्य ऋषिः प्राण एव सन्नित्यर्थः । तथान्योऽप्युपासक आत्मानमेवाङ्गिरगादिगुणं प्राणमुद्गीथमुपासीतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

तथा क्योंकि यह आस्य (मुख) से निकलता है, इसलिये आयास्य ऋषिने प्राणरूप होकर ही [इस प्राणमय उद्गीथकी उपासना की]—यह इसका तात्पर्य है । अर्थात् अन्य उपासकको भी आङ्गिरस आदि गुणोंसे युक्त आत्मस्वरूप प्राणके रूपमें ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये ॥ १२ ॥

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार । स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति १३

अतः दल्भके पुत्र बकने [पूर्वोक्तरूपसे] उसे जाना । [अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणमय उद्गीथकी उपासना की ।] वह नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवालोंका उद्गाता हुआ और उसने उनकी कामनापूर्तिके लिये उद्गान किया ॥ १३ ॥

न केवलमङ्गिरःप्रभृतय उपासांचक्रिरे; तं ह बको नाम दल्भस्यापत्यं दाल्भ्यो विदांचकार यथा दर्शितं प्राणं विज्ञातवान् । विदित्वा च स ह नैमिशीयानां सत्रिणामुद्गाता बभूव । स च प्राणविज्ञानसामर्थ्यादेभ्यो नैमिशीयेभ्यः कामानागायति स्म हागीतवान्किलेत्यर्थः ॥ १३ ॥

केवल अङ्गिरा आदिने ही प्राणरूप उद्गीथकी उपासना नहीं की; बल्कि दल्भके पुत्र बकने भी उसे [इसी प्रकार] जाना था अर्थात् पूर्वप्रदर्शित प्राणका ज्ञान प्राप्त किया था । इस प्रकार उसे जानकर वह नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवालोंका उद्गाता हुआ तथा इस प्राण-विज्ञानके सामर्थ्यसे ही उसने उन नैमिशीय याज्ञिकोंकी कामनाओंका [उनकी पूर्तिके लिये] आगान किया ॥ १३ ॥

प्राणदृष्टिसे ओंकारोपासनाका फल

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इसे इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् इस उद्गीथसंज्ञक अक्षर (ओंकार) की इस प्रकार उपासना करता है, वह कामनाओंका आगान करनेवाला होता है—ऐसी यह अध्यात्म उपासना है ॥ १४ ॥

तथा अन्योऽप्युद्गाता आगाता ह वै कामानां भवति य एवं विद्वान्यथोक्तगुणं प्राणमक्षरमुद्गीथमुपास्ते। तस्यैतद्दृष्टं फलमुक्तम्, प्राणात्मभावस्त्वदृष्टं “देवो भूत्वा देवानप्येति” इति श्रुत्यन्तरात्सिद्धमेवेत्यभिप्रायः । इत्यध्यात्ममेतदात्मविषयमुद्गीथोपासनमित्युक्तोपसंहारोऽधिदैवतोद्गीथोपासने वक्ष्यमाणे बुद्धिसमाधानार्थः ॥ १४ ॥

इसे इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् इस उद्गीथसंज्ञक अक्षरकी उपर्युक्त गुणविशिष्ट प्राणरूपसे उपासना करता है, वह अन्य उद्गाता भी कामनाओंका आगान करनेवाला हो जाता है । यह उसका दृष्ट फल बतलाया गया है । “देवता होकर ही देवताओंको प्राप्त होता है” इस अन्य श्रुतिके अनुसार प्राणस्वरूपताकी प्राप्तिरूप अदृष्ट फल तो सिद्ध ही है—यह इसका अभिप्राय है । इत्यध्यात्मम्—यह उद्गीथोपासना आत्मविषयिणी है—इस प्रकार जो पूर्वोक्त कथनका उपसंहार किया गया है वह आगे कही जानेवाली अधिदैवत उद्गीथोपासनामें बुद्धिको समाहित करनेके लिये है ॥ १४॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२॥

तृतीय खण्ड

आदित्यदृष्टिसे उद्गीथोपासना

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यꣳस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

इसके अनन्तर अधिदैवत उपासनाका वर्णन किया जाता है—जो कि वह [आदित्य] तपता है, उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये । यह उदित होकर प्रजाओंके लिये उद्गान करता है, उदित होकर अन्धकार और भयका नाश करता है । जो इस प्रकार इसको जानता (इसकी उपासना करता) है वह निश्चय ही अन्धकार और भयका नाश करनेवाला होता है ॥ १ ॥

अथानन्तरमधिदैवतं देवताविषयमुद्गीथोपासनं प्रस्तुतमित्यर्थः अनेकधोपास्यत्वादुद्गीथस्य । य एवासावादित्यस्तपति तमुद्गीथमुपासीतादित्यदृष्ट्योद्गीथमुपासीतेत्यर्थः । तमुद्गीथमित्युद्गीथशब्दोऽक्षरवाची सन्कथमादित्ये वर्तते ? इत्युच्यते—

इसके अनन्तर अधिदैवत अर्थात् देवताविषयक उद्गीथोपासनाका आरम्भ किया जाता है, क्योंकि उद्गीथ अनेक प्रकारसे उपासनीय है । जो कि यह आदित्य तपता है, उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करे; अर्थात् आदित्यदृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे । 'तमुद्गीथम्' इसमें 'उद्गीथ' शब्द अक्षरवाचक होता हुआ किस प्रकार आदित्यमें संगत होता है ? यह बतलाया जाता है—

उद्यन्नुद्गच्छन्वा एष प्रजाभ्यः प्रजार्थमुद्गायति प्रजानामन्नोत्पत्त्यर्थम् । न ह्यनुद्यति तस्मिन् व्रीह्यादेर्निष्पत्तिः स्यादत उद्गायतीवोद्गायति, यथैवोद्गातान्नार्थम् । अत उद्गीथः सवितेत्यर्थः ।

यह [आदित्य] उदित होता हुआ—ऊपरकी ओर जाता हुआ प्रजाके लिये——प्रजाओंके अन्नकी उत्पत्तिके लिये उद्गान करता है, क्योंकि उसके उदित न होनेपर व्रीहि आदिकी निष्पत्ति नहीं हो सकती; अतः जिस प्रकार उद्गाता अन्नके लिये उद्गान करता है, उसी प्रकार वह उद्गान करनेके समान उद्गान करता है । अतः सूर्य उद्गीथ है—यह इसका तात्पर्य है ।

किं चोद्यन्नैशं तमस्तज्जं च भयं प्राणिनामपहन्ति तमेवंगुणं सवितारं यो वेद सोऽपहन्ता नाशयिता ह वै भयस्य जन्ममरणादिलक्षणस्य आत्मनस्तमसश्च तत्कारणस्य अज्ञानलक्षणस्य भवति ॥ १ ॥

इसके सिवा, वह उदित होकर रात्रिके अन्धकार और उससे होनेवाले प्राणियोंके भयका भी नाश करता है । जो इस प्रकारके गुणसे युक्त सविताकी उपासना करता है, वह जन्म-मरणादिरूप आत्माके भय और अन्धकारका अर्थात् उसके कारणभूत अज्ञानका नाश करनेवाला होता है ॥ १ ॥

सूर्य और प्राणकी समानता तथा प्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना

यद्यपि स्थानभेदात्प्राणादित्यौ भिन्नाविव लक्ष्येते तथापि न स तत्त्वभेदस्तयोः, कथम् ?

यद्यपि स्थानभेदके कारण प्राण और आदित्य भिन्न-से दिखायी देते हैं, तथापि वह उनका तात्त्विक भेद नहीं है । किस प्रकार ? [यह बतलाते हैं—]

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

यह [प्राण] और वह [सूर्य] परस्पर समान ही हैं । यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है । इस [प्राण] को 'स्वर' ऐसा कहते हैं और उस [सूर्य] को भी 'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर' ऐसा कहते हैं । अतः इस [प्राण] और उस [सूर्य] रूपसे उद्गीथकी उपासना करे ॥ २ ॥

समान उ एव तुल्य एव प्राणः सवित्रा गुणतः, सविता च प्राणेन । यस्मादुष्णोऽयं प्राण उष्णश्चासौ सविता । किं च स्वर इतीमं प्राणमाचक्षते कथयन्ति, तथा स्वर इति प्रत्यास्वर इति चामुं सवितारम् । यस्मात्प्राणः स्वरत्येव न पुनर्मृतः प्रत्यागच्छति, सविता त्वस्तमित्वा पुनरप्यहन्यहनि प्रत्यागच्छति; अतः प्रत्यास्वरः । अस्माद्गुणतो नामतश्च समानावितरेतरं प्राणादित्यौ । अतः तत्त्वाभेदादेतं प्राणमिमममुं चादित्यमुद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

गुणदृष्टिसे प्राण सूर्यके सदृश ही है तथा सूर्य प्राणके सदृश है, क्योंकि यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है । तथा इस प्राणको 'स्वर' ऐसा कहकर पुकारते हैं और उस सूर्यको भी 'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर' ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण (गमन) ही करता है—मरनेके पश्चात् वह पुनः लौटता नहीं; किंतु सूर्य प्रतिदिन अस्तमित हो-होकर लौट आता है, इसलिये वह प्रत्यास्वर है । इस प्रकार गुण और नामसे भी ये प्राण और आदित्य एक-दूसरेके तुल्य ही हैं । अतः तत्त्वतः अभेद होनेके कारण इस प्राण और उस सूर्यरूपसे उद्गीथकी (उद्गीथावयवभूत ओंकारकी) उपासना करे ॥ २ ॥

व्यानदृष्टिसे उद्गीथोपासना

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

तदनन्तर दूसरे प्रकारसे [अध्यात्मोपासना कही जाती है—] व्यानदृष्टिसे ही उद्गीथकी उपासना करे । पुरुष जो प्राणन करता है (मुख या नासिकाद्वारा वायुको बाहर निकालता है) वह प्राण है और जो अपश्वास लेता है (वायुको भीतरकी ओर खींचता है) वह अपान है । तथा प्राण और अपानकी जो सन्धि है वही व्यान है । जो व्यान है वही वाक् है । इसीसे पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करते हुए ही वाणी बोलता है ॥ ३ ॥

अथ खल्विति प्रकारान्तरेणोपासनमुद्गीथस्योच्यते; व्यानमेव वक्ष्यमाणलक्षणं प्राणस्यैव वृत्तिविशेषमुद्गीथमुपासीत । अधुना तस्य तत्त्वं निरूप्यते-यद्वै पुरुषः प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति, स प्राणाख्यो वायोर्वृत्तिविशेषः, यदपानित्यपश्वसिति ताभ्यामेवान्तराकर्षति वायुं सोऽपानोऽपानाख्या वृत्तिः ।

'अथ खलु'—अब प्रकारान्तरसे उद्गीथकी उपासना कही जाती है । प्राणका ही वृत्तिविशेष जो आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त व्यान है, उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करे । अब उसके तत्त्वका निरूपण किया जाता है । पुरुष जो प्राणन करता है अर्थात् मुख और नासिकाद्वारा वायुको बाहर निकालता है, वह वायुका प्राण नामक वृत्तिविशेष है; तथा वह जो अपश्वास करता है, अर्थात् उन (मुख और नासिका) के ही द्वारा वायुको भीतर खींचता है वह उसकी अपानसंज्ञक वृत्ति है ।

ततः किम् ? इत्युच्यते—अथ य उक्तलक्षणयोः प्राणापानयोः सन्धिस्तयोरन्तरा वृत्तिविशेषः, स व्यानः; यः सांख्यादिशास्त्रप्रसिद्धः श्रुत्या विशेषनिरूपणान्नासौ व्यान इत्यभिप्रायः ।

कस्मात्पुनः प्राणापानौ हित्वा महतायासेन व्यानस्यैवोपासनमुच्यते ? वीर्यवत्कर्महेतुत्वात् । कथं वीर्यवत्कर्महेतुत्वमित्याह—यो व्यानः सा वाक्, व्यानकार्यत्वाद्वाचः । यस्माद्व्याननिर्वर्त्या वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्प्राणापानव्यापारावकुर्वन्वाचमभिव्याहरत्युच्चारयति लोकः ॥ ३ ॥

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यह बतलाया जाता है——उन उपर्युक्त लक्षणवाले प्राण और अपानकी जो सन्धि है——उनके बीचका जो वृत्तिविशेष है, वह व्यान है । श्रुतिद्वारा विशेषरूपसे निरूपण किये जानेके कारण यहाँ वह व्यान अभिप्रेत नहीं है जो सांख्यादि शास्त्रमें प्रसिद्ध [सर्वदेहव्यापी] व्यान है ऐसा इसका तात्पर्य है ।

किंतु प्राण और अपानको छोड़कर अत्यन्त परिश्रमसे व्यानकी ही उपासनाका निरूपण क्यों किया गया ? [ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं——] क्योंकि यह वीर्यवान् कर्मकी निष्पत्तिका कारण है । यह वीर्यवान् कर्मकी सिद्धिका कारण कैसे है ? इसपर कहते हैं—जो व्यान है, वही वाणी है, क्योंकि वाणी व्यानका ही कार्य है । वाणी व्यानसे निष्पन्न होनेवाली है, इसलिये लोक प्राणन और अपानन अर्थात् प्राण और अपानकी क्रियाएँ न करता हुआ वाणीका अभिव्याहरण——उच्चारण करता है ॥ ३ ॥

* * *

व्यानप्रयुक्त होनेसे वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथकी समानता

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

जो वाक् है वही ऋक् है। इसीसे पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ऋक्‌का उच्चारण करता है। जो ऋक् है वही साम है। इसीसे प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ सामगान करता है। जो साम है वही उद्गीथ है। इसीसे प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ उद्गान करता है ॥ ४ ॥

तथा वाग्विशेषामृचम्, ऋक्संस्थं च साम, सामावयवं चोद्गीथम्, अप्राणन्ननपानन्व्यानेनैव निर्वर्तयतीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार वाग्विशेष ऋक्, ऋक्‌स्थित साम और सामके अवयवभूत उद्गीथको भी पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ केवल व्यानसे ही सम्पन्न करता है—यह इसका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

न केवलं वागाद्यभिव्याहरणमेव—

केवल वाणी आदिका उच्चारण ही नहीं—

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

इसके सिवा जो और भी वीर्ययुक्त कर्म हैं; जैसे—अग्निका मन्थन, किसी सीमातक दौड़ना तथा सुदृढ़ धनुषको खींचना—इन सब कर्मोंको भी पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही करता है। इस कारण व्यानदृष्टिसे ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये ॥ ५ ॥

अतोऽस्मादन्यान्यपि यानि वीर्यवन्ति कर्माणि प्रयत्नाधिक्यनिर्वर्त्यानि—यथाग्नेर्मन्थनम्,आजेर्मर्यादायाः सरणं धावनम्, दृढस्य धनुष आयमनमाकर्षणम्—अप्राणन्ननपानंस्तानि करोति ।

अतो विशिष्टो व्यानः प्राणादिवृत्तिभ्यः । विशिष्टस्योपासनं ज्यायः फलवत्त्वाद्राजोपासनवत् । एतस्य हेतोरेतस्मात्कारणाद्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत, नान्यद्वृत्त्यन्तरम् । कर्मवीर्यवत्तरत्वं फलम् ॥ ५ ॥

इसके सिवा जो दूसरे भी अधिक प्रयत्नसे निष्पन्न होनेवाले वीर्ययुक्त कर्म हैं—जैसे अग्निका मन्थन, किसी सीमातक दौड़ना और सुदृढ़ धनुषको खींचना—उन्हें भी पुरुष प्राण और अपानकी क्रिया न करते हुए ही करता है ।

अतः प्राणादिवृत्तियोंकी अपेक्षा व्यान विशिष्ट है; और राजाकी उपासनाके समान फलवती होनेके कारण विशिष्टकी उपासना भी उत्कृष्टतर है । इस हेतुसे अर्थात् इस कारणसे व्यानरूपसे ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये—वायुकी अन्य वृत्तियोंके रूपसे नहीं । कर्मको अधिक प्रबल बनाना ही इसका फल है ॥ ५ ॥

उद्गीथाक्षरोंमें प्राणादिदृष्टि

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वꣳस्थितम् ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् उद्गीथाक्षरोंकी—'उद्गीथ' इस नामके अक्षरोंकी उपासना करनी चाहिये—'उद्गीथ' इस शब्दमें प्राण ही 'उत्' है, क्योंकि प्राणसे ही उठता है; वाणी ही 'गी' है, क्योंकि वाणीको 'गिरा' कहते हैं तथा अन्न ही 'थ' है, क्योंकि अन्नमें ही यह सब स्थित है ॥ ६ ॥

अथाधुना खल्वुद्गीथाक्षराण्युपासीत भक्त्यक्षराणि मा भूवन्नित्यतो विशिनष्टि—उद्गीथ इति, उद्गीथनामाक्षराणीत्यर्थः । नामाक्षरोपासनेऽपि नामवत एवोपासनं कृतं भवेदमुकमिश्रा इति यद्वत् ।

इसके पश्चात् अब उद्गीथके अक्षरोंकी उपासना करनी चाहिये । 'उद्गीथ' शब्दसे उद्गीथभक्तिके अक्षर न समझ लिये जायँ इसलिये 'उद्गीथ' यह विशेषण लगाते हैं । तात्पर्य यह है कि 'उद्गीथ' इस नामके अक्षरोंकी उपासना करे; क्योंकि 'अमुक मिश्र' ऐसा कहनेसे जैसे उस नामवाले व्यक्ति-विशेषका बोध होता है, उसी प्रकार नामके अक्षरोंकी उपासना करनेसे भी नामीकी ही उपासना की जाती है ।

प्राण एव उत्, उदित्यस्मिन्नक्षरे प्राणदृष्टिः । कथं प्राणस्योच्चमित्याह—प्राणेन ह्युत्तिष्ठति सर्वोऽप्राणस्यावसाददर्शनात्; अतोऽस्त्युदः प्राणस्य च सामान्यम् । वाग्गीः, वाचो ह गिर इत्याचक्षते शिष्टाः । तथान्नं थम्, अन्ने हीदं सर्वं स्थितमतोऽस्त्यन्नस्य थाक्षरस्य च सामान्यम् ॥ ६ ॥

प्राण ही 'उत्' है, अर्थात् 'उत्' इस अक्षरमें प्राणदृष्टि करनी चाहिये । प्राण किस प्रकार 'उत्' है, सो बतलाते हैं—सब लोग प्राणसे ही उठते हैं, क्योंकि प्राणहीनकी शिथिलता देखी गयी है; अतः उत् और प्राणकी समानता स्पष्ट ही है । वाक् 'गी' है, क्योंकि शिष्ट लोग वाक्को 'गिरा' ऐसा कहते हैं तथा अन्न 'थ' है, क्योंकि अन्नमें ही यह सब स्थित है; अतः अन्न और थ अक्षरकी समानता है ॥ ६ ॥

उद्गीथाक्षरोंमें द्युलोकादि तथा सामवेदादिदृष्टि

त्रयाणां श्रुत्युक्तानि सामान्यानि तानि तेनानुरूपेण शेषेष्वपि द्रष्टव्यानि—

इन तीनोंकी समानता श्रुतिने बतलायी है । इन्हींके अनुसार शेष स्थानोंमें भी समझनी चाहिये—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थ ँ सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

द्यौ ही 'उत्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है और पृथिवी 'थ' है । आदित्य ही 'उत्' है, वायु 'गी' है और अग्नि 'थ' है । सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है और ऋग्वेद 'थ' है । इन अक्षरोंको इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् 'उद्गीथ' इस प्रकार इन उद्गीथाक्षरोंकी उपासना करता है उसके लिये वाणी, जो [ऋग्वेदादि] वाक्का दोह है, उसका दोहन करती है तथा वह अन्नवान् और अन्नका भोक्ता होता है ॥ ७ ॥

द्यौरेव उत्, उच्चैःस्थानात् । अन्तरिक्षं गीर्गिरणाल्लोकानाम् । पृथिवी थं प्राणिस्थानात् । आदित्य एव उत्, ऊर्ध्वत्वात् । वायुर्गीरग्न्यादीनां गिरणात् । अग्निस्थं यज्ञकर्मावस्थानात् । सामवेद एव उत्, स्वर्गसंस्तुतत्वात् । यजुर्वेदो

ऊँचे स्थानवाला होनेके कारण द्युलोक ही 'उत्' है, लोकोंका गिरण करने (निगलने) से अन्तरिक्ष 'गी' है और प्राणियोंका स्थान होनेके कारण पृथिवी 'थ' है । ऊँचा होनेके कारण आदित्य ही 'उत्' है, अग्नि आदिको निगलनेके कारण वायु 'गी' है और यज्ञसम्बन्धी कर्मका अवस्थान (आश्रय) होनेसे अग्नि ही 'थ' है तथा स्वर्गमें स्तुत होनेके कारण सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है, क्योंकि

गीर्यजुषां प्रत्तस्य हविषो देवतानां गिरणात् । ऋग्वेदस्थम्, ऋच्यध्यूढत्वात्साम्नः ।

उद्गीथाक्षरोपासनफलमधुनोच्यते—दुग्धे दोग्ध्यस्मै साधकाय । का सा ? वाक्, कम् ? दोहम्, कोऽसौ दोहः ? इत्याह—यो वाचो दोहः । ऋग्वेदादिशब्दसाध्यं फलमित्यभिप्रायः, तद्वाचो दोहस्तं स्वयमेव वाग्दोग्ध्यात्मानमेव दोग्धि । किं चान्नवान्प्रभूतान्नोऽन्नादश्च दीप्ताग्निर्भवति य एतानि यथोक्तान्येवं यथोक्तगुणान्युद्गीथाक्षराणि विद्वान्सन्नुपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

यजुर्वेदियोंके दिये हुए हविको देवतालोग निगलते हैं तथा ऋग्वेद 'थ' है; क्योंकि ऋक्में ही साम अधिष्ठित है ।

अब उद्गीथाक्षरोंकी उपासनाका फल बतलाया जाता है—इस साधकके लिये दोहन करती है, कौन ? वाक्, किसका दोहन करती है ? दोहका, वह दोह क्या है ? इसपर कहते हैं—जो वाणीका दोह है; अभिप्राय यह है कि जो ऋग्वेदादि शब्दसे साध्य फल है, वह वाणीका दोह है, उसे वाणी स्वयं ही दुहती है । अपनेहीको दुहती है । यही नहीं वह अन्नवान्—बहुत-से अन्नवाला और अन्नका भोक्ता भी हो जाता है, उसकी जठराग्नि उद्दीप्त रहती है, जो इन उपर्युक्त उद्गीथाक्षरोंकी इन्हें उपर्युक्त गुणोंसे विशिष्ट जानकर, 'उद्गीथ' इस रूपसे उपासना करता है ॥ ७ ॥

* * *

सकामोपासनाका क्रम

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

अब निश्चय ही कामनाओंकी समृद्धि [के साधनका वर्णन किया जाता है—] अपने उपगन्तव्यों (ध्येयों) की इस प्रकार उपासना

करे—जिस सामके द्वारा उद्गाताको स्तुति करना हो उस सामका [उसकी उत्पत्ति आदिके क्रमसे] चिन्तन करे ॥ ८ ॥

अथ खल्विदानीमाशीःसमृद्धिराशिषः कामस्य समृद्धिर्यथा भवेत्तदुच्यत इति वाक्यशेषः। उपसरणान्युपसर्तव्यान्युपगन्तव्यानि ध्येयानीत्यर्थः; कथम्? इत्युपासीत—एवमुपासीत; तद्यथा—येन साम्ना येन सामविशेषेण स्तोष्यन्स्तुतिं करिष्यन् स्याद्भवेदुद्गाता तत्सामोपधावेदुपसरेच्चिन्तयेदुत्पत्त्यादिभिः॥८॥

इसके अनन्तर अब निश्चय ही आशीःसमृद्धि—जिस प्रकार आशीः अर्थात् कामनाकी समृद्धि होगी वह बतलायी जाती है, इस प्रकार इस वाक्यकी पूर्ति करनी चाहिये । उपसरण—उपसर्तव्य—उपगन्तव्य अर्थात् ध्येय-इनकी किस प्रकार उपासना करनी चाहिये ? इनकी उपासना इस प्रकार करे; यथा—जिस सामसे अर्थात् जिस सामविशेषसे उद्गाताको स्तुति करनी हो उस सामका उसकी उत्पत्ति आदिके क्रमसे उपधावन—उपसरण अर्थात् चिन्तन करे ॥ ८ ॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

[वह साम] जिस ऋचामें [प्रतिष्ठित हो] उस ऋचाका, जिस ऋषिवाला हो उस ऋषिका तथा जिस देवताकी स्तुति करनेवाला हो उस देवताका चिन्तन करे ॥ ९ ॥

यस्यामृचि तत्साम तां चर्चमुपधावेद्देवतादिभिः । यदार्षेयं साम तं चर्षिम् । यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ।९।

वह साम जिस ऋचामें अधिष्ठित हो उस ऋचाका उसके देवतादिके सहित चिन्तन करे । तथा वह साम जिस ऋषिवाला हो उस ऋषिका और जिस देवताकी स्तुति करनेवाला हो उस देवताका भी चिन्तन करे ॥ ९ ॥

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳस्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

वह जिस छन्दके द्वारा स्तुति करनेवाला हो उस छन्दका उपधावन करे तथा जिस स्तोमसे स्तुति करनेवाला हो उस स्तोमका चिन्तन करे ॥ १० ॥

येनच्छन्दसा गायत्र्यादिना स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेत् । येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्, स्तोमाङ्गफलस्य कर्तृगामित्वादात्मनेपदं स्तोष्यमाण इति, तं स्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

वह जिस गायत्री आदि छन्दसे स्तुति करनेवाला हो उस छन्दका उपधावन करे तथा जिस स्तोमसे स्तुति करनेवाला हो उस स्तोमका चिन्तन करे । स्तोमकर्मका अङ्गभूत फल कर्ताको प्राप्त होनेवाला होनेसे यहाँ 'स्तोष्यमाणः' इस पदमें आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है* ॥ १० ॥

* * *

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

जिस दिशाकी स्तुति करनेवाला हो उस दिशाका चिन्तन करे ॥ ११ ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेदधिष्ठात्रादिभिः ११

[वह साम] जिस दिशाकी स्तुति करनेवाला हो उस दिशाका उसके अधिष्ठाता देवता आदिके सहित चिन्तन करे ॥ ११ ॥

---

* क्योंकि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार जिस क्रियाका फल कर्ताको प्राप्त होनेवाला होता है उसमें आत्मनेपदका प्रयोग हुआ करता है ।

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

अन्तमें अपने स्वरूपका चिन्तन कर अपनी कामनाका चिन्तन करते हुए अप्रमत्त होकर स्तुति करे। जिस फलकी इच्छासे युक्त होकर वह स्तुति करता है वही फल तत्काल समृद्धिको प्राप्त होता है ॥१२॥

आत्मानमुद्गाता स्वं रूपं गोत्रनामादिभिः सामादीन्क्रमेण स्वं चात्मानमन्ततोऽन्त उपसृत्य स्तुवीत। कामं ध्यायन्नप्रमत्तः स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः प्रमादमकुर्वन्। ततोऽभ्याशः क्षिप्रमेव ह यद्यत्रास्मा एवंविदे स कामः समृध्येत समृद्धिं गच्छेत्। कोऽसौ? यत्कामो यः कामोऽस्य सोऽयं यत्कामः सन् स्तुवीतेति द्विरुक्तिरादरार्था ॥ १२ ॥

उद्गाताको चाहिये कि गोत्र और नामादिके सहित अपना—अपने स्वरूपका चिन्तन करता हुआ अर्थात् सामादि क्रमसे अन्तमें अपना स्मरण करता हुआ स्तुति करे। [किस प्रकार स्तुति करे ?] फलका चिन्तन करता हुआ अप्रमत्त होकर अर्थात् स्वर, ऊष्म एवं व्यञ्जनादि वर्णोच्चारणमें प्रमाद न करता हुआ [स्तुति करे]। इस प्रकार जाननेवाले उस उपासकको जो कामना होती है वह शीघ्र ही समृद्ध (फलवती) हो जाती है। वह कामना कौन-सी है ? वह उपासक यत्काम अर्थात् जिस कामनावाला होकर स्तुति करता है। [श्रुतिमें] 'यत्कामः स्तुवीत' इन पदोंका दो बार प्रयोग आदरके लिये है ॥ १२ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥३॥

चतुर्थ खण्ड

उद्गीथसंज्ञक ओंकारोपासनासे सम्बद्ध आख्यायिका

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

'ॐ' यह अक्षर उद्गीथ है—इस प्रकार इसकी उपासना करे । 'ॐ' ऐसा [उच्चारण करके यज्ञमें उद्गाता] उद्गान करता है । उस (उद्गीथोपासना) की ही व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

ओमित्येतदित्यादिप्रकृतस्याक्षरस्य पुनरुपादानमुद्गीथाक्षराद्युपासनान्तरितत्वादन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदित्येवमर्थम् । प्रकृतस्यैवाक्षरस्यामृताभयगुणविशिष्टस्योपासनं विधातव्यमित्यारम्भः । ओमित्यादि व्याख्यातम् ॥ १ ॥

पूर्व-प्रस्तावित ओंकार अक्षरका ही 'ओमित्येतत्' इत्यादि वाक्यद्वारा इसलिये ग्रहण किया गया है जिससे बीचमें 'उद्गीथ' शब्दके अक्षरोंकी उपासनासे व्यवहित हो जानेके कारण अन्यत्र प्रसङ्ग न हो जाय । उस पूर्वप्रस्तावित अक्षरके ही अमृत और अभय गुणविशिष्ट स्वरूपकी उपासनाका विधान करना है—इसीके लिये [आगेका ग्रन्थ] आरम्भ किया जाता है । ओमित्यादि मन्त्रकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १ ॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

[एक बार] मृत्युसे भय मानते हुए देवताओंने त्रयीविद्यामें प्रवेश किया । उन्होंने अपनेको छन्दोंसे आच्छादित कर लिया । देवताओंने जो उनके द्वारा अपनेको आच्छादित किया वही छन्दोंका छन्दपन है । [अर्थात् देवताओंको आच्छादित करनेके कारण ही मन्त्रोंका नाम छन्द हुआ है] ॥ २ ॥

देवा वै मृत्योर्मारकाद्बिभ्यतः किं कृतवन्तः ? इत्युच्यते-त्रयीं विद्यां त्रयीविहितं कर्म प्राविशन् प्रविष्टवन्तो वैदिकं कर्म प्रारब्धवन्त इत्यर्थः, तन्मृत्योस्त्राणं मन्यमानाः । किं च ते कर्मण्यविनियुक्तैश्छन्दोभिर्मन्त्रैर्जपहोमादि कुर्वन्त आत्मानं कर्मान्तरेष्वच्छादयंश्छादितवन्तः । यद्यस्मादेभिर्मन्त्रैरच्छादयंस्तत्तस्माच्छन्दसां मन्त्राणां छादनाच्छन्दस्त्वं प्रसिद्धमेव ॥ २ ॥

प्रसिद्ध देवताओंने मारक मृत्युसे भय मानते हुए क्या किया ? यह बतलाया जाता है—उन्होंने त्रयी विद्यामें—वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित कर्ममें प्रवेश किया । अर्थात् वैदिक कर्मको ही मृत्युसे बचनेका साधन समझकर उन्होंने उसीका आरम्भ कर दिया । तथा कर्ममें जिनका विनियोग नहीं है उन छन्दों—मन्त्रोंसे जप एवं होमादि करते हुए उन्होंने अपनेको कर्मान्तरोंमें आच्छादित कर दिया । क्योंकि उन्होंने अपनेको इन मन्त्रोंसे आच्छादित कर दिया था, इसलिये छादन करनेके कारण ही छन्दों यानी मन्त्रोंका छन्दपन प्रसिद्ध ही है ॥२॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार [मछेरा] जलमें मछलियोंको देख लेता है, उसी प्रकार ऋक्, साम और यजुःसम्बन्धी कर्मोंमें लगे हुए उन देवताओंको मृत्युने देख लिया । इस बातको जान लेनेपर उन देवताओंने ऋक्, साम और यजुःसम्बन्धी कर्मोंसे निवृत्त होकर स्वर (ॐ इस अक्षर) में ही प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तांस्तत्र देवान्कर्मपरान्मृत्युर्यथा लोके मत्स्यघातको मत्स्यमुदके नातिगम्भीरे परिपश्येद्बडिशोदकस्रावोपायसाध्यं मन्यमानः, एवं पर्यपश्यद्दृष्टवान्मृत्युः; कर्मक्षयोपायेन साध्यान्देवान्मेन इत्यर्थः । क्वासौ देवान्ददर्श ? इत्युच्यते—ऋचि साम्नि यजुषि । ऋग्यजुःसामसम्बन्धिकर्मणीत्यर्थः । ते नु देवा वैदिकेन कर्मणा संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्तो मृत्योश्चिकीर्षितं विदितवन्तः । विदित्वा च त ऊर्ध्वा व्यावृत्ताः कर्मभ्य ऋचः साम्नो

जिस प्रकार लोकमें बंसी लगाने और जल उलीचने आदि उपायोंसे मछलियोंको पकडा जा सकता है, यह जाननेवाला मछेरा उन्हें कम गहरे जलमें देख लेता है उसी प्रकार मृत्युने कर्मपरायण देवताओंको वहाँ [छिपे हुए] देख लिया, अर्थात् मृत्युने यह समझ लिया कि देवताओंको कर्मक्षयरूप उपायके द्वारा अपने अधीन किया जा सकता है । उसने देवताओंको कहाँ देखा ? यह बतलाया जाता है—ऋक्, साम और यजुमें अर्थात् ऋक्, यजुः और सामसम्बन्धी कर्ममें । वैदिक कर्मानुष्ठानके कारण शुद्धचित्त हुए उन देवताओंने 'मृत्यु क्या करना चाहता है ?' यह जान लिया । यह जानकर वे ऋक्, साम और यजुःसे अर्थात् ऋक्, यजुः और सामसम्बन्धी कर्मसे निवृत्त

यजुष ऋग्यजुःसामसंबद्धात्कर्मणोऽभ्युत्थायेत्यर्थः । तेन कर्मणा मृत्युभयापगमं प्रति निराशास्तदपास्यामृताभयगुणमक्षरं स्वरं स्वरशब्दितं प्राविशन्नेव प्रविष्टवन्तः; ॐकारोपासनपराः संवृत्ताः । एवशब्दोऽवधारणार्थः सन्समुच्चयप्रतिषेधार्थः । तदुपासनपराः संवृत्ता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

होकर ऊपरकी ओर उठे । उस कर्मसे मृत्युके भयकी निवृत्तिके प्रति निराश होनेके कारण वे उसे छोड़कर अमृत और अभय गुणविशिष्ट अक्षर यानी स्वरमें—स्वरसंज्ञक अक्षरमें ही प्रविष्ट हो गये अर्थात् ओंकारोपासनामें तत्पर हो गये । यहाँ 'एव' शब्द अवधारणके लिये होकर [पूर्व स्थानोंके साथ स्वरके] समुच्चयका प्रतिषेध करनेके लिये है । तात्पर्य यह है कि वे उसीकी उपासनामें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

ओंकारका उपयोग और महत्त्व

कथं पुनः स्वरशब्दवाच्यत्वमक्षरस्य ? इत्युच्यते—

किंतु वह अक्षर 'स्वर' शब्दका वाच्यार्थ किस प्रकार है ? यह बतलाया जाता है—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

जिस समय [उपासक अध्ययनद्वारा] ऋक्‌को प्राप्त करता है उस समय वह ॐ ऐसा कहकर ही बड़े आदरसे उच्चारण करता है । इसी प्रकार वह साम और यजुःको भी प्राप्त करता है । यह जो अक्षर है वह अन्य स्वरोंके समान स्वर है । यह अमृत और अभयरूप है, इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमृत और अभय हो गये थे ॥ ४ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवं सामैवं यजुः । एष उ स्वरः । कोऽसौ ? यदेतदक्षरमेतदमृतमभयम्, तत्प्रविश्य यथागुणमेवामृता अभयाश्चाभवन् देवाः ॥ ४ ॥

जिस समय [उपासक] ऋक्को प्राप्त करता है उस समय वह 'ॐ' ऐसा कहकर ही बड़े आदरसे उच्चारण करता है । इसी प्रकार वह साम और यजुःको भी प्राप्त करता है । यही स्वर है; वह स्वर कौन है ? यह जो अक्षर है, यह अमृत और अभयरूप है, उसमें प्रविष्ट होकर उसीके गुणके समान देवगण भी अमृत और अभय हो गये थे ॥ ४ ॥

ओंकारोपासनाका फल

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला होकर इस अक्षरकी स्तुति (उपासना) करता है, इस अमृत और अभयरूप अक्षरमें ही प्रवेश कर जाता है तथा इसमें प्रविष्ट होकर जिस प्रकार देवगण अमर हो गये थे, उसी प्रकार अमर हो जाता है ॥ ५ ॥

स योऽन्योऽपि देववदेवैतदक्षरमेवममृतमभयगुणं विद्वान्प्रणौति स्तौति—उपासनमेवात्र स्तुति-

उन देवताओंके समान ही जो दूसरा उपासक भी इस अक्षरको इसी प्रकार अमृत और अभयगुणसे विशिष्ट जानता हुआ उसकी स्तुति करता है—यहाँ स्तुतिका अभिप्राय उपासना

रभिप्रेता—स तथैवैतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति ।

तत्प्रविश्य च राजकुलं प्रविष्टानामिव राज्ञोऽन्तरङ्गबहिरङ्गतावन्न परस्य ब्रह्मणोऽन्तरङ्गबहिरङ्गताविशेषः, किं तर्हि ? यदमृता देवा येनामृतत्वेन यदमृता अभूवंस्तेनैवामृतत्वेन विशिष्टस्तदमृतो भवति न न्यूनता नाप्यधिकतामृतत्व इत्यर्थः ॥५॥

ही है—वह उसी प्रकार (उन देवताओंके ही समान) इस अमृत और अभयरूप अक्षरमें ही प्रविष्ट हो जाता है ।

तथा उसमें प्रविष्ट होनेपर, जिस प्रकार राजकुलमें प्रवेश करनेवालोंमें कोई राजाके अन्तरङ्ग रहते हैं और कोई बहिरङ्ग रहते हैं, इस प्रकार परब्रह्मके अन्तरङ्ग-बहिरङ्गताका भेद नहीं रहता । तो फिर क्या रहता है ? जिस अमृतत्वसे देवगण अमर हो गये थे उसी अमृतत्वसे विशिष्ट होकर यह भी उन्हींके समान अमर हो जाता है । इसके अमृतत्वमें न तो न्यूनता रहती है और न अधिकता ही ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥४॥

पञ्चम खण्ड

ओंकार, उद्गीथ और आदित्यका अभेद

प्राणादित्यदृष्टिविशिष्टस्योद्गीथस्योपासनमुक्तमेवानूद्य प्रणवोद्गीथयोरेकत्वं कृत्वा तस्मिन्प्राणरश्मिभेदगुणविशिष्टदृष्ट्याक्षरस्योपासनमनेकपुत्रफलमिदानीं वक्तव्यमित्यारभ्यते—

पूर्वोक्त प्राण और आदित्यदृष्टिसे विशिष्ट उद्गीथोपासनाका ही अनुवाद (पुनरुल्लेख) कर प्रणव और उद्गीथकी एकता करते हुए अब उसी प्रसङ्गमें प्राण और रश्मियोंके भेदरूप गुणसे युक्त दृष्टिसे उस अक्षरकी (उद्गीथावयवभूत ओंकारकी) अनेक पुत्ररूप फलवाली उपासनाका निरूपण करना है—इसीलिये [आगेका ग्रन्थ] आरम्भ किया जाता है—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

निश्चय ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है । इस प्रकार यह आदित्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है; क्योंकि यह (आदित्य) 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है ॥ १ ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो बह्वृचानाम्, यश्च प्रणव-

निश्चय ही जो उद्गीथ है वही ऋग्वेदियोंका प्रणव है तथा उनका

स्तेषां स एव छान्दोग्य उद्गीथशब्दवाच्यः। असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः। प्रणवशब्दवाच्योऽपि स एव बह्वृचानां नान्यः।

उद्गीथ आदित्यः, कथम्? उद्गीथाख्यमक्षरमोमित्येतदेष हि यस्मात्स्वरन्नुच्चारयन्ननेकार्थत्वाद्धातूनाम्, अथवा स्वरन्गच्छन्नेति; अतोऽसावुद्गीथः सविता ॥ १ ॥

जो प्रणव है वही छान्दोग्य-उपनिषद्में 'उद्‌गीथ' शब्दसे कहा गया है। यह आदित्य ही उद्‌गीथ है, यही प्रणव है; अर्थात् ऋग्वेदियोंके यहाँ प्रणवशब्दवाच्य भी वही है, कोई और नहीं है।

आदित्य उद्‌गीथ है—सो कैसे? क्योंकि यह उद्गीथसंज्ञक अक्षरको 'ॐ' इस प्रकार स्वरन्—उच्चारण करते हुए जाता है [यद्यपि 'स्वर आक्षेपे' इस धातुसूत्रके अनुसार 'स्वरन्' का अर्थ आक्षेप या गमन करते हुए होना चाहिये तथापि] धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं [इसलिये 'स्वरन्' का अर्थ 'उच्चारण करते हुए' भी होता है] अथवा स्वरन् यानी चलनेवाला सूर्य [प्राणोंकी प्रवृत्तिके प्रति 'ॐ' इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ] जाता है। अतः यह सविता उद्‌गीथ ही है ॥ १ ॥

रश्मिदृष्टिसे आदित्यकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

'मैंने प्रमुखतासे इसीका गान किया था; इसीसे मेरे तू एक ही पुत्र है'—ऐसा कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा। अतः तू रश्मियोंका [आदित्यसे] भेदरूपसे चिन्तन कर। इससे निश्चय ही तेरे बहुत-से पुत्र होंगे। यह अधिदैवत उपासना है ॥ २ ॥

तमेतमु एवाहमभ्यगासिषमाभिमुख्येन गीतवानस्म्यादित्यरश्म्यभेदं कृत्वा ध्यानं कृतवानस्मीत्यर्थः । तेन तस्मात्कारणान्मम त्वमेकोऽसि पुत्र इति ह कौषीतकिः कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकिः पुत्रमुवाचोक्तवान् । अतो रश्मीनादित्यं च भेदेन त्वं पर्यावर्तयात्पर्यावर्तयेत्यर्थः, त्वंयोगात् । एवं बहवो वै ते तव पुत्रा भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥२॥

'निश्चय इसीका मैंने आभिमुख्य (प्रमुखता) से गान किया था; अर्थात् मैंने आदित्य और उसकी रश्मियोंका अभेद करके ध्यान किया था । इसी कारणसे मेरे तू एक ही पुत्र है'—ऐसा कौषीतकि—कुषीतकके पुत्र कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा । अतः तू सूर्य और रश्मियोंका भेदपूर्वक चिन्तन कर । श्रुतिमें कर्तृपद 'त्वं' होनेके कारण पर्यावर्तयात् [इस प्रथमपुरुषकी] क्रियाके स्थानमें 'पर्यावर्तय' यह मध्यमपुरुषकी क्रिया समझनी चाहिये । इस प्रकार [उपासना करनेसे] तेरे बहुत-से पुत्र उत्पन्न होंगे । यह अधिदैवत उपासना है ।२।

मुख्यप्राणदृष्टिसे उद्गीथोपासना

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

इसके आगे अध्यात्म उपासना है—यह जो मुख्य प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना करे, क्योंकि यह 'ॐ' इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ गमन करता है ॥ ३ ॥

अथानन्तरमध्यात्ममुच्यते । य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ-

इसके आगे अध्यात्म उपासना कही जाती है—यह जो मुख्य प्राण

मुपासीतेत्यादि पूर्ववत् । तथोमिति ह्येष प्राणोऽपि स्वरन्नेत्योमिति ह्यनुज्ञां कुर्वन्निव वागादिप्रवृत्त्यर्थमेतीत्यर्थः । न हि मरणकाले मुमूर्षोः समीपस्थाः प्राणस्योंकरणं शृण्वन्तीति । एतत्सामान्यादादित्येऽप्योंकरणमनुज्ञामात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

है, उसीकी दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करे—इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिये । तथा यह प्राण भी 'ॐ' इस प्रकार कहता हुआ अर्थात् वागादिकी प्रवृत्तिके लिये 'ॐ' इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ-सा गमन करता है । मरणकालमें मरनेवाले पुरुषके समीप रहनेवाले लोग प्राणका 'ॐ' उच्चारण करना नहीं सुनते [इसीलिये 'अनुज्ञा करता हुआ-सा' कहा है] । इसी सादृश्यके कारण आदित्यमें भी ओंकारोच्चारण केवल अनुज्ञामात्र समझना चाहिये ॥ ३ ॥

प्राणभेददृष्टिसे मुख्य प्राणकी व्यस्तोपासनाका विधान और फल

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

'मैंने प्रमुखतासे केवल इसीका (मुख्य प्राणहीका) गान किया था, इसलिये मेरे तू अकेला ही पुत्र हुआ'—ऐसा कौषीतकिने अपने पुत्रसे कहा 'अतः तू 'मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' इस अभिप्रायसे भेदगुणविशिष्ट प्राणोंका प्रमुखतासे गान कर' ॥ ४ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषमित्यादि पूर्ववदेव । अतो वागादीन्

'एतमु एवाहमभ्यगासिषम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् ही

मुख्यं च प्राणं भेदगुणविशिष्टमुद्गीथं पश्यन्भूमानं मनसाभिगायतात् पूर्ववदावर्तयेत्यर्थः । बहवो वै मे मम पुत्रा भविष्यन्तीत्येवमभिप्रायः सन्नित्यर्थः ।

प्राणादित्यैकत्वोद्गीथदृष्टेरेकपुत्रत्वफलदोषेणापोदितत्वाद्रश्मिप्राणभेददृष्टेः कर्तव्यता चोद्यतेऽस्मिन्काण्डे बहुपुत्रफलत्वार्थम्।४।

समझना चाहिये । अतः तू वागादि और मुख्य प्राण इनकी दृष्टिसे उद्गीथको भेदगुणविशिष्ट देखता हुआ उसका मनसे बहुत्वरूपसे अभिगान अर्थात् पूर्ववत् आवर्तन कर । तात्पर्य यह है कि 'मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' ऐसे अभिप्रायसे युक्त होकर [उसकी उपासना कर] ।

एकपुत्रप्राप्तिरूप फलके दोषसे प्राण और आदित्यके एकत्वरूप उद्गीथदृष्टिकी निन्दा की जानेके कारण इस खण्डमें अनेक पुत्ररूप फलकी प्राप्तिके लिये रश्मि और प्राण इनकी भेददृष्टिका प्रतिपादन किया गया है ॥ ४ ॥

प्रणव और उद्गीथका अभेद

अथ खलु य उद्‌गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

निश्चय ही जो उद्गीथ है, वही प्रणव है तथा जो प्रणव है, वही उद्गीथ है—इस प्रकार [उपासना करके] उद्गाता होताके कर्ममें किये हुए उद्‌गानसम्बन्धी दोषका अनुसन्धान (संशोधन) करता है, अनुसन्धान करता है ॥ ५ ॥

अथ खलु य उद्गीथ इत्यादि प्रणवोद्गीथैकत्वदर्शनमुक्तं तस्यैतत्फलमुच्यते—होतृषदनाद्धोता यत्रस्थः शंसति तत्स्थानं होतृषदनं हौत्रात्कर्मणः सम्यक्प्रयुक्तादित्यर्थः । न हि देशमात्रात् फलमाहर्तुं शक्यम् । किं तत् ? हैवापि दुरुद्गीतं दुष्टमुद्गीतमुद्गानं कृतमुद्गात्रा स्वकर्मणि क्षतं कृतमित्यर्थः,तदनुसमाहरत्यनुसंधत्त इत्यर्थः । चिकित्सयेव धातुवैषम्यसमीकरणमिति ॥ ५ ॥

'अथ खलु य उद्गीथः' इत्यादि वाक्यसे प्रणव और उद्गीथकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । उसीका यह फल बतलाया जाता है—होतृषदनात्—जहाँ स्थित होकर होता शंसन कर्म करता है उस स्थानका नाम होतृषदन है, [उससे] अर्थात् सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये हुए होताके कर्मसे—क्योंकि केवल देशमात्रसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्या होता है ? उद्गाताद्वारा जो दुरुद्गीत—दोषयुक्त उद्गान किया होता है अर्थात् अपने कर्ममें कोई दोष किया होता है उसका वह (उद्गाता) समाहार अर्थात् अनुसन्धान (सुधार) कर देता है, जिस प्रकार कि चिकित्साद्वारा धातुओंकी विषमताको ठीक कर दिया जाता है ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥५॥

षष्ठ खण्ड

अनेक प्रकारकी आधिदैविक उद्गीथोपासनाएँ

अथेदानीं सर्वफलसंपत्त्यर्थमुद्गीथस्य उपासनान्तरं विधित्स्यते—

*अब समस्त फलकी प्राप्तिके लिये श्रुति उद्गीथसम्बन्धिनी अन्य प्रकारकी उपासनाओंका विधान करना चाहती है—

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ।१।

यह (पृथिवी) ही ऋक् है और अग्नि साम है । वह यह [अग्निसंज्ञक] साम इस ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । यह पृथिवी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है; इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ १ ॥

इयमेव पृथिवी ऋक्, ऋचि पृथिवीदृष्टिः कार्या । तथाग्निः साम, साम्न्यग्निदृष्टिः । कथं पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामत्वम् ? इत्युच्यते—तदेतत्तदेतदग्न्याख्यं सामैतस्यां पृथिव्यामृच्यध्यूढमधिगतमुपरिभावेन स्थितमित्यर्थः,

यह पृथिवी ही ऋक् है, अर्थात् ऋक्में पृथिवीदृष्टि करनी चाहिये । तथा अग्नि साम है, साममें अग्निदृष्टि करनी चाहिये । पृथिवी और अग्नि ऋक् एवं साम किस प्रकार हैं ? सो बतलाया जाता है—यह जो अग्निसंज्ञक साम है, इस पृथिवीसंज्ञक ऋक्में अध्यूढ—अधिगत अर्थात् उपरिभावसे स्थित है, जिस प्रकार कि साम

---

* यहाँतक पुत्रादिप्राप्तिरूप एकदेशीय फलवाली उपासनाओंका वर्णन किया गया है ।

ऋचीव साम । तस्मादत एव कारणादृच्यध्यूढमेव साम गीयत इदानीमपि सामगैः ।

यथा च ऋक्सामनी नात्यन्तं भिन्ने अन्योन्यं तथैतौ पृथिव्यग्नी । कथम् ? इयमेव पृथिवी सा सामनामार्धशब्दवाच्या । इतरार्धशब्दवाच्योऽग्निरमस्तदेतत्पृथिव्यग्निद्वयं सामैकशब्दाभिधेयत्वमापन्नं साम । तस्मान्नान्योन्यं भिन्नं पृथिव्यग्निद्वयं नित्यसंश्लिष्टमृक्सामनी इव । तस्माच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामत्वमित्यर्थः । सामाक्षरयोः पृथिव्यग्निदृष्टिविधानार्थमियमेव साग्निरम इति केचित् ॥ १ ॥

ऋक्में अधिष्ठित रहता है। अतः इस समय भी सामगान करनेवाले द्विजोंद्वारा ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है ।

जिस प्रकार ऋक् और साम परस्पर अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार ये पृथिवी और अग्नि भी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं । यह किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] यह पृथिवी ही 'सा'—'साम' नामके आधे शब्दद्वारा प्रतिपाद्य है तथा उसके अन्य नामार्ध 'अम' शब्दका वाच्य अग्नि अम है। इस प्रकार 'साम' इस एक शब्दके वाच्यत्वको प्राप्त हुए वे ही ये पृथिवी और अग्नि दोनों साम कहे जाते हैं । अतः ऋक् और सामके समान सर्वदा मिले-जुले रहनेके कारण ये पृथिवी और अग्नि एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हैं । भाव यह कि इसीसे पृथिवी और अग्निको ऋक् एवं साम कहा गया है । किन्हीं-किन्हींका मत है कि 'साम' शब्दके अक्षरोंमें पृथिवी और अग्निदृष्टिका विधान करनेके लिये ही 'इयमेव सा अग्निरमः' ऐसा उपदेश किया गया है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है । वह यह साम इस ऋक्में अधिष्ठित है; अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । अन्तरिक्ष ही 'सा' है और वायु 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ३

द्यौ ही ऋक् है और आदित्य साम है । वह यह [आदित्यरूप] साम इस [द्यौरूप] ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । द्यौ ही 'सा' है और आदित्य 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः सामेत्यादि पूर्ववत् ॥ २-३ ॥

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २-३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

नक्षत्र ही ऋक् हैं और चन्द्रमा साम है । वह यह [चन्द्रमारूप] साम इस [नक्षत्ररूप] ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है, इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ ४ ॥

नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रमा अतः स साम ॥ ४ ॥

चन्द्रमा नक्षत्रोंका अधिपति है इसलिये [नक्षत्रोंके ऋक्स्थानीय होनेपर] वह साम है ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते ॥ ५ ॥

तथा यह जो आदित्यकी शुक्ल ज्योति है वही ऋक् है और उसमें जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता दिखायी देती है वह साम है । वह यह [नीलवर्णरूप] साम इस [शुक्लज्योतीरूप] ऋक्में अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है ॥ ५ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः शुक्ला दीप्तिः सैवर्क् । अथ यदादित्ये नीलं परः कृष्णं परोऽतिशयेन कार्ष्ण्यं तत्साम, तद्ध्येकान्तसमाहितदृष्टेर्दृश्यते।५।

तथा यह जो आदित्यकी शुक्ल प्रभा — शुक्ल दीप्ति है वही ऋक् है। तथा आदित्यमें जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है; किंतु वह तो एकमात्र समाहित दृष्टिवाले पुरुषको ही दिखायी देती है ॥५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

तथा यह जो आदित्यका शुक्ल प्रकाश है वही ‘सा’ है और जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वही ‘अम’ है, ये ही दोनों मिलकर साम हैं । तथा यह

जो आदित्यमण्डलके अन्तर्गत सुवर्णमय-सा पुरुष दिखायी देता है, जो सुवर्णके समान श्मश्रुओंवाला (दाढ़ी-मूँछोंवाला) और स्वर्णसदृश केशोंवाला है तथा जो नखपर्यन्त सारा-का-सारा सुवर्ण-सा ही है ॥ ६ ॥

ते एवैते भाः शुक्लकृष्णत्वे सा चामश्च साम । अथ य एषोऽन्तरादित्य आदित्यस्यान्तर्मध्ये हिरण्मयो हिरण्मय इव हिरण्मयः । न हि सुवर्णविकारत्वं देवस्य संभवति ऋक्सामगेष्णत्वापहतपाप्मत्वासंभवात् । न हि सौवर्णेऽचेतने पाप्मादिप्राप्तिरस्ति येन प्रतिषिध्येत । चाक्षुषे चाग्रहणात् । अतो लुप्तोपम एव हिरण्मयशब्दो ज्योतिर्मय इत्यर्थः । उत्तरेष्वपि समाना योजना ।

वे ही ये शुक्लत्व एवं कृष्णत्वरूप प्रकाश क्रमशः 'सा' और 'अम' होनेके कारण साम हैं । तथा यह जो आदित्यके अन्तर्गत—आदित्यके मध्यमें हिरण्मय—सुवर्णमयके सदृश होनेके कारण सुवर्णमय [साक्षात् सुवर्णका नहीं], क्योंकि सूर्यदेवका सुवर्णके विकाररूप होना सम्भव नहीं है; [विकाररूप होनेपर] उनका ऋक् एवं सामरूप पंखोंवाला तथा निष्पाप होना सम्भव न होगा; क्योंकि सुवर्णमय अचेतन पदार्थोंमें तो पाप आदिकी सम्भावना ही नहीं है, जिसके कारण उनका प्रतिषेध किया जाय । इसके सिवा, नेत्रस्थ उपास्य पुरुषमें सुवर्णविकारत्वका ग्रहण भी नहीं किया जाता । इसलिये यह हिरण्मय शब्द लुप्तोपम ही है* अतः इसका अर्थ ज्योतिर्मय है । आगेके हिरण्मयादि शब्दोंका अर्थ भी इसीके समान लगाना चाहिये ।

---

* अर्थात् इसके आगे उपमावाचक 'इव' शब्दका लोप हुआ है ।

पुरुषः पुरि शयनात्पूरयति वा स्वेनात्मना जगदिति, दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिः समाहितचेतोभिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनापेक्षैः । तेजस्विनोऽपि श्मश्रुकेशादयः कृष्णाः स्युरित्यतो विशिनष्टि— हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश इति । ज्योतिर्मयान्येवास्य श्मश्रूणि केशाश्चेत्यर्थः । आप्रणखात्प्रणखो नखाग्रं नखाग्रेण सह सर्वः सुवर्ण इव भारूप इत्यर्थः ॥ ६ ॥

[ऐसा जो हिरण्मय] पुरुष, [शरीररूप] पुरमें शयन करनेके कारण अथवा अपनेद्वारा सारे जगत्को पूर्ण करता है इसलिये यह पुरुष कहलाता है, जिनकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं उन समाहित चित्त और ब्रह्मचर्यादिसाधनवान् पुरुषोंको दिखायी देता है—तेजस्वी होनेपर भी उसके दाढ़ी-मूँछ आदि तो काले ही होंगे, अतः श्रुति उसकी विशेषता बतलाती है—जो सुनहली श्मश्रु और सुनहले केशोंवाला है; अर्थात् इसके दाढ़ी-मूँछ और केश भी ज्योतिर्मय ही हैं । तात्पर्य यह है कि यह नखपर्यन्त अर्थात् नखाग्रसे लेकर सारा-का-सारा सुवर्णके समान प्रकाशस्वरूप ही है ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

उसके दोनों नेत्र बंदरके बैठनेके स्थान (गुदा) के सदृश अरुण वर्णवाले पुण्डरीक (कमल) के समान हैं । उसका 'उत्' ऐसा नाम है, क्योंकि वह सम्पूर्ण पापोंसे ऊपर गया हुआ है । जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही सम्पूर्ण पापोंसे ऊपर उठ जाता है ॥ ७ ॥

तस्यैवं सर्वतः सुवर्णवर्णस्याप्यक्ष्णोर्विशेषः । कथम् ? तस्य यथा कपेर्मर्कटस्यासः कप्यासः, आसेरुपवेशनार्थस्य करणे घञ्, कपिपृष्ठान्तो येनोपविशति । कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्ततेजस्वि, एवमस्य देवस्याक्षिणी । उपमितोपमानत्वान्न हीनोपमा ।

इस प्रकार सब ओरसे सुवर्णवर्ण होनेपर भी उसके नेत्रोंमें एक विशेषता है । किस प्रकार ? उस देवके, जैसा कि कप्यास होता है उसके सदृश लाल पुण्डरीक (कमल) के समान अत्यन्त तेजस्वी नेत्र हैं । कपि—मर्कट (बंदर) के आसका नाम कप्यास है; उपवेशन (बैठने) अर्थके वाचक 'आस्' धातुसे करणमें 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'आस' शब्द सिद्ध होता है । अतः 'कप्यास' का अर्थ वानरकी पीठका अन्तिम भाग (गुदा) है, जिससे कि वह बैठता है । [यहाँ 'पुण्डरीक' को 'कप्यास' से उपमित किया गया है और नेत्रोंको पुण्डरीककी उपमा दी गयी है; इस प्रकार] उपमितोपमान होनेके कारण यहाँ हीनोपमा नहीं है ।

तस्यैवंगुणविशिष्टस्य गौणमिदं नामोदिति । कथं गौणत्वम् ? स एष देवः सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः पाप्मना सह तत्कार्येभ्य इत्यर्थः । 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि वक्ष्यति । उदित उद् इत उद्गत इत्यर्थः, अतोऽसावुन्नामा । तमेवंगुणसंपन्नमुन्नामानं यथोक्तेन प्रकारेण यो वेद सोऽप्येवमेवो-

ऐसे गुणवाले उस आदित्यान्तर्गत पुरुषका 'उत्' यह गौण नाम है । इसकी गौणता किस प्रकार है ? वह यह देव सम्पूर्ण पापोंसे अर्थात् पापोंसहित उनके कार्योंसे उदित अर्थात् ऊपर गया हुआ है, इसलिये वह 'उत्' नामवाला है । जैसा कि 'जो आत्मा पापसे हटा हुआ है' इत्यादिरूपसे श्रुति आगे कहेगी । ऐसे गुणसे युक्त उस 'उत्' नामवाले पुरुषको जो पूर्वोक्त प्रकारसे जानता है वह भी इसी प्रकार सम्पूर्ण

देत्युद्गच्छति सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः। ह वा इत्यवधारणार्थौ निपातौ उदेत्येवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

पापोंसे ऊपर उठ जाता है। 'ह' और 'वै' ये निश्चयार्थक निपात हैं—अर्थात् ऊपर उठ ही जाता है ॥ ७ ॥

* * *

तस्योद्गीथत्वं देवस्यादित्यादीनामिव विवक्षितत्वादाह—

आदित्यादिके समान उस [उत्-संज्ञक] देवका उद्गीथत्व कहना इष्ट होनेके कारण श्रुति कहती है—

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता। स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

उस देवके ऋक् और साम—ये दोनों पक्ष हैं। इसीसे वह देव उद्गीथरूप है, और इसीसे [इसका गान करनेवाला] उद्गाता कहलाता है, क्योंकि वह इस (उत्)का ही गान करनेवाला होता है। वह यह उत् नामक देव जो इस (आदित्यलोक) से ऊपरके लोक हैं और जो देवताओंकी कामनाएँ हैं, उनका शासन करता है। यह अधिदैवत उद्गीथोपासना है ॥ ८ ॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ पृथिव्याद्युक्तलक्षणे पर्वणी। सर्वात्मा हि देवः। परापरलोककामेशितृत्वादुपपद्यते पृथिव्यग्न्याद्यृक्सामगेष्णत्वम्, सर्वयोनित्वाच्च।

उस देवके ऋक् और साम गेष्ण हैं अर्थात् पूर्वोक्त पृथिवी और अग्नि आदि उसके दोनों पक्ष हैं, क्योंकि वह देव सर्वरूप है। वह परलोक और इहलोकसम्बन्धी कामनाओंका शासन करनेवाला है; अतः उसका पृथिवी और अग्नि आदिरूप ऋक् और साममय पंखोंसे युक्त होना उचित ही है। तथा सबका कारण होनेसे भी [उसका ऋक्-सामरूप पक्षोंवाला होना उचित है]।

यत एवमुन्नामा चासावृक्सामगेष्णश्च तस्मादृक्सामगेष्णत्वप्राप्तमुद्गीथत्वमुच्यते परोक्षेण परोक्षप्रियत्वाद्देवस्य, तस्मादुद्गीथ इति। तस्मात्त्वेव हेतोरुदं गायतीत्युद्गाता। तस्माद्ध्येतस्य यथोक्तस्योन्नाम्नो गातासावतो युक्तोद्गातेति नामप्रसिद्धिरुद्गातुः।

इस प्रकार क्योंकि वह 'उत्' नामवाला है तथा ऋक् और साम उसके पक्ष हैं, इसलिये ऋक्-सामरूप पक्षोंवाला होनेसे उसमें प्राप्त उद्गीथत्वका परोक्षरूपसे प्रतिपादन हो जाता है; क्योंकि वह देव परोक्षप्रिय * है। इसलिये वह उद्गीथ है ऐसा कहा। इसी हेतुसे, क्योंकि [यज्ञमें उद्गान करनेवाला] उत्का गान करता है इसलिये वह उद्गाता कहलाता है। इस प्रकार क्योंकि वह उपर्युक्त 'उत्' नामक देवका गान करता है इसलिये उद्गाताका 'उद्गाता' ऐसा नाम प्रसिद्ध होना उचित ही है।

स एष देव उन्नामा ये चामुष्मादादित्यात्पराञ्चः परागञ्चनादूर्ध्वा लोकास्तेषां लोकानां चेष्टे न केवलमीशितृत्वमेव चशब्दाद्धारयति च; "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजु० २५। १०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। किं च देवकामानामीष्ट इत्येतदधिदैवतं देवताविषयं देवस्योद्गीथस्य स्वरूपमुक्तम् ॥८॥

वही यह उत् नामक देव इस आदित्यलोकसे परे जानेके कारण जो पराङ् यानी ऊपरके लोक हैं उन लोकोंका ईश्वर(शासक)है। वह केवल शासनकर्ता ही नहीं है 'च' शब्दसे यह भी सिद्ध होता है कि वह उनका धारण भी करता है; जैसा कि "उसने इस पृथ्वीको और द्युलोकको धारण किया" इत्यादि मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है। यही नहीं, वह देवताओंकी कामनाओंका भी शासक है—इस प्रकार यह उस देवका—उद्गीथका अधिदैवत—देवताविषयक स्वरूप कहा गया ॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥६॥

---

* देवताओंकी परोक्षप्रियता 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' इस श्रुतिसे प्रमाणित होती है।

सप्तम खण्ड

अध्यात्म-उद्गीथोपासना

अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

इससे आगे अध्यात्म उपासना है—वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है । इस प्रकार इस [वाक्रूप] ऋक्में [प्राणरूप] साम अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । वाक् ही 'सा' है और प्राण 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥१॥

अथाधुनाध्यात्ममुच्यते—वागेवर्क्प्राणः साम, अधरोपरिस्थानत्वसामान्यात् । प्राणो घ्राणमुच्यते सह वायुना । वागेव सा प्राणोऽम इत्यादि पूर्ववत् ॥१॥

आधिदैविक उपासनाके पश्चात् अब अध्यात्म उपासनाका वर्णन किया जाता है—नीचे-ऊपर स्थान होनेमें तुल्य होनेके कारण वाक् ही ऋक् है और प्राण साम है । वायुके सहित घ्राणेन्द्रिय ही यहाँ प्राण कहा गया है । वाक् ही 'सा' है और प्राण 'अम' है इत्यादि कथन पूर्ववत् समझना चाहिये ॥१॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । चक्षुरेव सात्मामस्तत्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है । इस प्रकार इस [चक्षुरूप] ऋक्में यह [आत्मारूप] साम अधिष्ठित है । इसलिये ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । चक्षु ही 'सा' है और आत्मा 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥ २ ॥

चक्षुरेव ऋक्, आत्मा साम; आत्मेतिच्छायात्मा तत्स्थत्वात्साम ॥ २ ॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है । यहाँ 'आत्मा' शब्दसे छायात्माका ग्रहण है; क्योंकि वही नेत्रमें स्थित होनेके कारण साम है ॥२॥

श्रोत्रमेवर्ग्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है । इस प्रकार इस [श्रोत्ररूप] ऋक्में यह [मनरूप] साम अधिष्ठित है । अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है । श्रोत्र ही 'सा' है और मन 'अम' है । इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥३॥

श्रोत्रमेवर्ग्मनः साम, श्रोत्रस्याधिष्ठातृत्वान्मनसः सामत्वम् ॥३॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है, श्रोत्रका अधिष्ठाता होनेके कारण मनकी सामरूपता है ॥३॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

तथा यह जो आँखोंका शुक्ल प्रकाश है वह ऋक् है और जो नीलवर्ण अत्यन्त श्यामता है वह साम है। इस प्रकार इस [शुक्ल प्रकाशरूप] ऋक्में यह [नीलवर्ण अत्यन्त श्यामतारूप] साम अधिष्ठित है। अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका ही गान किया जाता है। तथा यह जो नेत्रका शुक्ल प्रकाश है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण परम श्यामता है वही 'अम' है। इस प्रकार ये [दोनों मिलकर] साम हैं ॥४॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्क्। अथ यन्नीलं परः कृष्णमादित्य इव दृक्शक्त्यधिष्ठानं तत्साम ॥ ४ ॥

तथा यह जो नेत्रोंका शुक्ल प्रकाश है वही ऋक् है और जो सूर्यके समान दृक्शक्तिका अधिष्ठानभूत नीलवर्ण अतिशय श्यामत्व है वह साम है ॥४॥

* * *

आदित्यान्तर्गत और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंकी एकता

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

तथा यह जो नेत्रोंके मध्यमें पुरुष दिखलायी देता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजुः है और वही ब्रह्म(वेद)है। उस इस पुरुषका वही रूप है जो उस (आदित्यान्तर्गत पुरुष) का रूप है। जो उसके पक्ष हैं वही इसके पक्ष हैं, जो उसका नाम है वही इसका नाम है ॥५॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, पूर्ववत् । सैवर्गध्यात्मं वागाद्या पृथिव्याद्या चाधिदैवतम् । प्रसिद्धा च ऋक्पादबद्धाक्षरात्मिका तथा साम । उक्थसाहचर्याद्वा स्तोत्रं साम ऋक् शस्त्रमुक्थादन्यत् । तथा यजुः स्वाहास्वधावषडादि सर्वमेव वाग्यजुस्तस एव; सर्वात्मकत्वात्सर्वयोनित्वाच्चेति ह्यवोचाम। ऋगादिप्रकरणात्तद्ब्रह्मेति त्रयो वेदाः ।

तस्यैतस्य चाक्षुषस्य पुरुषस्य तदेव रूपमतिदिश्यते । किं तत् ? यदमुष्यादित्यपुरुषस्य । हिरण्मय इत्यादि यदधिदैवतमुक्तम् । यावमुष्य गेष्णौ पर्वणी तावेवास्यापि चाक्षुषस्य गेष्णौ । यच्चामुष्य नामोदित्युद्गीथ इति च तदेवास्य नाम ।

तथा यह जो नेत्रोंके मध्यमें पुरुष दिखलायी देता है—इस वाक्यका तात्पर्य पूर्ववत् समझना चाहिये । वही वागादि अध्यात्म और पृथिवी आदि अधिदैवत ऋक् है, जिसके पाद नियत अक्षरोंसे बँधे होते हैं वह ऋक् तो प्रसिद्ध ही है—तथा वही साम है । अथवा [इन ऋक् और साम शब्दोंका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये--] उक्थका सहचारी होनेसे स्तोत्र ही साम है और उक्थसे भिन्न जो शस्त्र (मन्त्रविशेष) हैं वे ही ऋक् हैं; तथा स्वाहा, स्वधा और वषट् आदि सम्पूर्ण वाक्य ही यजुः हैं । सर्वात्मक और सबका कारण होनेके कारण वह यजुः स्वयं पुरुष ही है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । यहाँ ऋगादिका प्रकरण होनेसे 'वही ब्रह्म है' इस वाक्यमें [ब्रह्मशब्दसे] तीनों वेद समझने चाहिये ।

उस इस नेत्रस्थ पुरुषका वही रूप बतलाया जाता है । वह रूप क्या है ? जो रूप उस आदित्यान्तर्गत पुरुषका था, जिसका कि हिरण्मय आदि अधिदैवतरूपसे वर्णन किया गया था । जो उस (आदित्यपुरुष) के पक्ष थे वे ही इस नेत्रान्तर्गत पुरुषके भी पक्ष हैं । जो इसके 'उत्' अथवा 'उद्गीथ' आदि नाम थे, वे ही इसके भी नाम हैं ।

स्थानभेदाद्रूपगुणनामातिदेशादीशितृत्वविषयभेदव्यपदेशाच्चादित्यचाक्षुषयोर्भेद इति चेत् ? न; अमुनानेनैवेत्येकस्योभयात्मप्राप्त्यनुपपत्तेः ।

द्विधाभावेनोपपद्यत इति चेत्, वक्ष्यति हि "स एकधा भवति त्रिधा भवति" इत्यादि, न, चेतनस्यैकस्य निरवयवत्वाद् द्विधाभावानुपपत्तेः । तस्मादध्यात्माधिदैवतयोरेकत्वमेव । यत्तु रूपाद्यतिदेशो भेदकारणमवोचो न तद्भेदावगमाय । किं तर्हि ? स्थानभेदाद् भेदाशङ्का मा भूदित्येवमर्थम् ॥ ५ ॥

यदि कहो कि आश्रयका भेद होनेसे, [आदित्यान्तर्गत पुरुषके] रूप, गुण और नामका (चाक्षुष पुरुषमें) अतिदेश[१] होनेसे तथा ईशितृत्व (शासन) के विषयोंका भेद बतलाये जानेके कारण आदित्य और नेत्रान्तर्गत पुरुषोंका भेद है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर [मन्त्र ७ और ८ में] 'अमुना' 'अनेनैव' इन शब्दोंसे प्रतिपादित एकके ही द्वारा दोनोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं होगी ।

यदि कहो कि वह उन दोनोंको दो रूपसे प्राप्त होता है, जैसा कि "वह एकरूप होता है, वह तीन रूप होता है" इत्यादि रूपसे श्रुति कहेगी भी—तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि निरवयव होनेके कारण एक ही चेतनका दो रूप होना सम्भव नहीं है । अतः अध्यात्म और अधिदैवत—इन दोनोंकी एकता ही है । और तुमने जो रूपादिके अतिदेशको उनके भेदका कारण बतलाया, सो वह उनका भेद सूचित करनेके लिये नहीं है । तो वह किसलिये है ? वह तो, आश्रयका भेद होनेसे कहीं उनके भेदकी आशङ्का न हो जाय—इसलिये है ॥५॥

---

[१] अन्यके धर्मोंको अन्यमें लगाना ।

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

वह यह (चाक्षुष पुरुष) जो इस (अध्यात्म आत्मा) से नीचेके लोक हैं उनका तथा मानवीय कामनाओंका शासन करता है । अतः जो ये लोग वीणामें गान करते हैं वे उसीका गान करते हैं । इसीसे वे धनवान् होते हैं ॥ ६ ॥

स एष चाक्षुषः पुरुषो ये चैतस्मादाध्यात्मिकादात्मनोऽर्वाञ्चोऽर्वाग्गता लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यसंबन्धिनां च कामानाम् । तत्तस्माद्य इमे वीणायां गायन्ति गायकास्त एतमेव गायन्ति । यस्मादीश्वरं गायन्ति तस्मात्ते धनसनयो धनलाभयुक्ता धनवन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

वह यह चाक्षुष पुरुष जो इस आध्यात्मिक आत्मासे नीचेके लोक हैं, उनका तथा मनुष्यसम्बन्धी कामनाओंका ईशन (शासन) करता है । अतः जो ये गायक लोग वीणामें गान करते हैं वे उसीका गान करते हैं । इस प्रकार क्योंकि वे ईश्वरका ही गान करते हैं, इसलिये वे धनलाभयुक्त अर्थात् धनवान् होते हैं ॥६॥

* * *

इनकी अभेददृष्टिसे उपासनाका फल

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ॥ ७ ॥

तथा जो इस प्रकार [चाक्षुष और आदित्य दोनों पुरुषोंकी एकता] जाननेवाला पुरुष सामगान करता है वह [चाक्षुष और आदित्य]

दोनोंका ही गान करता है । तथा वह इसके ही द्वारा जो इस (आदित्यलोक) से ऊपरके लोक हैं और जो देवताओंके भोग हैं, उन्हें प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्यथोक्तं देवमुद्गीथं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति चाक्षुषमादित्यं च । तस्यैवंविदः फलमुच्यते—सोऽमुनैवादित्येन स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति आदित्यान्तर्गतदेवो भूत्वेत्यर्थो देवकामांश्च ॥ ७ ॥

इस उपर्युक्त देवको जो इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सामगान करता है वह चाक्षुष और आदित्य दोनों ही पुरुषोंको गाता है । इस प्रकार जाननेवाले उस उपासकको जो फल मिलता है वह बतलाया जाता है—वह यह उपासक इस आदित्यके द्वारा ही जो इससे ऊपरके लोक हैं उन्हें प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि आदित्यान्तर्गत देवरूप होकर वह इन्हें और देवताओंके भोगोंको प्राप्त करता है ॥७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥ कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥ ९ ॥

तथा इसीके द्वारा जो इससे नीचेके लोक हैं उन्हें और मनुष्यसम्बन्धिनी कामनाओंको प्राप्त करता है । अतः इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता [यजमानसे इस प्रकार] कहे—॥ ८ ॥ 'मैं तेरे लिये किन इष्ट कामनाओंका आगान करूँ ?' क्योंकि यह उद्गाता कामनाओंके आगानमें समर्थ होता है, जो कि इस प्रकार जाननेवाला होकर सामगान करता है, सामगान करता है ॥ ९ ॥

अथानेनैव चाक्षुषेणैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति मनुष्यकामांश्च चाक्षुषो भूत्वेत्यर्थः । तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयाद्यजमानं कमिष्टं ते तव काममागायानीति । एष हि यस्मादुद्गाता कामागानस्योद्गानेन कामं संपादयितुमीष्टे समर्थ इत्यर्थः । कोऽसौ ? य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति । द्विरुक्तिरुपासनसमाप्त्यर्था ॥ ८-९ ॥

तथा इस चाक्षुष पुरुषके द्वारा ही, जो इससे नीचेके लोक हैं उन्हें मनुष्यसम्बन्धी भोगोंको वह प्राप्त करता है । अभिप्राय यह कि चाक्षुष पुरुष होकर ही उन सबको प्राप्त करता है । अतः इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे कहे कि 'मैं तेरे लिये किन इष्ट कामनाओंका आगान करूँ ?' क्योंकि यह उद्गाता इष्ट कामनासम्बन्धी आगानके उद्गानसे उन कामनाओंको सम्पन्न करनेमें समर्थ होता है । वह उद्गाता कौन है ? जो इस प्रकार जाननेवाला होकर साम गान करता है, साम गान करता है । यह द्विरुक्ति उपासनाकी समाप्तिके लिये है ॥ ८-९ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥

अष्टम खण्ड

उद्गीथोपासनाकी उत्कृष्टता प्रदर्शित करनेके लिये शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहणका संवाद

अनेकधोपास्यत्वादक्षरस्य प्रकारान्तरेण परोवरीयस्त्वगुणफलमुपासनान्तरमानिनाय । इतिहासस्तु सुखावबोधनार्थः ।

उद्गीथसंज्ञक अक्षर (ओंकार) के अनेक प्रकारसे उपासनीय होनेके कारण श्रुति प्रकारान्तरसे उसकी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुणविशिष्ट फलवाली एक अन्य उपासना प्रस्तुत करती है । यहाँ जो इतिहास दिया जाता है वह सरलतासे समझानेके लिये है ।

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

कहते हैं, शालावान्‌का पुत्र शिलक, चिकितायनका पुत्र दाल्भ्य और जीवलका पुत्र प्रवाहण—ये तीनों उद्गीथविद्यामें कुशल थे । उन्होंने परस्पर कहा—'हमलोग उद्गीथविद्यामें निपुण हैं; अतः यदि आपलोगोंकी अनुमति हो तो उद्गीथके विषयमें परस्पर वार्तालाप करें' ॥ १ ॥

त्रयस्त्रिसंख्याकाः, ह इत्यैतिह्यार्थः, उद्गीथ उद्गीथज्ञानं प्रति कुशला निपुणा बभूवुः ।

त्रयः—तीन संख्यावाले, 'ह' यह निपात इतिहासको सूचित करनेके लिये है, उद्गीथमें—उद्गीथविद्यामें कुशल—निपुण थे । तात्पर्य यह

कस्मिंश्चिद्देशे काले च निमित्ते वा समेतानामित्यभिप्रायः । न हि सर्वस्मिञ्जगति त्रयाणामेव कौशलमुद्गीथादिविज्ञाने । श्रूयन्ते ह्युषस्तिजानश्रुतिकैकेयप्रभृतयः सर्वज्ञकल्पाः ।

के ते त्रयः? इत्याह—शिलको नामतः शालावतोऽपत्यं शालावत्यः, चिकितायनस्यापत्यं चैकितायनः, दल्भगोत्रो दाल्भ्यो द्व्यामुष्यायणो वा । प्रवाहणो नामतो जीवलस्यापत्यं जैवलिरित्येते त्रयः ।

ते होचुरन्योन्यमुद्गीथे वै कुशला निपुणा इति प्रसिद्धाः स्मः । अतो हन्त यद्यनुमतिर्भवतामुद्गीथ उद्गीथज्ञाननिमित्तां कथां विचारणां पक्षप्रतिपक्षोपन्यासेन वदामो वादं कुर्म इत्यर्थः ।

है कि किसी देश और कालमें अथवा किसी निमित्तविशेषसे एकत्रित हुए पुरुषोंमें [ये तीन व्यक्ति उद्गीथमें निपुण थे] । सारे संसारके भीतर उद्गीथ आदिके ज्ञानमें इन तीनकी ही कुशलता हो—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उषस्ति, जानश्रुति और कैकेय आदि सर्वज्ञकल्प पुरुष भी प्रसिद्ध हैं ही ।

वे तीन कौन थे ? इस विषयमें श्रुति कहती है—शिलक जिसका नाम था वह शालावान्‌का पुत्र शालावत्य, चिकितायनका पुत्र चैकितायन, जो दल्भगोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण दाल्भ्य कहा गया है। अथवा वह द्व्यामुष्यायण* होगा । तथा नामसे प्रवाहण और जीवलका पुत्र होनेसे जैवलि कहलानेवाला—ये तीन पुरुष थे ।

उन्होंने परस्पर एक-दूसरेसे कहा—हमलोग उद्गीथमें कुशल—निपुण हैं—इस प्रकार प्रसिद्ध हैं । अतः यदि आपलोगोंकी सम्मति हो तो उद्गीथमें—उद्गीथविद्याके सम्बन्धमें कथा—विचार कहें, अर्थात् पक्ष-प्रतिपक्षके स्थापनपूर्वक परस्पर विवाद करें ।

---

* जिस पुत्रको 'यह मुझे और तुझे दोनोंहीको जल और पिण्डदान देनेका अधिकारी होगा' ऐसा कहकर धर्मपूर्वक ग्रहण किया जाता है उसे 'द्व्यामुष्यायण' कहते हैं ।

तथा च तद्विद्यसंवादे विपरीतग्रहनाशोऽपूर्वविज्ञानोपजनः संशयनिवृत्तिश्चेति । अतस्तद्विद्यसंयोगः कर्तव्य इति चेतिहासप्रयोजनम् । दृश्यते हि शिलकादीनाम् ॥ १ ॥

इस प्रकार, जिन्हें विवक्षित अर्थका ज्ञान है उन पुरुषोंके पारस्परिक संवादमें विपरीत ग्रहणका नाश, अपूर्व ज्ञानकी उत्पत्ति और संशयकी निवृत्ति होती है । अतः उन-उन विषयोंके ज्ञाता पुरुषोंका साथ करना चाहिये—यह भी इस इतिहासका प्रयोजन है । यही बात शिलकादिके प्रसङ्गमें भी देखी जाती है ॥ १ ॥

* * *

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳश्रोष्यामीति ॥ २ ॥

तब वे 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर बैठ गये । फिर जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'पहले आप दोनों पूज्यवर प्रतिपादन करें । मैं आप ब्राह्मणोंकी कही हुई वाणीको श्रवण करूँगा' ॥ २ ॥

तथेत्युक्त्वा ते समुपविविशुर्होपविष्टवन्तः किल । तत्र राज्ञः प्रागल्भ्योपपत्तेः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचेतरौ भगवन्तौ पूजावन्तावग्रे पूर्वं वदताम् । ब्राह्मण-

फिर वे 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर बैठ गये । उनमें [ब्राह्मणोंके प्रथम बोलनेसे] राजा (क्षत्रिय) की प्रगल्भता (धृष्टता) सिद्ध होती है, इसलिये उस जीवलके पुत्र प्रवाहणने शेष दोनोंके प्रति कहा—'पहले आप भगवान्—पूजनीय लोग कहें; आप ब्राह्मणोंके कहे हुए शब्दों-

योरिति लिङ्गाद्राजासौ युवयोर्ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामि । अर्थरहितामित्यपरे वाचमिति विशेषणात् ॥ २ ॥

को मैं श्रवण करूँगा ।' 'आप दोनों ब्राह्मणोंके' इस कथनरूप लिङ्गसे ज्ञात होता है कि वह क्षत्रिय है ।'वाचम्' ऐसा विशेषण होनेके कारण दूसरे व्याख्याकार 'अर्थहीन शब्दमात्र सुनूँगा' ऐसा अर्थ करते हैं ॥२॥

* * *

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

तब उस शालावान्के पुत्र शिलकने चिकितायनकुमार दाल्भ्यसे कहा—'यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं तुमसे पूछूँ ?' उसने कहा—'पूछो' ॥ ३ ॥

उक्तयोः स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच—हन्त यद्यनुमंस्यसे त्वा त्वां पृच्छानीत्युक्त इतरः पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

उपर्युक्त दोनोंमेंसे शालावान्के पुत्र शिलकने चैकितायन दाल्भ्यसे कहा—'यदि तुम अनुमति दो तो मैं तुमसे पूछूँ ।' तब इस प्रकार कहे जानेपर दूसरेने 'पूछो' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

* * *

लब्धानुमतिराह—

उसकी अनुमति पाकर [शिलक ने] कहा—

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

'सामकी गति (आश्रय) क्या है ?' इसपर दूसरेने 'स्वर' ऐसा कहा । 'स्वरकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर दूसरेने 'प्राण' ऐसा कहा । 'प्राणकी गति क्या है ?' इसपर दूसरेने 'अन्न' ऐसा कहा । तथा 'अन्नकी गति क्या है ?' ऐसा पूछे जानेपर दाल्भ्यने 'जल' ऐसा कहा ॥४॥

का साम्नः प्रकृतत्वादुद्गीथस्य । उद्गीथो ह्यत्रोपास्यत्वेन प्रकृतः । "परोवरीयांसमुद्गीथम्" (१ । ९ । २) इति च वक्ष्यति । गतिराश्रयः परायणमित्येतत् । एवं पृष्टो दाल्भ्य उवाच—स्वर इति; स्वरात्मकत्वात्साम्नः । यो यदात्मकः स तद्गतिस्तदाश्रयश्च भवतीति युक्तं मृदाश्रय इव घटादिः ।

स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणनिष्पाद्यो हि स्वरस्तस्मात्स्वरस्य प्राणो गतिः । प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाच । अन्नावष्टम्भो हि प्राणः । "शुष्यति वै प्राण

सामकी—प्रकरणप्राप्त होनेके कारण उद्गीथकी गति—आश्रय अर्थात् परायण क्या है ? क्योंकि यहाँ उपास्यरूपसे उद्गीथका ही प्रकरण है, जैसा कि 'परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते' (१ । ९ । २) इत्यादि श्रुतिमें कहेंगे भी । इस प्रकार पूछे जानेपर दाल्भ्यने कहा—'स्वर' क्योंकि साम स्वरस्वरूप है । जिस प्रकार [मृत्तिकामय] घटादि पदार्थोंका मृत्तिका ही आश्रय होती है, उसी प्रकार जो पदार्थ यदात्मक—जिसके स्वरूपसे युक्त होता है उस पदार्थकी वही गति और आश्रय भी होता है—यह उचित ही है ।

'स्वरकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर [दाल्भ्यने] 'प्राण' ऐसा कहा, क्योंकि स्वर प्राणसे ही निष्पन्न होनेवाला है, इसलिये स्वरकी गति प्राण है । 'प्राणकी गति क्या है ?' ऐसा पूछे जानेपर उसने कहा 'अन्न', क्योंकि प्राण अन्नके ही आश्रय रहनेवाला है, जैसा कि

ऋतेऽन्नात्" (बृ० उ० ५ । १२ । १) इति हि श्रुतेः । "अन्नं दाम" (बृ० उ० २ । २ । १) इति च । अन्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच । अप्संभवत्वादन्नस्य ॥ ४ ॥

"अन्नके बिना प्राण सूख जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है तथा "अन्न यह [वत्सस्थानीय प्राणकी] रस्सी है" ऐसी श्रुति भी है । फिर 'अन्नकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर दाल्भ्यने कहा—'आप' क्योंकि अन्न आप (जल) से ही उत्पन्न होनेवाला है ॥ ४ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकꣳसामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳहि सामेति ॥ ५ ॥

'जलकी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर उसने 'वह लोक' ऐसा कहा । 'उस लोककी गति क्या है ?' इसपर दाल्भ्यने कहा कि 'स्वर्गलोकका अतिक्रमण करके सामको कोई किसी दूसरे आश्रयमें नहीं ले जा सकता । हम सामको स्वर्गलोकमें ही स्थित करते हैं, क्योंकि सामकी स्वर्गरूपसे स्तुति की गयी है' ॥ ५ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच । अमुष्माल्लोकाद् वृष्टिः संभवति । अमुष्य लोकस्य का गतिः ? इति पृष्टो दाल्भ्य उवाच । स्वर्गममुं लोकमतीत्याश्रयान्तरं साम न नयेत्कश्चिदिति होवाच ।

'जलोंकी गति क्या है ?' इसपर दाल्भ्यने 'वह लोक' ऐसा कहा, क्योंकि उस लोकसे ही वृष्टि होनी सम्भव है । 'उस लोककी क्या गति है ?' ऐसा पूछे जानेपर दाल्भ्यने कहा—'उस स्वर्गलोकका अतिक्रमण करके कोई सामको किसी दूसरे आश्रयमें नहीं ले जा सकता ।'

अतो वयमपि स्वर्गं लोकं सामाभिसंस्थापयामः । स्वर्गलोकप्रतिष्ठं साम जानीम इत्यर्थः । स्वर्गसंस्तावं स्वर्गत्वेन संस्तवनं संस्तावो यस्य तत्साम स्वर्गसंस्तावं हि यस्मात् "स्वर्गो वै लोकः साम वेद" इति श्रुतिः ॥५॥

अतः हम भी सामको स्वर्गलोकमें ही स्थापित करते हैं । अर्थात् सामको स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित समझते हैं, क्योंकि साम स्वर्गसंस्ताव अर्थात् जिसका स्वर्गरूपसे संस्तवन किया गया है, ऐसा स्वर्गसंस्ताव है "निश्चय स्वर्गलोक ही साम है ऐसा जानता है" यह श्रुति भी है ॥ ५ ॥

तꣳह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

उस चिकितानपुत्र दाल्भ्यसे शालावान्‌के पुत्र शिलकने कहा—'हे दाल्भ्य ! तेरा साम निश्चय ही अप्रतिष्ठित है । जो इस समय कोई सामवेत्ता यह कह दे कि 'तेरा मस्तक पृथिवीपर गिर जाय' तो निश्चय ही तेरा मस्तक गिर जायगा ॥ ६ ॥

तमितरः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच—अप्रतिष्ठितमसंस्थितं परोवरीयस्त्वेनासमाप्तगति सामेत्यर्थः । वा इत्यागमं स्मारयति किलेति च । दाल्भ्य ते तव साम । यस्त्वसहिष्णुः सामविदेतर्ह्येतस्मिन्काले

उस चैकितायन दाल्भ्यसे दूसरे शालावत्य शिलकने कहा—'हे दाल्भ्य ! निश्चय ही तेरा साम अप्रतिष्ठित—असंस्थित अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कृष्टरूपसे असमाप्त गतिवाला है ।' 'वै' और 'किल' इन निपातोंसे श्रुति आगम यानी उपदेशपरम्पराका स्मरण कराती है । यदि इस समय कोई असहिष्णु सामवेत्ता अप्रतिष्ठित सामको 'यह प्रतिष्ठित

ब्रूयात्कश्चिद्विपरीतविज्ञानमप्रतिष्ठितं साम प्रतिष्ठितमिति, एवंवादापराधिनं मूर्धा शिरस्ते विपतिष्यति विस्पष्टं पतिष्यतीति । एवमुक्तस्यापराधिनस्तथैव तद्विपतेन्न संशयो न त्वहं ब्रवीमीत्यभिप्रायः ।

है' इस प्रकार कहनेका अपराध करनेवाले तुझ विपरीत विज्ञानवान्से कहे कि 'तेरा मस्तक गिर जायगा—स्पष्टतया पतित हो जायगा' तो इस प्रकार कहे जानेपर तुझ अपराधीका मस्तक उसी प्रकार गिर पड़ेगा—इसमें संशय नहीं। तात्पर्य यह है कि मैं तो ऐसा कहता नहीं हूँ [यदि कोई अन्य कह देगा तो अवश्य ऐसा ही होगा] ।'

ननु मूर्धपातार्हं चेदपराधं कृतवानतः परेणानुक्तस्यापि पतेन्मूर्धा न चेदपराध्युक्तस्यापि नैव पतति । अन्यथाकृताभ्यागमः कृतनाशश्च स्याताम् ।

शंका—यदि मस्तक गिरनेयोग्य पाप किया है तब तो दूसरेके न कहनेपर भी मस्तक गिर ही जायगा और यदि वह ऐसा अपराधी नहीं है तो कहनेपर भी नहीं गिर सकता; नहीं तो बिना कियेकी प्राप्ति और किये हुएका नाश ये दो दोष प्राप्त होंगे ।

नैष दोषः; कृतस्य कर्मणः शुभाशुभस्य फलप्राप्तेर्देशकालनिमित्तापेक्षत्वात् । तत्रैवं सति मूर्धपातनिमित्तस्याप्यज्ञानस्य पराभिव्याहारनिमित्तापेक्षत्वमिति ॥ ६ ॥

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंके फलकी प्राप्ति देश, काल और निमित्तकी अपेक्षावाली होती है । ऐसी स्थितिमें मूर्धपातका निमित्तभूत जो अज्ञान है, वह भी दूसरेके कथनरूप निमित्तकी अपेक्षावाला ही है ॥ ६ ॥

एवमुक्तो दाल्भ्य आह—

ऐसा कहे जानेपर दाल्भ्यने कहा--

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकꣳसामाभिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳहि सामेति ॥ ७ ॥

मैं यह बात श्रीमान्से जानना चाहता हूँ; इसपर [शिलकने] कहा---'जान लो ।' तब 'उस लोककी गति क्या है ?' ऐसा पूछे जानेपर उसने 'यह लोक' ऐसा कहा । फिर 'इस लोककी गति क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर 'इस प्रतिष्ठाभूत लोकका अतिक्रमण करके सामको अन्यत्र नहीं ले जाना चाहिये' ऐसा कहा । हम प्रतिष्ठाभूत इस लोकमें सामको स्थित करते हैं [अर्थात् यहीं उसकी चरम स्थितिका निश्चय करते हैं]; क्योंकि सामका प्रतिष्ठारूपसे ही स्तवन किया गया है ॥ ७ ॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानि यत्प्रतिष्ठं सामेत्युक्तः प्रत्युवाच शालावत्यो विद्धीति होवाच । अमुष्य लोकस्य का गतिरिति पृष्टो दाल्भ्येन शालावत्योऽयं लोक इति होवाच । अयं हि लोको यागदानहोमादिभिरमुं लोकं पुष्यतीति । "अतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति"

'जिसमें साम प्रतिष्ठित है यह बात मैं श्रीमान्से जानना चाहता हूँ' ऐसा कहे जानेपर शालावत्यने उत्तर दिया---'जान लो ।' 'उस लोककी गति क्या है ?' इस प्रकार दाल्भ्यसे पूछे जानेपर शालावत्यने 'यह लोक' ऐसा कहा; क्योंकि यह लोक ही याग, दान और होमादिके द्वारा उस लोकका पोषण करता है । इस विषयमें "अतः दानके आश्रयसे देवगण जीवित रहते हैं"

इति हि श्रुतयः। प्रत्यक्षं हि सर्वभूतानां धरणी प्रतिष्ठेति। अतः साम्नोऽप्ययं लोकः प्रतिष्ठैवेति युक्तम्।

अस्य लोकस्य का गतिः ? इत्युक्त आह शालावत्यः। न प्रतिष्ठामिमं लोकमतीत्य नयेत्साम कश्चित्। अतो वयं प्रतिष्ठां लोकं सामाभिसंस्थापयामः। यस्मात्प्रतिष्ठासंस्तावं हि प्रतिष्ठात्वेन संस्तुतं सामेत्यर्थः। "इयं वै रथन्तरम्" इति च श्रुतिः ॥७॥

ऐसी श्रुतियाँ भी हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रतिष्ठा पृथिवी है—यह प्रत्यक्ष ही है। अतः सामकी भी यही लोक प्रतिष्ठा है—ऐसा मानना उचित ही है।

'इस लोककी गति क्या है ?' इस प्रकार पूछे जानेपर शालावत्यने कहा—'किसीको भी प्रतिष्ठाभूत इस लोकका अतिक्रमण करके सामको अन्यत्र नहीं ले जाना चाहिये; अतः हम प्रतिष्ठाभूत इस लोकमें ही सामको सब प्रकारसे स्थापित करते हैं, क्योंकि साम प्रतिष्ठासंस्ताव—प्रतिष्ठारूपसे स्तुत है। "यह [पृथिवी] ही रथन्तर साम है" ऐसी श्रुति भी है ॥७॥

* * *

तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

तब उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'हे शालावत्य ! निश्चय ही तुम्हारा साम अन्तवान् है। यदि कोई ऐसा कह देता कि तुम्हारा मस्तक गिर जाय तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता।' [शालावत्यने कहा—] 'मैं इसे श्रीमान्‌से जानना चाहता हूँ।' इसपर प्रवाहणने 'जान लो' ऐसा कहा ॥८॥

तमेवमुक्तवन्तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य सामेत्यादि पूर्ववत् । ततः शालावत्य आह—हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

इस प्रकार कहनेवाले उस शालावत्यके प्रति जीवलके पुत्र प्रवाहणने 'हे शालावत्य ! तुम्हारा साम निश्चय ही अन्तवान् है' इत्यादि पूर्ववत् कहा । तब शालावत्यने कहा—'मैं इसे श्रीमान्से जानना चाहता हूँ ।' तब दूसरे (प्रवाहण) ने कहा—'जान लो'॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

शिलककी उक्ति—आकाश ही सबका आश्रय है

इतरोऽनुज्ञात आह—

प्रवाहणकी अनुमति पाकर शिलकने कहा—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥ १ ॥

'इस लोककी क्या गति है ?' इसपर प्रवाहणने कहा—आकाश, क्योंकि ये समस्त भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमें ही लयको प्राप्त होते हैं और आकाश ही इनसे बड़ा है; अतः आकाश ही इनका आश्रय है ॥१॥

अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच प्रवाहणः । आकाश इति च पर आत्मा "आकाशो वै नाम" (छा० उ० ८ । १४ । १) इति श्रुतेः । तस्य हि कर्म सर्वभूतोत्पादकत्वम् । तस्मिन्नेव हि भूतप्रलयः । "तत्तेजोऽसृजत" (६ । २ । ३), "तेजः परस्यां देवतायाम्" (६ । ८ । ६) इति हि वक्ष्यति ।

'इस लोककी गति क्या है ?' इसपर प्रवाहणने कहा—'आकाश' । यहाँ 'आकाश' शब्दसे परमात्मा विवक्षित है [भूताकाश नहीं] जैसा कि "आकाश ही नाम [और रूपका निर्वाह करनेवाला है]" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करना यह उसीका कार्य है और उसीमें भूतोंका प्रलय होता है; जैसा कि श्रुति "उसने तेजको रचा" "तेज पर देवतामें लीन होता है" इत्यादि प्रकारसे आगे कहेगी ।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि स्थावरजङ्गमान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते तेजोऽबन्नादिक्रमेण सामर्थ्यात् । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति प्रलयकाले तेनैव विपरीतक्रमेण । हि यस्मादाकाश एवैभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ज्यायान्महत्तरोऽतः स सर्वेषां भूतानां परमयनं परायणं प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेष्वित्यर्थः ।१।

"आत्मन आकाशः सम्भूतस्तेजोऽसृजत" इत्यादि श्रुतियोंके बलसे ये सम्पूर्ण चराचर भूत तेज, जल और अन्न इस क्रमसे आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं; और प्रलयकालमें उसी विपरीतक्रमसे आकाशमें ही लीन हो जाते हैं, क्योंकि आकाश ही इन समस्त भूतोंसे बड़ा है । अतः वही समस्त भूतोंका परायण—परम आश्रय अर्थात् तीनों कालोंमें उनकी प्रतिष्ठा है ॥ १ ॥

आकाशसंज्ञक उद्गीथकी उत्कृष्टता और उसकी उपासनाका फल

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

वह यह उद्गीथ परम उत्कृष्ट है, यह अनन्त है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् इस परमोत्कृष्ट (परमात्मभूत) उद्गीथकी उपासना करता है उसका जीवन परमोत्कृष्ट हो जाता है और वह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लोकोंको अपने अधीन कर लेता है ॥ २ ॥

यस्मात्परं परं वरीयो वरीयसोऽप्येष वरः परश्च वरीयांश्च परोवरीयानुद्गीथः परमात्मा संपन्न इत्यर्थः । अत एव स एषोऽनन्तोऽविद्यमानान्तः ।

क्योंकि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट——श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ अर्थात् पर और उत्कृष्टरूप यह उद्गीथ ही परमात्मभावसे सम्पन्न होता है, इसलिये वह यह उद्गीथ अनन्त——जिसका कोई अन्त नहीं है, ऐसा है ।

तमेतं परोवरीयांसं परमात्मभूतमनन्तमेवं विद्वान्परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते; तस्यैतत्फलमाह—परोवरीयः परं परं वरीयो विशिष्टतरं जीवनं हास्य विदुषो भवति दृष्टं फलमदृष्टं च परोवरीयस उत्तरोत्तरविशिष्टतरानेव ब्रह्माकाशान्ताँल्लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वानुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

उस इस परम उत्कृष्ट परमात्मभूत अनन्त उद्गीथको इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् इस परमोत्कृष्ट उद्गीथकी उपासना करता है, उसके लिये श्रुति यह फल बतलाती है—जो इसे इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् उद्गीथकी उपासना करता है उस विद्वान्को यह दृष्ट फल होता है कि उस विद्वान्का जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर हो जाता है तथा अदृष्ट फल यह होता है कि वह उत्तरोत्तर ब्रह्माकाशपर्यन्त विशिष्ट लोकोंको जीत लेता है ॥ २ ॥

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

शुनकके पुत्र अतिधन्वाने उस इस उद्गीथका उदरशाण्डिल्यके प्रति निरूपण कर उससे कहा—जबतक तेरी संततिमेंसे [तेरे वंशज] इस उद्गीथको जानेंगे तबतक इस लोकमें उनका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जायगा ॥ ३ ॥

किं च तमेतमुद्गीथं विद्वानतिधन्वा नामतः शुनकस्यापत्यं शौनक उदरशाण्डिल्याय शि-

तथा इस उद्गीथको जाननेवाले अतिधन्वा नामक शौनकने—शुनकके पुत्रने अपने शिष्य उदरशाण्डिल्यके प्रति इस उद्गीथविद्याका

ष्यायैतमुद्गीथदर्शनमुक्त्वोवाच । यावत्ते तव प्रजायां प्रजासंततावित्यर्थः । एनमुद्गीथं त्वत्संततिजा वेदिष्यन्ते ज्ञास्यन्ति तावन्तं कालं परोवरीयो हैभ्यः प्रसिद्धेभ्यो लौकिकजीवनेभ्य उत्तरोत्तरविशिष्टतरं जीवनं तेभ्यो भविष्यति ॥ ३ ॥

वर्णन करके कहा—'जबतक तेरी प्रजामें अर्थात् तेरी संततिमें तेरे गोत्रज इस उद्गीथको जानेंगे तबतक—उतने समयतक उन्हें इन प्रसिद्ध लौकिक जीवनोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर विशिष्टतर जीवन प्राप्त होगा' ॥ ३ ॥

* * *

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति । स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

तथा परलोकमें भी उसे [उत्कृष्टसे उत्कृष्ट] लोककी प्राप्ति होती है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष इसकी उपासना करता है, उसका जीवन निश्चय ही इस लोकमें उत्कृष्टतर होता है तथा परलोकमें भी उसे [उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर] लोक प्राप्त होता है—परलोकमें उसे [उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर] लोक प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तथादृष्टेऽपि परलोकेऽमुष्मिन्परोवरीयाँल्लोको भविष्यतीत्युक्तवाञ्शाण्डिल्यायातिधन्वा शौनकः । स्यादेतत्फलं पूर्वेषां महा-

'तथा अदृष्ट परलोकमें भी उसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लोककी ही प्राप्ति होगी'—ऐसा शुनकपुत्र अतिधन्वाने शाण्डिल्यके प्रति कहा । 'यह फल पूर्वकालिक परम भाग्यशाली

भाग्यानां नैदंयुगीनानामित्याशङ्कानिवृत्तय आह—स यः कश्चिदेतदेवं विद्वानुद्गीथमेतदुपास्ते तस्याप्येवमेव परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

पुरुषोंको प्राप्त होता होगा, वर्तमान युगके पुरुषोंको नहीं हो सकता' ऐसी आशङ्काकी निवृत्तिके लिये श्रुति कहती है——इस समय भी इसे इस प्रकार जाननेवाला जो कोई पुरुष उद्गीथकी उपासना करता है उसका भी इस लोकमें उसी प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर ही जीवन होता है तथा परलोकमें भी उसे उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोककी ही प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

उषस्तिका आख्यान

उद्गीथोपासनप्रसङ्गेन प्रस्तावप्रतिहारविषयमप्युपासनं वक्तव्यमितीदमारभ्यते । आख्यायिका तु सुखावबोधार्था ।

उद्गीथोपासनाके प्रसङ्गसे यहाँ प्रस्ताव एवं प्रतिहारविषयक उपासना भी बतलायी जानी चाहिये, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है, वह सरलतासे समझनेके लिये है——

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

ओले और पत्थर पड़नेसे कुरुदेशकी खेतीके चौपट हो जानेपर वहाँ इभ्य ग्रामके भीतर 'आटिकी' (जिसके स्तनादि स्त्रीजनोचित चिह्न प्रकट नहीं हुए हैं ऐसी अल्पवयस्का) पत्नीके साथ चक्रका पुत्र उपस्ति दुर्गतिकी अवस्थामें रहता था ।१।

मटचीहतेषु मटच्योऽशनयस्ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुषु कुरुसस्येष्वित्यर्थः । ततो दुर्भिक्षे जात आटिक्यानुपजातपयोधरादिस्त्रीव्यञ्जनया सह जाययोषस्तिर्ह नामतश्चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः । इभो हस्ती तमर्हतीतीभ्य

[कुरुओंके] मटचीहत होनेपर——मटची ओले और पत्थरको कहते हैं, उनसे कुरुदेशके अर्थात् कुरुदेशकी खेतीके हत–नष्ट हो जाने तथा उसके कारण दुर्भिक्ष हो जानेपर आटिकी यानी जिसके स्तनादि स्त्रीजनोचित चिह्न प्रकट नहीं हुए हैं ऐसी स्त्रीके साथ उपस्तिनामक चाक्रायण——चक्रका पुत्र इभ्य ग्राममें—इभ हाथीको

ईश्वरो हस्त्यारोहो वा, तस्य ग्राम इभ्यग्रामस्तस्मिन्प्रद्राणकोऽन्नालाभात् । द्रा कुत्सायां गतौ । कुत्सितां गतिं गतोऽन्त्यावस्थां प्राप्त इत्यर्थः । उवासोषितवान् कस्यचिद्गृहमाश्रित्य ॥ १ ॥

कहते हैं, उसकी पात्रता रखनेवाला व्यक्ति इभ्य--धनी या हाथीवान्--कहलाता है, उसके ग्रामको इभ्य-ग्राम कहते हैं, उसमें अन्न प्राप्त न होनेके कारण प्रद्राणक हो--'द्रा' धातुका प्रयोग कुत्सित गतिके अर्थमें होता है, अतः कुत्सित गति यानी दुरवस्थाको प्राप्त हो किसीके घरका आश्रय लेकर निवास करता था ॥ १ ॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳहोवाच ।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

उसने घुने हुए उड़द खानेवाले एक महावतसे याचना की । तब उसने उससे कहा—इन जूठे उड़दोंके सिवा मेरे पास और नहीं हैं । जो कुछ एकत्र थे वे सब-के-सब ये मैंने [अपने भोजनपात्रमें] रख लिये हैं [अतः मैं किस प्रकार आपकी याचना पूर्ण करूँ ?] ॥ २ ॥

सोऽन्नार्थमटन्निभ्यं कुल्माषान्कुत्सितान्माषान्खादन्तं भक्षयन्तं यदृच्छयोपलभ्य बिभिक्षे याचितवान् । तमुषस्तिं होवाचेभ्यः । नेतोऽस्मान्मया भक्ष्यमाणादुच्छिष्टराशेः कुल्माषा अन्ये न विद्यन्ते । यच्च ये राशौ मे ममोपनिहिताः प्रक्षिप्ता इमे भाजने किं करोमि ? ॥ २ ॥

अन्नके लिये घूमते-घूमते उसने अकस्मात् एक हाथीवानको घुने उड़द खाते देख उससे याचना की । उस उषस्तिसे हाथीवानने कहा—मेरेद्वारा खाये जाते हुए इन जूठे उड़दोंके समूहके सिवा मेरे पास और उड़द नहीं हैं । जो एकत्रित थे वे सभी मेरे इस पात्रमें गिरा लिये गये हैं, अब मैं क्या करूँ ? ॥ २ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचोषस्तिः—

ऐसा कहे जानेपर उषस्तिने उत्तर दिया——

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳस्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

तू मुझे इन्हें ही दे दे—ऐसा उषस्तिने कहा । तब महावतने वे उड़द उसे दे दिये और कहा 'यह अनुपान भी लो ।' इसपर वह बोला—'इसे लेनेसे मेरेद्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पिया जायगा' ॥ ३ ॥

एतेषामेतानित्यर्थः, मे मह्यं देहीति होवाच । तान्स इभ्योऽस्मा उषस्तये प्रददौ प्रदत्तवान् । अनुपानाय समीपस्थमुदकं हन्त गृहाणानुपानमित्युक्तः प्रत्युवाच—उच्छिष्टं वै मे ममेदमुदकं पीतं स्याद्यदि पास्यामि ॥ ३ ॥

'एतेषाम्' इस षष्ठ्यन्त पदका अर्थ 'एतान्' (इन्हें) है । अर्थात् 'तू मुझे इन उड़दोंको ही दे' ऐसा उषस्तिने कहा । तब उस महावतने उषस्तिको वे उड़द दे दिये तथा पीनेके लिये पास रखे हुए जलको लेकर बोला——'भाई ! अनुपान भी ले लो ।' ऐसा कहे जानेपर उषस्तिने कहा—'यदि मैं इस जलको पीऊँगा तो निश्चय ही मेरेद्वारा यह उच्छिष्ट जल पिया जायगा [अर्थात् मुझे उच्छिष्ट जल पीनेका दोष प्राप्त होगा]' ॥ ३ ॥

* * *

इत्युक्तवन्तं प्रत्युवाचेतरः—

इस प्रकार कहनेवाले उस उषस्तिसे दूसरे (महावत) ने कहा——

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति ॥ ४ ॥

'क्या ये (उड़द) भी उच्छिष्ट नहीं हैं ?' उसने कहा—'इन्हें बिना खाये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, जलपान तो मुझे यथेच्छ मात्रामें मिलता है' ॥ ४ ॥

किं न स्विदेते कुल्माषा अप्युच्छिष्टा इत्युक्त आहोषस्तिर्न वा अजीविष्यं न जीविष्यामीमान्कुल्माषानखादन्नभक्षयन्निति होवाच । काम इच्छातो मे ममोदकपानं लभ्यत इत्यर्थः ।

अतश्चैतामवस्थां प्राप्तस्य विद्याधर्मयशोवतः स्वात्मपरोपकारसमर्थस्यैतदपि कर्म कुर्वतो नागःस्पर्श इत्यभिप्रायः । तस्यापि जीवितं प्रत्युपायान्तरेऽजुगुप्सिते सति जुगुप्सितमेतत्कर्म दोषाय । ज्ञानावलेपेन कुर्वतो नरकपातः स्यादेवेत्यभिप्रायः, प्रद्राणकशब्दश्रवणात् ॥ ४ ॥

'क्या ये उड़द भी उच्छिष्ट नहीं हैं ?' ऐसा कहे जानेपर उषस्तिने कहा—'इन उड़दोंको बिना खाये—बिना भक्षण किये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था । जलपान तो मुझे इच्छानुसार मिल जाता है ।'

अतः इसका यह अभिप्राय है कि इस अवस्थाको प्राप्त हुए, विद्या, धर्म और यशसे सम्पन्न तथा अपने और दूसरोंके उपकारमें समर्थ पुरुषको ऐसा कर्म करते हुए भी पापका स्पर्श नहीं हो सकता । उसके भी जीवनका यदि कोई अन्य अनिन्द्य उपाय हो तो यह निन्दनीय कर्म दोषके ही लिये होगा । ज्ञानाभिमानवश ऐसा कर्म करनेवाले पुरुषका भी नरकमें पतन होगा ही—यह इसका अभिप्राय है; क्योंकि श्रुतिमें 'प्रद्राणक' शब्दका प्रयोग है* ॥ ४ ॥

---

* चाक्रायणने 'प्रद्राणक' अर्थात् अत्यन्त आपद्ग्रस्त होनेपर ही उच्छिष्ट भोजन किया था—इससे यह सिद्ध होता है कि विधिका व्यतिक्रम जीवनरक्षाका कोई वैध साधन न रहनेपर ही किया जा सकता है, अन्यथा कदापि नहीं ।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दोंको अपनी पत्नीके लिये ले आया। वह पहले ही खूब भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी। अतः उसने उन्हें लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

तांश्च स खादित्वातिशेषानतिशिष्टाञ्जायायै कारुण्यादाजहार। साटिक्यग्र एव कुल्माषप्राप्तेः सुभिक्षा शोभनभिक्षा लब्धान्नेत्येतद्बभूव संवृत्ता। तथापि स्त्रीस्वाभाव्यादनवज्ञाय तान्कुल्माषान्पत्युर्हस्तात्प्रतिगृह्य निदधौ निक्षिप्तवती ॥ ५ ॥

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दोंको करुणावश अपनी भार्याके लिये ले आया। वह आटिकी उड़दोंके मिलनेसे पूर्व ही सुभिक्षा—शोभनभिक्षा हो चुकी थी अर्थात् अन्न प्राप्त कर चुकी थी। तथापि स्त्रीस्वभाववश, [पतिके दिये हुए] उन उड़दोंकी अवहेलना न करके उन्हें पतिके हाथसे लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

* * *

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳराजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥ ६ ॥

उसने प्रातःकाल शय्यात्याग करनेके अनन्तर कहा—यदि हमें कुछ अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन प्राप्त कर लेते, क्योंकि वह राजा यज्ञ करनेवाला है, वह समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये मेरा वरण कर लेगा ॥ ६ ॥

स तस्याः कर्म जानन्प्रातरुषःकाले संजिहानः शयनं निद्रां

वह अपनी पत्नीके उस कार्यको कि इसने उड़द बचा रखे हैं, जानता था, अतः प्रातःसमय—उषःकालमें शय्या अथवा निद्राका त्याग करनेके अनन्तर उसने

वा परित्यजन्नुवाच पत्न्याः शृण्वन्त्याः, यद्यदि बतेति खिद्यमानोऽन्नस्य स्तोकं लभेमहि तद्भुक्त्वान्नं समर्थो गत्वा लभेमहि धनमात्रां धनस्याल्पम् । ततोऽस्माकं जीवनं भविष्यतीति ।

धनलाभे च कारणमाह—राजासौ नातिदूरे स्थाने यक्ष्यते । यजमानत्वात्तस्यात्मनेपदम् । स च राजा मा मां पात्रमुपलभ्य सर्वैरार्त्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मभिर्ऋत्विक्कर्मप्रयोजनायेत्यर्थो वृणीतेति ॥ ६ ॥

अपनी पत्नीके सुनते हुए कहा—'यदि [भूखसे] खिन्न होते हुए हमें थोड़ा-सा अन्न मिल जाता—यहाँ 'बत' अव्ययका तात्पर्य है 'खिन्न होते हुए'—तो उस अन्नको खाकर सामर्थ्यवान् हो [कुछ दूर] जाकर हम धनकी मात्रा अर्थात् थोड़ा-सा धन प्राप्त कर लेते और उससे हमारा जीवन-निर्वाह हो जाता ।

धनलाभमें कारण बतलाता है—यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह राजा यज्ञ करेगा । यजमान होनेके कारण उसके लिये 'यक्ष्यते' ऐसा आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है* । वह राजा मुझे सुपात्र समझकर समस्त आर्त्विज्यों—ऋत्विक्कर्मोंके लिये अर्थात् ऋत्विक्कर्मोंको करानेके प्रयोजनसे वरण कर लेगा ॥ ६ ॥

* * *

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

उससे उसकी पत्नीने कहा—'स्वामिन् ! [आपके दिये हुए] वे उड़द ही ये मौजूद हैं; [इन्हें लीजिये] ।' उषस्ति उन्हें खाकर ऋत्विजों-द्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें गया ॥ ७ ॥

---

* क्योंकि यजनरूप क्रियाका फल उस राजाको ही प्राप्त होनेवाला था ।

एवमुक्तवन्तं जायोवाच—हन्त गृहाण हे पत इम एव ये मद्धस्ते विनिक्षिप्तास्त्वया कुल्माषा इति । तान्वादित्वामुं यज्ञं राज्ञो विततं विस्तारितमृत्विग्भिरेयाय ॥ ७ ॥

इस प्रकार कहते हुए उषस्तिसे उसकी पत्नीने कहा—'हे स्वामिन् ! आप इन उड़दोंको ही लीजिये जिन्हें आपने मेरे हाथमें दिया था ।' उषस्ति उन्हें खाकर राजाके उस वितत--ऋत्विजोंद्वारा विस्तारपूर्वक सम्पादित होनेवाले यज्ञमें गया ॥ ७॥

* * *

राजयज्ञमें उषस्ति और ऋत्विजोंका संवाद

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

वहाँ [जाकर वह] आस्ताव (स्तुति) के स्थानमें स्तुति करते हुए उद्गाताओंके समीप बैठ गया और उसने प्रस्तोतासे कहा--॥ ८ ॥

तत्र च गत्वोद्गातॄनुद्गातृपुरुषानागत्य स्तुवन्त्यस्मिन्नित्यास्तावस्तस्मिन्नास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश समीप उपविष्टस्तेषामित्यर्थः । उपविश्य स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

और वहाँ जाकर वह उद्गाता लोगोंके पास आ आस्तावमें--जिस स्थानमें [प्रस्तोतागण] स्तुति करते हैं, उसे आस्ताव कहते हैं, उसमें--स्तुति करते हुए उद्गाताओंके समीप बैठ गया । तथा वहाँ बैठकर उसने प्रस्तोतासे कहा--॥ ८॥

* * *

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव-भक्तिमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतरित्यामन्त्र्याभिमुखीकरणाय । या देवता प्रस्तावं प्रस्तावभक्तिमनुगतान्वायत्ता तां चेद्देवतां प्रस्तावभक्तेरविद्वान्सन् प्रस्तोष्यसि विदुषो मम समीपे । तत्परोक्षेऽपि चेद्विपतेत्तस्य मूर्धा कर्ममात्रविदामनधिकार एव कर्मणि स्यात् । तच्चानिष्टम्, अविदुषामपि कर्मदर्शनात्, दक्षिणमार्गश्रुतेश्च । अनधिकारे चाविदुषामुत्तर एवैको मार्गः श्रूयेत । न च स्मार्तकर्मनिमित्त एव दक्षिणः पन्थाः, "यज्ञेन दानेन" इत्यादिश्रुतेः । 'तथोक्तस्य मया' इति च विशेषणाद्विद्वत्समक्षमेव कर्मण्यनधिकारो न सर्वत्राग्नि-

'हे प्रस्तोतः !'—इस प्रकार अपनी ओर लक्ष्य करानेके लिये सम्बोधन करते हुए [वह बोला—] 'जो देवता प्रस्तावमें—प्रस्तावभक्तिमें अन्वायत्त यानी अनुगत है, यदि उस प्रस्तावभक्तिके देवताको बिना जाने ही तू उसका, उसे जाननेवाले मेरे समीप, प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा ।' यदि यह माना जाय कि देवता-ज्ञानियोंके परोक्षमें भी मस्तक गिर जायगा तो केवल कर्मका ही ज्ञान रखनेवालोंका कर्ममें अनधिकार ही सिद्ध होगा । और यह बात माननीय नहीं है, क्योंकि कर्म तो अविद्वानोंको भी करते देखा जाता है और दक्षिणमार्गका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । और यदि उनका अधिकार न होता तो श्रुतिमें एकमात्र उत्तरमार्गका ही प्रतिपादन किया होता, क्योंकि दक्षिणमार्ग केवल स्मार्त्त कर्मके ही कारण प्राप्त होनेवाला नहीं है, जैसा कि "यज्ञसे दानसे" इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध होता है । तथा 'मेरेद्वारा इस प्रकार कहे हुए' इस वाक्यद्वारा विशेषरूपसे निरूपण किये जानेके कारण भी विद्वान्‌के सामने ही उसे कर्मका अधिकार नहीं है । अग्निहोत्र,

होत्रस्मार्तकर्माध्ययनादिषु च, अनुज्ञायास्तत्र तत्र दर्शनात् । कर्ममात्रविदामप्यधिकारः सिद्धः कर्मणीति । मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

स्मार्त कर्म और अध्ययनादि समस्त कर्मोंमें ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जहाँ-तहाँ [अविद्वान्के लिये भी] कर्मानुष्ठानकी आज्ञा देखी जाती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि केवल कर्ममात्रका ज्ञान रखनेवालोंका भी कर्ममें अधिकार है ॥ ९ ॥

* * *

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥ एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥ ११ ॥

इसी प्रकार उसने उद्गातासे भी कहा—'हे उद्गातः ! जो देवता उद्गीथमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा' ॥ १० ॥ इसी प्रकार प्रतिहर्तासे भी कहा—'हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहारमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने प्रतिहरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा ।' तब वे प्रस्तोता आदि अपने-अपने कर्मोंसे उपरत हो मौन होकर बैठ गये ॥ ११ ॥

एवमेवोद्गातारं प्रतिहर्तारमुवाचेत्यादि समानमन्यत् । ते प्रस्तोत्रादयः कर्मभ्यः समारता उपरताः सन्तो मूर्धपातभयात्तूष्णीमासांचक्रिरेऽन्यच्चाकुर्वन्तः, अर्थित्वात् ॥ १०-११ ॥

इसी प्रकार उद्गातासे तथा प्रतिहर्तासे कहा—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है । तब वे प्रस्तोता आदि कर्मसे समारत अर्थात् उपरत हो मस्तक गिर जानेके भयसे चुप होकर बैठ गये और अर्थी होनेके कारण उन्होंने कुछ और नहीं किया ॥ १०-११ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥

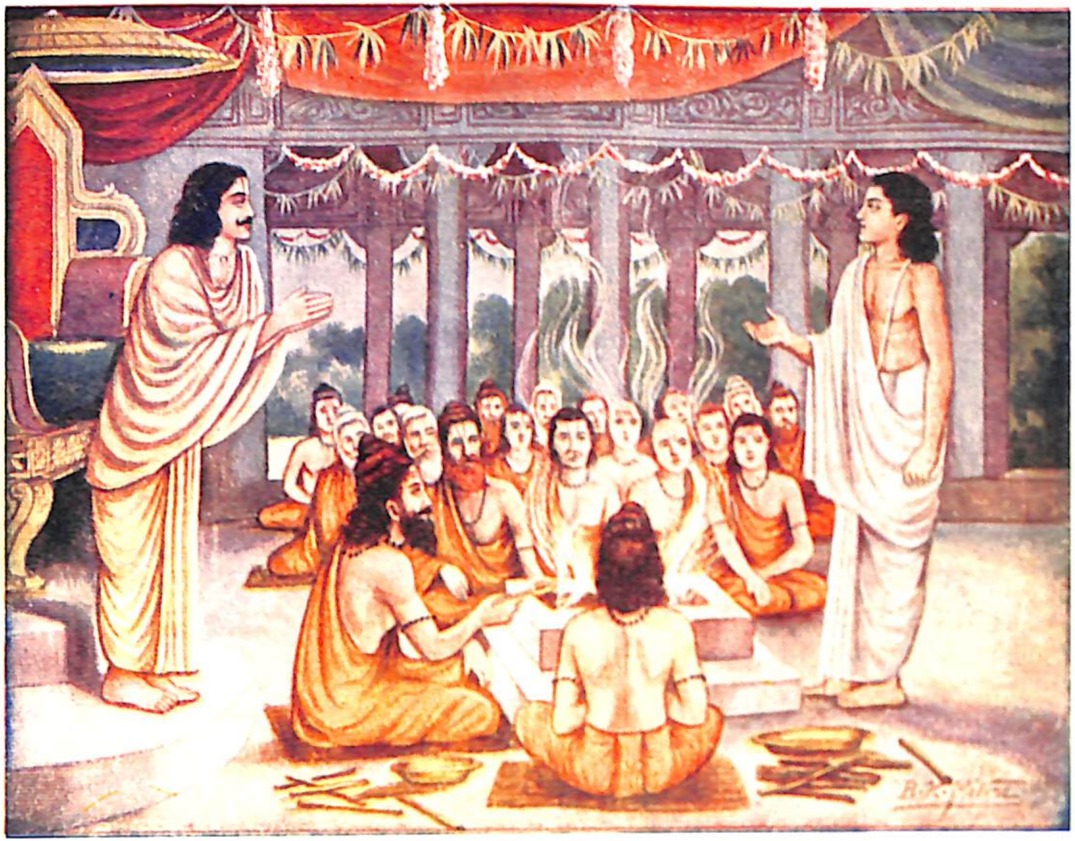

यज्ञशालामें उषस्ति [पृष्ठ १३१

एकादश खण्ड

राजा और उषस्तिका संवाद

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

तब उससे यजमानने कहा—'मैं आप पूज्य-चरणको जानना चाहता हूँ।' इसपर उसने कहा—'मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ' ॥ १ ॥

अथानन्तरं हैनमुषस्तिं यजमानो राजोवाच। भगवन्तं वै पूजावन्तमहं विविदिषाणि वेदितुमिच्छामीत्युक्त उषस्तिरस्मि चाक्रायणस्तवापि श्रोत्रपथमागतो यदीति होवाचोक्तवान् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस उषस्तिसे यजमान राजाने कहा—'मैं भगवान्‌को—पूजनीयको जानना चाहता हूँ।' ऐसा कहे जानेपर उसने कहा—'यदि तुमने सुना हो तो मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ' ॥ १ ॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥ २ ॥

मैंने इन समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये श्रीमान्‌को खोजा था। श्रीमान्‌के न मिलनेसे ही मैंने दूसरे ऋत्विजोंका वरण किया था ॥ २ ॥

स ह यजमान उवाच—सत्यमेवमहं भगवन्तं बहुगुणमश्रौषं सर्वैश्च ऋत्विक्कर्मभिरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं पर्येषणं कृतवानस्मि।

उस यजमानने कहा—'यह ठीक ही है, मैंने श्रीमान्‌को बहुत गुणवान् सुना है। मैंने सम्पूर्ण ऋत्विक्कर्मोंके लिये आपकी खोज

अन्विष्य भगवतो वा अहमविच्यालाभेनान्यानिमानवृषि वृतवानस्मि ॥ २ ॥

की थी । ढूँढ़नेपर श्रीमान्‌के न मिलनेसे ही मैंने इन दूसरे ऋत्विजोंका वरण किया था ॥ २ ॥

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

मेरे समस्त ऋत्विक्कर्मोंके लिये श्रीमान् ही रहें——ऐसा सुनकर उषस्तिने 'ठीक है' ऐसा कहा——[और बोला—] 'अच्छा तो मेरे द्वारा प्रसन्नतासे आज्ञा दिये हुए ये ही लोग स्तुति करें; और तुम जितना धन इन्हें दो उतना ही मुझे देना ।' तब यजमानने 'ऐसा ही होगा' यह कहा ॥ ३ ॥

अद्यापि भगवांस्त्वेव मे मम सर्वैरार्त्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मार्थमस्त्वित्युक्तस्तथेत्याहोषस्तिः । किं त्वथैवं तर्ह्येत एव त्वया पूर्वं वृता मया समतिसृष्टा मया सम्यक्प्रसन्नेनानुज्ञाताः सन्तः स्तुवताम् । त्वया त्वेतत्कार्यम्, यावत्त्वेभ्यः प्रस्तोत्रादिभ्यः सर्वेभ्यो धनं दद्याः प्रयच्छसि तावन्मम दद्याः । इत्युक्तस्तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

'अब भी श्रीमान् ही मेरे सम्पूर्ण ऋत्विक्कर्मोंके लिये रहें' ऐसा कहे जानेपर उषस्तिने कहा——'अच्छा, किंतु तुमने पहले जिनका वरण कर लिया है वे ही ऋत्विग्गण मेरे द्वारा समतिसृष्ट हो——प्रसन्नतासे आज्ञा प्राप्त कर स्तवन करें । तुम्हें तो यही करना होगा कि जितना धन तुम इन सम्पूर्ण प्रस्तोता आदिको दोगे उतना ही मुझे देना ।' ऐसा कहे जानेपर यजमानने 'ऐसा ही होगा' यह कहा ॥ ३ ॥

उषस्तिके प्रति प्रस्तोताका प्रश्न

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥४॥

तदनन्तर उस (उषस्ति) के पास [शिष्यभावसे] प्रस्तोता आया [और बोला—] 'भगवन् ! आपने जो मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावमें अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ४ ॥

अथ हैनमौषस्त्यं वचः श्रुत्वा प्रस्तोतोपससादोषस्तिं विनयेनोपजगाम । प्रस्तोतर्या देवतेत्यादि मा मां भगवानवोचत्पूर्वम्; कतमा सा देवता ? या प्रस्तावभक्तिमन्वायत्तेति ॥ ४ ॥

तदनन्तर उषस्तिका यह वचन सुनकर प्रस्तोता उषस्तिके प्रति उपसन्न हुआ—विनीत भावसे उषस्तिके समीप आया [और बोला—] 'श्रीमान्ने जो पहले 'हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावमें अनुगत है' इत्यादि वाक्य मुझसे कहा था सो वह देवता कौन है, जो कि प्रस्तावभक्तिमें अनुगत है ?' ॥ ४ ॥

* * *

उषस्तिका उत्तर—प्रस्तावानुगत देवता प्राण है

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

उस (उषस्ति) ने 'वह (देवता) प्राण है' ऐसा कहा 'क्योंकि ये सभी भूत प्राणमें ही प्रवेश कर जाते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते

हैं । वह यह प्राण-देवता ही प्रस्तावमें अनुगत है, यदि तू उसे बिना जाने ही प्रस्तवन करता तो मेरेद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता' ॥ ५ ॥

पृष्टः प्राण इति होवाच । युक्तं प्रस्तावस्य प्राणो देवतेति । कथम् ? सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्रलयकाले प्राणमभि लक्षयित्वा प्राणात्मनैव, उज्जिहते प्राणादेवोद्गच्छन्तीत्यर्थ उत्पत्तिकाले । अतः सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ।

तां चेदविद्वांस्त्वं प्रास्तोष्यः प्रस्तवनं प्रस्तावभक्तिं कृतवानसि यदि मूर्धा शिरस्ते व्यपतिष्यद्विपतितमभविष्यत्तथोक्तस्य मया तत्काले मूर्धा ते विपतिष्यतीति । अतस्त्वया साधु कृतम्, मया निषिद्धः कर्मणो यदुपरममकार्षीरित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उसने 'यह देवता प्राण है' ऐसा कहा । प्राण प्रस्तावका देवता है—यह कथन ठीक ही है । किस प्रकार ? क्योंकि सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणी प्रलयकालमें प्राणहीमें प्रवेश करते हैं, अर्थात् प्राणकी ओर लक्ष्यकर प्राणरूपसे ही [उसमें स्थित हो जाते हैं] और उत्पत्तिकालमें उसीसे उद्गत होते हैं अर्थात् वे प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं । अतः वह यह प्राणदेवता ही प्रस्तावमें अनुगत है ।

तू यदि उसे बिना जाने ही प्रस्तवन—प्रस्तावभक्ति करता तो तेरा मूर्द्धा यानी मस्तक गिर जाता । अर्थात् उस समय मेरे इस प्रकार कहनेपर कि 'तेरा मस्तक गिर जायगा' तेरा मस्तक अवश्य गिर जाता । अतः अभिप्राय यह है कि तूने जो मेरे निषेध करनेपर कर्मसे उपरति की वह अच्छा ही किया है ॥ ५ ॥

* * *

उद्गाताका प्रश्न

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसके समीप उद्गाता आया [और बोला—] 'भगवन् ! आपने मुझसे जो कहा था कि हे उद्गातः ! जो देवता उद्गीथमें अनुगत है यदि उसे बिना जाने ही तू उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ६ ॥

तथोद्गाता पप्रच्छ कतमा सोद्गीथभक्तिमनुगतान्वायत्ता देवता ? इति ॥ ६ ॥

इसी प्रकार उससे उद्गाताने भी पूछा कि वह उद्गीथभक्तिमें अनुगत कौन देवता है ? ॥ ६ ॥

उषस्तिका उत्तर—उद्गीथानुगत देवता आदित्य है

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

उषस्तिने 'वह (देवता) आदित्य है' ऐसा कहा, क्योंकि ये सभी भूत ऊँचे उठे आदित्यका ही गान करते हैं । वह यह आदित्य देवता ही उद्गीथमें अनुगत है । यदि तू उसे बिना जाने ही उद्गान करता तो मेरे द्वारा उस तरह कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता ॥ ७ ॥

पृष्ट आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-

इस प्रकार पूछे जानेपर उसने 'वह [देवता] आदित्य है' ऐसा कहा; क्योंकि ये सभी प्राणी ऊँचे

दित्यमुच्चैरूर्ध्वं सन्तं गायन्ति शब्दयन्ति स्तुवन्तीत्यभिप्रायः, उच्छब्दसामान्यात्; प्रशब्दसामान्यादिव प्राणः । अतः सैषा देवतेत्यादि पूर्ववत् ॥ ७ ॥

अर्थात् ऊपर विद्यमान आदित्यका ही गान—शब्द अर्थात् स्तवन करते हैं, प्रस्तावसे 'प्र' शब्दमें समानता होनेके कारण जैसे प्राण प्रस्ताव-देवता था उसी प्रकार यहाँ [उद्गत आदित्य और उद्गीथकी] 'उत्' शब्दमें समानता होनेसे यह उद्गीथ देवता है, अतः वह यह देवता आदि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ७ ॥

प्रतिहर्ताका प्रश्न

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

फिर प्रतिहर्ता उसके पास आया [और बोला—] 'भगवन्! आपने जो मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहारमें अनुगत है यदि उसे बिना जाने ही तू प्रतिहरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा—सो वह देवता कौन है ?' ॥ ८ ॥

एवमेवाथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद कतमा सा देवता प्रतिहारमन्वायत्तेति ? ॥ ८ ॥

इसी प्रकार फिर उसके पास प्रतिहर्ता आया और बोला कि 'वह प्रतिहारमें अनुगत देवता कौन है ?' ॥ ८ ॥

उषस्तिका उत्तर—प्रतिहारानुगत देवता अन्न है

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहार-

मन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

इसपर उसने 'वह (देवता) अन्न है' ऐसा कहा; क्योंकि ये सम्पूर्ण भूत अपने प्रति अन्नका ही हरण करते हुए जीवित रहते हैं। वह यह अन्न देवता प्रतिहारमें अनुगत है। यदि तू उसे बिना जाने ही प्रतिहरण करता तो मेरेद्वारा उस तरह कहे जानेपर तेरा मस्तक गिर जाता ॥ ९ ॥

पृष्टोऽन्नमिति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेवात्मानं प्रति सर्वतः प्रतिहरमाणानि जीवन्ति। सैषा देवता प्रतिशब्दसामान्यात्प्रतिहारभक्तिमनुगता। समानमन्यत्तथोक्तस्य मयेति। प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारभक्तीः प्राणादित्यान्नदृष्ट्योपासीतेति समुदायार्थः। प्राणाद्यापत्तिः कर्मसमृद्धिर्वा फलमिति।९।

इस प्रकार पूछे जानेपर उसने 'वह देवता अन्न है' ऐसा उत्तर दिया, क्योंकि ये सम्पूर्ण भूत सब ओरसे अपनी ओर अन्नका प्रतिहरण करते हुए ही जीवित रहते हैं। वह यह देवता ही 'प्रति' शब्दमें सादृश्य होनेके कारण प्रतिहारभक्तिमें अनुगत है। ['तां चेदविद्वान्' यहाँसे लेकर] 'तथोक्तस्य मया' यहाँतक शेष अर्थ पहलेके समान है। समुदायार्थ ('प्राण इति होवाच' इत्यादि सब मन्त्रोंका सारांश) यह है कि प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार भक्तियोंकी क्रमशः प्राण, आदित्य और अन्नदृष्टिसे उपासना करनी चाहिये। प्राणादिरूपताकी प्राप्ति अथवा कर्ममें समृद्धिलाभ करना यह उस उपासनाका फल है ॥९॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

शौवसामसम्बन्धी उपाख्यान

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व्राज ॥ १ ॥

तदनन्तर अब [अन्नलाभके लिये अपेक्षित] शौव उद्गीथका आरम्भ किया जाता है। वहाँ प्रसिद्ध है कि [पूर्व कालमें] दल्भका पुत्र बक अथवा मित्राका पुत्र ग्लाव स्वाध्यायके लिये [गाँवके बाहर] जलाशयके समीप गया ॥ १ ॥

शौवोद्गीथोपदेश-प्रयोजनम्

अतीते खण्डेऽन्नाप्राप्तिनिमित्ता कष्टावस्थोक्तोच्छिष्टपर्युषितभक्षणलक्षणा सा मा भूदित्यन्नलाभाय अथानन्तरं शौवः श्वभिर्दृष्ट उद्गीथ उद्गानं सामातः प्रस्तूयते।

तत्तत्र ह किल बको नामतो दल्भस्यापत्यं दाल्भ्यो ग्लावो वा नामतो मित्रायाश्चापत्यं मैत्रेयः। वाशब्दश्चार्थे द्व्यामुष्या-

अतीत खण्डमें अन्नकी अप्राप्तिसे होनेवाली उच्छिष्ट और पर्युषित (बासी) अन्नभक्षणरूप कष्टमयी अवस्थाका वर्णन किया गया था, वैसी अवस्थाकी प्राप्ति न हो—इसलिये अब इससे आगे अन्न-प्राप्तिके लिये शौव—श्वानोंद्वारा देखे हुए उद्गीथ—उद्गान सामका आरम्भ किया जाता है।

तहाँ प्रसिद्ध है कि बकनामक दाल्भ्य—दल्भका पुत्र अथवा ग्लाव-नामक मैत्रेय-मित्राका पुत्र स्वाध्याय करनेके लिये ग्रामसे बाहर 'उद्व्राज' एकान्त देशमें स्थित जलाशयके समीप गया। यहाँ 'वा' शब्द 'च'

यणो ह्यसौ । वस्तुविषये क्रियास्विव विकल्पानुपपत्तेः । "द्विनामा द्विगोत्रः" इत्यादि हि स्मृतिः । दृश्यते चोभयतः पिण्डभाक्त्वम् । उद्गीथे बद्धचित्तत्वादृषावनादराद्वा वाशब्दः स्वाध्यायार्थः । स्वाध्यायं कर्तुं ग्रामाद्बहिरुद्वव्राजोद्गतवान्विविक्तदेशस्थोदकाभ्याशम् ।

उद्वव्राज प्रतिपालयाञ्चकारेति चैकवचनाल्लिङ्गादेकोऽसावृषिः । श्वोद्गीथकालप्रतिपालनादृषेः स्वाध्यायकरणमन्नकामनयेति लक्ष्यत इत्यभिप्रायतः ॥ १ ॥

(और) के अर्थमें है । अवश्य ही वह द्वयामुष्यायण है, क्योंकि वस्तुके विषयमें क्रियाओंके समान विकल्प होना सम्भव नहीं है । "द्विनामा द्विगोत्रः" इत्यादि वाक्य स्मृतिमें प्रसिद्ध भी है । [जिस गोत्रमें पुत्र उत्पन्न होता है और जहाँ वह धर्मपूर्वक गोद लिया जाता है उन] दोनोंका उससे पिण्डग्रहण करना लोकमें भी देखा ही जाता है । अथवा उद्गीथविद्यामें बद्धचित्त होनेसे ऋषियोंमें अनादर होनेके कारण 'वा' शब्दका प्रयोग स्वाध्यायके लिये किया गया है ।

'उद्वव्राज' और 'प्रतिपालयाञ्चकार' इन क्रियाओंमें एकवचन होनेसे सिद्ध होता है कि यह एक ही ऋषि है । [तृतीय मन्त्रमें कथित] श्वानोंके उद्गीथकालकी प्रतीक्षा करनेसे तात्पर्यतः यह लक्षित होता है कि ऋषिका स्वाध्याय करना अन्नकी कामनासे है ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

उसके समीप एक श्वेत कुत्ता प्रकट हुआ। उसके पास दूसरे कुत्तोंने आकर कहा—'भगवन्! आप हमारे लिये अन्नका आगान कीजिये, हम निश्चय ही भूखे हैं' ॥ २ ॥

स्वाध्यायेन तोषिता देवतर्षिर्वा श्वरूपं गृहीत्वा श्वा श्वेतः संस्तस्मा ऋषये तदनुग्रहार्थं प्रादुर्बभूव प्रादुश्चकार। तमन्ये शुक्लं श्वानं क्षुल्लकाः श्वान उपसमेत्योचुरुक्तवन्तोऽन्नं नोऽस्मभ्यं भगवानागायत्वागानेन निष्पादयत्वित्यर्थः।

मुख्यप्राणं वागादयो वा प्राणमन्वन्नभुजः स्वाध्यायपरितोषिताः सन्तोऽनुगृह्णीयुरेनं श्वरूपमादायेति युक्तमेवं प्रतिपत्तुम्। अशनायाम वै बुभुक्षिताः स्मो वा इति ॥ २ ॥

स्वाध्यायसे संतुष्ट हो उस ऋषिके निमित्त—उसपर अनुग्रह करनेके लिये [कोई] देवता या ऋषि श्वानरूप धारणकर श्वेत कुत्ता बनकर प्रकट हुआ। उस श्वेत कुत्तेसे दूसरे छोटे-छोटे कुत्तोंने समीप आकर कहा—'भगवन्! आप हमारे लिये अन्नका आगान कीजिये अर्थात् आगानके द्वारा अन्न प्रस्तुत कीजिये।'

अथवा मुख्य प्राणसे वागादि गौण प्राणोंने इस तरह कहा, क्योंकि मुख्य प्राणके पीछे अन्न ग्रहण करनेवाले वागादि गौण प्राण उसके स्वाध्यायसे संतुष्ट हो श्वानरूप धारणकर उसपर अनुग्रह करें—ऐसा मानना उचित ही है। 'अवश्य ही हमें अशन (भोजन) की इच्छा है अर्थात् हम निश्चय ही भूखे हैं' ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥ ३ ॥

उनसे उस (श्वेत श्वान) ने कहा—‘तुम प्रातःकाल यहीं मेरे पास आना ।’ तब दाल्भ्य बक अथवा मैत्रेय ग्लाव उनकी प्रतीक्षा करता रहा ॥ ३ ॥

एवमुक्ते श्वा श्वेत उवाच तान्क्षुल्लकाञ्शुन इहैवास्मिन्नेव देशे मा मां प्रातः प्रातःकाल उपसमीयातेति । दैर्घ्यं छान्दसं समीयातेति प्रमादपाठो वा । प्रातःकालकरणं तत्काल एव कर्तव्यार्थम् । अन्नदस्य वा सवितुरपराह्णेऽनाभिमुख्यात् ।

तत्रैव ह बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेय ऋषिः प्रतिपालयाञ्चकार प्रतीक्षणं कृतवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

ऐसा कहे जानेपर श्वेत कुत्तेने उन छोटे-छोटे कुत्तोंसे कहा—‘तुम प्रातःकाल इसी स्थानपर मेरे पास आना । ‘समीयात’ इस क्रियापदमें दीर्घपाठ छान्दस है अथवा प्रमादके कारण है । प्रातःकालकी जो नियुक्ति की गयी है वह उसी समय उद्गानकी कर्तव्यता सूचित करनेके लिये अथवा मध्याह्नोत्तर कालमें अन्नदाता सूर्य उद्गाताके सम्मुख नहीं रहता—यह सूचित करनेके लिये है ।

तब दाल्भ्य बक अथवा मैत्रेय ग्लाव नामक ऋषि उसी स्थानपर ‘प्रतिपालयाञ्चकार’—प्रतीक्षा करता रहा—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

ते ह यथैवेह बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ४ ॥

उन कुत्तोंने, जिस प्रकार कर्ममें बहिष्पवमान स्तोत्रसे स्तवन करनेवाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं उसी प्रकार भ्रमण किया और फिर वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे ॥ ४ ॥

ते श्वानस्तत्रैवागम्य ऋषेः समक्षं यथैवेह कर्मणि बहिष्पवमानेन स्तोत्रेण स्तोष्यमाणा उद्गातृपुरुषाः संरब्धाः संलग्ना अन्योन्यमेव मुखेनान्योन्यस्य पुच्छं गृहीत्वाससृपुरासृप्तवन्तः परिभ्रमणं कृतवन्त इत्यर्थः । त एवं संसृप्त्य समुपविश्योपविष्टाः सन्तो हिं चक्रुर्हिंकारं कृतवन्तः ॥ ४ ॥

उन कुत्तोंने वहाँ उस ऋषिके सम्मुख आकर, जिस प्रकार कर्ममें बहिष्पवमान स्तोत्रसे स्तवन करनेवाले उद्गातालोग एक-दूसरेसे मिलकर चलते हैं उसी प्रकार मुँहसे एक-दूसरेकी पूँछ पकड़कर सर्पण-परिभ्रमण किया । उन्होंने इस प्रकार परिभ्रमण कर फिर वहाँ बैठकर हिंकार किया ॥ ४ ॥

* * *

कुत्तोंद्वारा किया हुआ हिंकार

ओ ३ मदा ३ मों ३ पिबा ३ मों ३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरदन्नपते ३ ऽन्नमिहा २-हरा २ हरा ३ मिति ॥ ५ ॥

ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते हैं, ॐ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें । हे अन्नपते ! यहाँ अन्न लाओ, अन्न लाओ, ॐ ॥ ५ ॥

ओमदामों पिबामों देवो द्योतनात्, वरुणो वर्षणाज्जगतः, प्रजापतिः पालनात्प्रजानाम्, सविता प्रसवितृत्वात्सर्वस्यादित्य उच्यते । एतैः पर्यायैः स एवंभूत आदित्योऽन्नमस्मभ्यमिहाहरदाहरत्विति ।

ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते हैं, ॐ । आदित्य ही द्योतनशील होनेके कारण देव, जगत्‌की वर्षा करनेके कारण वरुण, प्रजाओंका पालन करनेसे प्रजापति तथा सबका प्रसविता होनेके कारण सविता कहा जाता है । इन पर्यायोंके कारण ऐसे गुणोंवाले वे आदित्य हमारे लिये यहाँ अन्न लावें ।

त एवं हिं कृत्वा पुनरप्यूचुः—स त्वं हेऽन्नपते ! स हि सर्वस्यान्नस्य प्रसवितृत्वात्पतिः । न हि तत्पाकेन विना प्रसृतमन्नमणुमात्रमपि जायते प्राणिनाम् । अतोऽन्नपतिः । हेऽन्नपतेऽन्नमस्मभ्यमिहाहराहरेति । अभ्यास आदरार्थः । ओमिति ॥ ५ ॥

इस प्रकार हिंकार कर उन्होंने फिर भी कहा—'वही तू हे अन्नपते ! —सम्पूर्ण अन्नका उत्पत्तिकर्ता होनेके कारण वही अन्नपति है, क्योंकि उसके पाक बिना उत्पन्न हो जानेपर भी प्राणियोंके लिये अणुमात्र भी अन्न उत्पन्न नहीं होता, अतः वह अन्नपति है——हे अन्नपते ! तू हमारे लिये यहाँ अन्न ला ।' 'आहर' इस शब्दकी पुनरावृत्ति आदरके लिये है । ओमिति—[यह पद उपासनाकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है] ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश खण्ड

सामावयवभूत स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाएँ

भक्तिविषयोपासनं सामावयवसंबद्धमित्यतः सामावयवान्तरस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि संहतान्युपदिश्यन्तेऽनन्तरं सामावयवसंबद्धत्वाविशेषात्—

सामभक्ति-विषयक उपासना सामावयवोंसे सम्बद्ध है । अतः यहाँसे आगे सामके एक अवयवमात्र स्तोभाक्षरविषयक अन्य संहत उपासनाओंका वर्णन किया जाता है, क्योंकि उनका भी सामावयवरूपसे [सामभक्तिके साथ] सम्बद्ध होना समान ही है——

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

यह लोक ही हाउकार है, वायु हाइकार है, चन्द्रमा अथकार है, आत्मा इहकार है और अग्नि ईकार है ॥ १ ॥

अयं वावायमेव लोको हाउकारः स्तोभो रथन्तरे साम्नि प्रसिद्धः । 'इयं वै रथन्तरम्' इत्यस्मात्संबन्धसामान्याद्धाउकारस्तोभोऽयं लोक इत्येवमुपासीत । वायुर्हाइकारः । वामदेव्ये सामनि हाइकारः प्रसिद्धः । वाय्वप्संबन्धश्च वामदेव्यस्य साम्नो योनि-

यह लोक ही रथन्तर साममें प्रसिद्ध हाउकार स्तोभ है । 'यही रथन्तर है' इस सम्बन्धसामान्यसे हाउकार स्तोभ ही यह लोक है—इस प्रकार उपासना करे । वायु हाइकार है; वामदेव्य साममें हाइकार स्तोभ प्रसिद्ध है । वायु और जलका सम्बन्ध ही वामदेव्य सामका मूल

रिति । अस्मात् सामान्याद्धाइकारं वायुदृष्ट्योपासीत ।

चन्द्रमा अथकारः । चन्द्रदृष्ट्याथकारमुपासीत। अन्ने हीदं स्थितम् । अन्नात्मा चन्द्रः । थकाराकारसामान्याच्च । आत्मेहकारः । इहेति स्तोभः प्रत्यक्षो ह्यात्मेहेति व्यपदिश्यते, इहेति च स्तोभः, तत्सामान्यात् । अग्निरीकारः । ईनिधनानि चाग्नेयानि सर्वाणि सामानीत्यतस्तत्सामान्यात् ॥ १ ॥

है। अतः इस समानताके कारण हाइकार सामकी वायुदृष्टिसे उपासना करनी चाहिये ।

चन्द्रमा अथकार है । अथकारकी उपासना चन्द्रदृष्टिसे करनी चाहिये, क्योंकि यह (चन्द्रमा) अन्नमें ही स्थित है । चन्द्रमा अन्नस्वरूप ही है । थकार और अकारमें समानता होनेके कारण भी [अन्नरूप चन्द्रमाकी अथकाररूपसे उपासना करनी चाहिये] आत्मा इहकार है; 'इह' यह [एक प्रकारका] स्तोभ होता है । प्रत्यक्ष ही आत्मा 'इह' ऐसा कहकर निर्देश किया जाता है और 'इह' ऐसा स्तोभ भी होता है, अतः उसकी समानताके कारण [आत्मा इहकार है] । अग्नि ईकार है । सम्पूर्ण आग्नेय साम 'ई' में समाप्त होनेवाले हैं । अतः उस सदृशताके कारण अग्नि ईकार है ॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वे देवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

आदित्य ऊकार है, निहव एकार है, विश्वेदेव औहोयिकार हैं, प्रजापति हिंकार है तथा प्राण स्वर है, अन्न या है एवं विराट् वाक् है ॥ २ ॥

आदित्य ऊकारः। उच्चैरूर्ध्वं सन्तमादित्यं गायन्तीत्यूकारश्चायं स्तोभः। आदित्यदैवत्ये साम्नि स्तोभ ऊ इत्यादित्य ऊकारः। निहव इत्याह्वानमेकारः स्तोभः। एहीति चाह्वयन्तीति तत्सामान्यात्। विश्वे देवा औहोयिकारो वैश्वदेव्ये साम्नि स्तोभस्य दर्शनात्। प्रजापतिर्हिंकारः। आनिरुक्तत्वाद्धिंकारस्य चाव्यक्तत्वात्।

प्राणः स्वरः, स्वर इति स्तोभः। प्राणस्य च स्वरहेतुत्वसामान्यात्। अन्नं या। या इति स्तोभोऽन्नम्। अन्नेन हीदं यातीत्यतस्तत्सामान्यात्। वागिति स्तोभो विराडन्नं देवताविशेषो वा। वैराजे साम्नि स्तोभदर्शनात् ॥ २ ॥

आदित्य ऊकार है; ऊँचा अर्थात् ऊपरकी ओर स्थित आदित्यका ही [उद्गाता लोग] गान करते हैं, अतः ऊकार ही यह स्तोभ है। आदित्य देवतासम्बन्धी साममें ऊ स्तोभ है, अतः आदित्य ऊकार है–[ऐसी उपासना करे]। निहव आह्वानको कहते हैं; वह एकार स्तोभ है, क्योंकि 'एहि' ऐसा कहकर लोग पुकारा करते हैं, उस सादृश्यके कारण [निहव एकार है]। विश्वेदेव औहोयिकार हैं, क्योंकि वैश्वदेव्य साममें यह स्तोभ देखा जाता है। प्रजापति हिंकार है, क्योंकि उसका किसी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता तथा हिंकार भी अव्यक्त ही है।

प्राण स्वर है; 'स्वर' यह एक प्रकारका स्तोभ है। स्वरका कारण होनेमें उससे प्राणकी सदृशता होनेके कारण [प्राण स्वर है]। अन्न या है। 'या' यह स्तोभ अन्न है, क्योंकि अन्नसे ही यह प्राणी यात्रा करता है अतः उसकी समानता होनेके कारण अन्न या है। 'वाक्' यह स्तोभ विराट्—अन्न अथवा देवताविशेष है, क्योंकि वैराज साममें वाक् स्तोभ देखा जाता है।२।

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

जिसका [विशेषरूपसे] निरूपण नहीं किया जाता और जो [कार्यरूपसे] संचार करनेवाला है वह तेरहवाँ स्तोभ हुङ्कार है ॥ ३ ॥

अनिरुक्तोऽव्यक्तत्वादिदं चेदं चेति निर्वक्तुं न शक्यत इत्यतः संचरो विकल्प्यमानस्वरूप इत्यर्थः । कोऽसौ ? इत्याह—त्रयोदशः स्तोभो हुंकारः । अव्यक्तो ह्ययमतोऽनिरुक्तविशेष एवोपास्य इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

जो अव्यक्त होनेके कारण 'यह और यह' इस रूपसे निरूपित नहीं किया जा सकता, इसलिये अनिरुक्त है और संचर अर्थात् विकल्प्यमानस्वरूप है, वह क्या है ? सो बतलाते हैं—वह तेरहवाँ स्तोभ हुङ्कार है । वह अव्यक्त ही है, अतः अनिरुक्तविशेषरूपसे ही उपासनीय है—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३ ॥

* * *

स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपासनाओंका फल

स्तोभाक्षरोपासनाफलमाह—

अब स्तोभाक्षरोंकी उपासनाका फल बतलाते हैं—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳसाम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ ४ ॥

जो इस प्रकार इस सामसम्बन्धिनी उपनिषद्को जानता है उसे वाणी, जो वाणीका फल है उस फलको देती है तथा वह अन्नवान् और अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥ ४ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहमित्याद्युक्तार्थम् । य एतामेवं यथोक्त-

'दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले (छा० १ । ३ । ७ में) कहा जा चुका है । जो

लक्षणां साम्नां सामावयवस्तोभाक्षरविषयामुपनिषदं दर्शनं वेद तस्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः । द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः । सामावयवविषयोपासनाविशेषपरिसमाप्त्यर्थो वेति ॥ ४ ॥

इस उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट सामकी सामावयवभूत स्तोभाक्षरसम्बन्धिनी उपनिषद्को जानता है, उसे यह पूर्वोक्त फल मिलता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'उपनिषदं वेद उपनिषदं वेद' यह पुनरुक्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है । अथवा सामावयवविषयक उपासनाविशेषकी समाप्ति बतानेके लिये है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

साधुदृष्टिसे समस्त सामोपासना

ओमित्येतदक्षरमित्यादिना सामावयवविषयमुपासनमनेकफलमुपदिष्टम् । अनन्तरं च स्तोभाक्षरविषयमुपासनमुक्तम् । सर्वथापि सामैकदेशसंबद्धमेव तदिति । अथेदानीं समस्ते साम्नि समस्तसामविषयाण्युपासनानि वक्ष्यामीत्यारभते श्रुतिः । युक्तं ह्येकदेशोपासनानन्तरमेकदेशिविषयमुपासनमुच्यत इति ।

[प्रथम अध्यायमें स्थित] 'ओमित्येतदक्षरम्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा अनेक फल देनेवाली सामावयवसम्बन्धिनी उपासनाओंका उपदेश किया गया । उसके पश्चात् सामके अवयवभूत स्तोभाक्षरविषयिणी उपासनाका निरूपण हुआ । वह भी सर्वथा सामके एक देशसे ही सम्बन्ध रखती है । इसके बाद अब मैं समस्त साममें होनेवाली अर्थात् समस्त सामसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंका वर्णन करूँगी—इस आशयसे श्रुति आरम्भ करती है । एक देश [अर्थात् अवयव] से सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाके अनन्तर एकदेशी (अवयवी) से सम्बद्ध उपासनाका वर्णन किया जाता है—यह ठीक ही है ।

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳसाधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥

ॐ समस्त सामकी उपासना साधु है। जो साधु होता है उसको साम कहते हैं और जो असाधु होता है वह असाम कहलाता है ॥ १ ॥

समस्तस्य सर्वावयवविशिष्टस्य पाञ्चभक्तिकस्य साप्तभक्तिकस्य चेत्यर्थः। खल्विति वाक्यालंकारार्थः। साम्न उपासनं साधु। समस्ते साम्नि साधुदृष्टिविधिपरत्वान्न पूर्वोपासननिन्दार्थत्वं साधुशब्दस्य।

ननु पूर्वत्राविद्यमानं साधुत्वं समस्ते साम्न्यभिधीयते, न; साधु सामेत्युपास्त इत्युपसंहारात्। साधुशब्दः शोभनवाची कथमवगम्यते? इत्याह— यत्खलु लोके साधु शोभनमनवद्यं प्रसिद्धं तत्सामेत्याचक्षते कुशलाः। यदसाधु विपरीतं तदसामेति ॥ १ ॥

समस्त अर्थात् सम्पूर्ण अवयवोंसे युक्त यानी पाञ्चभक्तिक और साप्तभक्तिक सामकी उपासना साधु है। 'खलु' यह निपात वाक्यकी शोभा बढ़ानेके लिये है। समस्त साममें साधुदृष्टिका विधान करनेमें प्रवृत्त होनेके कारण 'साधु' शब्द पूर्व उपासनाकी निन्दाके लिये नहीं है।

यदि कहो कि पूर्व उपासनामें न रहनेवाली ही साधुता समस्त साममें बतलायी जाती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि [पूर्वोक्त उपासनाका] 'साम साधु है इस प्रकार उपासना करे' ऐसा कहकर उपसंहार किया है।' 'साधु' शब्द शोभन अर्थका बोधक है—यह कैसे जाना जाता है? इसपर कहते हैं—लोकमें जो वस्तु साधु—शोभन अर्थात् निर्दोषरूपसे प्रसिद्ध है उसको निपुणजन 'साम' ऐसा कहकर पुकारते हैं। तथा जो असाधु यानी विपरीत होती है, उसको असाम कहते हैं।१।

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

इसी विषयमें कहते हैं--[जब कहा जाय कि अमुक पुरुष] इस [राजा आदि] के पास सामद्वारा गया तो [ऐसा कहकर] लोग यही कहते हैं कि वह इसके पास साधुभावसे गया और [जब यों कहा जाय कि] वह इसके पास असामद्वारा गया तो [इससे] लोग यही कहते हैं कि वह इसके यहाँ असाधुभावसे प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

तत्त्रैव साध्वसाधुविवेककरण उताप्याहुः । साम्नैनं राजानं सामन्तं चोपागादुपगतवान् । कोऽसौ ? यतोऽसाधुत्वप्राप्त्याशङ्का स इत्यभिप्रायः । शोभनाभिप्रायेण साधुनैनमुपागादित्येव तत्त्राहुर्लौकिका बन्धनाद्यसाधुकार्यमपश्यन्तः । यत्र पुनर्विपर्ययो बन्धनाद्यसाधुकार्यं पश्यन्ति तत्रासाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

वहाँ—उस साधु-असाधुका विवेक करनेमें ही कहते हैं कि [जब यह कहा जाता है कि] इस राजा अथवा सामन्तके पास सामरूपसे गया——कौन गया ? जिससे कि असाधुत्वकी प्राप्तिकी आशङ्का थी वह——ऐसा इसका तात्पर्य है——तो उसके बन्धन आदि असाधु कार्योंके न देखनेवाले लौकिक पुरुष यही कहते हैं कि वह उस [राजा या सामन्त] के पास शोभन अभिप्रायसे——साधुभावसे गया । और जहाँ इसके विपरीत बन्धन आदि असाधु कार्य देखते हैं वहाँ वे ऐसा ही कहते हैं कि वह इसके पास असाम— असाधुरूपसे गया ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं कि हमारा साम (शुभ) हुआ। अर्थात् जब शुभ होता है तो 'अहा ! बड़ा अच्छा हुआ' ऐसा कहते हैं; और ऐसा भी कहते हैं—'हमारा असाम हुआ' अर्थात् जब अशुभ होता है तो 'ओह ! बुरा हुआ !' ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

अथोताप्याहुः स्वसंवेद्यं साम नोऽस्माकं बतेत्यनुकम्पयन्तः संवृत्तमित्याहुः । एतत्तैरुक्तं भवति यत् साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुः । विपर्यये जातेऽसाम नो बतेति । यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः । तस्मात्सामसाधुशब्दयोरेकार्थत्वं सिद्धम् ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं कि 'अहा ! वह स्वयं ही अनुभव करने योग्य साम हमें प्राप्त हो गया है ।' 'बत' इस निपातका आशय यह है कि वे अनुकम्पा करते हुए कहते हैं । अर्थात् उनके द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि जो साधु होता है वही 'अहा ! यह साधु है' ऐसा कहा जाता है तथा विपरीत होनेपर 'ओह ! हमारे लिये यह असाम है' ऐसा कहते हैं । जो असाधु होता है वही 'ओह ! यह असाधु (बुरा) है' ऐसा कहा जाता है । इससे साम और साधु शब्दोंकी एकार्थकता सिद्ध होती है ॥ ३ ॥

* * *

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

इसे ऐसे जाननेवाला जो पुरुष 'साम साधु है' इस प्रकार उपासना करता है उसके पास, जो साधु धर्म हैं वे शीघ्र ही आ जाते हैं और उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं ॥ ४ ॥

अतः स यः कश्चित्साधु सामेति साधुगुणवत्सामेत्युपास्ते समस्तं साम साधुगुणवद्विद्वांस्तस्यैतत्फलम् अभ्याशो ह क्षिप्रं ह, यदिति क्रियाविशेषणार्थम्, एनमुपासकं साधवः शोभना धर्माः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धा आ च गच्छेयुरागच्छेयुश्च । न केवलमागच्छेयुरुप च नमेयुरुपनमेयुश्च भोग्यत्वेनोपतिष्ठेयुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः वह जो कोई पुरुष साम साधु है यानी साम साधुगुणविशिष्ट है—ऐसी उपासना करता है अर्थात् समस्त सामको साधु गुणवाला जानता है उसे यह फल मिलता है, इस उपासकको जो श्रुतिस्मृतिसे अविरुद्ध शुभ धर्म हैं, वे अभ्याश अर्थात् शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ जो 'यत्' पद है वह क्रियाविशेषणके लिये है। केवल प्राप्त ही नहीं होते उसके प्रति विनम्र भी हो जाते हैं, अर्थात् भोग्यरूपसे उपस्थित हो जाते हैं ।४।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१॥

द्वितीय खण्ड

लोकविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

कानि पुनस्तानि साधुदृष्टिविशिष्टानि समस्तानि सामान्युपास्यानि ? इति, इमानि तान्युच्यन्ते लोकेषु पञ्चविधमित्यादीनि ।

फिर वे साधुदृष्टिविशिष्ट उपासना करने योग्य समस्त साम कौन-से हैं ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—वे 'लोकेषु पञ्चविधम्' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा इस प्रकार बतलाये जाते हैं—

लोकेषु पञ्चविधꣳसामोपासीत पृथिवी हिंकारः । अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

ऊपरके लोकोंमें निम्नाङ्कितरूपसे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिये। पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है ॥ १ ॥

साम्नि द्विधा दृष्टौ विरोधोद्भावनम्

ननु लोकादिदृष्ट्या तान्युपास्यानि साधुदृष्ट्या चेति विरुद्धम् ।

विरोधपरिहारः

न, साध्वर्थस्य लोकादिकार्येषु कारणस्यानुगतत्वात्, मृदादिवद्घटादिविकारेषु । साधुशब्दवाच्योऽर्थो धर्मो ब्रह्म वा सर्वथापि लोकादिकार्येष्वनुगतम् । अतो

शंका—किंतु उन समस्त सामोंकी लोकादिदृष्टिसे तथा साधुदृष्टिसे भी उपासना करनी चाहिये—ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मृत्तिका आदि अपने विकार घटादिमें अनुगत होते हैं उसी प्रकार [सबका] कारणभूत साधु पदार्थ लोकादि कार्यवर्गमें अनुगत है । साधुशब्दका वाच्यार्थ धर्म अथवा ब्रह्म सभी प्रकारसे लोकादि कार्यवर्गमें व्याप्त है । अतः जिस

यथा यत्र घटादिदृष्टिर्मृदादिदृष्ट्यनुगतैव सा, तथा साधुदृष्ट्यनुगतैव लोकादिदृष्टिः, धर्मादिकार्यत्वाल्लोकादीनाम्। यद्यपि कारणत्वमविशिष्टं ब्रह्मधर्मयोः, तथापि धर्म एव साधुशब्दवाच्य इति युक्तम्, साधुकारी साधुर्भवतीति धर्मविषये साधुशब्दप्रयोगात्।

लोकादिषु दृष्ट्यनुशासनवैयर्थ्याशङ्का

ननु लोकादिकार्येषु कारणस्यानुगतत्वादर्थप्राप्तैव तद्दृष्टिरिति 'साधु सामेत्युपास्ते' इति न वक्तव्यम्।

तन्निरसनम्

न, शास्त्रगम्यत्वात्तद्दृष्टेः। सर्वत्र हि शास्त्रप्रापिता एव धर्मा उपास्या न विद्यमाना अप्यशास्त्रीयाः।

लोकेषु पृथिव्यादिषु पञ्चविधं पञ्चभक्तिभेदेन पञ्चप्रकारं साधु समस्तं सामोपासीत। कथम्? पृथिवी हिंकारः। लोकेष्विति या सप्तमी तां प्रथ-

प्रकार जहाँ घटादिदृष्टि होती है वहाँ वह मृत्तिकादिदृष्टिसे अनुगत ही होती है, उसी प्रकार लोकादिदृष्टि भी साधुदृष्टिसे अनुगत ही होती है; क्योंकि ये लोकादि धर्मादिके कार्य ही होते हैं। यद्यपि ब्रह्म और धर्मका प्रपञ्चकारणत्व तो समान है तो भी 'साधु' शब्दका वाच्य धर्म ही है—ऐसा मानना ठीक है; क्योंकि 'साधु करनेवाला साधु होता है' इस प्रकार धर्मके विषयमें ही 'साधु' शब्दका प्रयोग किया गया है।

शंका—लोकादि कार्योंमें उनका कारण अनुगत होनेके कारण उसमें साधुदृष्टि होना तो स्वतः सिद्ध है। ऐसी अवस्थामें 'साम साधु है इस प्रकार उपासना करता है' यह नहीं कहना चाहिये था।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह दृष्टि शास्त्रसे ही प्राप्त हो सकती है। सभी जगह शास्त्रविहित धर्म ही उपासनीय होते हैं, अशास्त्रीय धर्म विद्यमान रहनेपर भी उपासनीय नहीं होते।

पृथिवी आदि लोकोंमें पञ्चविध—पाँच प्रकारकी भक्तिके भेदसे पाँच प्रकारके साधुगुणविशिष्ट समस्त सामकी उपासना करनी चाहिये। सो किस प्रकार? [यह बतलाते हैं—] पृथिवी हिंकार है। 'लोकेषु' इस पदमें जो सप्तमी विभक्ति है उसे प्रथमा

मात्वेन विपरिणमय्य पृथिवीदृष्ट्या हिंकारे पृथिवी हिंकार इत्युपासीत । व्यत्यस्य वा सप्तमीश्रुतिं लोकविषयां हिंकारादिषु पृथिव्यादिदृष्टिं कृत्वोपासीत ।

तत्र पृथिवी हिंकारः, प्राथम्यसामान्यात् । अग्निः प्रस्तावः, अग्नौ हि कर्माणि प्रस्तूयन्ते; प्रस्तावश्च भक्तिः । अन्तरिक्षमुद्गीथः, अन्तरिक्षं हि गगनम्, गकारविशिष्टश्चोद्गीथः । आदित्यः प्रतिहारः, प्रतिप्राण्यभिमुखत्वान्मां प्रति मां प्रतीति । द्यौर्निधनम्, दिवि निधीयन्ते हीतो

विभक्तिके रूपसे* परिणत कर हिंकारमें पृथिवी-दृष्टिद्वारा अर्थात् 'पृथिवी हिंकार है' इस प्रकार उपासना करे। अथवा 'लोकेषु' इस पदकी सप्तमी-श्रुतिको हिंकारादिमें करके और वहाँकी कर्म-विभक्ति लोक शब्दमें कर हिंकारादिमें पृथिवी आदि दृष्टि करके उपासना करे।†

उनमें पृथिवी हिंकार है, क्योंकि उन दोनोंमें 'प्रथमता' यह समान गुण है। अग्नि प्रस्ताव है, क्योंकि अग्निमें ही कर्मोंका प्रस्ताव किया जाता है और प्रस्ताव भी एक प्रकारकी सामभक्ति है । अन्तरिक्ष उद्गीथ है। अन्तरिक्ष गगन (आकाश) को कहते हैं और उद्गीथ भी गकारविशिष्ट है [इसलिये उन दोनोंमें सादृश्य है]। आदित्य प्रतिहार है, क्योंकि वह प्रत्येक प्राणीके अभिमुख है । सब लोग यह अनुभव करते हैं कि वह 'मां प्रति, मां प्रति—मेरे सम्मुख है, मेरे सम्मुख है ।' तथा द्यौ निधन है, क्योंकि यहाँसे [मरकर]

---

* प्रथमान्तरूपसे परिणत करनेपर वाक्यका स्वरूप यों होगा—'लोकाः पञ्चविधं सामेत्युपासीत ।' भाव यह कि 'पृथिवी आदि लोक पाँच प्रकारके साम हैं' इस प्रकार उपासना करे । इसीलिये आगे 'पृथिवी हिङ्कारः' इत्यादिमें पृथिवी आदि शब्दोंमें सप्तमी विभक्तिका प्रयोग न करके प्रथमाका ही प्रयोग हुआ है ।

† अर्थात् 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' इस वाक्यके अन्तर्गत 'लोकेषु' इस पदमें जो सप्तमी विभक्ति है उसे पञ्चविध साम एवं उसके द्वारा प्रतिपाद्य हिंकार आदिमें ले जाय और 'पञ्चविधं साम' में जो द्वितीया विभक्ति है उसे लोकपदमें ले जाय, इस दशामें वाक्यका स्वरूप ऐसा होगा—'पञ्चविधे साम्नि लोकम् (लोकदृष्टिं कृत्वा) उपासीत' । इसीका फलितार्थ बतलाते हुए भाष्यकार लिखते हैं—'हिंकारादिषु पृथिव्यादिदृष्टिं कृत्वोपासीत' ।

गता इत्यूर्ध्वेषूर्ध्वगतेषु लोकदृष्ट्या सामोपासनम् ॥ १ ॥

जानेवाले लोग द्युलोकमें रक्खे जाते हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगत-ऊपरके लोकोंमें लोकदृष्टिसे की जानेवाली उपासना बतलायी गयी ॥१॥

आवृत्तिकालिक अधोमुख लोकोंमें पञ्चविध सामोपासना

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अब अधोमुख लोकोंमें सामोपासनाका निरूपण किया जाता है—द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथिवी निधन है ॥ २ ॥

अथावृत्तेष्ववाङ्मुखेषु पञ्चविधमुच्यते सामोपासनम् । गत्यागतिविशिष्टा हि लोकाः । यथा ते, तथादृष्ट्यैव सामोपासनं विधीयते यतः, अत आवृत्तेषु लोकेषु द्यौर्हिंकारः प्राथम्यात् । आदित्यः प्रस्तावः, उदिते ह्यादित्ये प्रस्तूयन्ते कर्माणि प्राणिनाम् । अन्तरिक्षमुद्गीथः पूर्ववत् । अग्निः प्रतिहारः, प्राणिभिः प्रतिहरणा-

अब आवृत्त अर्थात् पुनरावृत्तिके समय अधोमुख लोकोंमें पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया जाता है, क्योंकि ये लोक गमन और आगमन [दोनों प्रकारकी वृत्तियों] से युक्त हैं । गमन और आगमन-कालमें जिस प्रकार वे स्थित हैं उसी दृष्टिसे उनमें सामोपासनाका विधान किया जाता है, इसलिये आगमनकालमें उन अधोमुख लोकोंमें प्रथम होनेके कारण द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, क्योंकि सूर्यके उदित होनेपर ही प्राणियोंके कर्म प्रस्तुत होते हैं; तथा पहलेहीके समान अन्तरिक्ष उद्गीथ है; अग्नि प्रतिहार है, क्योंकि प्राणियोंद्वारा उसका प्रतिहरण (एक

दग्नेः । पृथिवी निधनम्, तत आगतानामिह निधनात् ॥२॥

स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना) होता है और पृथिवी निधन है, क्योंकि वहाँसे आये हुए प्राणियोंको इसीमें रक्खा जाता है ॥ २ ॥

उपासनफलम्—

उपासनाका फल—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है उसके प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं ॥ ३ ॥

कल्पन्ते समर्था भवन्ति हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च गत्यागतिविशिष्टा भोग्यत्वेन व्यवतिष्ठन्त इत्यर्थः । य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं समस्तं साधु सामेत्युपास्ते; इति सर्वत्र योजना पञ्चविधे सप्तविधे च ॥ ३ ॥

कल्प — समर्थ होते हैं (भोग्यरूपसे प्राप्त होते हैं) अर्थात् उसके प्रति गमनागमन कालकी स्थितिसे युक्त ऊर्ध्व एवं अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं । [किसके प्रति ?] जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष 'लोकोंमें पाँच प्रकारका समस्त साम साधु गुणविशिष्ट है' इस प्रकार उपासना करता है । इसी प्रकार पञ्चविध और सप्तविध सामकी उपासनामें भी सर्वत्र इस वाक्यकी योजना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२॥

तृतीय खण्ड

वृष्टिविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । पूर्वीय वायु हिंकार है, मेघ जो उत्पन्न होता है—वह प्रस्ताव है, जो बरसता है वह उद्गीथ है, जो चमकता और गर्जन करता है वह प्रतिहार है ॥ १ ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत; लोकस्थितेर्वृष्टिनिमित्तत्वादानन्तर्यम् । **पुरोवातो हिंकारः**, पुरोवाताद्युद्ग्रहणान्ता हि वृष्टिः; यथा साम हिंकारादिनिधनान्तम्, अतः पुरोवातो हिंकारः प्राथम्यात् । **मेघो जायते स प्रस्तावः**, प्रावृषि मेघजनने वृष्टेः प्रस्ताव इति हि प्रसिद्धिः । **वर्षति स उद्गीथः**, श्रैष्ठ्यात् । **विद्योतते**

वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । लोकोंकी स्थिति वृष्टिके कारण होनेसे इसका लोकसम्बन्धिनी उपासनाके अनन्तर निरूपण किया गया है । पूर्वीय वायु हिंकार है । पूर्वीय वायुसे लेकर जलग्रहणपर्यन्त वृष्टि कही जाती है, जिस प्रकार कि हिंकारसे लेकर निधनपर्यन्त साम कहा जाता है । अतः प्रथम होनेके कारण पूर्वीय वायु हिंकार है । मेघ जो उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है, वर्षा ऋतुमें मेघके उत्पन्न होनेपर ही वृष्टि प्रस्तुत होती है—यह प्रसिद्ध ही है । मेघ जो बरसता है वही श्रेष्ठताके कारण उद्गीथ है; तथा जो बिजली चमकती और कड़कती

स्तनयति स प्रतिहारः, प्रतिहृतत्वात् ॥१॥	है—वही प्रतिहृत होने (इधर-उधर फैलने) के कारण प्रतिहार है ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

मेघ जो जल ग्रहण करता है—यह निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसके लिये वर्षा होती है और वह [स्वयं भी] वर्षा करा लेता है ॥ २ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम्, समाप्तिसामान्यात् । फलमुपासनस्य—वर्षति हास्मा इच्छातः । तथा वर्षयति हासत्यामपि वृष्टौ य एतदित्यादि पूर्ववत् ॥२॥	[बादल] जो जल ग्रहण करता है यह निधन है, क्योंकि समाप्तिमें इन दोनोंकी समानता है [अर्थात् जलग्रहण और निधन दोनों अन्तिम कार्य हैं]। अब इस उपासनाका फल बतलाते हैं—उसके इच्छानुसार मेघ वर्षा करता है, तथा वृष्टिके न होनेपर भी वह वर्षा करा लेता है। 'य एतदेवम्' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥३॥

चतुर्थ खण्ड

जलविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥१॥

सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । मेघ जो घनीभावको प्राप्त होता है--वह हिंकार है, वह जो बरसता है-वह प्रस्ताव है, [नदियाँ] जो पूर्वकी ओर बहती हैं वह उद्गीथ है तथा जो पश्चिमकी ओर बहती हैं वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है ॥ १ ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत । वृष्टिपूर्वकत्वात्सर्वासामपामानन्तर्यम् । मेघो यत्संप्लवत एकीभावेनेतरेतरं घनीभवति मेघो यदा उन्नतस्तदा संप्लवत इत्युच्यते । तदापामारम्भः स हिंकारः । यद्वर्षति स प्रस्तावः,

सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । सम्पूर्ण जल वृष्टिपूर्वक ही होते हैं इसलिये वृष्टिविषयक उपासनाके बाद जलविषयक उपासनाका निरूपण किया गया है । मेघ जो संप्लवन करता है अर्थात् परस्पर एक होकर घनीभूत होता है [‘संप्लवते’का ‘घनीभूत होता है’ अर्थ इसलिये किया गया है कि] जब मेघ ऊँचा होता है उस समय वह संप्लवन करता है—ऐसा कहा जाता है । उस घनीभूत होनेके ही समय जलोंका प्रारम्भ होता है; अतः संप्लवन ही हिंकार है । वह जो

आपः सर्वतो व्याप्तुं प्रस्तुताः । याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात् । याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः प्रतिशब्दसामान्यात् । समुद्रो निधनम्, तन्निधनत्वादपाम् ॥ १ ॥

बरसता है उसीको प्रस्ताव कहा जाता है, क्योंकि उसी समय जलका सर्वत्र प्रसार आरम्भ होता है। जो जल [गङ्गादि नदियोंके रूपमें] पूर्वकी ओर बहते हैं वे उत्कृष्ट होनेके कारण उद्गीथ और जो प्रतीची (पश्चिम) की ओर बहते हैं वे 'प्रति' शब्दमें समान होनेके कारण प्रतिहार कहे जाते हैं तथा समुद्र निधन है, क्योंकि उसीमें जलोंका संचय होता है ॥ १ ॥

* * *

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सब प्रकारके जलोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है वह जलमें नहीं मरता और जलसे सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

न हाप्सु प्रैति, नेच्छति चेत् । अप्सुमानम्मान्भवति फलम् ॥ २ ॥

यदि वह इच्छा न करे तो जलमें मृत्युको प्राप्त नहीं होता तथा वह अप्सुमान् अर्थात् [इच्छानुकूल] जलसे सम्पन्न होता है—यह इस (उपासना) का फल है ॥ २ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥४॥

पञ्चम खण्ड

ऋतुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है ॥ १ ॥

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत । ऋतुव्यवस्थाया यथोक्ताम्बुनिमित्तत्वादानन्तर्यम् । वसन्तो हिंकारः, प्राथम्यात् । ग्रीष्मः प्रस्तावः, यवादिसंग्रहः प्रस्तूयते हि प्रावृडर्थम् । वर्षा उद्गीथः, प्राधान्यात् । शरत्प्रतिहारः, रोगिणां मृतानां च प्रतिहरणात् । हेमन्तो निधनम्, निवाते निधनात्प्राणिनाम् ॥ १ ॥

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । ऋतुओंकी व्यवस्था पूर्वोक्त जलरूप निमित्तसे ही होती है, इस कारण यह ऋतुविषयक सामोपासना उसके बाद कही गयी है । [उनमें] सबसे पहला होनेके कारण वसन्त हिंकार है । ग्रीष्म प्रस्ताव है, क्योंकि [इसी समय] वर्षा ऋतुके लिये जौ आदि अन्नोंके संग्रहका प्रस्ताव किया जाता है । प्रधानताके कारण वर्षा उद्गीथ है । रोगी और मृत प्राणियोंका प्रतिहरण करनेके कारण शरदृतु प्रतिहार (एक जगहसे दूसरे स्थानपर ले जाना)है तथा वायुके अभावमें प्राणियोंका निधन होनेके कारण हेमन्त ऋतु निधन है ॥ १ ॥

फलम्—

इस उपासनाका फल—

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे ऋतुएँ अपने अनुरूप भोग देती हैं और वह ऋतुमान् (ऋतुसम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न) होता है ॥ २ ॥

कल्पन्ते ह ऋतुव्यवस्थानुरूपं भोग्यत्वेनास्मा उपासकायर्तवः । ऋतुमानार्तवैर्भोगैश्च संपन्नो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उपासकके लिये ऋतुएँ अपने कालकी व्यवस्थाके अनुरूप फल भोग्य-रूपसे उपस्थित करनेमें समर्थ होती हैं और वह ऋतुमान् होता है, अर्थात् ऋतु-सम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥५॥

षष्ठ खण्ड

पशुविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

पशुषु पञ्चविधꣳसामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥ १ ॥

पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है ॥ १ ॥

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत । सम्यग्वृत्तेष्वृतुषु पशव्यः काल इत्यानन्तर्यम् । अजा हिंकारः, प्राधान्यात्प्राथम्याद्वा, “अजः पशूनां प्रथमः” इति श्रुतेः । अवयः प्रस्तावः, साहचर्यदर्शनादजावीनाम्, गाव उद्गीथः, श्रैष्ठ्यात् । अश्वाः प्रतिहारः, प्रतिहरणात्पुरुषाणाम् । पुरुषो निधनम्, पुरुषाश्रयत्वात्पशूनाम् ॥ १ ॥

पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । ऋतुओंके ठीक-ठीक बरतनेसे पशुओंके लिये अनुकूल समय रहता है इसलिये यह उपासना उसके पीछे कही गयी है । सबमें प्रधान होनेके कारण अथवा “पशुओंमें सर्वप्रथम बकरा है” इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले होनेके कारण बकरे हिंकार हैं । बकरे और भेड़ोंका साहचर्य देखा जानेसे भेड़ें प्रस्ताव हैं । सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण गौएँ उद्गीथ हैं । पुरुषोंका प्रतिहरण (वहन) करनेके कारण घोड़े प्रतिहार हैं तथा पशुवर्ग पुरुषके आश्रित हैं, अतः पुरुष निधन है ॥ १ ॥

फलम्—

इस उपासनाका फल--

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष पशुओंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुधनसे सम्पन्न होता है ॥ २ ॥

भवन्ति हास्य पशवः, पशुमान्भवति पशुफलैश्च भोगत्यागादिभिर्युज्यत इत्यर्थः ॥२॥

उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुमान् होता है अर्थात् वह पशुओंसे प्राप्त होनेवाले फल-भोग एवं दानादिसे युक्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥६॥

सप्तम खण्ड

प्राणविषयक पाँच प्रकारकी सामोपासना

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणोंमें पाँच प्रकारके परोवरीय (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) गुणविशिष्ट सामकी उपासना करे । [उनमें] प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है । ये उपासनाएँ निश्चय ही परोवरीय (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ) हैं ॥ १ ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । परं परं वरीयस्त्वगुणवत्प्राणदृष्टिविशिष्टं सामोपासीतेत्यर्थः । प्राणो घ्राणं हिंकारः, उत्तरोत्तरवरीयसां प्राथम्यात् । वाक्प्रस्तावः, वाचा हि प्रस्तूयते सर्वम्, वाग्वरीयसी प्राणात्, अप्राप्तमप्युच्यते वाचा, प्राप्तस्यैव तु गन्धस्य ग्राहकः प्राणः ।

प्राणोंमें पाँच प्रकारके परोवरीय सामकी उपासना करे अर्थात् उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्वगुणवान् प्राणदृष्टियुक्त सामकी उपासना करे। उन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ प्राणोंमें प्रथम होनेके कारण प्राण—घ्राणेन्द्रिय हिंकार है । वाणी प्रस्ताव है, क्योंकि वाणीसे ही सबका प्रस्ताव किया जाता है । वाणी प्राणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, [क्योंकि] वाणीसे अप्राप्त वस्तुका भी निरूपण किया जाता है और प्राण केवल प्राप्त हुए गन्धका ही ग्रहण करनेवाला है ।

चक्षुरुद्गीथः, वाचो बहुतरविषयं प्रकाशयति चक्षुरतो वरीयो वाचः, उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः, प्रतिहृतत्वात्, वरीयश्चक्षुषः सर्वतः श्रवणात् । मनो निधनम्, मनसि हि निधीयन्ते पुरुषस्य भोग्यत्वेन सर्वेन्द्रियाहृता विषयाः, वरीयस्त्वं च श्रोत्रान्मनसः, सर्वेन्द्रियविषयव्यापकत्वात्, अतीन्द्रियविषयोऽपि मनसो गोचर एवेति । यथोक्तहेतुभ्यः परोवरीयांसि प्राणादीनि वा एतानि ॥१॥

चक्षु उद्गीथ है; चक्षु वाणीसे भी अधिक विषयको प्रकाशित करता है; अतः वह वाणीसे उत्कृष्ट है और उत्कृष्ट होनेके कारण ही उद्गीथ है । श्रोत्र प्रतिहार है, क्योंकि वह प्रतिहृत है तथा सब ओरसे श्रवण करनेके कारण वह नेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट भी है । मन निधन है, क्योंकि भोग्यरूपसे पुरुषकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा लाये हुए विषय मनमें ही रक्खे जाते हैं, तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक होनेके कारण श्रोत्रकी अपेक्षा मनकी उत्कृष्टता भी है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ अन्य इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे है वह भी मनका विषय तो है ही । उपर्युक्त हेतुओंसे ये प्राणादि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं ॥ १ ॥

* * *

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्राणोंमें पाँच प्रकारके उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपासना करता है उसका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता है और वह उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोकोंको जीत लेता है । यह पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया गया ॥ २ ॥

एतद्दृष्ट्या विशिष्टं यः परोवरीयः सामोपास्ते परोवरीयो हास्य जीवनं भवतीत्युक्तार्थम् । इति तु पञ्चविधस्य साम्न उपासनमुक्तमिति सप्तविधे वक्ष्यमाणविषये बुद्धिसमाधानार्थम् । निरपेक्षो हि पञ्चविधे वक्ष्यमाणे बुद्धिं समाधित्सति ॥ २ ॥

जो पुरुष इस प्राणदृष्टिसे युक्त उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपासना करता है उसका जीवन निश्चय ही उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता है—यह अर्थ पहले (१ । ९ । २ में) कहा जा चुका है । इस प्रकार यह पाँच प्रकारके सामकी उपासना तो कह दी गयी; यह बात श्रुतिने आगे कही जानेवाली सप्तविध सामोपासनामें बुद्धिको समाहित करनेके लिये कही है, क्योंकि पञ्चविध सामोपासनामें निरपेक्ष हुआ पुरुष ही आगे कही जानेवाली उपासनामें बुद्धिको समाहित करना चाहेगा ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥७॥

अष्टम खण्ड

वाणीविषयक सप्तविध सामोपासना

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳसामोपासीत यत्किं च वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अब सप्तविध सामकी उपासनाका प्रकरण [आरम्भ किया जाता] है—वाणीमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । वाणीमें जो कुछ 'हुं' ऐसा स्वरूप है वह हिंकार है, जो कुछ 'प्र' ऐसा स्वरूप है वह प्रस्ताव है और जो कुछ 'आ' ऐसा स्वरूप है वह आदि है ॥ १ ॥

अथानन्तरं सप्तविधस्य समस्तस्य साम्न उपासनं साध्विदमारभ्यते । वाचीति सप्तमी पूर्ववत् । वाग्दृष्टिविशिष्टं सप्तविधं सामोपासीतेत्यर्थः । यत्किञ्च वाचः शब्दस्य हुमिति यो विशेषः स हिंकारो हकारसामान्यात् । यत्प्रेति शब्दरूपं स प्रस्तावः प्रसामान्यात् । यत् आ

अब इसके पश्चात् यह सप्तविध समस्त सामकी साधु उपासना आरम्भ की जाती है । श्रुतिमें 'वाचि' इस पदकी सप्तमी विभक्ति पूर्ववत् ('लोकेषु' आदि पदोंकी सप्तमीके समान) समझनी चाहिये । इसका तात्पर्य यह है कि वाग्दृष्टिविशिष्ट सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । जो कुछ वाणी अर्थात् शब्दका 'हुं' ऐसा विशेषरूप है वह हिंकार है, क्योंकि 'हुं' और हिंकारमें हकारकी समानता है; जो कुछ 'प्र' ऐसा शब्दरूप है वह प्रस्ताव है, क्योंकि उन दोनोंमें 'प्र' शब्दका सादृश्य है । तथा जो कुछ

इति स आदिः, आकारसामान्यात् । आदिरित्योङ्कारः, सर्वादित्वात् ॥ १ ॥

'आ' ऐसा शब्दरूप है वह आकारमें समता होनेके कारण आदि है । 'आदि' यह ओङ्कारका वाचक है, क्योंकि वही सबका आदि है ॥ १ ॥

* * *

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

जो कुछ 'उत्' ऐसा शब्दरूप है वह उद्गीथ है, जो कुछ 'प्रति' ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है, जो कुछ 'उप' ऐसा शब्द है वह उपद्रव है और जो कुछ 'नि' ऐसा शब्दरूप है वह निधन है ॥ २ ॥

यदुदिति स उद्गीथः, उत्पूर्वत्वादुद्गीथस्य । यत्प्रतीति स प्रतिहारः, प्रतिसामान्यात् । यदुपेति स उपद्रव उपोपक्रमत्वादुपद्रवस्य । यन्नीति तन्निधनम्, निशब्दसामान्यात् ॥२॥

जो कुछ 'उत्' ऐसा शब्दरूप है वह उद्गीथ है, क्योंकि 'उद्गीथ' शब्दके आरम्भमें 'उत्' है; जो कुछ 'प्रति' ऐसा शब्दस्वरूप है वह प्रतिहार है, क्योंकि उनमें 'प्रति' शब्दका सादृश्य है; जो कुछ 'उप' ऐसा शब्दरूप है वह उपद्रव है, क्योंकि उपद्रव शब्दके आरम्भमें 'उप' शब्द है तथा जो कुछ 'नि' ऐसा शब्दरूप है वह निधन है, क्योंकि 'नि' और 'निधन' में 'नि' शब्दकी समानता है ॥२॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳसामोपास्ते ॥ ३ ॥

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वाणीमें सप्तविध सामकी उपासना करता है उसे वाणी, जो कुछ वाणीका दोह (सार) है उसे देती है तथा वह प्रचुर अन्नसे सम्पन्न और उसका भोक्ता होता है ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मा इत्याद्युक्तार्थम्॥३॥

'दुग्धेऽस्मै' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पहले (१ । ३ । ७ में) कहा जा चुका है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

आदित्यविषयिणी सात प्रकारकी सामोपासना

अथ खल्वमुमादित्यꣳसप्तविधꣳसामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

अब उस आदित्यके रूपमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । आदित्य सर्वदा सम है, इसलिये वह साम है । मेरे प्रति, मेरे प्रति ऐसा अनुभूत होनेके कारण वह सबके प्रति सम है, इसलिये साम है ॥ १ ॥

अवयवमात्रे साम्न्यादित्यदृष्टिः पञ्चविधेषूक्ता प्रथमे चाध्याये । अथेदानीं खल्वमुमादित्यं समस्ते साम्न्यवयवविभागशोऽध्यस्य सप्तविधं सामोपासीत । कथं पुनः सामत्वमादित्यस्य ? इत्युच्यते—

उद्गीथत्वे हेतुवदादित्यस्य सामत्वे हेतुः । कोऽसौ ? सर्वदा समो वृद्धिक्षयाभावात्तेन हेतुना सामादित्यो मां प्रति मां प्रतीति

पञ्चविध सामोपासनाओंके प्रसङ्गमें तथा प्रथम अध्यायमें केवल अवयवमात्र साममें आदित्यदृष्टि बतलायी गयी है । उसके बाद अब यह बताया जाता है कि उस आदित्यको समस्त साममें उसके अवयवविभागके अनुसार आरोपित कर सप्तविध सामकी उपासना करे । तो फिर आदित्यकी सामरूपता किस प्रकार है ? यह बतलाया जाता है—

आदित्यके उद्गीथरूप होनेमें जिस प्रकार हेतु है उसी प्रकार उसके सामरूप होनेमें भी है । वह हेतु क्या है ? वृद्धि और क्षयका अभाव होनेके कारण आदित्य सर्वदा सम है इसी कारणसे वह साम है । वह 'मेरे प्रति, मेरे प्रति' इस प्रकार

तुल्यां बुद्धिमुत्पादयति; अतः सर्वेण समोऽतः साम समत्वादित्यर्थः ।

उद्गीथभक्तिसामान्यवचनादेव लोकादिषूक्तसामान्याद्धिंकारादित्वं गम्यत इति हिंकारादित्वे कारणं नोक्तम् । सामत्वे पुनः सवितुरनुक्तं कारणं न सुबोधमिति समत्वमुक्तम् ॥ १ ॥

सबमें समान बुद्धि उत्पन्न करता है [क्योंकि उसे सभी प्राणी अपने-अपने सम्मुख देखते हैं] इसलिये वह सबके साथ समान है; अतः इस समताके कारण वह साम है ।

उद्गीथभक्तिमें समानता बतलानेसे ही [अर्थात् उद्गीथके साथ आदित्यका ऊर्ध्वत्वमें सादृश्य है—ऐसा जो श्रुतिने कहा है उसके अनुसार ही] लोकादिमें भी [सामावयवोंके साथ] सादृश्य बतलाये जानेसे उनका हिंकारादिरूप होना ज्ञात होता है—इसीसे [श्रुतिमें आदित्यावयवोंके] हिंकारादिरूप होनेमें कारण नहीं बतलाया गया था ।* किंतु आदित्यकी सामरूपतामें न बतलाया गया कारण सुगमतासे नहीं जाना जा सकता इसलिये उसके सम्बन्धमें समत्वरूप कारण बतलाया गया है ॥ १ ॥

* * *

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

उस आदित्यमें ये सम्पूर्ण भूत अनुगत हैं—ऐसा जाने । जो उस आदित्यके उदयसे पूर्व है वह हिंकार है । उस सूर्यका जो हिंकाररूप है

---

* क्योंकि लोकादिके हिंकारादिरूप होनेमें जो-जो कारण हैं, वे ही आदित्यावयवोंके विषयमें भी समझे जा सकते हैं ।

उसके पशु अनुगत हैं, इससे वे हिंकार करते हैं। अतः वे ही इस आदित्यरूप सामके हिंकारभाजन हैं ॥ २ ॥

तस्मिन्नादित्येऽवयवविभागश इमानि वक्ष्यमाणानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तान्यनुगतान्यादित्यमुपजीव्यत्वेनेति विद्यात् । कथम्? तस्यादित्यस्य यत्पुरोदयाद्धर्मरूपम्, स हिंकारो भक्तिस्तत्रेदं सामान्यं यत्तस्य हिंकारभक्तिरूपम्।

उस आदित्यमें ये आगे बतलाये जानेवाले समस्त भूत अवयव-विभागानुसार उसके उपजीव्यरूपसे अन्वायत्त—अनुगत हैं—ऐसा जाने। वे किस प्रकार अनुगत हैं? [यह बतलाते हैं—] उस आदित्यका उदयसे पहले जो धर्मरूप (धर्मानुष्ठानका प्रेरक स्वरूप) है वह हिंकारभक्ति है। उस धर्मरूपमें यही सादृश्य है कि वह उस (आदित्यसंज्ञक साम) का हिंकारभक्तिरूप है।

तदस्यादित्यस्य साम्नः पशवो गवादयोऽन्वायत्ता अनुगतास्तद्भक्तिरूपमुपजीवन्तीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति पशवः प्रागुदयात् । तस्माद्धिंकारभाजिनो ह्येतस्यादित्याख्यस्य साम्नः तद्भक्तिभजनशीलत्वाद्धि त एवं वर्तन्ते ॥ २ ॥

उस इस आदित्यरूप सामके गौ आदि पशु अन्वायत्त–अनुगत हैं; अर्थात् उस हिंकारभक्तिरूपसे उसके उपजीवी हैं। क्योंकि ऐसा है इसीलिये वे पशु सूर्योदयसे पूर्व हिंकार-शब्द करते हैं। अतः वे इस आदित्यसंज्ञक सामके हिंकारपात्र हैं। उस हिंकारभक्तिके सेवनमें तत्पर रहनेसे ही वे इस प्रकार बर्ताव करते हैं [अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व हिंकार करते हैं] ॥ २ ॥

* * *

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है । उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं, अतः वे प्रस्तुति [प्रत्यक्षस्तुति] और प्रशंसा [परोक्षस्तुति] की इच्छावाले हैं, क्योंकि वे इस सामकी प्रस्तावभक्तिका सेवन करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते सवितृरूपं तदस्यादित्याख्यस्य साम्नः प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः पूर्ववत् । तस्मात्ते प्रस्तुतिं प्रशंसां कामयन्ते । यस्मात्प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥३॥

तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो उसका रूप होता है वह इस आदित्यसंज्ञक सामका प्रस्ताव है; पूर्ववत् [अर्थात् पशुओंके समान] उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं । इसीसे वे प्रस्तुति और प्रशंसाकी इच्छा करते हैं, क्योंकि वे इस सामके प्रस्तावका भजन करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायाꣳस आदिस्तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् आदित्यका जो रूप सङ्गववेलामें (सूर्योदयके तीन मुहूर्त पश्चात् कालमें) रहता है वह आदि है । उसके उस रूपके अनुगत पक्षिगण हैं; क्योंकि वे इस सामके आदिका भजन करनेवाले हैं, इसलिये वे अन्तरिक्षमें अपनेको निराधाररूपसे सब ओर ले जाते हैं ॥ ४ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायां गवां रश्मीनां सङ्गमनं सङ्गमो यस्यां वेलायां गवां वा वत्सैः सा सङ्ग-

तत्पश्चात् सङ्गववेलामें—जिस वेलामें गो यानी सूर्यकिरणोंका सङ्गम होता है अथवा जिसमें गौओंका बछड़ोंसे सङ्गम होता है उसे सङ्गववेला

ववेला तस्मिन्काले यत्सावित्रं रूपं स आदिर्भक्तिविशेष ओङ्कारस्तदस्य वयांसि पक्षिणोऽन्वायत्तानि ।

कहते हैं, उस कालमें सूर्यदेवका जो रूप होता है वह आदि—भक्तिविशेष ओङ्कार है । उसके उस रूपके अनुगामी पक्षिगण हैं ।

यत एवं तस्मात्तानि वयांस्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यनालम्बनान्यात्मानमादायात्मानमेवालम्बनत्वेन गृहीत्वा परिपतन्ति गच्छन्त्यत आकारसामान्यादादिभक्तिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

क्योंकि ऐसा है इसलिये वे पक्षिगण आकाशमें अनारम्बण—बिना आश्रयके ही अपनेको आलम्बनरूपसे ग्रहण कर सब ओर जाते हैं । अतः ['आदायात्मानं परिपतन्ति' इसके आरम्भमें] आकाररूप सादृश्य होनेके कारण वे इस सामकी आदिसंज्ञक भक्तिके भागी हैं ॥ ४ ॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

तथा अब जो मध्यदिवसमें आदित्यका रूप होता है वह उद्गीथ है । इसके उस रूपके देवतालोग अनुगत हैं । इसीसे वे प्रजापतिसे उत्पन्न हुए प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे इस सामकी उद्गीथभक्तिके भागी हैं ॥ ५ ॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिन ऋजुमध्यंदिन इत्यर्थः । स उद्गीथभक्तिस्तदस्य देवा अन्वा-

तथा अब जो सम्प्रति मध्यन्दिनमें अर्थात् ठीक मध्याह्नमें [आदित्यका रूप होता] है वह उद्गीथभक्ति है; उसके उस रूपके अनुगामी देवता-

यत्ताः, द्योतनातिशयात्तत्काले । तस्मात्ते सत्तमा विशिष्टतमाः प्राजापत्यानां प्रजापत्यपत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥५॥

लोग हैं, क्योंकि उस समय वे अत्यन्त प्रकाशशील होते हैं । इसीसे वे प्राजापत्योंमें—प्रजापतिके पुत्रोंमें सत्तम–विशिष्टतम होते हैं, क्योंकि वे इस सामकी उद्गीथभक्तिके भागी हैं ॥५॥

* * *

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

तथा आदित्यका जो रूप मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णके पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । इसीसे वे प्रतिहृत (ऊपरकी ओर आकृष्ट) किये जानेपर नीचे नहीं गिरते, क्योंकि वे इस सामकी प्रतिहारभक्तिके पात्र हैं ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णाद्यद्रूपं सवितुः स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः । अतस्ते सवितुः प्रतिहारभक्तिरूपेणोर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तो नावपद्यन्ते नाधः पतन्ति तद्द्वारे सत्यपीत्यर्थः । यतः प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नो गर्भाः ।६।

तथा आदित्यका जो रूप मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णसे पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । अतः वे सूर्यकी प्रतिहारभक्तिरूपसे ऊपरकी ओर प्रतिहृत (आकृष्ट) होनेके कारण, पतनके द्वारपर रहते हुए भी, अवपन्न नहीं होते – नीचे नहीं गिरते, क्योंकि गर्भ इस सामकी प्रतिहारभक्तिके भागी हैं ॥६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳश्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

तथा आदित्यका जो रूप अपराह्णके पश्चात् और सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह उपद्रव है । उसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं । इसीसे वे पुरुषको देखकर भयवश अरण्य अथवा गुहामें भाग जाते हैं, क्योंकि वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ॥ ७ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्याः पशवोऽन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा भीताः कक्षमरण्यं श्वभ्रं भयशून्यमित्युपद्रवन्त्युपगच्छन्ति; दृष्ट्वोपद्रवणादुपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

तथा आदित्यका जो रूप अपराह्णके पश्चात् और सूर्यास्तके पूर्व होता है वह उपद्रव है । इसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं । इसीसे वे पुरुषको देखकर भयभीत हो कक्ष—वनमें अथवा भयशून्य गुहामें भाग जाते हैं । इस प्रकार देखकर भागनेके कारण वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ॥ ७ ॥

* * *

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳसप्तविधꣳसामोपास्ते ॥ ८ ॥

तथा आदित्यका जो रूप सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह निधन है । उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं; इसीसे [श्राद्धकालमें] उन्हें [पितृ-पितामह आदिरूपसे दर्भपर] स्थापित करते हैं, क्योंकि वे पितृगण निश्चय ही इस सामकी निधनभक्तिके पात्र हैं । इसी प्रकार इस आदित्यरूप सप्तविध सामकी उपासना करते हैं ॥ ८ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमितेऽदर्शनं जिगमिषति सवितरि तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति पितृपितामहप्रपितामहरूपेण दर्भेषु निक्षिपन्ति तांस्तदर्थं पिण्डान्वा स्थापयन्ति । निधनसंबन्धान्निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः पितरः । एवमवयवशः सप्तधा विभक्तं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते यस्तस्य तदापत्तिः फलमिति वाक्यशेषः ॥ ८ ॥

तथा सूर्यास्तसे पूर्व अर्थात् सूर्य जब अदृश्य होना चाहता है उस समय उसका जो रूप है वह निधन है । उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं। इसीसे उन्हें निहित करते हैं अर्थात् पिता, पितामह और प्रपितामहरूपसे उन्हें दर्भोंपर स्थापित करते हैं अथवा उनके उद्देश्यसे पिण्ड रखते हैं । इस प्रकार निधनका सम्बन्ध होनेके कारण वे पितृगण इस सामकी निधनभक्तिके पात्र हैं। इस प्रकार अवयवरूपसे सात भागोंमें विभक्त हुए इस आदित्यरूप सप्तविध सामकी जो उपासना करता है उसे आदित्यरूपताकी प्राप्ति होनारूप फल मिलता है—यह वाक्यशेष है ॥ ८ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥९॥

दशम खण्ड

मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना

मृत्युरादित्यः अहोरात्रादिकालेन जगतः प्रमापयितृत्वात्तस्यातितरणायेदं सामोपासनमुपदिश्यते —

दिवस और रात्रि आदि कालके द्वारा जगत्का प्रमापयिता [अर्थात् वधकर्ता] होनेके कारण आदित्य मृत्यु है, उसे पार करनेके लिये इस सामोपासनाका उपदेश किया जाता है—

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अब [यह बतलाया जाता है कि] समान अक्षरोंवाले मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करे । 'हिंकार' यह तीन अक्षरोंवाला है तथा 'प्रस्ताव' यह भी तीन अक्षरोंवाला है, अतः उसके समान है ॥ १ ॥

अथ खल्वनन्तरमादित्यमृत्युविषयसामोपासनस्यात्मसंमितं स्वावयवतुल्यतया मितं परमात्मतुल्यतया वा संमितमतिमृत्यु मृत्युजयहेतुत्वात् ।

अब निश्चय ही आदित्यरूप मृत्युके विषयभूत सामकी उपासनाके पश्चात् आत्मसंमित—अपने अवयवों (सामावयवों) की तुल्यताद्वारा परिमित अथवा परमात्मसदृशताके कारण ज्ञात, जो मृत्युको जीतनेका हेतु होनेके कारण अतिमृत्यु है, [उस सप्तविध सामकी उपासना

यथा प्रथमेऽध्याय उद्गीथभक्तिनामाक्षराण्युद्गीथ इत्युपास्यत्वेनोक्तानि, तथेह साम्नः सप्तविधभक्तिनामाक्षराणि समाहृत्य त्रिभिस्त्रिभिः समतया सामत्वं परिकल्प्योपास्यत्वेनोच्यन्ते ।

तदुपासनेन मृत्युगोचराक्षरसंख्यासामान्येन तं मृत्युं प्राप्य तदतिरिक्ताक्षरेण तस्यादित्यस्य मृत्योरतिक्रमणायैव संक्रमणं कल्पयति । अतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत मृत्युमतिक्रान्तमतिरिक्ताक्षरसंख्ययेत्यतिमृत्यु साम । तस्य प्रथमभक्तिनामाक्षराणि हिङ्कार इत्येतत्त्र्यक्षरं भक्तिनाम । प्रस्ताव इति च

करे—यह बतलाया जाता है] । जिस प्रकार प्रथम अध्यायमें उद्गीथभक्तिके नामके अक्षर 'उद्गीथ हैं' इस प्रकार उपास्यरूपसे बतलाये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ सामकी सात प्रकारकी भक्तियोंके नामोंके अक्षरोंको एकत्रित कर तीन-तीन अक्षरोंद्वारा समत्व होनेके कारण उनके सामत्वकी कल्पना कर उन्हें उपास्यरूपसे बतलाया जाता है ।

मृत्युके विषयभूत अक्षरोंकी संख्या [जो इक्कीस है उस] की सदृशताके कारण उन अक्षरोंकी उपासना करनेसे मृत्यु (आदित्य) को प्राप्त कर उनसे अतिरिक्त अक्षरद्वारा उस आदित्यरूप मृत्युके अतिक्रमणके लिये ही श्रुति [उपासकके] संक्रमणकी कल्पना करती है । * [श्रुतिमें जो कहा है कि] अतिमृत्यु सप्तविध सामकी उपासना करे सो अतिरिक्त अक्षरसंख्या (बाईसवीं) के द्वारा मृत्युका अतिक्रमण करनेके कारण साम अतिमृत्यु है । उस सामकी प्रथम भक्तिके नामाक्षर 'हिंकार' हैं यह भक्तिनाम तीन अक्षरोंवाला है; तथा

---

* यह बात आगे पाँचवें मन्त्रमें स्पष्ट कर दी गयी है ।

भक्तेस्त्र्यक्षरमेव नाम तत्पूर्वेण समम् ॥ १ ॥

'प्रस्ताव' यह प्रस्तावभक्तिका नाम भी तीन अक्षरोंवाला ही है, अतः यह पहले नामके समान है ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

'आदि' यह दो अक्षरोंवाला नाम है और 'प्रतिहार' यह चार अक्षरोंवाला नाम है। इसमेंसे एक अक्षर निकालकर आदिमें मिलानेसे वे समान हो जाते हैं ॥ २ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं सप्तविधस्य साम्नः संख्यापूरण ओङ्कार आदिरित्युच्यते। प्रतिहार इति चतुरक्षरम्। तत इहैकमक्षरमवच्छिद्याद्यक्षरयोः प्रक्षिप्यते। तेन तत्सममेव भवति ॥ २ ॥

'आदि' यह दो अक्षरोंवाला है। सात प्रकारके सामकी संख्याको पूर्ण करनेमें ओङ्कार 'आदि' इस नामसे कहा जाता है। तथा 'प्रतिहार' चार अक्षरोंवाला नाम है। यहाँ उसमेंसे एक अक्षर निकालकर आदिके दो अक्षरोंमें मिला दिया जाता है। इससे वह उसके समान ही हो जाता है ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

'उद्गीथ' यह तीन अक्षरोंका और 'उपद्रव' यह चार अक्षरोंका नाम है। ये दोनों तीन-तीन अक्षरोंमें तो समान हैं; किंतु एक अक्षर बच रहता है। अतः ['अक्षर' होनेके कारण] तीन अक्षरोंवाला होनेसे तो वह [एक] भी उनके समान ही है ॥ ३ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यतेऽतिरिच्यते। तेन वैषम्ये प्राप्ते साम्नः समत्वकरणायाह तदेकमपि सदक्षरमिति त्र्यक्षरमेव भवति। अतस्तत्समम् ॥ ३ ॥

'उद्गीथ' यह नाम तीन अक्षरोंवाला है और 'उपद्रव' यह चार अक्षरोंवाला। तीन-तीन अक्षरोंसे ये समान हैं, किंतु एक अक्षर बच रहता है यानी बढ़ता है। उसके कारण इनमें विषमता प्राप्त होनेपर सामका समत्व करनेके लिये श्रुति कहती है कि वह एक होनेपर भी 'अक्षर' है, इसलिये वह नाम भी तीन अक्षरोंवाला ही है। अतः उन्हींके समान है ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

'निधन' यह नाम तीन अक्षरोंका है, अतः यह उनके समान ही है। वे ही ये बाईस अक्षर हैं ॥ ४ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। एवं त्र्यक्षरसमतया सामत्वं संपाद्य यथाप्राप्तान्येवाक्षराणि संख्यायन्ते। तानि ह वा एतानि सप्तभक्तिनामाक्षराणि द्वाविंशतिः ॥ ४ ॥

'निधन' यह तीन अक्षरोंवाला नाम है, अतः यह उनके समान ही है। इस प्रकार तीन अक्षरोंमें समानता होनेके कारण उनका सामत्व सम्पादित कर इस प्रकार प्राप्त हुए अक्षरोंकी गणना की जाती है—निश्चय ही वे ये सात भक्तियोंके नामाक्षर बाईस हैं ॥ ४ ॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

इक्कीस अक्षरोंद्वारा साधक आदित्यलोक प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोकसे वह आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है । बाईसवें अक्षरद्वारा वह आदित्यसे परे उस दुःखहीन एवं शोकरहित लोकको जीत लेता है ॥५॥

तत्रैकविंशत्यक्षरसंख्ययादित्यमाप्नोति मृत्युम् । यस्मादेकविंश इतोऽस्माल्लोकादसावादित्यः संख्यया । "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशः" इति श्रुतेः । अतिशिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेण परं मृत्योरादित्याज्जयत्याप्नोतीत्यर्थः । यच्च तदादित्यात्परं किं तत्? नाकं कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोऽकं तन्न भवतीति नाकं कमेवेत्यर्थः, अमृत्युविषयत्वात् । विशोकं च तद्विगतशोकं मानसदुःखरहितमित्यर्थः । तदाप्नोतीति ॥ ५ ॥

वहाँ, वह इक्कीस अक्षर-संख्याके द्वारा तो आदित्यलोकरूप मृत्युको प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोककी अपेक्षा वह आदित्यलोक संख्यामें इक्कीसवाँ है । जैसा कि "बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक और इक्कीसवाँ वह आदित्यलोक', इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । बचे हुए बाईसवें अक्षरद्वारा वह मृत्यु यानी आदित्यलोकसे परे उत्कृष्ट लोकको जीत लेता यानी प्राप्त कर लेता है । उस आदित्यलोकसे जो परे है वह क्या है ? वह नाक है—क सुखको कहते हैं उसका प्रतिषेधक अक है, वह जिसमें न हो उसे नाक कहते हैं; अर्थात् मृत्युका विषय न होनेके कारण वह क (सुख) ही है । तथा वह विशोक—शोकरहित अर्थात् मानसिक दुःखसे हीन है । उसी (लोक) को वह प्राप्त कर लेता है ।५।

* * *

उक्तस्यैव पिण्डितार्थमाह—

श्रुति ऊपर कही हुई बातका ही सारांश कहती है—

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

[वह पुरुष] आदित्यलोककी जय प्राप्त करता है तथा उसे आदित्यविजयसे भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है,जो इस उपासनाको इस प्रकार जाननेवाला होकर आत्मसम्मित और मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करता है—सामकी उपासना करता है ॥ ६ ॥

एकविंशतिसंख्ययादित्यस्य जयमाप्नोति । परो हास्यैवंविद आदित्यजयान्मृत्युगोचरात्परो जयो भवति द्वाविंशत्यक्षरसंख्येत्यर्थः । य एतदेवं विद्वानित्याद्युक्तार्थम् । तस्यैतद्यथोक्तं फलमिति । द्विरभ्यासः साप्तविध्यसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इक्कीसवीं अक्षर-संख्याके द्वारा आदित्यलोककी जय प्राप्त करता है; अतः तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकको बाईसवीं अक्षर-संख्याके द्वारा इस मृत्युगोचर आदित्यजयकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है। 'य एतदेवं विद्वान्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले कहा जा चुका है; उसे यह उपर्युक्त फल प्राप्त होता है। 'सामोपास्ते—सामोपास्ते' यह द्विरुक्ति उपासनाकी सप्तविधताकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥

एकादश खण्ड

गायत्रसामकी उपासना

विना नामग्रहणं पञ्चविधस्य सप्तविधस्य च साम्न उपासनमु-

[यहाँतक] बिना नाम लिये पञ्चविध एवं सप्तविध सामकी उपासनाका

क्तम् । अथेदानीं गायत्रादिनामग्रहणपूर्वकं विशिष्टफलानि सामोपासनान्तराण्युच्यन्ते । यथाक्रमं गायत्रादीनां कर्मणि प्रयोगस्तथैव—

वर्णन किया गया । अब आगे 'गायत्र' आदि नाम लेकर विशिष्ट फलवती अन्य सामोपासनाओंका उल्लेख किया जाता है । गायत्र आदि उपासनाओंका उनके क्रमके अनुसार कर्ममें प्रयोग किया जाता है; उसीके अनुसार—

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

मन हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है । यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

मनो हिंकारो मनसः सर्वकरणवृत्तीनां प्राथम्यात् । तदानन्तर्याद्वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् । प्राणो निधनं यथोक्तानां प्राणे निधनात्स्वापकाले । एतद्गायत्रं साम प्राणेषु प्रोतं गायत्र्याः प्राणसंस्तुतत्वात् ॥ १ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंमें मनकी प्रथमता होनेके कारण मन हिंकार है, उसका पश्चाद्वर्ती होनेसे वाक् प्रस्ताव है, उत्कृष्ट होनेके कारण चक्षु उद्गीथ है, प्रतिहृत होनेके कारण श्रोत्र प्रतिहार है तथा प्राण निधन है, क्योंकि सुषुप्तिकालमें पूर्वोक्त सम्पूर्ण इन्द्रियवर्ग प्राणमें लीन हो जाते हैं । यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि गायत्रीका प्राणरूपसे स्तवन किया गया है ॥१॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार गायत्रसंज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित जानता है, प्राणवान् होता है, पूर्ण आयुका उपभोग करता है, प्रशस्त जीवनलाभ करता है, प्रजा और पशुओंद्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है । वह महामना (उदारहृदय) होवे—यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति । अविकलकरणो भवतीत्येतत् । सर्वमायुरेति । "शतं वर्षाणि सर्वमायुः पुरुषस्य" इति श्रुतेः । ज्योगुज्ज्वलं जीवति । महान्भवति प्रजादिभिर्महांश्च कीर्त्या । गायत्रोपासकस्यैतद्व्रतं भवति यन्महामनस्त्वम्, अक्षुद्रचित्तः स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

वह, जो इस प्रकार इस गायत्रसंज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित जानता है, प्राणवान् होता है अर्थात् अविकल इन्द्रियवान् होता है, वह पूर्ण आयुका उपभोग करता है । "पुरुषकी पूर्ण आयु सौ वर्ष है"—ऐसी श्रुति है । ज्योक्—उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है; प्रजादिके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । यह जो महामनस्त्व (विशालहृदयता) है, गायत्रोपासकका व्रत है अर्थात् उसे उदारचित्त होना चाहिये ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

रथन्तरसामकी उपासना

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳसꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

अभिमन्थन करता है—यह हिंकार है, धूम उत्पन्न होता है—यह प्रस्ताव है, प्रज्वलित होता है—यह उद्गीथ है, अङ्गार होते हैं—यह प्रतिहार है तथा शान्त होने लगता है—यह निधन है और सर्वथा शान्त हो जाता है—यह भी निधन है । यह रथन्तरसाम अग्निमें प्रतिष्ठित है ॥१॥

अभिमन्थति स हिंकारः प्राथम्यात् । अग्नेर्धूमो जायते स प्रस्ताव आनन्तर्यात् । ज्वलति स उद्गीथो हविःसंबन्धाच्छ्रैष्ठ्यं ज्वलनस्य । अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारोऽङ्गाराणां प्रतिहृतत्वात् । उपशमः सावशेषत्वादग्नेः संशमो निःशेषोपशमः समाप्तिसामान्यान्निधनम् । एतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्; मन्थने ह्यग्नेर्गीयते ॥ १ ॥

[अग्निका] अभिमन्थन करता है—यह सर्वप्रथम होनेके कारण हिंकार है। अग्निसे जो धुआँ उत्पन्न होता है वह इसका पश्चाद्वर्ती होनेके कारण प्रस्ताव है । अग्नि जलता है—यह उद्गीथ है; हविका सम्बन्ध होनेके कारण अग्निके प्रज्वलित होनेकी श्रेष्ठता है । अङ्गार होते हैं—यह प्रतिहार है, क्योंकि अङ्गारोंका प्रतिहरण किया जाता है । अग्निके बुझनेमें कसर रह जानेके कारण उपशम और उसका सर्वथा शान्त हो जानारूप संशम निधन हैं; क्योंकि उसके साथ समाप्तिमें इनकी समानता है। यह रथन्तरसाम अग्निमें अनुस्यूत है तथा यह अग्नि-मन्थन कालमें गाया जाता है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह, जो पुरुष इस प्रकार इस रथन्तरसामको अग्निमें अनुस्यूत जानता है वह ब्रह्मतेजःसम्पन्न और अन्नका भोक्ता होता है, पूर्ण जीवनका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है । अग्निकी ओर मुख करके भक्षण न करे और न थूके ही—यह व्रत है ॥ २ ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । ब्रह्मवर्चसी वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं

'स यः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये । ब्रह्मवर्चसी—सदाचार और स्वाध्यायके

तेजो ब्रह्मवर्चसम्, तेजस्तु केवलं त्विड्भावः । अन्नादो दीप्ताग्निः । न प्रत्यङ्ङग्नेरभिमुखो नाचामेन्न भक्षयेत्किञ्चिन्न निष्ठीवेच्च श्लेष्मनिरसनं च न कुर्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

निमित्तसे प्राप्त हुआ तेज 'ब्रह्मवर्चस' कहलाता है, केवल तेज तो त्विड्भाव (कान्ति) का नाम है। 'अन्नाद' का अर्थ दीप्ताग्नि है। अग्निकी ओर मुख करके आचमन यानी कुछ भी भक्षण न करे और न निष्ठीवन—श्लेष्मा (कफ) का ही त्याग करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश खण्ड

वामदेव्यसामकी उपासना

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् १

पुरुष जो संकेत करता है, वह हिंकार है, जो तोष देता (प्रसन्न करनेके लिये मीठी बातें कहता) है, वह प्रस्ताव है; स्त्रीके साथ जो सोता है, वह उद्गीथ है; अपनी अनेक पत्नियोंमेंसे प्रत्येकके साथ जो शयन (अनुकूल बर्ताव) करता है, वह प्रतिहार है, मिथुनद्वारा जो समय बिताता है, वह निधन है; मैथुन आदि क्रियाकी जो समाप्ति करता है, वह भी निधन ही है, यह वामदेव्य साम मिथुनमें ओत-प्रोत है ॥ १ ॥

उपमन्त्रयते सङ्केतं करोति प्राथम्यात्स हिंकारः । ज्ञपयते तोषयति स प्रस्तावः । सहशयनमेकपर्यङ्कगमनं स उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । प्रति स्त्रीं

पुरुष जो उपमन्त्रण—संकेत करता है, वह प्रथम होनेसे हिंकार है। जो ज्ञापन करता—मीठी बातें कहकर तोष देता है, वह प्रस्ताव है। स्त्री-पुरुषका जो साथ सोना—एक शय्यापर जाना है, वह उद्गीथ है, क्योंकि (उत्तम

शयनं स्त्रियोऽभिमुखीभावः स प्रतिहारः। कालं गच्छति मैथुनेन पारं समाप्तिं गच्छति तन्निधनम्। एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्, वाय्वम्बुमिथुनसंबन्धात्॥ १॥

सन्तानकी प्राप्तिका हेतु होनेके कारण) वह उत्कृष्ट है। अपनी अनेक पत्नियोंमेंसे प्रत्येकके साथ जो शयन करना—सम्मुख या अनुकूल होना है, वह प्रतिहार है। पुरुष मिथुनद्वारा जो समय बिताता है तथा मैथुनक्रियाकी जो समाप्ति करता है, वह निधन है। यह वामदेव्य साम मिथुनमें ओतप्रोत है; क्योंकि वायु और जलके मिथुन (जोड़े) से इसका संबन्ध है॥ १॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो पुरुष इस प्रकार इस वामदेव्य सामको मिथुनमें ओतप्रोत जानता है, वह मिथुनवान् (दाम्पत्य-सुखसे सम्पन्न) होता है 'प्रत्येक मैथुनसे सन्तानको जन्म देता है। सारी आयुका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है। प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। जिस उपासकके अनेक पत्नियाँ हों, वह उनमेंसे किसीका भी परित्याग न करे, यह (वामदेव्योपासकका) व्रत है॥ २॥

स य इत्यादि पूर्ववत्। मिथुनी भवत्यविधुरो भवतीत्यर्थः। मिथुनान्मिथुनात्प्रजायत इत्यमोघरेतस्त्वमुच्यते। न काञ्चन काञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत्स-

'स यः' इत्यादि मन्त्रभागका अर्थ पूर्ववत् है। मिथुनवान् होता है अर्थात् कभी विधुर (पत्नीके संयोग-सुखसे वञ्चित) नहीं होता है। मिथुन-मिथुनसे सन्तानको जन्म देता है, इस कथनके द्वारा उसकी अमोघवीर्यता बतायी जाती है। अपनी बहुत-सी स्त्रियोंमेंसे जो कोई जब कभी समागमकी इच्छा लेकर अपनी शय्यापर आ जाय, उसका परित्याग न

मागमार्थिनीम्, वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन विधानात् । एतस्मादन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयः । वचनप्रामाण्याच्च धर्मावगतेर्न प्रतिषेधशास्त्रेणास्य विरोधः ॥ २ ॥

करे; क्योंकि वामदेव्य सामोपासनाके अङ्गरूपसे इसका विधान किया गया है। स्मृतियोंके निषेध-वचन इस वामदेव्योपासनासे अन्यत्र ही लागू होते हैं। श्रुतिके वचनोंके प्रमाणसे ही धर्मका निश्चय होता है, अतः निषेधशास्त्रके साथ इस विधिका विरोध नहीं है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

बृहत्सामकी उपासना

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकालिक प्रतिहार है और जो अस्तमित होनेवाला सूर्य है, वह निधन है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है ॥ १ ॥

उद्यन्सविता स हिंकारः प्राथम्याद्दर्शनस्य । उदितः प्रस्तावः प्रस्तवनहेतुत्वात् कर्मणाम् । मध्यन्दिन उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । अपराह्णः प्रतिहारः पश्वादीनां गृहान् प्रति हरणात् । यदस्तं यंस्तन्निधनं रात्रौ गृहे निधानात् प्राणिनाम् । एतद्बृहदादित्ये प्रोतं बृहत आदित्यदैवत्यत्वात् ॥ १ ॥

उदित होता हुआ जो सूर्य है वह हिंकार है, क्योंकि उसका दर्शन सबसे पहले होता है। उदित हुआ सूर्य कर्मोंके प्रस्तवनका हेतु होनेके कारण प्रस्ताव है। मध्याह्नकालीन सूर्य उत्कृष्ट होनेके कारण उद्गीथ है। पशु आदिको घरोंकी ओर ले जानेके कारण अपराह्णसूर्य प्रतिहार है। तथा जो अस्तको प्राप्त होनेवाला सूर्य है वह रातमें सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने घरोंमें निहित करनेवाला होनेसे निधन है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है, क्योंकि बृहत्का सूर्य ही देवता है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस बृहत्सामको सूर्यमें स्थित जानता है, तेजस्वी और अन्नका भोग करनेवाला होता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। तपते हुए सूर्यकी निन्दा न करे—यह नियम है ॥ २ ॥

स य इत्यादि पूर्ववत् । तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है। तपते हुए सूर्यकी निन्दा न करे—यह [बृहत्सामोपासकके लिये] नियम है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१४॥

पञ्चदश खण्ड

वैरूपसामकी उपासना

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

बादल एकत्रित होते हैं—यह हिंकार है। मेघ उत्पन्न होता है—यह प्रस्ताव है। जल बरसता है—यह उद्गीथ है। बिजली चमकती और कड़कती है—यह प्रतिहार है तथा वृष्टिका उपसंहार होता है—यह निधन है। यह वैरूप साम मेघमें ओत-प्रोत है ॥ १ ॥

अभ्राण्यब्भरणान्मेघ उदकसेक्तृत्वात्। उक्तार्थमन्यत्। एतद्वैरूपं साम पर्जन्ये प्रोतम्। अनेकरूपत्वादभ्रादिभिः पर्जन्यस्य वैरूप्यम् ॥ १ ॥

जलधारण करनेके कारण बादलोंका नाम 'अभ्र' है तथा जलसेचन करनेवाले होनेसे वे 'मेघ' कहलाते हैं। शेष सबका अर्थ पहले [खण्ड ३ मन्त्र १ में] कहा जा चुका है। यह 'वैरूप' नामक साम मेघमें अनुस्यूत है। अभ्रादिरूपसे अनेकरूप होनेके कारण पर्जन्यकी विविधरूपता है ॥१॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैरूप सामको पर्जन्यमें अनुस्यूत जानता है वह विरूप और सुरूप पशुओंका अवरोध करता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्त्तिके कारण महान् होता है । बरसते हुए मेघकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

विरूपांश्च सुरूपांश्चाजाविप्रभृतीन् पशूनवरुन्धे प्राप्नोतीत्यर्थः । वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह बकरी और भेड़ आदि विरूप एवं सुरूप पशुओंका अवरोध करता है, अर्थात् उन्हें प्राप्त करता है । बरसते हुए मेघकी निन्दा न करे—यह [वैरूपसामोपासकके लिये] नियम है ॥ २ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

षोडश खण्ड

वैराजसामकी उपासना

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमन्त निधन है—यह वैराज साम ऋतुओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

वसन्तो हिंकारः प्राथम्यात् । ग्रीष्मः प्रस्ताव इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥	सर्वप्रथम होनेके कारण वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैराज सामको ऋतुओंमें अनुस्यूत जानता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण शोभित होता है, वह

पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

एतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति ऋतुवद्यथर्तव आर्तवैर्धर्मैर्विराजन्त एवं प्रजादिभिर्विद्वानित्युक्तमन्यत् । ऋतून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इस वैराज सामको जो ऋतुओंमें अनुस्यूत जानता है वह ऋतुओंके समान विराजता है । जिस प्रकार ऋतुएँ ऋतुसम्बन्धी धर्मोंके कारण शोभाको प्राप्त होती हैं उसी प्रकार विद्वान् प्रजा आदिके कारण सुशोभित होता है । और सब अर्थ कहा जा चुका है । ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह [वैराजसामोपासकके लिये] नियम है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१६॥

सप्तदश खण्ड

शक्वरीसामकी उपासना

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है—यह शक्वरीसाम लोकोंमें अनुस्यूत है ।१।

पृथिवी हिंकार इत्यादि पूर्ववत् । शक्वर्य इति नित्यं बहुवचनम्, रेवत्य इव । लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

'पृथिवी हिंकारः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है । 'रेवत्यः' इस पदके समान 'शक्वर्यः' यह पद सर्वदा बहुवचनान्त है । [यह शक्वरीसाम] लोकोंमें अनुस्यूत है ॥१॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस शक्वरीसामको लोकोंमें अनुस्यूत जानता है, लोकवान् होता है, वह सम्पूर्ण आयुको प्राप्त होता है । उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है । प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । लोकोंकी निन्दा न करे — यह व्रत है ।२।

लोकी भवति लोकफलेन युज्यत इत्यर्थः । लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

लोकी होता है अर्थात् लोकसम्बन्धी फलसे सम्पन्न होता है । लोकोंकी निन्दा न करे—यह [शक्वरीसामोपासकके लिये] नियम है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१७॥

अष्टादश खण्ड

रेवतीसामकी उपासना

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है—यह रेवतीसाम पशुओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

अजा हिंकार इत्यादि पूर्ववत्।	'अजा हिंकारः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ पूर्ववत् है ।
पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥	यह [रेवतीसाम] पशुओंमें अनुस्यूत है ॥१॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस रेवतीसामको पशुओंमें अनुस्यूत जानता है, पशुमान् होता है, वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है । उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है । प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । पशुओंकी निन्दा न करे, यह नियम है ॥ २ ॥

पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥	पशुओंकी निन्दा न करे—यह [रेवतीसामोपासकके लिये] नियम है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१८॥

एकोनविंश खण्ड

यज्ञायज्ञीयसामकी उपासना

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है । यह यज्ञायज्ञीय साम अङ्गोंमें अनुस्यूत है ॥१॥

लोम हिंकारो देहावयवानां प्राथम्यात् । त्वक्प्रस्ताव आनन्तर्यात् । मांसमुद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । अस्थि प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् । मज्जा निधनमान्त्यात् । एतद्यज्ञायज्ञीयं नाम साम देहावयवेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

देहके अवयवोंमें सर्वप्रथम होनेके कारण लोम हिंकार है । लोमोंके अनन्तर होनेके कारण त्वचा प्रस्ताव है । उत्कृष्ट होनेके कारण मांस उद्गीथ है । प्रतिहृत होनेके कारण अस्थि प्रतिहार है तथा सबके अन्तमें स्थित होनेके कारण मज्जा निधन है । यह यज्ञायज्ञीयनामक साम देहके अवयवोंमें अनुस्यूत है ॥१॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस यज्ञायज्ञीय सामको अङ्गोंमें अनुस्यूत जानता है; अङ्गवान् होता है । वह अङ्गके कारण कुटिल नहीं होता; पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है । एक वर्षतक मांसभक्षण न करे—यह व्रत है, अथवा [सर्वदा ही] मांसभक्षण न करे—ऐसा नियम है ॥ २ ॥

अङ्गी भवति समग्राङ्गो भवतीत्यर्थो नाङ्गेन हस्तपादादिना विहूर्छति न कुटिली भवति पङ्गुः कुणी वेत्यर्थः । संवत्सरं संवत्सरमात्रं मज्ज्ञो मांसानि नाश्नीयान्न भक्षयेत् । बहुवचनं मत्स्योपलक्षणार्थम् । मज्ज्ञो नाश्नीयात्सर्वदैव नाश्नीयादिति वा तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अङ्गी होता है अर्थात् पूर्णाङ्ग होता है । अङ्ग अर्थात् हाथ-पाँव आदिके द्वारा कुटिल यानी लँगड़ा या श्मश्रुरहित नहीं होता । संवत्सरपर्यन्त अर्थात् केवल एक साल मांसभक्षण न करे । 'मज्ज्ञः' इस पदमें बहुवचन मछलियोंको उपलक्षित करानेके लिये है [अर्थात् मांस एवं मत्स्यादि न खाय] । अथवा 'मज्ज्ञो नाश्नीयात्'—सर्वदा ही मांस-मछली न खाय—ऐसा नियम है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये एकोनविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १९ ॥

विंश खण्ड

राजनसामकी उपासना

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार हैं, चन्द्रमा निधन है—यह राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

अग्निर्हिंकारः प्रथमस्थानत्वात् । वायुः प्रस्ताव आनन्तर्यसामान्यात् । आदित्य उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । नक्षत्राणि प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् । चन्द्रमा निधनं कर्मिणां तन्निधनात् । एतद्राजनं देवतासु प्रोतं देवतानां दीप्तिमत्त्वात् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, क्योंकि उसका स्थान सर्वप्रथम है । आनन्तर्यमें तुल्यता होनेके कारण वायु प्रस्ताव है । उत्कृष्ट होनेके कारण आदित्य उद्गीथ है । प्रतिहृत होनेके कारण नक्षत्र प्रतिहार हैं तथा चन्द्रमा निधन है, क्योंकि उसीमें कर्मकाण्डियोंका निधन होता है । यह राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत है, क्योंकि देवगण दीप्तिमान् होते हैं ॥ १ ॥

विद्वत्फलम्—

इस उपासनाके विद्वान्को प्राप्त होनेवाला फल——

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्व-

मायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इस प्रकार इस राजनसामको देवताओंमें अनुस्यूत जानता है, उन्हीं देवताओंके सालोक्य, सार्ष्टित्व (तुल्य ऐश्वर्य) और सायुज्यको प्राप्त हो जाता है । वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके द्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है । ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ २ ॥

एतासामेवाग्न्यादीनां देवतानां सलोकतां समानलोकतां सार्ष्टितां समानर्द्धित्वं सायुज्यं सयुग्भावमेकदेहदेहित्वमित्येतत् । वाशब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः । सलोकतां वेत्यादि । भावनाविशेषतः फलविशेषोपपत्तेः । गच्छति प्राप्नोति । समुच्चयानुपपत्तेश्च । ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् । "एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः" इति श्रुतेर्ब्राह्मणनिन्दा देवतानिन्दैवेति ॥ २ ॥

इन अग्नि आदि देवताओंकी ही सलोकता—समानलोकता, सार्ष्टिता—समान ऐश्वर्य, सायुज्य—परस्पर मिल जानेके भावको अर्थात् एक ही देहके देहित्वको प्राप्त हो जाता है । यहाँ 'वा' शब्द लुप्त समझना चाहिये । अतः 'सलोकतां वा' इत्यादि पाठ जानना चाहिये । क्योंकि भावनाविशेषसे फलविशेषकी उत्पत्ति होती है और इन सब फलोंका समुच्चय होना [अर्थात् एक ही उपासकको इन सब फलोंका प्राप्त होना] भी सम्भव नहीं है । ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह इस प्रकारके उपासकके लिये नियम है । "ये जो ब्राह्मण हैं प्रत्यक्ष देवता ही हैं" ऐसी श्रुति होनेसे ब्राह्मणनिन्दा देवनिन्दा ही है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२०॥

एकविंश खण्ड

सर्वविषयक सामकी उपासना

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयीविद्या हिंकार है। ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य—ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें—ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण—ये निधन हैं। यह सामोपासना सबमें अनुस्यूत है ॥ १ ॥

त्रयी विद्या हिंकारः। अग्न्यादिसाम्न आनन्तर्यं त्रयीविद्याया अग्न्यादिकार्यत्वश्रुतेः। **हिंकारः** प्राथम्यात्सर्वकर्तव्यानाम्। **त्रय इमे लोका**स्तत्कार्यत्वादनन्तरा इति **प्रस्तावः।** अग्न्यादीनामुद्गीथत्वं श्रैष्ठ्यात्। नक्षत्रादीनां प्रतिहृत-

त्रयीविद्या हिंकार है। त्रयीविद्या अग्नि आदिका कार्य है—ऐसी श्रुति होनेके कारण त्रयीविद्या अग्नि आदि सामोपासनाके पश्चात् कही गयी है। सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भमें होनेके कारण त्रयीविद्या हिंकार है। उसके कार्य होनेके कारण ये तीन लोक उसके पश्चाद्वर्ती हैं, अतः ये प्रस्ताव हैं। उत्कृष्टताके कारण अग्नि आदिका उद्गीथत्व बतलाया गया है। तथा प्रतिहृत होनेके कारण नक्षत्रादिकी प्रतिहारता है।

त्वात्प्रतिहारत्वम् । सर्पादीनां धकारसामान्यान्निधनत्वम् ।

एतत्साम नामविशेषाभावात्सामसमुदायः सामशब्दः सर्वस्मिन्प्रोतम् । त्रयीविद्यादि हि सर्वम् । त्रयीविद्यादिदृष्ट्या हिंकारादिसामभक्तय उपास्याः । अतीतेष्वपि सामोपासनेषु येषु प्रोतं यद्यत्साम तद्दृष्ट्या तदुपास्यमिति । कर्माङ्गानां दृष्टिविशेषेणाज्यस्येव संस्कार्यत्वात् ॥ १ ॥

और धकारमें समानता होनेके कारण सर्पादिका निधनत्व बतलाया गया है ।*

यह साम—किसी नामविशेषका अभाव होनेके कारण यह सामसमुदाय अर्थात् 'साम' शब्द सबमें अनुस्यूत है । त्रयीविद्या आदि ही सब कुछ हैं; तथा त्रयीविद्या आदि दृष्टिसे ही हिंकार आदि सामभक्तियोंकी उपासना करनी चाहिये । पीछे बतलायी हुई सामोपासनाओंमें भी जिन-जिनमें जो-जो साम अनुस्यूत है इन त्रयीविद्या आदिकी दृष्टिसे ही उनकी उपासना करनी चाहिये । ['पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवति' इस वाक्यके अनुसार पत्नीकी दृष्टि पड़नेसे] जैसे आज्य संस्कारयुक्त होता है, उसी प्रकार सभी कर्माङ्ग दृष्टिविशेषसे ही संस्कार किये जाने योग्य हैं ॥ १ ॥

◆

सर्वविषयसामविदः फलम्—

सर्वविषयक सामके विद्वान्को मिलनेवाला फल—

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥ २ ॥

---

* यहाँ 'सर्प' शब्दका पर्याय 'विषधर', 'फणधर' आदि कोई धकारविशिष्ट शब्द लेना चाहिये; जैसा कि २ । २ । १ के भाष्यमें भाष्यकारने अन्तरिक्षको उद्गीथ बतलाते हुए अन्तरिक्षके पर्यायभूत गकारविशिष्ट 'गगन' शब्दका ग्रहण किया है ।

वह, जो इस प्रकार सबमें अनुस्यूत इस सामको जानता है सर्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

सर्वं ह भवति सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः । निरुपचरितसर्वभावे हि दिक्स्थेभ्यो बलिप्राप्त्यनुपपत्तिः ॥ २ ॥

सर्व हो जाता है अर्थात् सर्वेश्वर हो जाता है; क्योंकि सर्वभावका उपचार हुए बिना सम्पूर्ण दिशाओंमें स्थित पुरुषोंसे बलि प्राप्त होना सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

सर्वविषयक सामकी उपासनाका उत्कर्ष

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

इसी विषयमें यह मन्त्र भी है—जो पाँच प्रकारके तीन-तीन बतलाये गये हैं, उनसे श्रेष्ठ तथा उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है ॥३॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽप्यस्ति । यानि पञ्चधा पञ्चप्रकारेण हिंकारादिविभागैः प्रोक्तानि त्रीणि त्रीणि त्रयीविद्यादीनि तेभ्यः पञ्चत्रिकेभ्यो ज्यायो महत्तरं परं च व्यतिरिक्तमन्यद्वस्त्वनन्तरं नास्ति न विद्यत इत्यर्थः । तत्रैव हि सर्वस्यान्तर्भावः ॥ ३ ॥

इसी अर्थमें यह श्लोक यानी मन्त्र भी है । हिंकारादि-विभागोंद्वारा जो पाँच प्रकारसे बतलाये हुए तीन-तीन हैं यानी त्रयीविद्या आदि हैं, उन पाँच त्रिकोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट—महान् और उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है—यह इसका तात्पर्य है । अर्थात् उन्हींमें सम्पूर्ण वस्तुओंका अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

जो उसे जानता है वह सब कुछ जानता है । उसे सभी दिशाएँ बलि समर्पित करती हैं । 'मैं सब कुछ हूँ' इस प्रकार उपासना करे— यह नियम है, यह नियम है ॥ ४ ॥

यस्तद्यथोक्तं सर्वात्मकं साम वेद स वेद सर्वं स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । सर्वा दिशः सर्वदिक्स्था अस्मा एवंविदे बलिं भोगं हरन्ति प्रापयन्तीत्यर्थः । सर्वमस्मि भवामीत्येवमेतत्सामोपासीत तस्यैतदेव व्रतम् । द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥

जो पुरुष इस पूर्वोक्त सर्वात्मक सामको जानता है, वह सबको जानता है; अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है । सम्पूर्ण दिशाएँ--सम्पूर्ण दिशाओंमें स्थित पुरुष इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके प्रति बलि यानी भोग उपस्थित करते हैं, अर्थात् उसे भोगोंकी प्राप्ति कराते हैं । 'मैं सब कुछ हूँ' इसी प्रकार इस सामकी उपासना करे—उस उपासकके लिये यही नियम है । यहाँ जो द्विरुक्ति है वह सामोपासनाकी समाप्तिके लिये है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
एकविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२१॥

द्वाविंश खण्ड

विनर्दिगुणविशिष्ट सामकी उपासना

सामोपासनप्रसङ्गेन गानविशेषादिसंपदुद्गातुरुपदिश्यते; फलविशेषसंबन्धात् ।

सामोपासनाके प्रसङ्गसे उद्गाताको गानविशेषादि[1] सम्पत्तिका उपदेश किया जाता है, क्योंकि इससे फलविशेषका सम्बन्ध होता है—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

सामके 'विनर्दि' नामक गानका वरण करता हूँ; वह पशुओंके लिये हितकर है और अग्निदेवतासम्बन्धी उद्गीथ है । प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त है, सोमका निरुक्त है, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण (सरलतासे उच्चारण किये जाने योग्य) है, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान् है, बृहस्पतिका क्रौञ्च (क्रौञ्चपक्षीके शब्दके समान) है और वरुणका अपध्वान्त (भ्रष्ट) है । इन सभी उद्गीथोंका सेवन करे; केवल वरुणसम्बन्धी उद्गीथका ही परित्याग कर दे ॥ १ ॥

विनर्दि विशिष्टो नर्दः स्वरविशेष ऋषभकूजितसमोऽस्यास्तीति विनर्दि गानमिति वाक्य-

विनर्दि—जिसका नर्द यानी स्वरविशेष ऋषभ (बैल) के शब्दके समान विशिष्ट है वह विनर्दिगान है, यहाँ 'गान' शब्द वाक्यशेष है । वह विनर्दि गान पशुओंके

---

[1] 'आदि' शब्दसे स्वर एवं वर्णादि समझने चाहिये ।

शेषः । तच्च साम्नः संबन्धि पशुभ्यो हितं पशव्यमग्नेरग्निदैवत्यं चोद्गीथ उद्गानम् । तदहमेवं विशिष्टं वृणे प्रार्थय इति कश्चिद्यजमान उद्गाता वा मन्यते ।

अनिरुक्तोऽमुकसम इत्यविशेषितः प्रजापतेः प्रजापतिदैवत्यः स गानविशेषः, आनिरुक्त्यात्प्रजापतेः । निरुक्तः स्पष्टः सोमस्य सोमदैवत्यः स उद्गीथ इत्यर्थः । मृदु श्लक्ष्णं च गानं वायोर्वायुदैवत्यं तत् । श्लक्ष्णं बलवच्च प्रयत्नाधिक्योपेतं चेन्द्रस्यैन्द्रं तद्गानम् । क्रौञ्चं क्रौञ्चपक्षिनिनादसमं बृहस्पतेर्बार्हस्पत्यं तत् । अपध्वान्तं भिन्नकांस्यस्वरसमं वरुणस्यैतद्गानम् । तान्सर्वानेवोपसेवेत प्रयुञ्जीत वारुणं त्वेवैकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

लिये हितकर और अग्निदेवतासम्बन्धी उद्गीथ—उद्गान है । इस प्रकारके उस विशिष्ट सामका मैं वरण करता हूँ अर्थात् उसके लिये प्रार्थना करता हूँ—इस प्रकार कोई यजमान अथवा उद्गाता मानता है ।

प्रजापतिका जो गानविशेष है, वह अनिरुक्त है अर्थात् अमुकके तुल्य है—इस प्रकार विशेषरूपसे निरूपित नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रजापति भी विशेषरूपसे निरूपित नहीं किया जाता । सोमका अर्थात् सोमदेवतासम्बन्धी जो उद्गीथ है, वह निरुक्त यानी स्पष्ट है । जो गान मृदु और श्लक्ष्ण है, वह वायुका यानी वायुदेवतासम्बन्धी है । जो श्लक्ष्ण और बलवान् यानी अधिक प्रयत्नकी अपेक्षावाला है, वह इन्द्रका यानी इन्द्रसम्बन्धी गान है । जो क्रौञ्च यानी क्रौञ्चपक्षीके शब्दके समान है, वह बृहस्पतिका यानी बृहस्पतिदेवतासम्बन्धी गान है । अपध्वान्त अर्थात् फूटे हुए काँसेके स्वरके समान जो है, वह वरुणदेवतासम्बन्धी गान है । उन सभीका सेवन अर्थात् प्रयोग करे, एकमात्र वरुणसम्बन्धी गानका ही त्याग करे ।१।

स्तवनके समय ध्यानका प्रकार

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान (साधन) करूँ—इस प्रकार चिन्तन करते हुए आगान करे । पितृगणके लिये स्वधा, मनुष्योंके लिये आशा (उनकी इष्ट वस्तुओं), पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इनका मनसे ध्यान करते हुए प्रमादरहित होकर स्तुति करे ॥ २ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानि साधयानि । स्वधां पितृभ्य आगायान्याशां मनुष्येभ्य आशां प्रार्थितमित्येतत् । तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मने मह्यमागायानीत्येतानि मनसा चिन्तयन्ध्यायन्नप्रमत्तः स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः स्तुवीत ॥ २ ॥

मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान—साधन करूँ; पितृगणके लिये स्वधाका आगान करूँ; मनुष्योंके लिये आशा यानी प्रार्थित वस्तुका [साधन करूँ] । पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इन बातोंका मनसे ध्यान-चिन्तन करते हुए स्वर, ऊष्म और व्यञ्जनादिके उच्चारणमें प्रमादरहित होकर स्तुति करे ॥ २ ॥

स्वरादि वर्णोंकी देवात्मकता

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपाल-

भेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण स्वर इन्द्रके आत्मा हैं, समस्त ऊष्मवर्ण प्रजापतिके आत्मा हैं, समस्त स्पर्शवर्ण मृत्युके आत्मा हैं। [इस प्रकार जाननेवाले] उस उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि मैं इन्द्रके शरणागत हूँ, वही तुझे इसका उत्तर देगा ॥ ३ ॥

सर्वे स्वरा अकारादय इन्द्रस्य वलकर्मणः प्राणस्यात्मानो देहावयवस्थानीयाः । सर्व ऊष्माणः शषसहादयः प्रजापतेर्विराजः कश्यपस्य वात्मानः । सर्वे स्पर्शाः कादयो व्यञ्जनानि मृत्योरात्मानः ।

तमेवंविदमुद्गातारं यदि कश्चित्स्वरेषूपालभेत स्वरस्त्वया दुष्टः प्रयुक्त इत्येवमुपालब्ध इन्द्रं प्राणमीश्वरं शरणमाश्रयं प्रपन्नोऽभूवं स्वरान्प्रयुञ्जानोऽहं स इन्द्रो यत्तव वक्तव्यं त्वा त्वां प्रति वक्ष्यति स एव देव उत्तरं दास्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

अकारादि सम्पूर्ण स्वर, बल ही जिसका कर्म है उस इन्द्र यानी प्राणके आत्मा अर्थात् देहावयवस्थानीय हैं। श ष स ह आदि समस्त ऊष्मवर्ण प्रजापतिके अर्थात् विराट् या कश्यपके आत्मा हैं। क आदि (कवर्गसे लेकर पवर्ग तक) सम्पूर्ण स्पर्शवर्ण यानी व्यञ्जन मृत्युके आत्मा हैं।

इस प्रकार जाननेवाले उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोंमें उपालम्भ दे—'तूने दोषयुक्त स्वरका प्रयोग किया है'—इस प्रकार उपालम्भ दिये जानेपर वह उसे यह उत्तर दे कि स्वरोंका प्रयोग करते समय मैं इन्द्र अर्थात् प्राणरूप ईश्वरके शरणागत—आश्रित था; अतः तुझे जो कुछ उत्तर देना होगा, वह इन्द्रदेव ही देगा ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳ स्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

और यदि कोई इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिके शरणागत था, वही तेरा मर्दन करेगा ।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे दग्ध करेगा' ॥ ४ ॥

अथ यद्येनमूष्मसु तथैवोपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा त्वां प्रति पेक्ष्यति संचूर्णयिष्यतीत्येनं ब्रूयात् । अथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा त्वां प्रति धक्ष्यति भस्मीकरिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

और यदि उसी प्रकार कोई पुरुष इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे पीसेगा अर्थात् [तेरे मदको] अच्छी तरह चूर्ण करेगा ।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युके शरणागत था, वही तुझे दग्ध यानी भस्मीभूत करेगा' ॥ ४ ॥

वर्णोंके उच्चारणकालमें चिन्तनीय

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये; अतः [उनका उच्चारण करते समय] 'मैं इन्द्रमें बलका आधान करूँ'

ऐसा [चिन्तन करना चाहिये] । सारे ऊष्मवर्ण अग्रस्त, अनिरस्त एवं विवृतरूपसे उच्चारण किये जाते हैं [अतः उन्हें बोलते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ' । समस्त स्पर्शवर्णोंको एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये बिना ही बोलना चाहिये और उस समय 'मैं मृत्युसे अपना परिहार करूँ' [ऐसा चिन्तन करना चाहिये] ॥५॥

यत इन्द्राद्यात्मानः स्वरादयोऽतः सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः । तथाहमिन्द्रे बलं ददानि बलमादधानीति । तथा सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अन्तरप्रवेशिता अनिरस्ता बहिरप्रक्षिप्ता विवृता विवृतप्रयत्नोपेताः प्रजापतेरात्मानं परिददानि प्रयच्छानीति । सर्वे स्पर्शा लेशेन शनकैरनभिनिहिता अनभिनिक्षिप्ता वक्तव्या मृत्योरात्मानं बालानिव शनकैः परिहरद्भिर्मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

क्योंकि ये स्वरादि इन्द्रादिरूप हैं, अतः सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त बोले जाने चाहिये । तथा [उस समय] 'मैं इन्द्रमें बलका आधान करूँ' ऐसा [चिन्तन करना चाहिये] । इसी प्रकार समस्त ऊष्मवर्ण अग्रस्त—भीतर बिना प्रवेश कराये हुए, अनिरस्त—बाहर बिना निकाले हुए और विवृत—विवृत[1] प्रयत्नसे युक्त उच्चारण किये जाने चाहिये और [उनका उच्चारण करते समय] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ' ऐसा [चिन्तन करना चाहिये]। तथा सम्पूर्ण स्पर्शवर्ण लेशमात्र—थोड़े-से भी अनभिनिहित—परस्पर बिना मिले हुए बोलने चाहिये और [उस समय यह चिन्तन करना चाहिये कि] जिस प्रकार लोग धीरे-धीरे बालकोंको जल आदिसे बचाते हैं उसी प्रकार मैं अपनेको धीरे-धीरे मृत्युसे हटाऊँ ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
द्वाविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२२॥

---

[1] वर्णोंके स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत ये चार प्रयत्न होते हैं । इनमें स्वर और ऊष्मोंका विवृत, स्पर्शोंका स्पृष्ट, अन्तःस्थोंका ईषत्स्पृष्ट और ह्रस्व अवर्णका संवृत प्रयत्न होता है ।

त्रयोविंश खण्ड

तीन धर्मस्कन्ध

ओङ्कारस्योपासनविध्यर्थं त्रयो धर्मस्कन्धा इत्याद्यारभ्यते । नैवं मन्तव्यं सामावयवभूतस्यैवोद्गीथादिलक्षणस्योङ्कारस्योपासनात्फलं प्राप्यत इति । किं तर्हि ? यत्सर्वैरपि सामोपासनैः कर्मभिश्चाप्राप्यं तत्फलममृतत्वं केवलादोङ्कारोपासनात्प्राप्यत इति । तत्स्तुत्यर्थं सामप्रकरणे तदुपन्यासः—

ओङ्कारोपासनाका विधान करनेके लिये 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि प्रकरणका आरम्भ किया जाता है । ऐसा नहीं मानना चाहिये कि एकमात्र सामके अवयवभूत उद्गीथादिरूप ओङ्कारकी ही उपासनासे फलकी प्राप्ति होती है । तो फिर क्या बात है ? [ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—] जो सभी सामोपासनाओं और कर्मोंसे भी अप्राप्य है, वह अमृतत्वरूप फल केवल ओङ्कारोपासनासे ही प्राप्त हो जाता है । अतः उसकी स्तुतिके लिये सामोपासनाके प्रकरणमें उसका उल्लेख किया जाता है——

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

धर्मके तीन स्कन्ध (आधारस्तम्भ) हैं——यज्ञ, अध्ययन और दान—यह पहला स्कन्ध है । तप ही दूसरा स्कन्ध है । आचार्यकुलमें रहनेवाला

ब्रह्मचारी जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित [चतुर्थाश्रमी संन्यासी] अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

त्रयस्त्रिसंख्याका धर्मस्य स्कन्धा धर्मस्कन्धा धर्मप्रविभागा इत्यर्थः। के ते? इत्याह—यज्ञोऽग्निहोत्रादिः। अध्ययनं सनियमस्य ऋगादेरभ्यासः। दानं बहिर्वेदि यथाशक्तिद्रव्यसंविभागो भिक्षमाणेभ्यः। इत्येष प्रथमो धर्मस्कन्धः। गृहस्थसमवेतत्वात्तन्निर्वर्तकेन गृहस्थेन निर्दिश्यते। प्रथम एक इत्यर्थो द्वितीयतृतीयश्रवणान्नाद्यार्थः।

धर्मस्कन्ध——धर्मके स्कन्ध यानी धर्मके विभाग त्रयः अर्थात् तीन संख्यावाले हैं। वे कौन-से हैं? इसपर कहते हैं, यज्ञ——अग्निहोत्रादि, अध्ययन–नियमपूर्वक ऋग्वेदादिका अभ्यास और दान——वेदीके बाहर भिक्षा माँगनेवालोंको यथाशक्ति धन देना–इस प्रकार यह पहला धर्मस्कन्ध है। यह धर्म गृहस्थधर्मसम्बन्धी होनेके कारण उसके साधक गृहस्थरूपसे उसका निर्देश किया जाता है। यहाँ 'प्रथम' शब्दका अर्थ एक है, श्रुतिमें 'द्वितीय, तृतीय' शब्द होनेसे इसका प्रयोग आद्य अर्थमें नहीं किया गया।

तप एव द्वितीयस्तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि तद्वांस्तापसः परिव्राड् वा न ब्रह्मसंस्थ आश्रमधर्ममात्रसंस्थो ब्रह्मसंस्थस्य त्वमृतत्वश्रवणात्। द्वितीयो धर्मस्कन्धः।

तप ही दूसरा धर्मस्कन्ध है। 'तप' इस शब्दसे कृच्छ्रचान्द्रायणादि समझने चाहिये, उनसे युक्त तपस्वी या परिव्राजक, ब्रह्मनिष्ठ नहीं बल्कि जो केवल आश्रमधर्ममें ही स्थित है; क्योंकि श्रुतिने ब्रह्मनिष्ठके लिये तो अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी है। यह दूसरा धर्मस्कन्ध है।

ब्रह्मचार्याचार्यकुले वस्तुं शीलमस्येत्याचार्यकुलवासी । अत्यन्तं यावज्जीवमात्मानं नियमैराचार्यकुलेऽवसादयन्क्षपयन्देहं तृतीयो धर्मस्कन्धः । अत्यन्तमित्यादिविशेषणान्नैष्ठिक इति गम्यते । उपकुर्वाणस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वान्न पुण्यलोकत्वं ब्रह्मचर्येण ।

सर्व एते त्रयोऽप्याश्रमिणो यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोका भवन्ति । पुण्यो लोको येषां त इमे पुण्यलोका आश्रमिणो भवन्ति । अवशिष्टस्त्वनुक्तः परिव्राड् ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मणि सम्यक्स्थितः सोऽमृतत्वं पुण्यलोकविलक्षणममरणभावमात्यन्तिकमेति नापेक्षिकं देवाद्यमृतत्ववत्; पुण्यलोकात् पृथगमृतत्वस्य विभागकरणात् ।

जिसका स्वभाव आचार्यकुलमें निवास करनेका है, वह आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी, जो कि अत्यन्त अर्थात् यावज्जीवन अपनेको नियमोंद्वारा आचार्यकुलमें ही अवसन्न करता रहता है, यानी अपने देहको क्षीण करता रहता है, तीसरा धर्मस्कन्ध है । 'अत्यन्तम्' इत्यादि विशेषणोंसे यह जाना जाता है कि यहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारी अभिप्रेत है, क्योंकि उपकुर्वाण ब्रह्मचारीका ब्रह्मचर्य स्वाध्यायके लिये होनेसे उसके द्वारा पुण्यलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

ये सभी अर्थात् तीनों आश्रमोंवाले उपर्युक्त धर्मोंके कारण पुण्यलोकोंके भागी होते हैं । जिन्हें पुण्यलोक प्राप्त हो ऐसे ये आश्रमी पुण्यलोक कहलाते हैं । इनसे बचा हुआ, जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया, वह चतुर्थ परिव्राजक ब्रह्मसंस्थ ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित होकर अमृतत्वको——पुण्यलोकोंसे भिन्न आत्यन्तिक अमरणभावको प्राप्त हो जाता है, देवादिकोंके अमरत्वके समान उसका अमृतत्व आपेक्षिक नहीं होता, क्योंकि यहाँ पुण्यलोकसे अमृतत्वका पृथक् विभाग किया गया है ।

यदि च पुण्यलोकातिशयमात्रममृतत्वमभविष्यत्ततः पुण्यलोकत्वाद्विभक्तं नावक्ष्यत् । विभक्तोपदेशाच्चात्यन्तिकममृतत्वमिति गम्यते ।

अत्र चाश्रमधर्मफलोपन्यासः प्रणवसेवास्तुत्यर्थं न तत्फलविध्यर्थम् । स्तुतये च प्रणवसेवाया आश्रमधर्मफलविधये चेति हि भिद्येत वाक्यम् । तस्मात्स्मृतिसिद्धाश्रमफलानुवादेन प्रणवसेवाफलममृतत्वं ब्रुवन्प्रणवसेवां स्तौति । यथा पूर्णवर्मणः सेवा भक्तपरिधानमात्रफला राजवर्मणस्तु सेवा राज्यतुल्यफलेति तद्वत् ।

प्रणवश्च तत्सत्यं परं ब्रह्म तत्प्रतीकत्वात् । ‘‘एतद्ध्येवाक्षरं

यदि पुण्यलोकका अतिशयमात्र (अधिकता) ही अमृतत्व होता तो पुण्यलोकरूप ही होनेके कारण इसका उससे पृथक् वर्णन न किया जाता। अतः पृथक् उपदेश किया जानेके कारण यहाँ आत्यन्तिक अमृतत्व ही अभिप्रेत है—ऐसा जाना जाता है ।

यहाँ जो आश्रमधर्मोंके फलोंका उल्लेख किया है, वह प्रणवोपासनाकी स्तुतिके लिये ही है, उनके फलोंका विधान करनेके लिये नहीं है । परंतु यदि यह कहा जाय कि ‘यह वाक्य प्रणवसेवाकी स्तुतिके लिये और आश्रमधर्मके फलका विधान करनेके लिये भी है’ तो वाक्यभेद हो जायगा । अतः यह मन्त्र स्मृतिप्रतिपादित आश्रमफलके अनुवादद्वारा ‘प्रणवसेवाका फल अमृतत्व है’ यह बतलाता हुआ प्रणवोपासनाकी ही स्तुति करता है । जिस प्रकार [कोई कहे कि] पूर्णवर्माकी सेवा भोजन-वस्त्रमात्र फल देनेवाली है और राजवर्माकी सेवा राज्यके समान फल देनेवाली है । उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

प्रणव ही वह सत्य परब्रह्म है, क्योंकि यह उसका प्रतीक है ।

ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्" (क० उ० १ । २ । १६) इत्याद्याम्नायात्काठके युक्तं तत्सेवातोऽमृतत्वम् ।

परमतोपन्यासः

अत्राहुः केचिच्चतुर्णामाश्रमिणामविशेषेण स्वकर्मानुष्ठानात्पुण्यलोकतेहोक्ता ज्ञानवर्जितानां सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति । नात्र परिव्राडवशेषितः । परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमा नियमाश्च तप एवेति 'तप एव द्वितीयः' इत्यत्र तपःशब्देन परिव्राट्तापसौ गृहीतौ । अतस्तेषामेव चतुर्णां यो ब्रह्मसंस्थः प्रणवसेवकः सोऽमृतत्वमेतीति; चतुर्णामधिकृतत्वाविशेषाद् ब्रह्मसंस्थत्वेऽप्रतिषेधाच्च । स्वकर्मच्छिद्रे च ब्रह्मसंस्थतायां सामर्थ्योपपत्तेः ।

कठोपनिषद्में "यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है" इत्यादि श्रुति होनेसे उसकी सेवाद्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति होना उचित ही है ।

यहाँ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि इस मन्त्रमें 'ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं' इस वाक्यद्वारा ज्ञानरहित चारों ही आश्रमियोंको समानरूपसे अपने-अपने धर्मोंका पालन करनेसे पुण्यलोककी प्राप्ति बतलायी गयी है । इनमें परिव्राजकको भी छोड़ा नहीं है । परिव्राजकके भी ज्ञान, यम और नियम — ये तप ही हैं, अतः 'तप ही दूसरा धर्मस्कन्ध है' इस वाक्यमें 'तप' शब्दसे परिव्राजक और वानप्रस्थ दोनोंका ग्रहण किया गया है । अतः उन चारोंहीमें जो ब्रह्मनिष्ठ प्रणवोपासक होता है, वही अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इन चारोंका ही अधिकार समान है और ब्रह्मनिष्ठामें भी किसीका प्रतिषेध नहीं किया गया, क्योंकि अपने-अपने कर्मोंके अनुष्ठानसे अवकाश मिलनेपर सभीको ब्रह्ममें स्थित होनेका सामर्थ्य होना सम्भव है ।

न च यववराहादिशब्दवद्ब्रह्मसंस्थशब्दः परिव्राजके रूढः, ब्रह्मणि संस्थितिनिमित्तमुपादाय प्रवृत्तत्वात् । न हि रूढिशब्दा निमित्तमुपाददते । सर्वेषां च ब्रह्मणि स्थितिरुपपद्यते । यत्र यत्र निमित्तमस्ति ब्रह्मणि संस्थितिस्तस्य तस्य निमित्तवतो वाचकं सन्तं ब्रह्मसंस्थशब्दं परिव्राडेकविषये संकोचे कारणाभावान्निरोद्धुमयुक्तम् । न च पारिव्राज्याश्रमधर्ममात्रेणामृतत्वम्, ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

पारिव्राज्यधर्मयुक्तमेव ज्ञानममृतत्वसाधनमिति चेन्न; आश्रमधर्मत्वाविशेषात् । धर्मो वा ज्ञानविशिष्टोऽमृतत्वसाधनमित्येतदपि सर्वाश्रमधर्मा-

इसके सिवा 'यव' और 'वराह' आदि शब्दोंके समान 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजकमें ही रूढ भी नहीं है, क्योंकि यह तो ब्रह्ममें स्थितिरूप निमित्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है । रूढ शब्द किसी निमित्तको स्वीकार नहीं करते । और ब्रह्ममें सभीकी स्थिति होनी सम्भव है । अतः जहाँ-जहाँ भी ब्रह्ममें स्थितिरूप निमित्त है उसी-उसी निमित्तवान्‌का वाचक होनेसे ब्रह्मसंस्थ शब्द केवल परिव्राट्‌का ही वाचक है---ऐसे संकोचका कोई कारण न होनेसे उसे उसी अर्थमें निरुद्ध करना उचित नहीं है । इसके सिवा पारिव्राज्य (संन्यास) आश्रमधर्ममात्रसे भी अमृतत्वका प्राप्त होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे ज्ञानकी निरर्थकताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है ।

यदि कहो कि पारिव्राज्यधर्मसहित ही ज्ञान अमृतत्वका साधन है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आश्रमधर्मत्वमें अन्य आश्रमोंके धर्मोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं है । अथवा यदि यों कहो कि ज्ञानविशिष्ट धर्म ही अमृतत्वका साधन है तो यह नियम भी समस्त

णामविशिष्टम् । न च वचनमस्ति परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मोक्षो नान्येषामिति । ज्ञानान्मोक्ष इति च सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः । तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवतां सोऽमृतत्वमेतीति ।

पूर्वोपन्यस्तमतनिराकरणम्

न; कर्मनिमित्तविद्याप्रत्यययोर्विरोधात् । कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदप्रत्ययवत्त्वं हि निमित्तमुपादायेदं कुर्विदं मा कार्षीरिति कर्मविधयः प्रवृत्ताः । तच्च निमित्तं न शास्त्रकृतम्, सर्वप्राणिषु दर्शनात् । “सद्··· एकमेवाद्वितीयम्” (छा० उ० ६ । २ । १) “आत्मैवेदं सर्वम्” (छा० उ० ७ । २५ । २) “ब्रह्मैवेदं सर्वम्” (नृसिंहो० उ० ७) इति शास्त्रजन्यः प्रत्ययो विद्यारूपः स्वाभाविकं क्रियाकारकफलभेदप्रत्ययं कर्मविधिनिमित्त-

आश्रमधर्मोंके लिये एक-सा है । ऐसा कोई शास्त्रवाक्य भी नहीं है कि एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ संन्यासीको ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, औरोंको नहीं । ज्ञानसे मोक्ष होता है——यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है । अतः अपने-अपने आश्रमधर्मका पालन करनेवालोंमें जो कोई भी ब्रह्मनिष्ठ होगा वही अमृतत्वको प्राप्त होगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मके निमित्तभूत प्रत्यय और ज्ञानोत्पादक प्रत्ययोंमें परस्पर विरोध है । कर्ता आदि कारक, क्रिया और फलके भेदसे युक्त होनारूप निमित्तको लेकर ही 'यह करो' और 'यह मत करो' इस प्रकारकी कर्मविधियाँ प्रवृत्त होती हैं । और वह निमित्त शास्त्रका किया हुआ नहीं है, क्योंकि वह सभी प्राणियोंमें देखा जाता है । “एक ही अद्वितीय सत् है” “यह सब आत्मा ही है” “यह सब ब्रह्म ही है” यह जो शास्त्रजनित विद्यारूप प्रत्यय है, वह कर्मविधिनिमित्तक स्वाभाविक क्रिया, कारक और फलभेदरूप प्रत्ययको नष्ट किये बिना

मनुपमृद्य न जायते । भेदाभेदप्रत्यययोर्विरोधात् । न हि तैमिरिकद्विचन्द्रादिभेदप्रत्ययमनुपमृद्य तिमिरापगमे चन्द्राद्येकत्वप्रत्यय उपजायते, विद्याविद्याप्रत्यययोर्विरोधात् ।

उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि भेद और अभेद प्रत्ययोंमें परस्पर विरोध है । तिमिररोगके नष्ट होनेपर तिमिर रोगजनित द्विचन्द्रदर्शनादि भेदप्रत्ययका नाश हुए बिना चन्द्रादिके एकत्वकी प्रतीति भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञान और अज्ञानकी प्रतीतियोंमें परस्पर विरोध है ।

परिव्राज एव ब्रह्मसंस्थत्वम्

तत्रैवं सति यं भेदप्रत्ययमुपादाय कर्मविधयः प्रवृत्ताः स यस्योपमर्दितः "सद्‌··· एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "तत्सत्यम्" (छा० उ० ६ । ८ । ७) "विकारभेदोऽनृतम्" इत्येतद्वाक्यप्रमाणजनितेनैकत्वप्रत्ययेन स सर्वकर्मभ्यो निवृत्तो निमित्तनिवृत्तेः । स च निवृत्तकर्मा ब्रह्मसंस्थ उच्यते स च परिव्राडेवान्यस्यासंभवात् ।

ऐसी अवस्थामें, जिस भेदप्रतीतिको स्वीकार कर कर्मविधियाँ प्रवृत्त हुई हैं, वह भेदप्रतीति जिसकी "एक ही अद्वितीय सत् है" "वही सत्य है" "विकाररूप भेद मिथ्या है" इत्यादि वाक्यप्रमाणजनित एकत्वप्रतीतिके द्वारा नष्ट हो गयी है, वही कर्मविधिके निमित्तकी निवृत्ति हो जानेसे सम्पूर्ण कर्मोंसे निवृत्त हो जाता है, वह कर्मोंसे निवृत्त हुआ पुरुष ही ब्रह्मसंस्थ कहा जाता है और वह परिव्राजक ही हो सकता है, क्योंकि दूसरेके लिये ऐसा होना असम्भव है ।

अन्यो ह्यनिवृत्तभेदप्रत्ययः सोऽन्यत्पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्निदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति हि मन्यते । तस्यैवं कुर्वतो न

उससे भिन्न जिसकी भेदप्रतीति निवृत्त नहीं हुई है, वह अन्य पदार्थोंको देखता, सुनता, मानता और जानता हुआ 'ऐसा करके इसे प्राप्त करूँगा' यह मानता है । ऐसा करनेवाले उस पुरुषको ब्रह्मनिष्ठता

ब्रह्मसंस्थता । वाचारम्भणमात्रविकारानृताभिसंधिप्रत्ययवत्त्वात् । न चासत्यमित्युपमर्दिते भेदप्रत्यये सत्यमिदमनेन कर्तव्यं मयेति प्रमाणप्रमेयबुद्धिरुपपद्यते । आकाश इव तलमलबुद्धिर्विवेकिनः ।

उपमर्दितेऽपि भेदप्रत्यये कर्मभ्यो न निवर्तते चेत्प्रागिव भेदप्रत्ययोपमर्दनादेकत्वप्रत्ययविधायकं वाक्यमप्रमाणीकृतं स्यात् । अभक्ष्यभक्षणादिप्रतिषेधवाक्यानां प्रामाण्यवद्युक्तमेकत्ववाक्यस्यापि प्रामाण्यम्; सर्वोपनिषदां तत्परत्वात् ।

कर्मविधीनाम-प्रामाण्यनिरसनम्

कर्मविधीनामप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत् ?

न; अनुपमर्दितभेदप्रत्ययवत्पुरुषविषये प्रामाण्योपपत्तेः, स्वप्नादिप्रत्यय इव प्राक्प्रबोधात् ।

नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाचारम्भणमात्र विकारमें मिथ्याभिनिवेशरूप प्रतीति करनेवाला होता है। यह असत्य है—इस प्रकार भेदप्रतीतिके बाधित हो जानेपर उसमें 'यह सत्य है, इससे मुझे यह कर्तव्य है' ऐसी प्रमाण-प्रमेयरूप बुद्धि होनी सम्भव नहीं है, जिस प्रकार कि विवेकी पुरुषको आकाशमें तलमलबुद्धि होनी ।

यदि भेदप्रतीतिके नष्ट हो जानेपर भी बोधवान् पुरुष भेदज्ञानकी निवृत्ति होनेसे पूर्वके समान कर्मोंसे निवृत्त नहीं होता तो वह मानो एकत्वविधायक वाक्योंको अप्रामाणिक सिद्ध करता है। अभक्ष्यभक्षणका प्रतिषेध करनेवाले वाक्योंकी प्रामाणिकताके समान एकत्व-प्रतिपादक वाक्यकी प्रामाणिकता भी उचित ही है; क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषदें उसीका प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं ।

पूर्व०—इस प्रकार तो कर्मविधियोंकी अप्रामाणिकताका प्रसंग उपस्थित हो जायगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, जिस पुरुषका भेदज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है उसके सम्बन्धमें उनकी प्रामाणिकता हो सकती है, जिस प्रकार कि जागनेसे पूर्व स्वप्नादिका ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है ।

विवेकिनामकरणात्कर्मविधिप्रामाण्योच्छेद इति चेत् ?

न, काम्यविध्यनुच्छेददर्शनात्। न हि कामात्मता न प्रशस्तेत्येवं विज्ञानवद्भिः काम्यानि कर्माणि नानुष्ठीयन्त इति काम्यकर्मविधय उच्छिद्यन्तेऽनुष्ठीयन्त एव कामिभिरिति। तथा ब्रह्मसंस्थैर्ब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्ते कर्माणीति न तद्विधय उच्छिद्यन्तेऽब्रह्मविद्भिरनुष्ठीयन्त एवेति।

परिव्राजकानां भिक्षाचरणादिवदुत्पन्नैकत्वप्रत्ययानामपि गृहस्थादीनामग्निहोत्रादिकर्मानिवृत्तिरिति चेत् ?

न; प्रामाण्यचिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात् । न हि

पूर्व०—किंतु विवेकियोंके न करनेसे तो कर्मविधिकी प्रमाणताका उच्छेद मानना ही होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि काम्यविधिका उच्छेद होता देखा नहीं गया । 'सकामता अच्छी नहीं है' ऐसा जिन्हें ज्ञान हो गया है उन पुरुषोंद्वारा काम्यकर्म नहीं किये जाते, अतः काम्यकर्मोंकी विधियोंका उच्छेद हो गया हो – ऐसी बात देखनेमें नहीं आती; बल्कि [उस समय भी] सकाम पुरुषोंद्वारा उनका अनुष्ठान किया ही जाता है । इसी प्रकार यदि ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया जाता तो इससे उनकी विधिका ही उच्छेद नहीं हो जाता । जो ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं उनके द्वारा उनका अनुष्ठान किया ही जाता है ।

पूर्व०—जिस प्रकार संन्यासीलोग भिक्षाटन करते हैं उसी प्रकार जिन्हें एकत्वज्ञान उत्पन्न हो गया है उन गृहस्थोंके भी अग्निहोत्रादि कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये यदि ऐसी शङ्का हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रमाणताका विचार करनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति दृष्टान्तरूप नहीं हो सकती ।

नाभिचरेदिति प्रतिषिद्धमप्यभिचरणं कश्चित्कुर्वन्दृष्ट इति शत्रौ द्वेषरहितेनापि विवेकिनाभिचरणं क्रियते । न च कर्मविधिप्रवृत्तिनिमित्ते भेदप्रत्यये बाधितेऽग्निहोत्रादौ प्रवर्तकं निमित्तमस्ति । परिव्राजकस्येव भिक्षाचरणादौ बुभुक्षादि प्रवर्तकम् ।

'अभिचार न करे' इस प्रकार प्रतिषिद्ध होनेपर भी किसीको अभिचार करते देखा है—इतनेहीसे जिसका शत्रुके प्रति द्वेषभाव भी नहीं है वह विवेकी पुरुष भी अभिचार करने लगे – यह सम्भव नहीं है । इसी प्रकार कर्मविधिकी प्रवृत्तिके निमित्तभूत भेदप्रत्ययका बाध हो जानेपर बोधवान् पुरुषको अग्निहोत्रादि कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला कोई निमित्त नहीं है, जिस प्रकार कि संन्यासीको भिक्षाटनादिमें प्रवृत्त करनेवाला क्षुधादिरूप निमित्त है ।

इहाप्यकरणे प्रत्यवायभयं प्रवर्तकमिति चेत् ?

पूर्व०—यहाँ भी नित्यकर्म न करनेपर प्रत्यवाय होनेका भय ही प्रवृत्त करनेवाला है—यदि ऐसा मानें तो ?

न, भेदप्रत्ययवतोऽधिकृतत्वात् । भेदप्रत्ययवाननुपमर्दितभेदबुद्धिर्विद्यया यः स कर्मण्यधिकृत इत्यवोचाम । यो ह्यधिकृतः कर्मणि तस्य तदकरणे प्रत्यवायो न निवृत्ताधिकारस्य;

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि कर्मानुष्ठानका अधिकारी भेदज्ञानी ही है । जिसकी भेदबुद्धि ज्ञानसे नष्ट नहीं हुई है वह भेदज्ञानी ही कर्मका अधिकारी है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । इस प्रकार जो कर्मका अधिकारी है उसे ही उसके न करनेपर प्रत्यवाय हो सकता है । जो उसके अधिकारसे बाहर है उसे प्रत्यवाय नहीं हो सकता, जिस

गृहस्थस्येव ब्रह्मचारिणो विशेषधर्माननुष्ठाने ।

एवं तर्हि सर्वः स्वाश्रमस्थ उत्पन्नैकत्वप्रत्ययः परिव्राडिति चेत् ?

न; स्वस्वामित्वभेदबुद्ध्यनिवृत्तेः । कर्मार्थत्वाच्चेतराश्रमाणाम्; "अथ कर्म कुर्वीय" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इति श्रुतेः। तस्मात्स्वस्वामित्वाभावाद्भिक्षुरेक एव परिव्राट्; न गृहस्थादिः ।

एकत्वप्रत्ययविधिजनितेन प्रत्ययेन विधिनिमित्तभेदप्रत्ययस्योपमर्दितत्वाद्यमनियमाद्यनुपपत्तिः परिव्राजकस्येति चेत् ?

प्रकार कि ब्रह्मचारीके विशेष धर्मका अनुष्ठान न करनेपर गृहस्थको प्रत्यवाय नहीं हो सकता ।

पूर्व०—इस प्रकार तब तो जिसे एकत्वका ज्ञान हो गया है वह कोई भी पुरुष अपने आश्रममें रहता हुआ ही परिव्राजक हो सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनकी स्वस्वामित्वरूप[1] भेदबुद्धि निवृत्त नहीं होती, क्योंकि अन्य आश्रम कर्मानुष्ठानके ही लिये हैं; जैसा कि "[स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्तिके] अनन्तर मैं कर्म करूँगा" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः स्वस्वामिभावका अभाव हो जानेसे एकमात्र भिक्षु ही परिव्राट् हो सकता है, गृहस्थादि अन्य आश्रमावलम्बी नहीं हो सकता ।

पूर्व०—एकत्वकी प्रतीति करानेवाले विधिवाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानद्वारा कर्मविधिनिमित्तक भेदज्ञानके निवृत्त हो जानेसे तो संन्यासीको यम-नियमादिका पालन करना भी सम्भव नहीं है [अतः उसका स्वेच्छाचारी हो जाना बहुत सम्भव है] ।

---

[1] यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ ऐसी अधिकृत-अधिकारीरूप ।

न; बुभुक्षादिनैकत्वप्रत्ययात्प्रच्यावितस्योपपत्तेर्निवृत्त्यर्थत्वात्। न च प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः; एकत्वप्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्। न हि रात्रौ कूपे कण्टके वा पतित उदितेऽपि सवितरि पतति तस्मिन्नेव। तस्मात्सिद्धं निवृत्तकर्मा भिक्षुक एव ब्रह्मसंस्थ इति।

तपःशब्देन परिव्राड्ग्रहणस्य प्रत्याख्यानम्

यत्पुनरुक्तं सर्वेषां ज्ञानवर्जितानां पुण्यलोकतेति, सत्यमेतत्। यच्चोक्तं तपःशब्देन परिव्राडप्युक्त इति, एतदसत्; कस्मात्? परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थतासंभवात्। स एव ह्यवशेषित इत्यवोचाम। एकत्वविज्ञानवतोऽग्निहोत्रादिवत्तपोनिवृत्तेश्च। भेदबुद्धिमत एव हि तपः-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि क्षुधा आदिद्वारा एकत्व-प्रत्ययसे च्युत कर दिये जानेपर उसके द्वारा अनुचित कर्मोंसे निवृत्तिके लिये उनका पालन किया जाना सम्भव है। इसके सिवा उसके द्वारा प्रतिषिद्ध कर्मोंका सेवन किया जाना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उनका प्रतिषेध तो वह एकत्व ज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्व ही कर चुकता है। रात्रिके समय कुएँ या काँटोंमें गिर जानेवाला पुरुष सूर्योदय होनेपर भी उन्हींमें नहीं गिर जाता। अतः सिद्ध होता है कि कर्मोंसे निवृत्त हुआ भिक्षुक ही ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है।

तथा यह जो कहा कि सम्पूर्ण ज्ञानरहित पुरुषोंको पुण्यलोककी प्राप्ति होती है सो ठीक ही है; परंतु ऐसा जो कहा कि 'तपः' शब्दसे संन्यासीका भी कथन है सो ठीक नहीं। ऐसा क्यों है? क्योंकि परिव्राजककी ही ब्रह्मनिष्ठता होनी सम्भव है। और वही [पुण्यलोकको प्राप्त होनेवालोंमेंसे] बच रहा है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं; क्योंकि एकत्व विज्ञानवान्का तो अग्निहोत्रादिके समान तप भी निवृत्त हो ही जाता है। भेदबुद्धिमान्में ही तपकी

कर्तव्यता स्यात् । एतेन कर्मच्छिद्रे ब्रह्मसंस्थतासामर्थ्यम्, अप्रतिषेधश्च प्रत्युक्तः । तथा ज्ञानवानेव निवृत्तकर्मा परिव्राडिति ज्ञानवैयर्थ्यं प्रत्युक्तम् ।

परिव्राजके ब्रह्मसंस्थशब्दस्यारूढत्वनिरासः

यत्पुनरुक्तं यववराहादिशब्दवत्परिव्राजके न रूढो ब्रह्मसंस्थशब्द इति तत्परिहृतम् । तस्यैव ब्रह्मसंस्थतासंभवान्नान्यस्येति ।

'रूढिर्निमित्तं नोपादत्ते' इति न्यायस्यानित्यत्वम्

यत्पुनरुक्तं रूढशब्दा निमित्तं नोपाददत इति, तन्न, गृहस्थतक्षपरिव्राजकादिशब्ददर्शनात् । गृहस्थितिपारिव्राज्यतक्षणादिनिमित्तोपादाना अपि गृहस्थपरिव्राजकावाश्रमिविशेषे विशिष्टजातिमति च तक्षेति रूढा दृश्यन्ते शब्दाः । न यत्र यत्र तानि निमित्तानि तत्र तत्र

कर्त्तव्यता भी रह सकती है । इससे अन्य आश्रमवालोंको भी कर्मोंसे अवकाश मिलनेपर ब्रह्मस्थितिके सामर्थ्यका तथा उनके लिये ब्रह्मनिष्ठाके अप्रतिषेधका भी निषेध कर दिया गया । तथा ज्ञानी ही निवृत्तकर्मा परिव्राट् हो सकता है——इससे ज्ञानकी निरर्थकताका भी खण्डन कर दिया गया ।

तथा ऐसा जो कहा कि 'यव' और 'वराह' आदि शब्दोंके समान 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजकमें रूढ नहीं है उसका भी परिहार कर दिया गया, क्योंकि उसीकी ब्रह्मनिष्ठा होनी सम्भव है, और किसीकी नहीं ।

इसके सिवा वादीने जो कहा कि रूढ शब्द निमित्तको स्वीकार नहीं करता, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थ, तक्षा और परिव्राजकादि शब्द देखे जाते हैं । गृहमें रहना, पारिव्राज्य सब कुछ त्याग कर चला जाना और तक्षण काष्ठ-छेदन आदि निमित्तोंको स्वीकार करते हुए भी 'गृहस्थ' और 'परिव्राजक' शब्द आश्रमिविशेषोंमें और 'तक्षा' शब्द जातिविशेषमें रूढ देखे जाते हैं । ये गृहस्थादि शब्द जहाँ-जहाँ वे निमित्त हैं वहीं-वहीं प्रवृत्त

वर्तन्ते; प्रसिद्ध्यभावात् । तथेहापि ब्रह्मसंस्थशब्दो निवृत्तसर्वकर्मतत्साधनपरिव्राडेकविषयेऽत्याश्रमिणि परमहंसाख्ये वृत्त इह भवितुमर्हति, मुख्यामृतत्वफलश्रवणात् ।

अतश्चेदमेवैकं वेदोक्तं पारिव्राज्यम् । न यज्ञोपवीतत्रिदण्डकमण्डल्वादिपरिग्रह इति । “मुण्डोऽपरिग्रहः” (जाबा० उ० ५) “असङ्गः” इति च श्रुतिः, “अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्” (श्वे० उ० ६ । २१) इत्यादि च श्वेताश्वतरीये । “निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः” इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । “तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः । तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गः” इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

नहीं होते, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है । इसी प्रकार यहाँ भी ‘ब्रह्मसंस्थ’ शब्दकी वृत्ति सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनोंसे निवृत्त हुए एकमात्र अत्याश्रमी परमहंस परिव्राजकमें ही होनी उचित है, क्योंकि उन्हींको मुख्य अमृतत्वरूप फलकी प्राप्ति सुनी गयी है ।

अतः एकमात्र यही वेदोक्त पारिव्राज्य है । यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड या कमण्डलु आदिका ग्रहण करना मुख्य पारिव्राज्य नहीं है । इस विषयमें “मुण्डित अपरिग्रही’, और “असंग” ऐसी श्रुति है; तथा “अत्याश्रमियोंको परम पवित्र [ज्ञानका उपदेश किया]” इस श्वेताश्वतरीय श्रुतिसे और “निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः” इत्यादि स्मृतियोंसे एवं “अतः पारदर्शी यतिगण कर्म नहीं करते, इसलिये अलिङ्ग धर्मज्ञ और अव्यक्तलिङ्ग [होकर विचरे]” इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

सांख्यबौद्धाज्ञकर्तृककर्मत्यागस्य मिथ्यात्वम्

यत्तु सांख्यैः कर्मत्यागोऽभ्युपगम्यते, क्रियाकारकफलभेदबुद्धेः सत्यत्वाभ्युपगमात्, तन्मृषा । यच्च बौद्धैः शून्यताभ्युपगमादकर्तृत्वमभ्युपगम्यते, तदप्यसत्, तदभ्युपगन्तुः सत्त्वाभ्युपगमात् । यच्चाज्ञैरलसतयाकर्तृत्वाभ्युपगमः सोऽप्यसत्कारकबुद्धेरनिवर्तितत्वात्प्रमाणेन । तस्माद्वेदान्तप्रमाणजनितैकत्वप्रत्ययवत एव कर्मनिवृत्तिलक्षणं पारिव्राज्यं ब्रह्मसंस्थत्वं चेति सिद्धम् । एतेन गृहस्थस्यैकत्वविज्ञाने सति पारिव्राज्यमर्थसिद्धम् ।

नन्वग्न्युत्सादनदोषभाक्स्यात्परिव्रजन्, "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति श्रुतेः; न, दैवोत्सादित्वादुत्सन्न

क्रिया, कारक और फलरूप भेदबुद्धिका सत्यत्व स्वीकार करनेके कारण सांख्यवादी जो कर्मत्यागको स्वीकार करते हैं, वह ठीक नहीं है । तथा बौद्धोंने जो शून्यताको स्वीकार करनेके कारण अकर्तृत्वको स्वीकार किया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन्हें उसका अकर्तृत्व स्वीकार करनेवालेकी भी सत्ता माननी होगी [और बौद्ध लोग आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करते] । तथा अज्ञानी लोग जो आलस्यवश अकर्तृत्व स्वीकार कर लेते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणद्वारा उनकी कारक-बुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती । अतः वेदान्तप्रमाणजनित एकत्वज्ञानवान्‌को ही कर्मनिवृत्तिरूप पारिव्राज्य और ब्रह्मनिष्ठत्व हो सकते हैं—यह सिद्ध होता है । इससे गृहस्थको भी एकत्व-विज्ञान हो जानेपर पारिव्राज्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है ।

यदि कहो कि परिव्राजक होनेसे तो वह अग्निपरित्यागरूप दोषका भागी होगा; जैसा कि "जो अग्निका त्याग करता है वह देवताओंका पुत्रघ्न होता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि विधाता-

एव हि स एकत्वदर्शने जाते। "अपागादग्नेरग्नित्वम्" इति श्रुतेः। अतो न दोषभाग्गृहस्थः परिव्रजन्निति ॥ १ ॥

द्वारा उच्छिन्न कर दिया जानेके कारण वह अग्नि एकत्वदर्शन होनेपर स्वतः ही त्यक्त हो जाता है, जैसा कि "अग्निका अग्नित्व निवृत्त हो गया" ऐसी श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः परिव्राजक होनेसे गृहस्थ दोषका भागी नहीं होता ॥१॥

त्रयीविद्या और व्याहृतियोंकी उत्पत्ति

यत्संस्थोऽमृतत्वमेति तन्निरूपणार्थमाह—

जिसमें स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व प्राप्त कर लेता है उसका निरूपण करनेके लिये श्रुति कहती है—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

प्रजापतिने लोकोंके उद्देश्यसे ध्यानरूप तप किया। उन अभितप्त लोकोंसे त्रयी विद्याकी उत्पत्ति हुई तथा उस अभितप्त त्रयी विद्यासे 'भूः, भुवः और स्वः' ये अक्षर उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

प्रजापतिर्विराट् कश्यपो वा लोकानुद्दिश्य तेषु सारजिघृक्षयाभ्यतपदभितापं कृतवान्ध्यानं तपः कृतवानित्यर्थः। तेभ्योऽभितप्तेभ्यः सारभूता त्रयी विद्या संप्रास्रवत्प्रजापतेर्मनसि प्रत्यभा-

प्रजापति अर्थात् विराट् या कश्यपजीने लोकोंके उद्देश्यसे—उनमेंसे सार ग्रहण करनेकी इच्छासे अभिताप किया; अर्थात् ध्यानरूप तप किया। इस प्रकार अभितप्त हुए उन भूतोंसे उनकी सारभूता त्रयीविद्या प्रादुर्भूत हुई; तात्पर्य यह कि प्रजापतिके मनमें त्रयीविद्याका

दित्यर्थः । तामभ्यतपत्, पूर्ववत् । तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतयः ॥ २ ॥

प्रतिभान हुआ । प्रजापतिने पूर्ववत् उसके उद्देश्यसे भी तप किया । उस अभितप्त त्रयीविद्यासे भूः, भुवः और स्वः—ये व्याहृतिरूप अक्षर उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

ओङ्कारकी उत्पत्ति

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार एवेदꣳ सर्वमोङ्कार एवेदꣳसर्वम् ॥ ३ ॥

[फिर प्रजापतिने] उन अक्षरोंका आलोचन किया । उन आलोचित अक्षरोंसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ । जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओङ्कारसे सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है । ओङ्कार ही यह सब कुछ है—ओङ्कार ही यह सब कुछ है ॥ ३ ॥

तान्यक्षराण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्ब्रह्म कीदृशम् ? इत्याह—**तद्यथा शङ्कुना** पर्णनालेन **सर्वाणि पर्णानि** पत्रावयवजातानि **संतृण्णानि** विद्धानि व्याप्तानीत्यर्थः । **एवमोङ्कारेण** ब्रह्मणा परमात्मनः प्रतीकभूतेन **सर्वा वाक्**शब्दजातं

[फिर उसने] उन अक्षरोंकी आलोचना की । उन आलोचित अक्षरोंसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ । वह [ओङ्काररूप] ब्रह्म कैसा है ? इसपर श्रुति कहती है—जिस प्रकार शङ्कु—पत्तेकी नसोंसे सम्पूर्ण पत्ते—पत्तोंके अवयवसमूह अनुविद्ध अर्थात् व्याप्त रहते हैं, इसी प्रकार परमात्माके प्रतीकभूत ओङ्काररूप ब्रह्मद्वारा

संतृण्णा । "अकारो वै सर्वा वाक्" इत्यादिश्रुतेः ।

परमात्मविकारश्च नामधेयमात्रमित्यत ॐकार एवेदꣳ सर्वमिति । द्विरभ्यास आदरार्थः । लोकादिनिष्पादनकथनमोङ्कारस्तुत्यर्थमिति ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण वाक्—शब्दसमूह व्याप्त है, जैसा कि "अकार ही सम्पूर्ण वाक् है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

जितना नामधेयमात्र है सब परमात्माका ही विकार है । अतः यह सब ओङ्कार ही है । द्विरुक्ति आदरके लिये है । तथा लोकादिको प्राप्त कराना आदि जो कहा गया है वह ओङ्कारकी स्तुतिके लिये है ।३।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२३॥

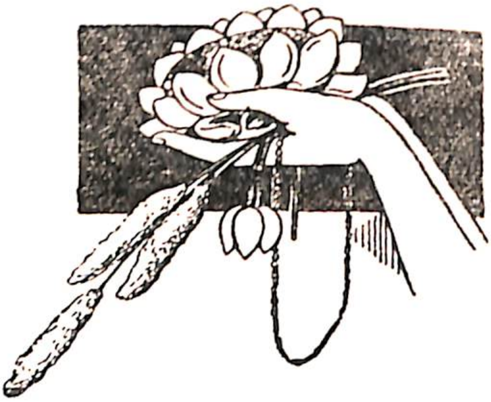

चतुर्विंश खण्ड

सामोपासनप्रसङ्गेन कर्मगुणभूतत्वान्निवर्त्योङ्कारं परमात्मप्रतीकत्वादमृतत्वहेतुत्वेन महीकृत्य प्रकृतस्यैव यज्ञस्याङ्गभूतानि सामहोममन्त्रोत्थानान्युपदिदिक्षन्नाह—

सामोपसनाके प्रसङ्गसे कर्मका गुणभूत (अङ्ग) हो जानेके कारण अब ओङ्कारको [उपासनाकाण्डसे] निवृत्त कर वह परमात्माका प्रतीक होनेके कारण अमृतत्वका साधन है—इस प्रकार उसे महान् बताकर प्रकरणप्राप्त यज्ञके ही अङ्गभूत साम, होम, मन्त्र और उत्थानोंका उपदेश करनेकी इच्छासे श्रुति कहती है—

सवनोंके अधिकारी देवता

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःसवन वसुओंका है, मध्याह्नसवन रुद्रोंका है तथा तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवोंका है ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यत्प्रातःसवनं प्रसिद्धं तद्वसूनाम् । तैश्च प्रातःसवनसंबद्धोऽयं लोको वशीकृतः सवनेशानैः । तथा रुद्रै-

ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि जो प्रातःसवन प्रसिद्ध है वह वसुओंका है । उन सवनके अधीश्वरोंद्वारा यह प्रातःसवनसम्बन्धी लोक अपने वशीभूत किया हुआ है । तथा मध्याह्नसवनके अधीश्वर रुद्रोंद्वारा

माध्यन्दिनसवनेशानैरन्तरिक्षलोकः । आदित्यैश्च विश्वैर्देवैश्च तृतीयसवनेशानैस्तृतीयो लोको वशीकृतः । इति यजमानस्य लोकोऽन्यः परिशिष्टो न विद्यते ।१।

अन्तरिक्षलोक और तृतीय सवनके स्वामी आदित्यों एवं विश्वेदेवोंद्वारा तृतीय लोक अपने अधीन किया हुआ है । इस प्रकार यजमानके लिये इनके अधिकारसे बचा हुआ कोई दूसरा लोक नहीं है ॥ १ ॥

साम आदिको जाननेवाला ही यज्ञ कर सकता है

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

तो फिर यजमानका लोक कहाँ है ? जो यजमान उस लोकको नहीं जानता वह किस प्रकार यज्ञानुष्ठान करेगा ? अतः उसे जाननेवाला ही यज्ञ करेगा ॥ २ ॥

अतः क्व तर्हि यजमानस्य लोको यदर्थं यजते । न क्वचिल्लोकोऽस्तीत्यभिप्रायः । "लोकाय वै यजते यो यजते" इति श्रुतेः; लोकाभावे च स यो यजमानस्तं लोकस्वीकरणोपायं सामहोममन्त्रोत्थानलक्षणं न विद्यान्न विजानीयात्सोऽज्ञः कथं कुर्याद्यज्ञम् ? न कथञ्चन तस्य कर्तृत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ।

अतः यजमानका वह लोक कहाँ है जिसके लिये वह यज्ञानुष्ठान करता है ? तात्पर्य यह है कि वह लोक कहीं नहीं है । किंतु "जो भी यज्ञ करता है वह पुण्यलोकके ही लिये करता है" ऐसी श्रुति होनेके कारण जो यजमान लोकका अभाव होनेसे साम, होम, मन्त्र और उत्थानरूप लोकस्वीकृतिके उपायको नहीं जानता वह अज्ञानी किस प्रकार यज्ञानुष्ठान कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि उसका कर्तृत्व किसी प्रकार सम्भव नहीं है ।

सामादिविज्ञानस्तुतिपरत्वान्नाविदुषः कर्तृत्वं कर्ममात्रविदः प्रतिषिध्यते । स्तुतये च सामादिविज्ञानस्याविद्वत्कर्तृत्वप्रतिषेधाय चेति हि भिद्येत वाक्यम् । आद्ये चौषस्त्ये काण्डेऽविदुषोऽपि कर्मास्तीति हेतुमवोचाम । अथैतद्वक्ष्यमाणं सामाद्युपायं विद्वान् कुर्यात् ॥ २ ॥

[यह वाक्य] सामादिविज्ञानकी स्तुति करनेवाला है, अतः इसके द्वारा केवल कर्ममात्रके ज्ञाता अज्ञानीके कर्तृत्वका प्रतिषेध नहीं किया जाता । '[यह वाक्य] सामादिविज्ञानकी स्तुतिके लिये है और अविद्वान्‌के कर्म-कर्तृत्वका प्रतिषेध करनेके लिये भी है' यदि ऐसा माना जाय तो वाक्य-भेद हो जायगा; क्योंकि प्रथम अध्यायके औषस्त्यकाण्डमें (दशम खण्डमें) कर्म अविद्वान्‌के भी लिये है—ऐसा हमने [कर्मानुष्ठानमें] हेतु बतलाया है । अतः आगे बतलाये जानेवाले सामादि उपायोंको जाननेवाला होकर ही कर्म करे ॥ २ ॥

प्रातःसवनमें वसुदेवतासम्बन्धी सामगान

किं तद्वेद्यम् ? इत्याह—

वह उसका ज्ञातव्य साम क्या है ? सो श्रुति बतलाती है——

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाकका आरम्भ करनेसे पूर्व वह (यजमान) गार्हपत्याग्निके पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ३ ॥

पुरा पूर्वं प्रातरनुवाकस्य शस्त्रस्य प्रारम्भाज्जघनेन गार्हपत्यस्य पश्चादुदङ्मुखः सन्नुपविश्य स वासवं वसुदैवत्यं सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाकसे पूर्व अर्थात् प्रातःकालमें पढ़े जाने योग्य 'शस्त्र' नामक* स्तोत्रपाठसे पूर्व गार्हपत्याग्निके पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान वासव—वसुदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ३ ॥

◆

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३ पश्येम त्वा वयꣳरा
३ ३ ३ ३ ३हु३म् आ३ ३ज्या३यो३आ३ २ १ १ १ इति॥४॥

[हे अग्ने !] तुम इस लोकका द्वार खोल दो; जिससे कि हम राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर लें ॥ ४ ॥

लोकद्वारमस्य पृथिवीलोकस्य प्राप्तये द्वारमपावृणु हेऽग्ने तेन द्वारेण पश्येम त्वा त्वां राज्यायेति ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तुम लोकद्वार—इस पृथिवीलोककी प्राप्तिके लिये, इसका द्वार खोल दो। उस द्वारसे हम राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन करें ॥४॥

◆

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५॥

तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—पृथिवीमें रहनेवाले इहलोकनिवासी अग्निदेवको नमस्कार है । मुझ यजमानको तुम [पृथिवी] लोककी प्राप्ति कराओ । यह निश्चय ही यजमानका लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ५ ॥

---

* जिन ऋक्-मन्त्रोंका गान नहीं किया जाता उन्हें 'शस्त्र' कहते हैं और जिन शस्त्रोंका प्रातःकाल पाठ किया जाता है उनका नाम 'प्रातरनुवाक' है ।

अथानन्तरं जुहोत्यनेन मन्त्रेण नमोऽग्नये प्रह्वीभूतास्तुभ्यं वयं पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवासाय लोकक्षिते पृथिवीलोकनिवासायेत्यर्थः । लोकं मे मह्यं यजमानाय विन्द लभस्व । एष वै मम यजमानस्य लोक एता गन्तास्मि ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् वह इस मन्त्रद्वारा हवन करता है—अग्निदेवको नमस्कार है । हम पृथ्वीमें रहनेवाले और पृथ्वीलोकनिवासी तुम्हारे प्रति विनम्र होते हैं। मुझ यजमानको तुम पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ । यह निश्चय ही यजमानका लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै । वसवः प्रातःसवनꣳसंप्रयच्छन्ति॥ ६॥

इस लोकमें यजमान ‘मैं आयु समाप्त होनेके अनन्तर [पुण्यलोकको प्राप्त होऊँगा] स्वाहा’—ऐसा कहकर हवन करता है, और ‘परिघ (अर्गला—अड़ंगे) को नष्ट करो’ ऐसा कहकर उत्थान करता है । वसुगण उसे प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

अत्रास्मिँल्लोके यजमानोऽहमायुषः परस्तादूर्ध्वं मृतः सन्नित्यर्थः; स्वाहेति जुहोति । अपजह्यपनय परिघं लोकद्वारार्गलमित्येतं मन्त्रमुक्त्वोत्तिष्ठति । एवमेतैर्वसुभ्यः प्रातःसवनसंबद्धो लोको निष्क्रीतः स्यात्ततस्ते

यहाँ—इस लोकमें यजमान ‘मैं आयु समाप्त होनेपर—आयुके पीछे अर्थात् मरनेपर [पुण्यलोक प्राप्त करूँगा] स्वाहा’ ऐसा कहकर हवन करता है । ‘तुम परिघ यानी लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो’—इस मन्त्रको कहकर उत्थान करता है । इस प्रकार इन [साम, मन्त्र, होम और उत्थान] के द्वारा वसुओंसे प्रातःसवनसे सम्बद्ध लोक मोल

प्रातःसवनं वसवो यजमानाय सम्प्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

ले लिया जाता है। तब वे वसुगण यजमानको प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

मध्याह्नसवनमें रुद्रसम्बन्धी सामगान

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳसामाभिगायति ॥ ७ ॥

मध्याह्नसवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ७ ॥

तथाग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नेर्जघनेनोदङ्मुख उपविश्य स रौद्रं सामाभिगायति यजमानो रुद्रदैवत्यं वैराज्याय ॥ ७ ॥

तथा आग्नीध्रीय यानी दक्षिणाग्निके पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर यजमान वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है ॥ ७ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या३यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ ८ ॥

[हे वायो !] तुम अन्तरिक्षलोकका द्वार खोल दो, जिससे कि वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये हम तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—अन्तरिक्षमें रहनेवाले अन्तरिक्षलोकनिवासी वायुदेवको नमस्कार है । मुझ यजमानको तुम [अन्तरिक्ष] लोककी प्राप्ति कराओ । यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳसवनꣳसम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

यहाँ यजमान, 'मैं आयु समाप्त होनेपर [अन्तरिक्षलोक प्राप्त करूँगा] स्वाहा' ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है । रुद्रगण उसे मध्याह्नसवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अन्तरिक्षक्षित इत्यादि समानम् ॥ ८–१० ॥

'अन्तरिक्षक्षिते' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ [पाँचवें और छठे मन्त्रके] समान है ॥८–१०॥

तृतीय सवनमें आदित्य और विश्वेदेव-सम्बन्धी सामका गान

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

तृतीय सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान करता है ११

तथाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यदैवत्यमादित्यं वैश्वदेवं च सामाभिगायति क्रमेण स्वाराज्याय साम्राज्याय ॥ ११ ॥

तथा आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह स्वाराज्य और साम्राज्यप्राप्तिके लिये क्रमशः आदित्यदेवतासम्बन्धी तथा विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान करता है॥ ११ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳस्वारा ३ ३ ३ ३ ३ हु३म् आ ३ ३ ज्या३यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ १२ ॥ आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा ३र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳसाम्रा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३३ ज्या ३यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥ १३ ॥

लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम स्वाराज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें । यह आदित्यसम्बन्धी साम है; अब विश्वेदेव-सम्बन्धी साम कहते हैं—लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम साम्राज्य-प्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ १२-१३ ॥

* * *

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—स्वर्गमें रहनेवाले द्युलोकनिवासी आदित्योंको और विश्वेदेवोंको नमस्कार है । मुझ यजमानको तुम पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ । यहाँ यजमान 'आयु समाप्त होनेपर [मैं इसे प्राप्त करूँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो'—ऐसा कहकर उत्थान करता है ॥ १५ ॥

दिविक्षिद्भ्य इत्येवमादि समानमन्यत् । विन्दतापहतेति बहुवचनमात्रं विशेषः । याजमानं त्वेतत् । एतास्म्यत्र यजमान इत्यादिलिङ्गात् ॥ १४-१५ ॥

'दिविक्षिद्भ्यः' इत्यादि शेष सब अर्थ पहलेके ही समान है । 'विन्दत, अपहत' इन क्रियाओंमें बहुवचन होना ही पूर्वकी अपेक्षा विशेष है । ये मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं, क्योंकि 'मैं यजमान इस लोकको प्राप्त करनेवाला हूँ' इत्यादि लिङ्गसे यह स्पष्ट होता है ॥ १४-१५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनꣳसम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

उस (यजमान) को आदित्य और विश्वेदेव तृतीय सवन प्रदान करते हैं । जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही यज्ञकी मात्रा (यज्ञके यथार्थ स्वरूप) को जानता है ॥ १६ ॥

एष ह वै यजमान एवंविद् यथोक्तस्य सामादेर्विद्वान्यज्ञस्य मात्रां यज्ञयाथात्म्यं वेद यथोक्तम् । य एवं वेद य एवं वेदेति द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था । १६ ।

एवंवित्—इस प्रकार पूर्वोक्त सामादिको जाननेवाला यह यजमान निश्चय ही यज्ञकी मात्रा—यज्ञके पूर्वोक्त यथार्थ स्वरूपको जानता है । 'य एवं वेद य एवं वेद' यह द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ १६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयाध्याये
चतुर्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २४ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्यविवरणे
द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

मधुविद्या

प्रकरण-सम्बन्धः

ॐ असौ वा आदित्य इत्याद्यध्यायारम्भे सम्बन्धः । अतीतानन्तराध्यायान्त उक्तं यज्ञस्य मात्रां वेदेति यज्ञविषयाणि च सामहोममन्त्रोत्थानानि विशिष्टफलप्राप्तये यज्ञाङ्गभूतान्युपदिष्टानि । सर्वयज्ञानां च कार्यनिर्वृत्तिरूपः सविता महत्या श्रिया दीप्यते । स एष सर्वप्राणिकर्मफलभूतः प्रत्यक्षं सर्वैरुपजीव्यते । अतो यज्ञव्यपदेशानन्तरं तत्कार्यभूतसवितृविषयमुपासनं सर्वपुरुषा-

‘ॐ असौ वा आदित्यः’ इत्यादि अध्यायके आरम्भमें पूर्वोत्तर ग्रन्थका सम्बन्ध [बतलाया जाता है] । अव्यवहितपूर्व अध्यायके अन्तमें यह बतलाया गया है कि ‘वह यज्ञके यथार्थ स्वरूपको जान जाता है ।’ तथा उसी अध्यायमें विशिष्ट फलकी प्राप्तिके लिये यज्ञके अङ्गभूत यज्ञसम्बन्धी साम, होम, मन्त्र और उत्थानोंका भी उपदेश किया गया है । [इनके द्वारा] सम्पूर्ण यज्ञोंका कार्यनिष्पत्तिरूप [अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञसाधनोंका फलस्वरूप] सूर्य महती श्रीसे दीप्त हो जाता है । वह यह सूर्यदेव सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मोंका फलस्वरूप है; अतः समस्त जीव प्रत्यक्ष ही इसके आश्रयसे जीवन धारण करते हैं । अतः अब यज्ञका निरूपण करनेके पश्चात् मैं उसके फलस्वरूप सूर्यकी उपासना-

र्थेभ्यः श्रेष्ठतमफलं विधास्यामीत्येवमारभते श्रुतिः—

का, जो सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे श्रेष्ठतम फलवाली है, विधान करूँगी—इस उद्देश्यसे श्रुति आरम्भ करती है—

आदित्यादिमें मधु आदि-दृष्टि

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओंका मधु है । द्युलोक ही उसका तिरछा बाँस है [जिसपर कि वह लटका हुआ है], अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें [उसमें रहनेवाले] मक्खियोंके बच्चे हैं ॥ १ ॥

असौ वा आदित्यो देवमध्वित्यादि । देवानां मोदनान्मध्विव मध्वसावादित्यः । वस्वादीनां च मोदनहेतुत्वं वक्ष्यति सर्वयज्ञफलरूपत्वादादित्यस्य ।

‘असौ वा आदित्यो देवमधु’ इत्यादि । देवताओंको प्रसन्न करनेवाला होनेसे वह आदित्य मधुके समान मानो मधु है । वसु आदिको प्रसन्न करनेमें उसकी हेतुताका श्रुति आगे (३ । ६ । १ में) प्रतिपादन करेगी, क्योंकि वह आदित्य सम्पूर्ण यज्ञोंका फलस्वरूप है ।

कथं मधुत्वम्? इत्याह—तस्य मधुनो द्यौरेव भ्रामरस्येव मधुनस्तिरश्चीनश्चासौ वंशश्चेति तिरश्चीनवंशः । तिर्यग्गतेव हि द्यौर्लक्ष्यते । अन्तरिक्षं च मध्वपूपो

इसका मधुत्व किस प्रकार है? यह श्रुति बतलाती है—मधुकरके मधुके समान इस मधुका द्युलोक ही तिरछा बाँस है । जो तिरश्चीन (तिरछा) हो और वंश (बाँस) हो उसे तिरश्चीनवंश (तिरछा बाँस) कहते हैं; क्योंकि द्युलोक तिरछा ही दिखायी देता है । तथा अन्तरिक्ष मधुका छत्ता है, वह द्युलोकरूप बाँसमें लगकर

द्युवंशे लग्नः सल्लँम्बत इवातो मध्वपूपसामान्यादन्तरिक्षं मध्वपूपो मधुनः सवितुराश्रयत्वाच्च ।

मरीचयो रश्मयो रश्मिस्था आपो भौमाः सवित्राकृष्टाः "एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः" इति हि विज्ञायन्ते । ता अन्तरिक्षमध्वपूपस्थरश्म्यन्तर्गतत्वाद्भ्रमरबीजभूताः पुत्रा इव हिता लक्ष्यन्त इति पुत्रा इव पुत्रा मध्वपूपनाड्यन्तर्गता हि भ्रमरपुत्राः ॥ १ ॥

मानो लटकता है, अतः मधुके छत्तेके समान होनेके कारण तथा मधुरूप सूर्यका आश्रय होनेसे भी अन्तरिक्षलोक ही मधुका छत्ता है ।

मरीचि—किरणें अर्थात् सूर्यद्वारा खींचा हुआ उसकी किरणोंमें स्थित पार्थिव जल—जिसका कि "स्वराट् (स्वयंप्रकाश सूर्य) की जो किरणें हैं वे निश्चय ही जल हैं" इस श्रुतिद्वारा ज्ञान होता है, वह अन्तरिक्षरूप शहदके छत्तेमें स्थित किरणोंके अन्तर्गत होनेके कारण मधुकरोंके बीजभूत पुत्रों (मधुमक्खियोंके बच्चों) के समान उनमें निहित दिखायी देता है । अतः वह (सूर्यरश्मिस्थ जल) भ्रमरपुत्रोंके समान पुत्ररूप है, क्योंकि छत्तेके छिद्रोंमें ही भ्रमरपुत्र रहा करते हैं ॥ १ ॥

आदित्यकी पूर्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः । ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २॥ एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ ३ ॥

उस आदित्यकी जो पूर्वदिशाकी किरणें हैं, वे ही इस (अन्तरिक्षरूप छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, वे सोम आदि अमृत ही जल हैं। उन इन ऋक् [-रूप मधुकरों] ने ही इस ऋग्वेदका अभिताप किया। उस अभितप्त ऋग्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥२-३॥

तस्य सवितुर्मध्वाश्रयस्य मधुनो ये प्राञ्चः प्राच्यां दिशि गता रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यः प्रागञ्चनान्मधुनो नाड्यो मधुनाड्य इव मध्वाधारच्छिद्राणीत्यर्थः।

मधुके आश्रयभूत उस सूर्यरूप मधुकी जो पूर्वदिशागत किरणें हैं वे ही पूर्वकी ओर जानेके कारण इसकी पूर्व मधुनाडियाँ हैं। मधुकी नाडियोंके समान मधुनाडियाँ हैं अर्थात् वे मधुके आधारभूत छिद्र हैं।

तत्र ऋच एव मधुकृतो लोहितरूपं सवित्राश्रयं मधु कुर्वन्तीति मधुकृतो भ्रमरा इव। यतो रसानादाय मधु कुर्वन्ति तत्पुष्पमिव पुष्पमृग्वेद एव।

तहाँ ऋचाएँ ही मधुकर हैं, वे सूर्यमें रहनेवाला लोहितरूप मधु उत्पन्न करती हैं, अतः भ्रमरोंके समान वे ही मधुकर हैं। जिससे रसोंको ग्रहण करके वे मधु करती हैं वह ऋग्वेद ही पुष्पके समान पुष्प है।

तत्र ऋग्ब्राह्मणसमुदायस्यर्ग्वेदाख्यत्वाच्छब्दमात्राच्च भोग्यरूपरसनिस्रावासंभवादृग्वेदशब्देनात्र ऋग्वेदविहितं कर्म। ततो हि कर्मफलभूतमधुरसनिस्रावसंभवात्। मधुकरैरिव पुष्प-

किंतु यहाँ ऋग्ब्राह्मणसमुदायका ही नाम ऋग्वेद है और केवल शब्दसे ही भोग्यरूप रसका निकलना असम्भव है; अतः 'ऋग्वेद' शब्दसे यहाँ ऋग्वेदविहित कर्म अभिप्रेत है, क्योंकि उसीसे कर्मफलभूत मधुरूप रसका निकलना सम्भव है। मधुकरोंके समान उस पुष्प-

स्थानीयादृग्वेदविहितात्कर्मण अप आदाय ऋग्भिर्मधु निर्वर्त्यते ।

कास्ता आपः ? इत्याह—ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोरूपा अग्नौ प्रक्षिप्तास्तत्पाकाभिनिर्वृत्ता अमृता अमृतार्थत्वादत्यन्तरसवत्य आपो भवन्ति । तद्रसानादाय ता वा एता ऋचः पुष्पेभ्यो रसमाददाना इव भ्रमरा ऋचः एतमृग्वेदमृग्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयम् अभ्यतपन्नभितापं कृतवत्य इवैता ऋचः कर्मणि प्रयुक्ताः ।

ऋग्भिर्हि मन्त्रैः शस्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म मधुनिर्वर्तकं रसं मुञ्चतीत्युपपद्यते पुष्पाणीव भ्रमरैराचूष्यमाणानि । तदेतदाह—तस्यर्ग्वेदस्याभितप्तस्य, कोऽसौ रसः ? य

स्थानीय ऋग्वेदविहित कर्मसे ही रस ग्रहण करके ऋचाओंद्वारा मधु तैयार किया जाता है ।

वे रस क्या हैं ? सो श्रुति बतलाती है—वे कर्मोंमें प्रयुक्त अर्थात् अग्निमें डाले हुए सोम, घृत एवं दुग्धरूप रस अग्निपाकसे निष्पन्न हुए अमृत होते हैं अर्थात् अमृतत्व (मोक्ष) के हेतु होनेके कारण वे [अमृतसंज्ञक] जल अत्यन्त रसमय होते हैं । उन रसोंको ही ग्रहण करके इन ऋचाओंने—पुष्पोंसे रस ग्रहण करनेवाले भ्रमरोंके समान इन ऋचाओंने इस ऋग्वेदको—पुष्पस्थानीय ऋग्वेदविहित कर्मको अभितप्त किया अर्थात् कर्ममें प्रयुक्त हुई इन ऋचाओंने मानो उनका अभिताप किया ।

शस्त्रादि यज्ञाङ्गभावको प्राप्त हुए ऋगादि मन्त्रोंद्वारा ही किया हुआ कर्म भ्रमरोंसे चूसे जाते हुए पुष्पोंके समान मधु बनानेवाला रस छोड़ता है—यह कथन ठीक ही है । इसी बातको यह श्रुति बतलाती है—उस अभितप्त ऋग्वेदका वह कौन-सा रस

ऋङ्मधुकराभितापनिःसृत इत्युच्यते ।

है ? जो ऋग्रूप मधुकरके अभितापसे निकला हुआ है—ऐसा कहा जाता है ।

यशो विश्रुतत्वं तेजो देहगता दीप्तिरिन्द्रियं सामर्थ्योपेतैरिन्द्रियैरवैकल्यं वीर्यं सामर्थ्यं बलमित्यर्थः, अन्नाद्यमन्नं च तदाद्यं च येनोपयुज्यमानेनाहन्यहनि देवानां स्थितिः स्यात्तदन्नाद्यमेष रसोऽजायत यागादिलक्षणात् कर्मणः ॥ २-३ ॥

उस यागादिरूप कर्मसे यश––विख्याति, तेज––देहगत दीप्ति, इन्द्रिय—सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियोंके कारण अविकलता, वीर्य––सामर्थ्य यानी बल और अन्नाद्य––जो अन्न हो और आद्य (भक्ष्य) भी हो, जिसका प्रतिदिन उपयोग किये जानेपर देवताओंकी स्थिति हो उसे अन्नाद्य कहते हैं—ऐसा रस उत्पन्न हुआ ॥ २-३ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥ ४ ॥

वह (यश आदि रस) विशेषरूपसे गया । उसने [जाकर] आदित्यके [पूर्व] भागमें आश्रय लिया । यह जो आदित्यका रोहित (लाल) रूप है वही यह (रस) है ॥ ४ ॥

यशआद्यन्नाद्यपर्यन्तं तद्व्यक्षरद्विशेषेणाक्षरदगमत् । गत्वा च तदादित्यमभितः पार्श्वतः पूर्वभागं सवितुरश्रयदाश्रितवदित्यर्थः । अमुष्मिन्नादित्ये संचितं

यशसे लेकर अन्नाद्यपर्यन्त वह रस 'व्यक्षरत्' विशेषरूपसे गया । उसने जाकर सूर्यको पार्श्वतः—सूर्यके पूर्वभागको आश्रित किया, ऐसा इसका तात्पर्य है । हम इस आदित्यमें संचित हुए कर्मफलसंज्ञक

कर्मफलाख्यं मधु भोक्ष्यामह इत्येवं हि यशआदिलक्षणफलप्राप्तये कर्माणि क्रियन्ते मनुष्यैः केदारनिष्पादनमिव कर्षकैः । तत्प्रत्यक्षं प्रदर्श्यते श्रद्धाहेतोस्तद्वा एतत् । किं तत् ? यदेतदादित्यस्योद्यतो दृश्यते रोहितं रूपम् ॥ ४ ॥

मधुको भोगेंगे—इस प्रकार यश आदि रूप फलकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंद्वारा कर्म किये जाते हैं, जैसे कि कृषकलोग [धान्यादिकी प्राप्तिके लिये] क्यारियाँ बनाते हैं । श्रद्धाकी उत्पत्तिके लिये अब उसे प्रत्यक्ष प्रदर्शित किया जाता है—वह निश्चय यह है । वह क्या है ? यह जो उदित होते हुए सूर्यका रोहित (लाल) रूप देखा जाता है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१॥

द्वितीय खण्ड

आदित्यकी दक्षिणदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

तथा इसकी जो दक्षिण दिशाकी किरणें हैं वे ही इसकी दक्षिण-दिशावर्तिनी मधुनाडियाँ हैं, यजुःश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मय इत्यादि समानम् । यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेदविहिते कर्मणि प्रयुक्तानि । पूर्ववन्मधुकृत इव । यजुर्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयं पुष्पमित्युच्यते । ता एव सोमाद्या अमृता आपः ॥ १ ॥

'अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है । यजुःश्रुतियाँ ही मधुकर हैं अर्थात् यजुर्वेदविहित कर्मोंमें प्रयुक्त यजुर्मन्त्र ही पूर्ववत् मधुकरोंके समान हैं । यजुर्वेदविहित कर्म ही पुष्पस्थानीय होनेके कारण 'पुष्प है' ऐसा कहा जाता है । तथा वे सोम आदि अमृत ही आप हैं ॥ १ ॥

* * *

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत

॥ २ ॥ तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳरूपम् ॥ ३ ॥

उन इन यजुःश्रुतियोंने इस यजुर्वेदका अभिताप किया । उस अभितप्त यजुर्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ । उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके निकट [दक्षिण] भागमें आश्रय लिया । यह जो आदित्यका शुक्ल रूप है यह वही है ॥२-३॥

तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपन्नित्येवमादि सर्वं समानम् । मध्वेतदादित्यस्य दृश्यते शुक्लं रूपम् ॥ २-३ ॥

उन यजुःश्रुतियोंने ही इस यजुर्वेदको अभितप्त किया—इत्यादि प्रकारसे यह सब अर्थ पूर्ववत् है । यह जो आदित्यका शुक्लरूप दिखायी देता है मधु है ॥२-३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

आदित्यकी पश्चिमदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा ये जो इसकी पश्चिम ओरकी रश्मियाँ हैं वे ही इसकी पश्चिमीय मधुनाडियाँ हैं। सामश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, सामवेदविहित कर्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳसामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत २

उन इन सामश्रुतियोंने ही इस सामवेदविहित कर्मका अभिताप किया। उस अभितप्त सामवेदसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णꣳरूपम् ॥ ३ ॥

उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके समीप [पश्चिम] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका कृष्ण तेज है यह वही है ॥३॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मय इत्यादि समानम्। तथा साम्नां मधु। एतदादित्यस्य कृष्णं रूपम् ॥ १—३ ॥

'अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयः' इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ पूर्ववत् है। तथा सामश्रुतियोंका जो मधु है वही यह आदित्यका कृष्ण तेज है ॥१-३॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

आदित्यकी उत्तरदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा इसकी जो उत्तरदिशाकी किरणें हैं वे ही इसकी उत्तरदिशाकी मधुनाडियाँ हैं। अथर्वाङ्गिरस श्रुतियाँ ही मधुकर हैं, इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

उन इन अथर्वाङ्गिरस श्रुतियोंने ही इस इतिहास-पुराणको अभितप्त किया। उस अभितप्त हुए [इतिहास-पुराणरूप पुष्प] से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रसकी उत्पत्ति हुई ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम् ॥ ३ ॥

उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके निकट [उत्तर] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका अत्यन्त कृष्ण रूप है यह वही है ॥३॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मय इत्यादि समानम् । अथर्वाङ्गिरसोऽथर्वणाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः कर्मणि प्रयुक्ता मधुकृतः । इतिहासपुराणं पुष्पम् । तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधे पारिप्लवासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनियोगः सिद्धः । मध्वेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपमतिशयेन कृष्णमित्यर्थः ॥ १—३ ॥

'अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयः' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ पूर्ववत् है । अथर्वाङ्गिरसः—अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियोंके प्रत्यक्ष किये हुए मन्त्र अथर्वाङ्गिरस कहलाते हैं; कर्ममें प्रयुक्त हुए वे ही मन्त्र मधुकर हैं । इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं । उन इतिहास और पुराणोंका अश्वमेध यज्ञमें पारिप्लवा रात्रियोंमें* कर्माङ्गरूपसे विनियोग प्रसिद्ध ही है । इस आदित्यका जो परम कृष्ण अर्थात् अतिशय कृष्ण रूप है वही मधु है ॥ १—३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

---

* अश्वमेधयज्ञ बहुत दिनोंमें समाप्त होता है । उसके अनुष्ठानमें चुपचाप बैठे-बैठे यज्ञकर्ताओंको आलस्य आने लगता है । उसकी निवृत्तिके लिये श्रुतिने रात्रिके समय इतिहास-पुराणादिश्रवणका विधान किया है । विविध उपाख्यानादिके समुदायका नाम 'पारिप्लव' है; जिन रात्रियोंमें उनके श्रवणका विधान है वे 'पारिप्लवा रात्रियाँ' कहलाती हैं ।

पञ्चम खण्ड

आदित्यकी ऊर्ध्वदिक्सम्बन्धिनी किरणोंमें मधुनाड्यादि-दृष्टि

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तथा इसकी जो ऊर्ध्वरश्मियाँ हैं वे ही इसकी ऊपरकी ओरकी मधुनाडियाँ हैं। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं; [प्रणवरूप] ब्रह्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही आप है ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

उन इन गुह्य आदेशोंने ही इस [प्रणवसंज्ञक] ब्रह्मको अभितप्त किया। उस अभितप्त ब्रह्मसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और वह आदित्यके निकट [ऊर्ध्व] भागमें आश्रित हुआ। यह जो आदित्यके मध्यमें क्षुब्ध-सा होता है यही वह (मधु) है ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मय इत्यादि पूर्ववत्। गुह्या गोप्या रहस्या एवादेशा लोकद्वारीयादिविधय

'अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ पूर्ववत् है। गुह्य—गोपनीय अर्थात् रहस्यभूत जो आदेश हैं यानी जो लोकद्वारीयादि*

---

* 'लोकद्वारमपावृणु पश्येम त्वा वयम्' (लोकका द्वार खोल दे; जिससे हम तुझे देखें) इत्यादि ही 'लोकद्वारीयादि विधियाँ' हैं।

उपासनानि च कर्माङ्गविषयाणि मधुकृतः । ब्रह्मैव शब्दाधिकारात् प्रणवाख्यं पुष्पं समानमन्यत् । मध्वेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव समाहितदृष्टेर्दृश्यते सञ्चलतीव ॥ १-३ ॥

विधियाँ और कर्माङ्गसम्बन्धिनी उपासनाएँ हैं वे ही मधुकर हैं । ब्रह्म शब्दका अधिकार होनेसे प्रणवसंज्ञक ब्रह्म ही पुष्प है । शेष अर्थ पूर्ववत् है । समाहितदृष्टि पुरुषको इस आदित्यके मध्यमें जो क्षुभित अर्थात् संचलित-सा होता दिखायी देता है वही मधु है ॥१-३॥

* * *

ते वा एते रसानाꣳरसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

वे ये [पूर्वोक्त लोहितादि रूप] ही रसोंके रस हैं, वेद ही रस हैं और ये उनके भी रस हैं । वे ही ये अमृतोंके अमृत हैं—वेद ही अमृत हैं और ये उनके भी अमृत हैं ॥ ४ ॥

ते वा एते यथोक्ता रोहितादिरूपविशेषा रसानां रसाः । केषां रसानाम् ? इत्याह—वेदा हि यस्माल्लोकनिष्यन्दत्वात्सारा इति रसास्तेषां रसानां कर्मभावमापन्नानामप्येते रोहितादिविशेषा रसा अत्यन्तसारभूता इत्यर्थः ।

वे ये पूर्वोक्त रोहितादि रूपविशेष ही रसोंके रस हैं । किन रसोंके रस हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—क्योंकि लोकोंके सारभूत होनेके कारण वेद ही सार अर्थात् रस हैं और कर्मभावको प्राप्त हुए उन रसोंके भी ये रोहितादि रूपविशेष रस यानी अत्यन्त सारभूत हैं ।

तथामृतानाममृतानि वेदा ह्यमृताः, नित्यत्वात्, तेषामेतानि रोहितादीनि रूपाण्यमृतानि । रसानां रसा इत्यादि कर्मस्तुतिरेषा—यस्यैवंविशिष्टान्यमृतानि फलमिति ॥ ४ ॥

तथा ये अमृतोंके भी अमृत हैं, क्योंकि वेद ही नित्य होनेके कारण अमृत हैं, उनके भी ये रोहितादि रूप अमृत हैं । 'रसानां रसाः' (रसोंके रस) इत्यादि वाक्य कर्मकी स्तुति है; अर्थात् इस वाक्यका ऐसा तात्पर्य है कि जिस रसरूप कर्मके ऐसे अमृतरूप फल हैं [उसके माहात्म्यका कहाँतक वर्णन किया जाय ?] ॥४॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

वसुओंके जीवनाश्रयभूत प्रथम अमृतकी उपासना

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

इनमें जो पहला अमृत है, उससे वसुगण अग्निप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते ही हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

तत्तत्र यत्प्रथमममृतं रोहितरूपलक्षणं तद्वसवः प्रातःसवनेशाना उपजीवन्त्यग्निना मुखेनाग्निना प्रधानभूतेनाग्निप्रधानाः सन्त उपजीवन्तीत्यर्थः। अन्नाद्यं रसोऽजायतेतिवचनात्कवलग्राहमश्नन्तीति प्राप्तम्, तत्प्रतिषिध्यते न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्तीति। कथं तर्ह्युपजीवन्ति? इत्युच्यते—

एतदेव हि यथोक्तममृतं रोहितं रूपं दृष्ट्वोपलभ्य सर्वकरणैरनुभूय

वहाँ इनमें जो रोहितरूपवाला पहला अमृत है उसके उपजीवी प्रातःसवनाधिकारी वसुगण हैं। वे अग्निमुखसे—प्रधानभूत अग्निसे अर्थात् अग्निप्रधान होकर इसके उपजीवी होते हैं। 'अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ' इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि वे उसे एक-एक ग्रास लेकर खाते हैं। इसीका 'देवगण न तो खाते हैं और न पीते ही हैं'—इस वाक्यद्वारा प्रतिषेध किया जाता है।

तो फिर वे किस प्रकार उसके उपजीवी होते हैं? ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है—वे इस उपर्युक्त अमृत अर्थात् रोहितरूपको देखकर—उपलब्ध कर यानी समस्त इन्द्रियोंसे इसका अनुभव कर तृप्त हो जाते

तृप्यन्ति, दृशेः सर्वकरणद्वारोपलब्ध्यर्थत्वात् ।

ननु रोहितं रूपं दृष्ट्वेत्युक्तम्, कथमन्येन्द्रियविषयत्वं रूपस्येति? न; यशआदीनां श्रोत्रादिगम्यत्वात् । श्रोत्रग्राह्यं यशः । तेजोरूपं चाक्षुषम् । इन्द्रियं विषयग्रहणकार्यानुमेयं करणसामर्थ्यम् । वीर्यं बलं देहगत उत्साहः प्राणवत्ता । अन्नाद्यं प्रत्यहमुपजीव्यमानं शरीरस्थितिकरं यद्भवति । रसो ह्येवमात्मकः सर्वः । यं दृष्ट्वा तृप्यन्ति सर्वे । देवा दृष्ट्वा तृप्यन्तीत्येतत्सर्वं स्वकरणैरनुभूय तृप्यन्तीत्यर्थः । आदित्यसंश्रयाः सन्तो वैगन्ध्यादिदेहकरणदोषरहिताश्च ॥ १ ॥

हैं, क्योंकि 'दृश्' धातु समस्त इन्द्रियोंद्वारा उपलब्धि (ज्ञान) होनेके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला है ।

किंतु यहाँ तो कहा गया है कि रोहितरूपको देखकर [अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे उसका अनुभव करें] फिर रूप अन्य इन्द्रियोंका विषय कैसे हो सकता है ? [इसपर कहते हैं—] ऐसी बात नहीं है, क्योंकि श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियोंके विषय तो यश आदि हैं । यश श्रोत्रग्राह्य है, चक्षु इन्द्रियका विषय तेजोरूप है । विषयग्रहणरूप कार्यसे अनुमित होनेवाले करणोंके सामर्थ्यका नाम 'इन्द्रिय' है, 'वीर्य'का अर्थ है बल——देहगत उत्साह यानी प्राणवत्ता । तथा 'अन्नाद्य' जिसके आश्रित होकर प्राणादि प्रतिदिन जीवित रहते हैं और जो शरीरकी स्थिति करनेवाला है, वह है । इस प्रकार यह सब कुछ रस है, जिसे देखकर सब देवता तृप्त होते हैं । 'देवगण देखकर तृप्त होते हैं—' इसका आशय यह है कि इन सबका अपनी इन्द्रियोंसे अनुभव करके वे तृप्त हो जाते हैं । तथा आदित्यके आश्रित होनेसे वे दुर्गन्ध आदि देह और इन्द्रियोंके दोषोंसे रहित भी हैं ॥ १ ॥

---

१. क्योंकि भाष्यमें 'दृश्' धातुका ऐसा ही अर्थ कहा गया है ।

किं ते निरुद्यमा अमृतमुपजीवन्ति ? न; कथं तर्हि ?

तो क्या वे उद्यमहीन रहकर ही इस अमृतके उपजीवी होते हैं ? नहीं,तो फिर किस प्रकार होते हैं ?—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २॥

वे देवगण इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसीसे उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

एतदेव रूपमभिलक्ष्याधुना भोगावसरो नास्माकमिति बुद्ध्वाभिसंविशन्त्युदासते । यदा वै तस्यामृतस्य भोगावसरो भवेत्तदैतस्मादमृतभोगनिमित्तमित्यर्थः । एतस्माद्रूपादुद्यन्त्युत्साहवन्तो भवन्तीत्यर्थः । न ह्यनुत्साहवतामननुतिष्ठतामलसानां भोगप्राप्तिर्लोके दृष्टा ॥ २ ॥

इस रूपको ही लक्षित कर अर्थात् अभी हमारे भोगका अवसर नहीं है—ऐसा जानकर वे उदासीन हो जाते हैं । और जब उस अमृतके भोगका अवसर उपस्थित होता है तब इस अमृतसे अर्थात् इस अमृतके भोगके लिये इस रूपसे ही उत्साहयुक्त हो जाते हैं, क्योंकि जो अनुत्साही, अनुष्ठानहीन और आलसी हैं, उन्हें लोकमें भोगोंकी प्राप्ति होती नहीं देखी जाती ॥२॥

* * *

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है वह वसुओंमेंसे ही कोई एक होकर अग्निकी ही प्रधानतासे इसे देखकर तृप्त हो जाता है । वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

स यः कश्चिदेतदेवं यथोदितमृङ्मधुकरतापरससंक्षरणमृग्वेदविहितकर्मपुष्पात्तस्य चादित्यसंश्रयणं रोहितरूपत्वं चामृतस्य प्राचीदिग्गतरश्मिनाडीसंस्थतां वसुदेवभोग्यतां तद्विदश्च वसुभिः सहैकतां गत्वाग्निना मुखेनोपजीवनं दर्शनमात्रेण तृप्तिं स्वभोगावसर उद्यमनं तत्कालापाये च संवेशनं वेद सोऽपि वसुवत्सर्वं तथैवानुभवति ॥ ३ ॥

जो कोई पुरुष इस यथोक्त अमृतको इस प्रकार [जानता है] अर्थात् ऋग्वेदविहित कर्मरूप पुष्पसे ऋक्-श्रुतिरूप मधुकरोंके अभितापद्वारा इसका संक्षरण होना, उसका आदित्यके आश्रित होना, रोहितरूप होना, अमृतका पूर्वदिग्वर्तिनी रश्मिनाडियोंमें स्थित होना, वसुनामक देवोंका भोग्य होना, उसे जाननेवालोंका वसुगणके साथ एकताको प्राप्त होकर अग्निप्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करना, उसके दर्शनमात्रसे उनका (उसे जाननेवालोंका) तृप्त होना, अपने भोगके समय उनका उससे उत्साहित होना और भोगावसरकी समाप्तिपर उदासीन हो जाना जानता है वह भी वसुओंके समान इन सब बातोंका उसी प्रकार अनुभव करता है ॥३॥

कियन्तं कालं विद्वांस्तदमृतमुपजीवति ? इत्युच्यते—

विद्वान् कितने समयतक उस अमृतके आश्रित होकर जीवन धारण करता है, यह बतलाया जाता है—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जबतक आदित्य पूर्व दिशासे उदित होता है और पश्चिम दिशामें अस्त होता है तबतक वह [विद्वान्] वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

स विद्वान्यावदादित्यः पुरस्तात्प्राच्यां दिश्युदेता पश्चात्प्रतीच्यामस्तमेता तावद्वसूनां भोगकालस्तावन्तमेव कालं वसूनामाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता परितो गन्ता भवतीत्यर्थः । न यथा चन्द्रमण्डलस्थः केवलकर्मी परतन्त्रो देवानामन्नभूतः । किं तर्हि ? अयमाधिपत्यं स्वराड्भावं चाधिगच्छति ।। ४ ।।

जबतक आदित्य पूर्वकी ओर—पूर्वदिशामें उदित होता और पश्चिमकी ओर अस्त होता है तबतक वसुओंका भोगकाल है; वह विद्वान् उतने ही समयतक वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्यको 'पर्येता'—सब ओरसे प्राप्त होता है—ऐसा इसका भावार्थ है। जिस प्रकार चन्द्रमण्डलमें स्थित केवल कर्मपरायण पुरुष देवताओंका भोग्य होकर परतन्त्र रहता है उस प्रकार यह नहीं रहता । तो फिर किस प्रकार रहता है ? [इसपर कहते हैं—] यह तो आधिपत्य और स्वाराज्य—स्वराड्भावको प्राप्त हो जाता है ॥४॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

रुद्रोंके जीवनाश्रयभूत द्वितीय अमृतकी उपासना

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब, जो दूसरा अमृत है, रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और इसीसे उद्यमशील होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, रुद्रोंमेंसे ही कोई एक होकर इन्द्रकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन हो जाता है और इस रूपसे ही उद्यमशील होता है ॥ ३ ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीत्यादि समानम् ॥१-३॥

'अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्ति' इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जबतक आदित्य पूर्वसे उदित होता और पश्चिममें अस्त होता है उससे दुगुने समयतक वह दक्षिणसे उदित होता है और उत्तरमें अस्त होता है । इतने समयपर्यन्त वह रुद्रोंके ही आधिपत्य एवं स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावत्ततो द्विगुणं कालं दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणां तावद्भोगकालः ॥ ४ ॥

वह आदित्य जबतक पूर्वसे उदित होता और पश्चिममें अस्त होता है उससे दूने समयतक दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमें अस्त होता रहता है । इतना समय रुद्रोंका भोगकाल है [अर्थात् वसुओंकी अपेक्षा रुद्रोंका भोगकाल दूना है] ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥७॥

अष्टम खण्ड

आदित्योंके जीवनाश्रयभूत तृतीय अमृतकी उपासना

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तदनन्तर जो तीसरा अमृत है, आदित्यगण वरुणप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं; वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

वे इस रूपको ही लक्षित करके उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, आदित्योंमेंसे ही कोई एक होकर वरुणकी ही प्रधानतासे इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इसीसे उद्योगी हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेतादित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जितने समयतक दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमें अस्त होता है उससे दूने समयतक पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता रहता है। इतने समयतक वह आदित्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उत्तरोत्तरेण द्विगुणकालात्यये आक्षेपः

तथा पश्चादुत्तरत ऊर्ध्वमुदेता विपर्ययेणास्तमेता । पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनेत्यपौराणं दर्शनम् । सवितुश्चतुर्दिशमिन्द्रयमवरुणसोमपुरीषूदयास्तमयकालस्य तुल्यत्वं हि पौराणिकैरुक्तम् । मानसोत्तरस्य मूर्धनि मेरोः प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वादिति ।

इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूने समयतक पश्चिम, उत्तर और ऊपरकी ओर सूर्य उदित होता है और इनसे विपरीत दिशाओंमें अस्त होता है। किंतु यह तो पुराणदृष्टिके विरुद्ध है; क्योंकि पौराणिकोंने चारों दिशाओंमें इन्द्र, यम, वरुण और सोमकी पुरियोंमें सूर्यके उदय और अस्तके काल समान ही बतलाये हैं, कारण कि मानसोत्तर पर्वतके शिखरपर जो सूर्यका सुमेरुके चारों ओर घूमनेका मार्ग है वह सर्वत्र समान है।

उक्ताक्षेपनिरसनम्

अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः । अमरावत्यादीनां पुरीणां द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनोद्वासः स्यात् । उदयश्च नाम सवितुस्तन्निवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गोचरापत्तिस्तदत्ययश्चास्तमनं न परमार्थत

यहाँ आचार्योंने (श्रीद्रविडाचार्यने) इस प्रकार इस (आक्षेप) का परिहार किया है—अमरावती आदि पुरियोंका उत्तरोत्तर दूने समयमें उद्वास (नाश) होता है। उन पुरियोंके निवासियोंकी दृष्टिमें आना ही सूर्यका उदय है और उनकी दृष्टिसे छिप जाना ही सूर्यका अस्त है। वस्तुतः सूर्यके

उदयास्तमने स्तः । तन्निवासिनां च प्राणिनामभावे तान्प्रति तेनैव मार्गेण गच्छन्नपि नैवोदेता नास्तमेतेति चक्षुर्गोचरापत्तेस्तदत्ययस्य चाभावात् ।

तथामरावत्याः सकाशाद् द्विगुणं कालं संयमनी पुरी वसत्यतस्तन्निवासिनः प्राणिनः प्रति दक्षिणत इवोदेत्युत्तरतोऽस्तमेतीत्युच्यतेऽस्मद्बुद्धिं चापेक्ष्य; तथोत्तरास्वपि पुरीषु योजना । सर्वेषां च मेरुरुत्तरतो भवति ।

यदामरावत्यां मध्याह्नगतः सविता तदा संयमन्यामुद्यन् दृश्यते,तत्र मध्याह्नगतो वारुण्यामुद्यन्दृश्यते, तथोत्तरस्याम्; प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वात् । इलावृतवासिनां सर्वतः पर्वतप्राकारनि-

उदय और अस्त हैं ही नहीं । उन पुरियोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका अभाव हो जानेपर उनके लिये सूर्यदेव उसी मार्गसे जाते हुए भी न तो उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, क्योंकि उस समय सूर्यका किसीकी दृष्टिका विषय होना अथवा न होना समाप्त हो जाता है ।

तथा अमरावती पुरीकी अपेक्षा दूने समय संयमनी पुरी रहती है । अतः उसमें रहनेवाले प्राणियोंके लिये सूर्य मानो दक्षिणकी ओरसे उदित होता है और उत्तरमें अस्त हो जाता है— यह बात हमलोगोंकी दृष्टिको लेकर कही गयी है । इसी प्रकार आगेकी अन्य पुरियोंमें भी योजना कर लेनी चाहिये । तथा मेरु इन सभीके उत्तरकी ओर है ।

जिस समय अमरावती पुरीमें सूर्य मध्याह्नमें स्थित होता है उस समय संयमनी पुरीमें वह उदित होता देखा जाता है, और वहाँपर मध्याह्नमें स्थित होनेपर वरुणकी पुरीमें उदित होता दिखायी देता है । इसी प्रकार उत्तरदिशावर्तिनी पुरीके विषयमें समझना चाहिये; क्योंकि उसकी प्रदक्षिणाका चक्र सर्वत्र समान है । सूर्यरश्मियोंके

वारितादित्यरश्मीनां सवितोर्ध्व इवोदेतार्वागस्तमेता दृश्यते । पर्वतोर्ध्वच्छिद्रप्रवेशात्सवितृप्रकाशस्य ।

तथर्गाद्यमृतोपजीविनाममृतानां च द्विगुणोत्तरोत्तरवीर्यवत्त्वमनुमीयते भोगकालद्वैगुण्यलिङ्गेन । उद्यमनसंवेशनादि देवानां रुद्रादीनां विदुषश्च समानम् ॥ १-४ ॥

सब ओरसे पर्वतरूप परकोटेद्वारा रोक लिये जानेके कारण इलावृतखण्डमें रहनेवालोंको वह मानो ऊपरकी ओर उदित होता और नीचेकी ओर अस्त होता दिखायी देता है, क्योंकि वहाँ सूर्यका प्रकाश पर्वतोंके ऊपरी छिद्रद्वारा ही प्रवेश करता है ।

इस प्रकार ऋगादि अमृतके आश्रित जीवन व्यतीत करनेवाले देवताओंके पराक्रमकी उत्तरोत्तर द्विगुणताका उनके भोगकालके द्विगुणत्वरूप लिङ्गसे अनुमान किया जाता है । रुद्रादि देवताओं और विद्वानोंके उद्यमन और संवेशन समान ही हैं ॥ १-४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

मरुद्गणके जीवनाश्रयभूत चतुर्थ अमृतकी उपासना

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तथा जो चौथा अमृत है, मरुद्गण सोमकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, मरुतोंमेंसे ही कोई एक होकर सोमकी प्रधानतासे ही इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जितने समयतक पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है उससे दूने कालतक उत्तरसे उदित होता और दक्षिणमें अस्त होता रहता है । इतने कालतक वह मरुद्गणके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
नवमखण्डः सम्पूर्णः ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

साध्योंके जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृतकी उपासना

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

तथा जो पाँचवाँ अमृत है, साध्यगण ब्रह्माकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, साध्यगणमेंसे ही कोई एक होकर ब्रह्माकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

वह आदित्य जबतक उत्तरसे उदित होता है और दक्षिणमें अस्त होता है उससे दूने समयतक ऊपरकी ओर उदित होता है और नीचेकी ओर अस्त होता है। इतने कालतक वह साध्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
दशमखण्डः सम्पूर्णः ॥ १० ॥

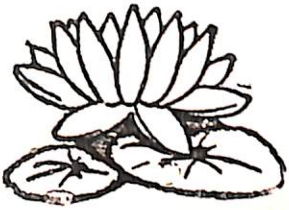

एकादश खण्ड

भोगक्षयके अनन्तर सबका उपसंहार हो जानेपर आदित्यरूप ब्रह्मकी स्वस्वरूपमें स्थिति

कृत्वैवमुदयास्तमनेन प्राणिनां स्वकर्मफलभोगनिमित्तमनुग्रहं तत्कर्मफलोपभोगक्षये तानि प्राणिजातान्यात्मनि संहृत्य—

इस प्रकार उदय और अस्तके द्वारा प्राणियोंको अपने-अपने कर्म-फलभोगके लिये अनुगृहीत कर, उनके कर्मफलभोगका क्षय होनेपर उन प्राणियोंका अपनेमें उपसंहार कर—

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

फिर उसके पश्चात् वह ऊर्ध्वगत होकर उदित होनेपर फिर न तो उदित होगा और न अस्त ही होगा; बल्कि अकेला ही मध्यमें स्थित रहेगा । उसके विषयमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

अथ ततस्तस्मादनन्तरं प्राण्यनुग्रहकालादूर्ध्वः सन्नात्मन्युदेत्योद्गम्य यान्प्रत्युदेति तेषां प्राणिनामभावात्स्वात्मस्थो नैवोदेता नास्तमेतैकलोऽद्वितीयोऽनवयवो मध्ये स्वात्मन्येव स्थाता ।

फिर उसके पश्चात्—प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके कालके अनन्तर ऊर्ध्वगत हो—अपनेमें उदित हो अर्थात् जिन प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये उदित होता है उन प्राणियोंका अभाव हो जानेके कारण अपनेहीमें स्थित हो वह न तो उदित ही होगा और न अस्त ही होगा; बल्कि अकेला—अद्वितीय अर्थात् निरवयव होकर मध्यमें—अपनेमें ही स्थित रहेगा ।

तत्र कश्चिद्विद्वान्वस्वादिसमानचरणो रोहिताद्यमृतभोगभागी यथोक्तक्रमेण स्वात्मानं सवितारमात्मत्वेनोपेत्य समाहितः सन्नेतं मन्त्रं दृष्ट्वोत्थितोऽन्यस्मै पृष्टवते जगाद । यतस्त्वमागतो ब्रह्मलोकात्किं तत्राप्यहोरात्राभ्यां परिवर्तमानः सविता प्राणिनामायुः क्षपयति यथेहास्माकमित्येवं पृष्टः प्रत्याह—तत्तत्र यथापृष्टे यथोक्ते चार्थे एष श्लोको भवति तेनोक्तो योगिनेति श्रुतेर्वचनमिदम् ॥१॥

वहाँ [क्रममुक्तिमें] जिसका आचरण वसु आदिके समान है और जो रोहितादि अमृतभोगका भाजन है ऐसे किसी विद्वान्‌ने उपर्युक्त क्रमसे आत्मभूत सूर्यको आत्मरूपसे उपलब्ध करते हुए समाहितचित्त हो इस मन्त्रका साक्षात्कार कर व्युत्थान होनेपर अपनेसे प्रश्न करनेवाले एक दूसरे व्यक्तिसे इस प्रकार कहा था । उससे जब यह पूछा गया कि 'तुम ब्रह्मलोकसे आये हो [अतः बताओ तो] क्या वहाँ भी सूर्य दिन-रात विचरता हुआ प्राणियोंकी आयुको क्षीण करता है जिस प्रकार कि वह यहाँ हमारी आयुका क्षय करता है ?'—तब उसने निम्नाङ्कित उत्तर दिया । 'इस प्रकार पूछे हुए उपर्युक्त प्रश्नके विषयमें उस योगीद्वारा कहा हुआ यह श्लोक है ।' यह श्रुतिका वाक्य है ॥१॥

* * *

ब्रह्मलोकके विषयमें विद्वान्‌का अनुभव

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहꣳसत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

वहाँ निश्चय ही ऐसा नहीं होता । वहाँ [सूर्यका] न कभी अस्त होता है और न उदय होता है । हे देवगण ! इस सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे विरुद्ध न होऊँ ॥ २ ॥

न वै तत्र यतोऽहं ब्रह्मलोकादागतस्तस्मिन्न वै तत्रैतदस्ति यत्पृच्छसि । न हि तत्र निम्लोचास्तमगमत्सविता न चोदियायोद्गतः कुतश्चित्कदाचन कस्मिंश्चिदपि काल इति ।

जहाँसे—जिस ब्रह्मलोकसे मैं आया हूँ—वहाँ उसमें निश्चय ही यह तुम जो कुछ पूछते हो नहीं है । वहाँ न तो सूर्यास्त होता है और न कभी—किसी भी समय सूर्य कहींसे उदित होता है ।

उदयास्तमयवर्जितो ब्रह्मलोक इत्यनुपपन्नमित्युक्तः शपथमिव प्रतिपेदे । हे देवाः साक्षिणो यूयं शृणुत यथा मयोक्तं सत्यं वचस्तेन सत्येनाहं ब्रह्मणा ब्रह्मस्वरूपेण मा विराधिषि मा विरुध्येयमप्राप्तिर्ब्रह्मणो मम मा भूदित्यर्थः ॥ २ ॥

ब्रह्मलोक सूर्यके उदय और अस्तसे रहित है—यह बात तो असङ्गत है—इस प्रकार कहे जानेपर वह मानो शपथ करता है—हे देवगण ! तुम साक्षी हो, सुनो—मैंने जो सत्य वचन कहा है उस सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे—ब्रह्मके स्वरूपसे विरुद्ध न होऊँ; अर्थात् मुझे ब्रह्मकी अप्राप्ति न हो ॥२॥

मधुविद्याका फल

सत्यं तेनोक्तमित्याह श्रुतिः—

उसने सत्य ही कहा है—यह बात श्रुति बतलाती है—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद् (वेदरहस्य) को जानता है उसके लिये न तो सूर्यका उदय होता है और न अस्त होता है । उसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है ॥ ३ ॥

न ह वा अस्मै यथोक्तब्रह्मविदे नोदेति न निम्लोचति

इसके अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्मवेत्ताके लिये न तो सूर्य उदित होता है और न अस्तमित ही होता है ।

नास्तमेति किन्तु ब्रह्मविदेऽस्मै सकृद्दिवा हैव सदैवाहर्भवति स्वयंज्योतिष्ट्वात् । य एतां यथोक्तां ब्रह्मोपनिषदं वेदगुह्यं वेद । एवं तन्त्रेण वंशादित्रयं प्रत्यमृतसम्बन्धं च यच्चान्यदवोचामैवं जानातीत्यर्थः । विद्वानुदयास्तमयकालापरिच्छेद्यं नित्यमजं ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

बल्कि इस ब्रह्मवेत्ताके लिये 'सकृद्दिवा'—सर्वदा दिन ही बना रहता है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप होता है [ऐसा किसके लिये होता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—] जो इस उपर्युक्त ब्रह्मोपनिषद्—वेदरहस्यको जानता है; अर्थात् जो शास्त्रद्वारा वंशादित्रय[१], प्रत्येक अमृतके साथ वसु आदिका सम्बन्ध तथा और भी जो कुछ हमने कहा है उसे उसी प्रकार जानता है । तात्पर्य यह है कि वह विद्वान् उदय और अस्तरूप कालसे अपरिच्छेद्य नित्य अजन्मा ब्रह्म ही हो जाता है ॥३॥

सम्प्रदायपरम्परा

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

वह यह मधुज्ञान ब्रह्माने विराट् प्रजापतिसे कहा था, प्रजापतिने मनुसे कहा और मनुने प्रजावर्गके प्रति कहा । तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुणनन्दन उद्दालकको उसके पिताने इस ब्रह्मविज्ञानका उपदेश दिया था ॥ ४ ॥

तद्धैतन्मधुज्ञानं ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतय उवाच ।

वह यह मधुज्ञान ब्रह्मा—हिरण्यगर्भने विराट् प्रजापतिको सुनाया था । उसने भी इसे मनुको सुनाया और

---

[१] तिरश्चीनवंश, मध्वपूप और मधुनाडी—इन तीनोंको ।

सोऽपि मनवे । मनुरिक्ष्वाकाद्याभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाचेति विद्यां स्तौति ब्रह्मादिविशिष्टक्रमागतेति । किं च तद्धैतन्मधुज्ञानमुद्दालकायारुणये पिता ब्रह्मविज्ञानं ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच ॥ ४ ॥

मनुने इक्ष्वाकु आदि प्रजावर्ग (अपनी संतान) को सुनाया—इस प्रकार 'यह विद्या ब्रह्मादिविशिष्ट परम्परासे आयी है' ऐसा कहकर श्रुति इस विद्याकी स्तुति करती है । यही नहीं, यह मधुज्ञान अरुणपुत्र उद्दालकको अर्थात् यह ब्रह्मविज्ञान पिताने अपने ज्येष्ठ पुत्रको सुनाया था ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने ॥ ५ ॥

अतः इस ब्रह्मविज्ञानका पिता अपने ज्येष्ठ पुत्रको अथवा सुयोग्य शिष्यको उपदेश करे ॥ ५ ॥

इदं वाव तद्यथोक्तमन्योऽपि ज्येष्ठाय पुत्राय सर्वप्रियार्हाय ब्रह्म प्रब्रूयात् । प्रणाय्याय वा योग्यायान्तेवासिने शिष्याय ॥ ५ ॥

अतः कोई दूसरा विद्वान् भी यह उपर्युक्त ब्रह्मविज्ञान सबसे प्रिय वस्तुके पात्र अपने ज्येष्ठ पुत्रको ही बतावे, अथवा जो शिष्य सुयोग्य हो उससे कहे ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

किसी दूसरेको नहीं बतलावे, यद्यपि इस आचार्यको यह समुद्रपरिवेष्टित और धनसे परिपूर्ण सारी पृथिवी दे [तो भी किसी

दूसरेको इस विद्याका उपदेश न करे, क्योंकि] उससे यही बढ़कर है, यही बढ़कर है ॥ ६ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन प्रब्रूयात्तीर्थद्वयमनुज्ञातमनेकेषां प्राप्तानां तीर्थानामाचार्यादीनाम् । कस्मात्पुनस्तीर्थसंकोचनं विद्यायाः कृतम् ? इत्याह—यद्यप्यस्मा आचार्याय इमां कश्चित्पृथिवीमद्भिः परिगृहीतां समुद्रपरिवेष्टितां समस्तामपि दद्यात्, अस्या विद्याया निष्क्रयार्थम्, आचार्याय धनस्य पूर्णां संपन्नां भोगोपकरणैः; नासावस्य निष्क्रयः, यस्मात्ततोऽपि दानादेतदेव यन्मधुविद्यादानं भूयो बहुतरफलमित्यर्थः । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥ ६ ॥

किसी औरको इसका उपदेश न करे--ऐसा कहकर श्रुतिने आचार्य (विद्या देकर विद्या सीखनेवाले) आदि अनेक तीर्थों (विद्या दानके पात्रों) मेंसे केवल दो तीर्थ (ज्येष्ठ पुत्र और योग्य शिष्य) के लिये ही आज्ञा दी है । किंतु इस विद्याके पात्रोंका संकोच क्यों किया गया है ? इसपर श्रुति कहती है—यदि इस विद्याका बदला चुकानेके लिये कोई पुरुष इस आचार्यको जलसे परिगृहीत अर्थात् समुद्रसे घिरी हुई और धनसे परिपूर्ण यानी भोगकी सामग्रियोंसे सम्पन्न यह सारी पृथिवी भी दे तो भी वह इसका बदला नहीं हो सकता ? क्योंकि उस दानसे भी यह मधुविद्याका दान ही बड़ा---अधिक फलवाला है, ऐसा इसका तात्पर्य है । द्विरुक्ति विद्याके आदरके लिये है ॥ ६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥११॥

द्वादश खण्ड

गायत्रीद्वारा ब्रह्मकी उपासना

यत एवमतिशयफलैषा ब्रह्मविद्यातः सा प्रकारान्तरेणापि वक्तव्येति गायत्री वा इत्याद्यारभ्यते । गायत्रीद्वारेण चोच्यते, ब्रह्मणः सर्वविशेषरहितस्य नेति नेतीत्यादिविशेषप्रतिषेधगम्यस्य दुर्बोधत्वात् । सत्स्वनेकेषुच्छन्दःसु गायत्र्या एव ब्रह्मज्ञानद्वारतयोपादानं प्राधान्यात् । सोमाहरणादितरच्छन्दोऽक्षराहरणेनेतरच्छन्दो-

क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मविद्या अतिशय फलवती है इसलिये उसका अन्य प्रकारसे भी वर्णन करना चाहिये; इसीसे 'गायत्री वा' इत्यादि मन्त्रका आरम्भ किया जाता है । गायत्रीद्वारा भी ब्रह्मका ही निरूपण किया जाता है, क्योंकि 'नेति नेति' इत्यादि प्रकारसे विशेषोंके प्रतिषेधद्वारा अनुभूत होनेवाला सर्वविशेषरहित ब्रह्म कठिनतासे समझमें आनेवाला है । अनेकों छन्दोंके रहते हुए भी प्रधानताके कारण गायत्रीका ही ब्रह्मज्ञानके द्वाररूपसे ग्रहण किया जाता है । सोमाहरण[1] करनेसे अन्य छन्दोंके अक्षरोंको लानेसे,[2]

---

१. एक बार सोमाभिलाषी देवताओंने सोम लानेके लिये गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन छन्दोंको नियुक्त किया । परंतु असमर्थ होनेके कारण जगती और त्रिष्टुप् ये दो छन्द तो मार्गमेंसे ही लौट आये, केवल एक गायत्री छन्द ही सोमके पास जा सका और वही सोमके रक्षकोंको परास्त कर उसे देवताओंके पास लाया । यह कथा ऐतरेय ब्राह्मणमें 'सोमो वै राजामुष्मिंल्लोक आसीत्' इस प्रसङ्गमें आयी है ।

२. गायत्रीके सिवा जो और छन्द सोम लानेके लिये गये थे वे मार्गमें ही थक जानेके कारण अपने कुछ अक्षर छोड़ आये थे । जगतीके तीन अक्षर और त्रिष्टुप्का एक अक्षर—ये मार्गमें रह गये थे । इन्हें लाकर गायत्रीने उनकी पूर्ति की ।

व्याप्त्या च सर्वसवनव्यापकत्वाच्च यज्ञे प्राधान्यं गायत्र्याः । गायत्रीसारत्वाच्च ब्राह्मणस्य, मातरमिव हित्वा गुरुतरां गायत्रीं ततोऽन्यद्गुरुतरं न प्रतिपद्यते यथोक्तं ब्रह्मापीति । तस्यामत्यन्तगौरवस्य प्रसिद्धत्वात् । अतो गायत्रीमुखेनैव ब्रह्मोच्यते—

इतर छन्दोंमें व्याप्त[१] रहनेसे और सभी सवनोंमें व्यापक होनेसे[२] यज्ञमें गायत्रीकी प्रधानता है । क्योंकि ब्राह्मणका सार गायत्री ही है, इसलिये उपर्युक्त ब्रह्म भी माताके समान गुरुतरा गायत्रीको छोड़कर उससे उत्कृष्टतर किसी अन्य आलम्बनको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसमें लोकका अत्यन्त गौरव प्रसिद्ध ही है । अतः गायत्रीके द्वारा ही ब्रह्मका निरूपण किया जाता है—

गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳसर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

गायत्री ही ये सब भूत—प्राणिवर्ग हैं । जो कुछ भी ये स्थावर-जंगम प्राणी हैं वे गायत्री ही हैं । वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी हैं, क्योंकि यही गायत्री उनका गान (नामोच्चारण) करती और उनकी [भय आदिसे] रक्षा करती है ॥ १ ॥

गायत्री वा इत्यवधारणार्थो वैशब्दः । इदं सर्वं भूतं प्राणिजातं यत्किं च स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं गायत्र्येव । तस्याश्छन्दो-

'गायत्री वै' इस पदमें 'वै' शब्द निश्चयार्थक है । ये समस्त भूत अर्थात् ये जो कुछ स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं वे सब गायत्री ही हैं । वह (गायत्री) तो केवल छन्दमात्र

---

[१] उष्णिक् और अनुष्टुप् आदि अन्य छन्दोंके प्रत्येक पादमें क्रमशः ७ और ८ आदि अक्षर होते हैं और गायत्रीके एक पादमें ६ अक्षर होते हैं; इसलिये यह उन छन्दोंमें भी व्याप्त है, क्योंकि अधिक संख्याकी सत्ता न्यून संख्याके बिना नहीं हो सकती ।

[२] प्रातःसवन गायत्र है, मध्याह्नसवन त्रैष्टुभ है और तृतीय सवन जागत है । अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये क्रमशः उनके छन्द हैं । गायत्री त्रिष्टुप् और जगतीमें व्याप्त है; इसलिये वह उन सवनोंमें भी व्यापक है ।

मात्रायाः सर्वभूतत्वमनुपपन्नमिति गायत्रीकारणं वाचं शब्दरूपामापादयति गायत्रीम्, वाग्वै गायत्रीति।

वाग्वा इदं सर्वं भूतम्। यस्माद्वाक्शब्दरूपा सती सर्वं भूतं गायति शब्दयत्यसौ गौरसावश्व इति च, त्रायते च रक्षत्यमुष्मान्मा भैषीः, किं ते भयमुत्थितम्, इत्यादिना सर्वतो भयान्निवर्त्यमानो वाचा त्रातः स्यात्। यद्वाग्भूतं गायति च त्रायते च गायत्र्येव तद्गायति च त्रायते च वाचोऽनन्यत्वाद्गायत्र्याः। गानात्त्राणाच्च गायत्र्या गायत्रीत्वम् ॥ १ ॥

है, उसका सर्वभूतरूप होना तो सम्भव नहीं है; अतः 'वाग्वै गायत्री' ऐसा कहकर श्रुति गायत्रीकी कारणभूत शब्दरूप वाक्को ही गायत्री कहती है ।

वाक् ही यह सब भूतसमुदाय है; क्योंकि शब्दरूप हुई वाक् ही समस्त भूतोंका गान—शब्द यानी नामोल्लेख करती है; जैसे 'यह गौ है' 'यह अश्व है' इत्यादि; तथा यही त्राण—रक्षा करती है; जैसे 'इससे मत डर' 'तुझे क्या भय उत्पन्न हुआ है ?' इत्यादि वाक्योंसे सब ओरसे भयसे निवृत्त किये जानेपर वाणीके ही द्वारा मनुष्यकी रक्षा की जाती है । इस प्रकार वाणी जो प्राणियोंका गान और त्राण करती है वह गान और त्राण गायत्रीके द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि गायत्री वाणीसे भिन्न नहीं है । गान और त्राण करनेके कारण ही गायत्रीका गायत्रीत्व है ॥१॥

* * *

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याँ
हीदँ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

जो वह गायत्री है वह यही है, जो कि यह पृथिवी है; क्योंकि इसीमें ये सब भूत स्थित हैं और इसीका वे कभी अतिक्रमण नहीं करते ॥ २ ॥

या वै सैवंलक्षणा सर्वभूतरूपा गायत्री; इयं वाव सा येयं पृथिवी । कथं पुनरियं पृथिवी गायत्रीति ? उच्यते—सर्वभूतसंबन्धात् । कथं सर्वभूतसंबन्धः ? अस्यां पृथिव्यां हि यस्मात्सर्वं स्थावरं जङ्गमं च भूतं प्रतिष्ठितम्, एतामेव पृथिवीं नातिशीयते नातिवर्तत इत्येतत् ।

यथा गानत्राणाभ्यां भूतसंबन्धो गायत्र्याः, एवं भूतप्रतिष्ठानाद्भूतसंबद्धा पृथिवी; अतो गायत्री पृथिवी ॥ २ ॥

जो वह ऐसे लक्षणोंवाली सर्वभूतरूप गायत्री है वह यही है, जो कि यह पृथिवी है। किंतु यह पृथिवी गायत्री किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—सम्पूर्ण प्राणियोंसे इसका सम्बन्ध होनेके कारण यह गायत्री है । इसका समस्त प्राणियोंसे किस प्रकार सम्बन्ध है ? क्योंकि इस पृथिवीमें ही समस्त स्थावर तथा जङ्गम प्राणी स्थित हैं और वे इस पृथिवीका ही अतिक्रमण अर्थात् अतिवर्तन कभी नहीं करते ।

जिस प्रकार गान और त्राणके कारण गायत्रीका प्राणियोंसे सम्बन्ध है उसी प्रकार भूतोंकी प्रतिष्ठा होनेके कारण पृथिवी भूतोंसे सम्बद्ध है अतः पृथिवी गायत्री है ॥२॥

***

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥३॥

जो भी यह पृथिवी है वह यही है जो कि इस पुरुषमें शरीर है; क्योंकि इसीमें ये प्राण स्थित हैं और इसीको वे कभी नहीं छोड़ते ॥ ३ ॥

या वै सा पृथिवी गायत्री, इयं वाव सेदमेव; तत्किम् ? यदिदमस्मिन्पुरुषे कार्यकरणसंघाते जीवति शरीरं पार्थिवत्वाच्छरीरस्य ।

कथं शरीरस्य गायत्रीत्वमिति ? उच्यते—अस्मिन्हीमे प्राणा भूतशब्दवाच्याः प्रतिष्ठिताः, अतः पृथिवीवद् भूतशब्दवाच्यप्राणप्रतिष्ठानाच्छरीरं गायत्री; एतदेव यस्माच्छरीरं नातिशीयन्ते प्राणाः ॥ ३ ॥

जो भी वह पृथिवीरूप गायत्री है वह यह निश्चय यही है; यही कौन ? जो इस पुरुषमें—भूत और इन्द्रियोंके सजीव संघातमें शरीर है, क्योंकि शरीर पृथिवीका ही विकार है ।

शरीरका गायत्रीत्व किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है; क्योंकि इसीमें 'भूत' शब्दवाच्य प्राण प्रतिष्ठित हैं । अतः पृथिवीके समान 'भूत' शब्दवाच्य प्राणोंका अधिष्ठान होनेके कारण शरीर गायत्री है, क्योंकि प्राण इस शरीरका ही अतिक्रमण नहीं करते ॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

जो भी इस पुरुषमें शरीर है वह यही है जो कि इस अन्तःपुरुषमें हृदय है; क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और इसीका अतिक्रमण नहीं करते ॥ ४ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरं गायत्रीदं वाव तत् । यदिदमस्मिन्नन्तर्मध्ये पुरुषे हृदयं पुण्डरीकाख्यमेतद्गायत्री । कथम् ?इत्याह—अस्मिन्हीमे

जो भी इस पुरुषमें शरीररूप गायत्री है वह यही है, जो कि इस अन्तःपुरुष—मध्यवर्ती पुरुषमें पुण्डरीकसंज्ञक हृदय है । वह गायत्री है । किस प्रकार ? सो बतलाते हैं——

प्राणाः प्रतिष्ठिताः; अतः शरीरवद्गायत्री हृदयम्। एतदेव च नातिशीयन्ते प्राणाः। "प्राणो ह पिता प्राणो माता।" (छा० उ० ७।१५।१) "अहिंसन्सर्वभूतानि" (छा० उ० ८।१५।१) इति च श्रुतेः, भूतशब्दवाच्याः प्राणाः ॥ ४ ॥

क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं। अतः शरीरके समान हृदय गायत्री है, क्योंकि प्राण इसका भी अतिक्रमण नहीं करते। "प्राण पिता है, प्राण माता है" "सम्पूर्ण प्राणियोंकी हिंसा न करते हुए" इत्यादि श्रुतियाँ होनेके कारण प्राण 'भूत'शब्दवाच्य हैं ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

वह यह गायत्री चार चरणोंवाली और छः प्रकारकी है। वह यह [गायत्र्याख्य ब्रह्म] मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित किया गया है ॥ ५ ॥

सैषा चतुष्पदा षडक्षरपदा छन्दोरूपा सती भवति गायत्री षड्विधा वाग्भूतपृथिवीशरीरहृदयप्राणरूपा सती षड्विधा भवति। वाक्प्राणयोरन्यार्थनिर्दिष्टयोरपि गायत्रीप्रकारत्वम्; अन्यथा षड्विधसंख्यापूरणानुपपत्तेः। तदेतस्मिन्नर्थ एतद्गायत्र्याख्यं ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गायत्रीमुखेनोक्त-

वह यह चार पदोंवाली और छः-छः अक्षरोंके पदोंवाली है तथा वाक्, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राणरूपा होनेसे वह षड्विधा—छः प्रकारकी है। वाक् और प्राणका यद्यपि अन्य अर्थमें निर्देश किया गया है, तो भी वे गायत्रीके प्रकाररूपसे स्वीकृत किये जाते हैं; अन्यथा गायत्रीके छः प्रकारोंकी संख्या पूर्ण नहीं हो सकती। इसी अर्थमें यह गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म, जो गायत्रीका

मृचापि मन्त्रेणाभ्यनूक्तं प्रकाशितम् ॥ ५ ॥

अनुगत और गायत्रीद्वारा ही प्रतिपादित है, ऋचा यानी मन्त्रसे भी प्रकाशित किया गया है ॥ ५ ॥

* * *

कार्यब्रह्म और शुद्ध ब्रह्मका भेद

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

[ऊपर जो कुछ कहा गया है] उतनी ही इस (गायत्र्याख्य ब्रह्म) की महिमा है; तथा [निर्विकार] पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है । सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद हैं और इसका [पुरुषसंज्ञक] त्रिपाद् अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है ॥ ६ ॥

तावानस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः समस्तस्य महिमा विभूतिविस्तारः । यावांश्चतुष्पात्षड्विधश्च ब्रह्मणो विकारः पादो गायत्रीति व्याख्यातः । अतस्तस्माद्विकारलक्षणाद्गायत्र्याख्याद्वाचारम्भणमात्रात्ततो ज्यायान्महत्तरश्च परमार्थसत्यरूपोऽविकारः पूरुषः पुरुषः सर्वपूरणात्पुरि शयनाच्च ।

इस गायत्रीसंज्ञक समस्त (पादविभागविशिष्ट (ब्रह्मकी उतनी ही महिमा—विभूतिविस्तार है, जितना कि चार पादवाला और छः प्रकारका ब्रह्मका विकारभूत एक पाद गायत्री है; ऐसा कहकर निरूपण किया गया है । अतः उस विकारभूत वाचारम्भणमात्र गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मसे परमार्थ सत्यस्वरूप निर्विकार पुरुष उत्कृष्ट महत्तर है; जो सबको पूरित करने तथा शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष कहलाता है ।

तस्यास्य पादः सर्वा सर्वाणि भूतानि तेजोऽबन्नादीनि सस्थावरजङ्गमानि । त्रिपात्त्रयः पादा अस्य सोऽयं त्रिपात् । त्रिपादमृतं पुरुषाख्यं समस्तस्य गायत्र्यात्मनो दिवि द्योतनवति स्वात्मन्यवस्थितमित्यर्थ इति ॥ ६ ॥

तेज, अन्न और अप् आदि सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणी उस इस पुरुषका एक पाद हैं । तथा वह त्रिपात्—जिसके तीन पाद हों उसे 'त्रिपात्' कहते हैं—समस्त गायत्रीरूप पुरुषका पुरुषसंज्ञक त्रिपाद् अमृत दिवि—द्युतिमान्‌में यानी प्रकाशस्वरूप स्वात्मामें स्थित है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥६॥

भूताकाश, देहाकाश और हृदयाकाशका अभेद

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

जो भी वह [त्रिपाद् अमृतरूप] ब्रह्म है वह यही है, जो कि यह पुरुषसे बाहर आकाश है; और जो भी यह पुरुषसे बाहर आकाश है । वह यही है जो कि यह पुरुषके भीतर आकाश है; तथा जो भी यह पुरुषके भीतर आकाश है । वह यही है जो कि हृदयके अन्तर्गत आकाश है । वह यह हृदयाकाश पूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला है । जो पुरुष ऐसा जानता है वह पूर्ण और कहीं प्रवृत्त न होनेवाली सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ ७–९ ॥

यद्वै तत्त्रिपादमृतं गायत्रीमुखेनोक्तं ब्रह्मेतीदं वाव तदिदमेव तद्योऽयं प्रसिद्धो बहिर्धा बहिः पुरुषादाकाशो भौतिको यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाश उक्तः ॥७॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुषे शरीर आकाशः ।

यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः ॥८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीक आकाशः ।

कथमेकस्य सत आकाशस्य त्रिधा भेद इति ? उच्यते—बाह्येन्द्रियविषये जागरितस्थाने नभसि दुःखबाहुल्यं दृश्यते । ततोऽन्तःशरीरे स्वप्नस्थानभूते मन्दतरं दुःखं भवति स्वप्नान् पश्यतः । हृदयस्थे पुनर्नभसि न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति । अतः सर्वदुःखनिवृत्तिरूपमाकाशं सुषुप्तस्थानम् ।

जो भी गायत्रीके द्वारा कहा हुआ वह त्रिपाद् अमृत ब्रह्म है वह यही है—वह निश्चय यही है जो कि यह बाहरकी ओर—पुरुषसे बाहर प्रसिद्ध भौतिक आकाश है । तथा जो भी यह पुरुषसे बाहर आकाश बतलाया गया है ॥७॥ वह यही है जो पुरुष अर्थात् शरीरके भीतर आकाश है ।

जो भी वह पुरुषके भीतर आकाश है ॥८॥ वह यही है जो यह हृदयके भीतर अर्थात् हृदयपुण्डरीकमें आकाश है ।

एक होनेपर भी आकाशका तीन प्रकारका भेद क्यों है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है- जो बाह्य इन्द्रियोंका विषय है और जिसकी जाग्रत् अवस्थामें उपलब्धि होती है ऐसे इस आकाशमें दुःखकी बहुलता देखी जाती है । उसकी अपेक्षा, स्वप्नमें उपलब्ध होनेवाले शरीरान्तर्गत आकाशमें स्वप्न देखनेवाले पुरुषको मन्दतर दुःख होता है । किंतु हृदयस्थ आकाशमें जीव न तो किसी भोगकी इच्छा करता है और न कोई स्वप्न ही देखता है; अतः सुषुप्तिमें उपलब्ध होनेवाला आकाश सम्पूर्ण दुःखोंका निवृत्तिरूप है ।

अतो युक्तमेकस्यापि त्रिधा भेदान्वाख्यानम् ।

बहिर्धा पुरुषादारभ्याकाशस्य हृदये संकोचकरणं चेतःसमाधानस्थानस्तुतये । यथा "त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते । अर्धतस्तु कुरुक्षेत्रमर्धतस्तु पृथूदकम्" इति तद्वत् ।

तदेतद्धार्दाकाशाख्यं ब्रह्म पूर्णं सर्वगतं न हृदयमात्रपरिच्छिन्नमिति मन्तव्यम्, यद्यपि हृदयाकाशे चेतः समाधीयते । अप्रवर्ति न कुतश्चित्क्वचित्प्रवर्तितुं शीलमस्येत्यप्रवर्ति तदनुच्छित्तिधर्मकम् । यथान्यानि भूतानि परिच्छिन्नान्युच्छित्तिधर्मकाणि न तथा हार्दं नभः । पूर्णामप्रवर्तिनी-

इसलिये एक ही आकाशके तीन भेदोंका कथन उचित ही है ।

पुरुषके बहिःस्थित आकाशसे लेकर जो हृदयदेशमें आकाशका संकोच किया गया है वह चित्तकी एकाग्रताके स्थानकी स्तुतिके लिये है; जिस प्रकार [स्थानकी स्तुतिके लिये ही ऐसा कहा जाता है—] "तीनों लोकोंमें कुरुक्षेत्र उत्कृष्ट है तथा [द्विदल धान्यके समान] आधेमें कुरुक्षेत्र है और आधेमें 'पृथूदक' है" उसी प्रकार [यहाँ हृदयाकाशकी स्तुति समझनी चाहिये] ।

वह यह हृदयाकाशसंज्ञक ब्रह्म पूर्ण—सर्वगत है; वह केवल हृदयमात्रमें ही परिच्छिन्न है—ऐसा नहीं मानना चाहिये; यद्यपि चित्त केवल हृदयाकाशमें ही समाहित किया जाता है । वह अप्रवर्ति अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला है—जिसका कभी कहीं प्रवृत्त होनेका स्वभाव न हो उसे अप्रवर्ति कहते हैं । जिस प्रकार अन्य परिच्छिन्न भूत उच्छित्ति(विनाश) धर्मवाले हैं उसी प्रकार हृदयाकाश नाशवान् नहीं है । जो पुरुष इस प्रकार उपर्युक्त पूर्ण और अविनाशी

मनुच्छेदात्मिकां श्रियं विभूतिं गुणफलं लभते दृष्टम्; य एवं यथोक्तं पूर्णाप्रवर्तिगुणं ब्रह्म वेद जानातीहैव जीवंस्तद्भावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

गुणविशिष्ट ब्रह्मको जानता है वह पूर्ण और अप्रवर्तिनी—कभी नष्ट न होनेवाली श्री—विभूति इस दृष्ट गौण फलको प्राप्त करता है। अर्थात् इसी लोकमें यानी जीवित रहते हुए ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है॥९॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१२॥

त्रयोदश खण्ड

हृदयान्तर्गत पूर्वसुषिभूत प्राणकी उपासना

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

उस इस प्रसिद्ध हृदयके पाँच देवसुषि हैं । इसका जो पूर्वदिशावर्ती सुषि (छिद्र) है वह प्राण है; वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही यह तेज और अन्नाद्य है—इस प्रकार उपासना करे । जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार इनकी उपासना करता है] वह तेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है ॥ १ ॥

तस्य ह वा इत्यादिना गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मण उपासनाङ्गत्वेन द्वारपालादिगुणविधानार्थमारभ्यते । यथा लोके द्वारपाला राज्ञ उपासनेन वशीकृता राजप्राप्त्यर्था भवन्ति तथेहापीति ।

इस 'तस्य ह वा' इत्यादि खण्डद्वारा गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मकी उपासनाके अङ्गरूपसे द्वारपालादि गुणोंका विधान करनेके लिये [यह उत्तर ग्रन्थ] आरम्भ किया जाता है । क्योंकि जिस प्रकार लोकमें राजाके द्वारपाल उपासनासे (भेंट आदि देकर) अपने अधीन कर लिये जानेपर राजासे भेंट करनेमें उपयोगी होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी [इन उपासनाङ्गोंका उपयोग होता है] ।

तस्येति प्रकृतस्य हृदयस्येत्यर्थः। एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चसंख्याका देवानां सुषयो देवसुषयः स्वर्गलोकप्राप्तिद्वारच्छिद्राणि, देवैः प्राणादित्यादिभी रक्ष्यमाणानीत्यतो देवसुषयः। तस्य स्वर्गलोकभवनस्य हृदयस्यास्य यः प्राङ् सुषिः पूर्वाभिमुखस्य प्राग्गतं यच्छिद्रं द्वारं स प्राणः, तत्स्थस्तेन द्वारेण यः संचरति वायुविशेषः स प्रागनितीति प्राणः।

तेनैव संबद्धमव्यतिरिक्तं तच्चक्षुः, तथैव स आदित्यः "आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः" (प्र० उ० ३ । ८) इति श्रुतेश्चक्षूरूपप्रतिष्ठाक्रमेण हृदि स्थितः। "स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषि" (बृ० उ० ३ । ९ । २०) इत्यादि हि वाजसनेयके।

'तस्य' अर्थात् उस प्रकृत हृदयके, एतस्य—जिसका अव्यवहित पूर्वमें ही वर्णन किया गया है, पाँच-पाँच संख्यावाले देवसुषि—देवताओंके सुषि अर्थात् स्वर्गलोककी प्राप्तिके द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। वे प्राण और आदित्य आदि देवताओंसे सुरक्षित हैं इसलिये देवसुषि कहलाते हैं। स्वर्गलोकके भवनरूप उस इस हृदयका जो प्राङ्सुषि है—पूर्वाभिमुख हृदयका जो पूर्वदिशावर्ती छिद्र यानी द्वार है वह प्राण है। जो उस हृदयमें ही स्थित है और उसीके द्वारा संचार करता है वह वायुविशेष 'प्राक् अनिति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्राण कहलाता है।

उस (प्राण) हीसे सम्बद्ध और अभिन्न चक्षु है। इसी प्रकार वह आदित्य भी है, जैसा कि "आदित्य निश्चय ही बाह्य प्राण है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है। वह चक्षु और रूपके प्रतिष्ठाक्रमसे हृदयमें स्थित है। "वह आदित्य किसमें स्थित है? चक्षुमें" इत्यादि वाजसनेय-श्रुतिमें कहा है। प्राण-

प्राणवायुदेवतैव ह्येका चक्षुरादित्यश्च सहाश्रयेण। वक्ष्यति च—प्राणाय स्वाहेति हुतं हविः सर्वमेतत्तर्पयतीति।

वायुरूप एक ही देवता एक ही आश्रयमें स्थित होनेके कारण चक्षु और आदित्य नामसे कहे जाते हैं। 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दिया हुआ हवि चक्षुरादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी तृप्ति करता है—ऐसा आगे कहेंगे भी।

तदेतत्प्राणाख्यं स्वर्गलोकद्वारपालत्वाद्ब्रह्म स्वर्गलोकं प्रतिपित्सुस्तेजश्चैतच्चक्षुरादित्यस्वरूपेणान्नाद्यत्वाच्च सवितुस्तेजोऽन्नाद्यमित्याभ्यां गुणाभ्यामुपासीत। ततस्तेजस्व्यन्नादश्चामयावित्वरहितो भवति य एवं वेद तस्यैतद्गुणफलम्। उपासनेन वशीकृतो द्वारपः स्वर्गलोकप्राप्तिहेतुर्भवतीति मुख्यं च फलम्॥ १॥

वह यह प्राणाख्य ब्रह्म स्वर्गलोकका द्वारपाल है अतः स्वर्गप्राप्तिकी इच्छावाला पुरुष, यह चक्षु और आदित्यरूपसे तथा अन्नाद्यरूपसे सविताका तेज और अन्नाद्य है—इस प्रकार इन दो गुणोंसे इसकी उपासना करे। इससे वह तेजस्वी और अन्नाद अर्थात् रुग्णत्वादिसे रहित होता है। जो ऐसा जानता है उसे यह गौण फल प्राप्त होता है; किंतु मुख्य फल तो यही है कि उपासनाद्वारा अपने अधीन किया हुआ वह द्वारपाल स्वर्गलोकप्राप्तिका कारण होता है॥ १॥

हृदयान्तर्गत दक्षिणसुषिभूत व्यानकी उपासना

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳस चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद॥ २॥

तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है और वही यह श्री एवं यश है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिस्तस्थो वायुविशेषः स वीर्यवत्कर्म कुर्वन्विगृह्य वा प्राणापानौ नाना वानितीति व्यानस्तत्संबद्धमेव च तच्छ्रोत्रमिन्द्रियं तथा स चन्द्रमाः—"श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्च चन्द्रमाश्च" इति श्रुतेः । सहाश्रयौ पूर्ववत् ।

तदेतच्छ्रीश्च विभूतिः श्रोत्रचन्द्रमसोर्ज्ञानान्नहेतुत्वम्, अतस्ताभ्यां श्रीत्वम् । ज्ञानान्नवतश्च यशः ख्यातिर्भवतीति यशोहेतुत्वाद्यशस्त्वम्, अतस्ताभ्यां गुणाभ्यामुपासीतेत्यादि समानम् ॥ २ ॥

तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है उसमें स्थित जो वायुविशेष है वह वीर्यवान् कर्म करता हुआ गमन करता है या प्राण और अपानसे विरोध करके अथवा नाना प्रकारसे गमन करता है, इस कारण 'व्यान' कहलाता है । उससे सम्बद्ध जो श्रोत्र है वह इन्द्रिय है । तथा उसीसे सम्बद्ध वह चन्द्रमा है, जैसा कि "[विराट्के] श्रोत्रद्वारा दिशा और चन्द्रमा रचे गये हैं" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । पूर्ववत् (चक्षु और आदित्यके समान) ये भी एक ही आश्रयवाले हैं ।

वह यह [व्यानसंज्ञक ब्रह्म] श्री यानी विभूति है । श्रोत्र और चन्द्रमा क्रमशः ज्ञान और अन्नके हेतु हैं; इसलिये उनके द्वारा व्यानका श्रीत्व माना गया है । ज्ञानवान् और अन्नवान्का यश अर्थात् प्रसिद्धि होती है; अतः यशका हेतु होनेसे उसकी यशःस्वरूपता है । अतः उन दो गुणोंसे युक्त उसकी उपासना करे—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

हृदयान्तर्गत पश्चिमसुषिभूत अपानकी उपासना

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक्सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

तथा इसका जो पश्चिम छिद्र है वह अपान है, वह वाक् है, वह अग्नि है और वही यह ब्रह्मतेज एवं अन्नाद्य है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मतेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः पश्चिमस्तत्स्थो वायुविशेषः स मूत्रपुरीषाद्यपनयन्नधोऽनितीत्यपानः सा तथा वाक्; तत्संबन्धात्, तथाग्निः। तदेतद्ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजो ब्रह्मवर्चसम्; अग्निसंबन्धाद् वृत्तस्वाध्यायस्य। अन्नग्रसनहेतुत्वादपानस्यान्नाद्यत्वम्। समानमन्यत् ॥ ३ ॥

तथा इसका जो प्रत्यङ् सुषि—प्रत्यङ् यानी पश्चिम उसमें स्थित जो वायुविशेष है वह मल-मूत्रादिको दूर करता हुआ नीचेकी ओर ले जाता है इसलिये 'अपान' कहलाता है। तथा वही वाक् और अग्नि है, क्योंकि इनका उस (समष्टि-अपान) से सम्बन्ध है। वह यह ब्रह्मतेज है--सदाचार और स्वाध्यायके कारग होनेवाले तेजका नाम ब्रह्मवर्चस है, क्योंकि सदाचार और स्वाध्याय अग्निसे सम्बद्ध हैं। अन्न निगलनेमें हेतु होनेके कारण अपानका अन्नभोक्तृत्व स्वीकृत किया गया है। शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

हृदयान्तर्गत उत्तरसुषिभूत समानकी उपासना

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तथा इसका जो उत्तरीय छिद्र है वह समान है, वह मन है, वह मेघ है और वही यह कीर्ति और व्युष्टि (देहका लावण्य) है——इस प्रकार उसकी उपासना करे । जो इस प्रकार जानता है वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् होता है ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिरुदग्गतः सुषिस्तत्स्थो वायुविशेषः सोऽशितपीते समं नयतीति समानः । तत्संबद्धं मनोऽन्तःकरणं स पर्जन्यो वृष्ट्यात्मको देवः पर्जन्यनिमित्ताश्चाप इति, "मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च" इति श्रुतेः ।

तदेतत्कीर्तिश्च, मनसो ज्ञानस्य कीर्तिहेतुत्वात्; आत्मपरोक्षं विश्रुतत्वं कीर्तिः; यशः स्वकरण-

तथा इसका जो उदङ् सुषि—उत्तरवर्ती छिद्र है, उसमें स्थित हुआ जो वायुविशेष है वह खाये-पिये अन्न-जलको समानरूपसे [सम्पूर्ण शरीरमें] ले जाता है, इसलिये 'समान' है । उसीसे सम्बन्ध रखनेवाला मन——अन्तःकरण और वह पर्जन्य यानी वृष्टिरूप देव है, क्योंकि "[विराट् पुरुषके] मनसे अप् और वरुण रचे गये हैं" इस श्रुतिके अनुसार अप् (जल) मेघहीसे होनेवाले हैं ।

तथा यह (समाननामक ब्रह्म) ही कीर्ति है, क्योंकि मन यानी ज्ञान ही कीर्तिका हेतु है । अपने पीछे जो विख्यात होती है उसे कीर्ति कहते हैं । जो ख्याति अपनी

संवेद्यं विश्रुतत्वम् । व्युष्टिः कान्तिर्देहगतं लावण्यम् । ततश्च कीर्तिसंभवात्कीर्तिश्चेति । समानमन्यत् ॥ ४ ॥

इन्द्रियोंसे गृहीत की जा सकती है उसे यश कहते हैं । व्युष्टि--कान्ति यानी देहगत सुन्दरताको कहते हैं । उससे भी कीर्तिकी उत्पत्ति होती है अतः वह भी कीर्ति ही है । शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

हृदयान्तर्गत ऊर्ध्वसुषिभूत उदानकी उपासना

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

तथा इसका जो ऊर्ध्व छिद्र है वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है और वही यह ओज और महः है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । जो इस प्रकार जानता है वह ओजस्वी (बलवान्) और महस्वान् (तेजस्वी) होता है ॥५॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदान आ पादतलादारभ्योर्ध्वमुत्क्रमणादुत्कर्षार्थं च कर्म कुर्वन्ननितीत्युदानः स वायुस्तदाधारश्चाकाशः । तदेतद्वाय्वाकाशयोरोजोहेतुत्वादोजो बलं महत्त्वाच्च मह इति । समानमन्यत् ॥५॥

तथा इसका जो ऊर्ध्व-छिद्र है वह उदान है । पैरके तलुएसे लेकर ऊपरकी ओर उत्क्रमण करनेके कारण और उत्कर्षके लिये कर्म करता हुआ चेष्टा करता है—इसलिये वह 'उदान' है । वही वायु और उसका आधारभूत आकाश भी है । वायु और आकाश ओजके हेतु हैं अतः यह (उदानसंज्ञक ब्रह्म) ही ओज--बल है और महत्ताके कारण महः भी है । शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥५॥

उपर्युक्त प्राणादि द्वारपालोंकी उपासनाका फल

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥६॥

वे ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। वह जो कोई भी स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच ब्रह्मपुरुषोंको जानता है उसके कुलमें वीर उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच पुरुषोंको जानता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ते वा एते यथोक्ताः पञ्चसुषिसंबन्धात्पञ्च ब्रह्मणो हार्दस्य पुरुषा राजपुरुषा इव द्वारस्थाः स्वर्गस्य हार्दस्य लोकस्य द्वारपा द्वारपालाः। एतैर्हि चक्षुःश्रोत्रवाङ्मनःप्राणैर्बहिर्मुखप्रवृत्तैर्ब्रह्मणो हार्दस्य प्राप्तिद्वाराणि निरुद्धानि। प्रत्यक्षं ह्येतदजितकरणतया बाह्यविषयासङ्गानृतप्ररूढत्वान्न हार्दे ब्रह्मणि मनस्तिष्ठति। तस्मात्सत्यमुक्तमेते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा इति।

वे ही ये, जैसे कि ऊपर बतलाये गये हैं, पाँच सुषियोंके सम्बन्धके कारण हृदयस्थ ब्रह्मके पाँच पुरुष हैं; अर्थात् द्वारस्थ राजपुरुषोंके समान हृदयस्थ स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और प्राणोंके द्वारा बाहरकी ओर प्रवृत्त हुए इन्हींके द्वारा हृदयस्थित ब्रह्मकी प्राप्तिके द्वार रुके हुए हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है कि अजितेन्द्रियताके कारण बाह्य विषयोंकी आसक्तिरूप अनृतसे व्याप्त रहनेके कारण मन हृदयस्थित ब्रह्ममें स्थित नहीं होता। अतः यह ठीक ही कहा है कि ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं।

अतः स य एतानेवं यथोक्तगुणविशिष्टान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद उपास्त उपासनया वशीकरोति स राजद्वारपालानिवोपासनेन वशीकृत्य तैरनिवारितः प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं राजानमिव हार्दं ब्रह्म ।

किं चास्य विदुषः कुले वीरः पुत्रो जायते वीरपुरुषसेवनात् । तस्य चर्णापाकरणेन ब्रह्मोपासनप्रवृत्तिहेतुत्वम् । ततश्च स्वर्गलोकप्रतिपत्तये पारम्पर्येण भवतीति स्वर्गलोकप्रतिपत्तिरेवैकं फलम् ॥ ६ ॥

अतएव जो कोई इन उपर्युक्त गुणविशिष्ट स्वर्गलोकके द्वारपालोंको इस प्रकार जानता है—उपासना करता है अर्थात् उपासनाद्वारा अपने अधीन करता है, वह राजाके द्वारपालोंके समान इन्हें उपासनाद्वारा वशीभूत कर इनसे निवारित न होता हुआ राजाको प्राप्त होनेके समान स्वर्गलोक यानी हृदयस्थित ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

तथा वीर पुरुषका सेवन करनेके कारण इस विद्वान्के कुलमें वीर पुत्र उत्पन्न होता है। वह पुत्र पितृ-ऋणकी निवृत्ति करके उसे ब्रह्मकी उपासनामें प्रवृत्त करनेका हेतु होता है । अतः वह परम्परासे उसकी स्वर्गलोकप्राप्तिका भी कारण होता है; इसलिये स्वर्गलोककी प्राप्ति ही इसका एकमात्र फल है ॥ ६ ॥

* * *

अथ यदसौ विद्वान्स्वर्गं लोकं वीरपुरुषसेवनात्प्रतिपद्यते, यच्चोक्तं “त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति तदिदं लिङ्गेन चक्षुःश्रोत्रेन्द्रिय-

तथा यह विद्वान् वीर पुरुषका सेवन करनेसे जिस स्वर्गलोकको प्राप्त होता है और जिस स्वर्गका “इसका तीन पादरूप अमृत द्युलोकमें है” इस प्रकार वर्णन किया गया है उसीको अब अनुमापक लिङ्गद्वारा चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियका विषय

गोचरमापादयितव्यम्, यथाग्न्यादि धूमादिलिङ्गेन । तथा ह्येवमेवेदमिति यथोक्तेऽर्थे दृढा प्रतीतिः स्यात् । अनन्यत्वेन च निश्चय इति । अत आह—

बनाना है जिस प्रकार कि धूमादि लिङ्गसे अग्नि आदिकी प्रतीति करायी जाती है । ऐसा होनेपर ही उपर्युक्त पदार्थके विषयमें "यह ऐसा ही है" ऐसी दृढ़ प्रतीति हो सकती है और इसी प्रकार उसका अभेदरूपसे निश्चय भी हो सकता है । इसीलिये श्रुति कहती है—

हृदयस्थित मुख्य ब्रह्मकी उपासना

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥ ७ ॥

तथा इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठपर यानी सबके ऊपर, जिनसे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुषके भीतर ज्योति है ॥७॥

यदतोऽमुष्माद्दिवो द्युलोकात्, परः परमिति लिङ्गव्यत्ययेन, ज्योतिर्दीप्यते, स्वयंप्रभं सदाप्रकाशत्वाद्दीप्यत इव दीप्यत इत्युच्यते; अग्न्यादिवज्ज्वलनलक्षणाया दीप्तेरसंभवात् ।

इस दिव् अर्थात् द्युलोकसे परे—यहाँ 'परः' इस पुँल्लिङ्ग पदको नपुंसकलिङ्गमें बदलकर 'परम्' समझना चाहिये—जो ज्योति दीप्त है; नित्य प्रकाशमान होनेसे वह ज्योति स्वयंप्रकाश है, अतः 'दीप्यते' इस पदसे वह मानो दीप्त होती है—इस प्रकार कहा जाता है, क्योंकि अग्नि आदिके समान उसमें प्रज्वलित होनारूप दीप्तिकी कोई सम्भावना नहीं है ।

विश्वतः पृष्ठेष्वित्येतस्य व्याख्यानं सर्वतः पृष्ठेष्विति, संसारादुपरीत्यर्थः, संसार एव हि सर्वः; असंसारिण एकत्वान्निर्भेदत्वाच्च । अनुत्तमेषु, तत्पुरुषसमासाशङ्कानिवृत्तय आह, उत्तमेषु लोकेष्विति, सत्यलोकादिषु हिरण्यगर्भादिकार्यरूपस्य परस्येश्वरस्यासन्नत्वादुच्यते, उत्तमेषु लोकेष्विति ।

इदं वावेदमेव तद्यदिदमस्मिन् पुरुषेऽन्तर्मध्ये ज्योतिश्चक्षुःश्रोत्रग्राह्येण लिङ्गेनोष्णिम्ना शब्देन चावगम्यते । यत्त्वचा स्पर्शरूपेण गृह्यते तच्चक्षुषैव; दृढप्रतीतिकरत्वात्त्वचः, अविनाभूतत्वाच्च रूपस्पर्शयोः ॥ ७ ॥

‘विश्वतः पृष्ठेषु’ इसीकी व्याख्या ‘सर्वतः पृष्ठेषु’ ये पद हैं; अर्थात् संसारसे ऊपर, क्योंकि संसार ही सब है; असंसारी ब्रह्म तो एक और भेदरहित है । ‘अनुत्तमेषु’ इस पदमें [जो उत्तम न हो—ऐसा अर्थ करके होनेवाली] तत्पुरुषसमासकी शङ्काको निवृत्त करनेके लिये ‘उत्तमेषु लोकेषु’ ऐसा कहा है । सत्यलोकादिमें हिरण्यगर्भादि कार्यरूप ब्रह्म समीप रहता है, इसलिये उनके विषयमें ‘उत्तमेषु लोकेषु’ ऐसा कहा गया है ।

वह निश्चय यही है जो कि यह इस पुरुषके भीतर ज्योति है, जो क्रमशः चक्षु और श्रोत्रसे ग्रहण किये जाने योग्य उष्णता और शब्दरूप लिङ्गसे जानी जाती है । त्वचाद्वारा स्पर्शरूपसे जिसका ग्रहण किया जाता है उस वस्तुका मानो चक्षुसे ही ग्रहण होता है, क्योंकि त्वचा तो केवल उसकी दृढ़ प्रतीति करानेवाली है, तथा रूप और स्पर्श ये एक-दूसरेके बिना रह नहीं सकते ॥७॥

हृदयस्थित परमज्योतिका अनुमापक लिङ्ग

कथं पुनस्तस्य ज्योतिषो लिङ्गं त्वग्दृष्टिगोचरत्वमापद्यते ? इत्याह—

किंतु उस ज्योतिका अनुमापक लिङ्ग त्वगिन्द्रियकी विषयताको किस प्रकार प्राप्त होता है ? इस विषयमें श्रुति कहती है—

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

उस इस (हृदयस्थित पुरुष) का यही दर्शनोपाय है जब कि [मनुष्य] इस शरीरमें स्पर्शद्वारा उष्णताको जानता है तथा यही उसका श्रवणोपाय है जब कि यह कानोंको मूँदकर निनद (रथके घोष), नदथु (बैलके डकराने) और जलते हुए अग्निके शब्दके समान श्रवण करता है, वह यह ज्योति दृष्ट और श्रुत है— इस प्रकार इसकी उपासना करे । जो उपासक ऐसा जानता है [इस प्रकार उपासना करता है] वह दर्शनीय और विश्रुत (विख्यात) होता है ॥ ८ ॥

यत्र यस्मिन्काले, एतदिति क्रियाविशेषणम्, अस्मिञ्शरीरे हस्तेनालभ्य संस्पर्शेनोष्णिमानं रूपसहभाविनमुष्णस्पर्शभावं विजानाति, स ह्युष्णिमा नामरूपव्याकरणाय देहमनुप्रविष्टस्य चैतन्यात्मज्योतिषो लिङ्गमव्यभिचारात् । न हि जीवन्तमात्मान-

'यत्र'—जिस समय, 'एतत्' यह 'विजानाति' इस क्रियाका विशेषण है, इस शरीरमें हाथसे स्पर्श करके उस स्पर्शद्वारा रूपके साथ रहनेवाली उष्णताको जानता है; वह उष्णिमा ही नामरूपका विभाग करनेके लिये देहमें अनुप्रविष्ट हुए चैतन्यात्मज्योतिका अनुमान करानेवाला लिङ्ग है, क्योंकि उसका कभी व्यभिचार नहीं होता । जीवित शरीरको उष्णता कभी नहीं

मुष्णिमा व्यभिचरति । 'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति हि विज्ञायते । मरणकाले च तेजः परस्यां देवतायामिति परेणाविभागत्वोपगमात् । अतोऽसाधारणं लिङ्गमौष्ण्यमग्नेरिव धूमः । अतस्तस्य परस्यैषा दृष्टिः साक्षादिव दर्शनं दर्शनोपाय इत्यर्थः ।

तथा तस्य ज्योतिष एषा श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपायोऽप्युच्यमानः । यत्र यदा पुरुषो ज्योतिषो लिङ्गं शुश्रूषति तदैतत्कर्णावपिगृह्यैतच्छब्दः क्रियाविशेषणम् । अपिगृह्यापिधायेत्यर्थोऽङ्गुलिभ्यां प्रोर्णुत्य निनदमिव रथस्येव घोषो निनदस्तमिव शृणोति नदथुरिव ऋषभकूजितमिव शब्दो यथा चाग्नेर्ब-

त्यागती । जीवित रहनेवाला उष्ण ही होता है और मरनेवाला शीत होता है——ऐसा ही जाना जाता है । मरण-कालमें तेज पर देवतामें लीन हो जाता है, क्योंकि उस समय पर देवताके साथ उसका अभेद हो जाता है । अतः धूम जिस प्रकार अग्निका अनुमापक है उसी प्रकार उष्णता जीवनका असाधारण लिङ्ग है । इसलिये उस पर देवताकी यह दृष्टि यानी साक्षात् दर्शनके समान उसके दर्शनका साधन है——ऐसा इसका तात्पर्य है ।

तथा यह उस ज्योतिकी श्रुति——श्रवण यानी सुननेका आगे कहा जानेवाला उपाय है । जहाँ——जिस समय पुरुष इस ज्योतिके लिङ्गको सुनना चाहता है उस समय, 'एतत् कर्णावपिगृह्य' यहाँ 'एतत्' शब्द 'अपिगृह्य' क्रियाका विशेषण है, अर्थात् कानोंको इस प्रकार मूँदकर-अङ्गुलियोंसे बंदकर निनदके समान——रथके घोषको 'निनद' कहते हैं, उसके समान शब्द सुनता है तथा नदथु—बैलके डकरानेके समान और जिस प्रकार बाहर

हिर्ज्वलत एवं शब्दमन्तःशरीर उपशृणोति ।

तदेतज्ज्योतिर्दृष्टश्रुतलिङ्गत्वाद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत । यथोपासनाच्चक्षुष्यो दर्शनीयः श्रुतो विश्रुतश्च । यत्स्पर्शगुणोपासननिमित्तं फलं तद्रूपे संपादयति चक्षुष्य इति, रूपस्पर्शयोः सहभावित्वात्; इष्टत्वाच्च दर्शनीयतायाः । एवं च विद्यायाः फलमुपपन्नं स्यान्न तु मृदुत्वादिस्पर्शवत्त्वे । य एवं यथोक्तौ गुणौ वेद । स्वर्गलोकप्रतिपत्तिस्तूक्तमदृष्टं फलम् । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥ ८ ॥

जलते हुए अग्निका शब्द होता है उस प्रकारके शब्दका अपने शरीरके भीतर श्रवण करता है ।

इस प्रकार यह ज्योति दृष्ट और श्रुत लिङ्गयुक्त होनेसे दृष्ट और श्रुत है-- इस तरह इसकी उपासना करे । इस प्रकार उपासना करनेसे वह उपासक चक्षुष्य--दर्शनीय और श्रुत --विख्यात हो जाता है । स्पर्शगुणसम्बन्धिनी उपासनासे जो फल होता है उसीको श्रुति 'चक्षुष्य' ऐसा कहकर रूपमें सम्पादन करती है, क्योंकि रूप और स्पर्श ये दोनों साथ-साथ रहनेवाले हैं और दर्शनीयता सबको इष्ट भी है । इस प्रकार [दर्शनीयताके मिलनेसे] ही इस विद्याका दृष्ट फल उपपन्न हो सकता है, मृदुत्वादि स्पर्शयुक्त होनेसे नहीं । इस प्रकार जो इन दोनों गुणोंको जानता है [उसे इस फलकी प्राप्ति होती है] । स्वर्गलोककी प्राप्ति तो इसका अदृष्ट फल बतलाया गया है । 'य एवं वेद—य एवं वेद' यह द्विरुक्ति आदरके लिये है ॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

शाण्डिल्यविद्या

सर्वदृष्टिसे ब्रह्मोपासना

पुनस्तस्यैव त्रिपादमृतस्य ब्रह्मणोऽनन्तगुणवतोऽनन्तशक्तेरनेकभेदोपास्यस्य विशिष्टगुणशक्तिमत्त्वेनोपासनं विधित्सन्नाह—

अब फिर उसी त्रिपादमृत, अनन्तगुणवान्, अनन्तशक्ति और अनेक प्रकारसे उपासनीय ब्रह्मकी विशिष्टगुणयुक्त और शक्तिमान् रूपसे उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति कहती है——

सर्वँ खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला है——इस प्रकार शान्त [रागद्वेषरहित] होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय——निश्चयात्मक है; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है । अतः उस पुरुषको निश्चय करना चाहिये ॥ १ ॥

सर्वँ समस्तं खल्विति वाक्यालङ्कारार्थो निपातः । इदं जगन्नामरूपविकृतं प्रत्यक्षादिविषयं ब्रह्म कारणं वृद्धतमत्वाद्ब्रह्म ।

सर्व——समस्त 'खलु' यह निपात वाक्यकी शोभा बढ़ानेके लिये है । यह अर्थात् नाम-रूपमय विकारको प्राप्त होनेवाला और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषयभूत जगत् ब्रह्म——कारणरूप ही है । वृद्धतम [सबसे बड़ा] होनेके कारण वह [जगत्का कारण] ब्रह्म कहलाता है ।

कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वम् ? इत्यत आह—तज्जलानिति; तस्माद्ब्रह्मणो जातं तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम्, अतस्तज्जम्; तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेऽनिति प्राणिति चेष्टत इति । एवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेष्वविशिष्टं तद्व्यतिरेकेणाग्रहणात् । अतस्तदेवेदं जगत् । यथा चेदं तदेवैकमद्वितीयं तथा षष्ठे विस्तरेण वक्ष्यामः ।

यस्माच्च सर्वमिदं ब्रह्म, अतः शान्तो रागद्वेषादिदोषरहितः संयतः सन्यत्तत्सर्वं ब्रह्म तद्वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपासीत ।

कथमुपासीत ? क्रतुं कुर्वीत क्रतुर्निश्चयोऽध्यवसाय एवमेव

यह सब ब्रह्मरूप किस प्रकार है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—‘तज्जलानिति’ । तेज, अप् और अन्नादि क्रमसे सारा जगत् उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह ‘तज्ज’ है तथा उसी जननक्रमके विपरीत क्रमसे उस ब्रह्ममें ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूपसे उसमें मिल जाता है, इसलिये ‘तल्ल’ है और अपनी स्थितिके समय उसीमें अनन–प्राणन यानी चेष्टा करता है, इसलिये ‘तदन’ है । इस प्रकार ब्रह्मात्मरूपसे वह तीनों कालोंमें समान रहता है, क्योंकि उसका उस (ब्रह्म) के बिना ग्रहण नहीं किया जाता; अतः वह (ब्रह्म) ही यह सारा जगत् है । जिस प्रकार यह जगत् ‘वह एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है’ उसका हम छठे अध्यायमें विस्तारपूर्वक निरूपण करेंगे ।

क्योंकि यह सब ब्रह्म है, अतः शान्त यानी राग-द्वेषसे रहित—संयतेन्द्रिय होकर वह जो सब ब्रह्म है उसकी आगे कहे जानेवाले गुणोंद्वारा उपासना करे ।

उसकी किस प्रकार उपासना करे ? [सो बतलाते हैं—] क्रतु करे—‘क्रतु’ निश्चय यानी अध्यवसाय-

नान्यथेत्यविचलः प्रत्ययस्तं क्रतुं कुर्वीतोपासीतेत्यनेन व्यवहितेन संबन्धः । किं पुनः क्रतुकरणेन कर्तव्यं प्रयोजनम् ? कथं वा क्रतुः कर्तव्यः ? क्रतुकरणं चाभिप्रेतार्थसिद्धिसाधनं कथम् ? इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमथेत्यादिग्रन्थः ।

अथ खल्विति हेत्वर्थः। यस्मात् क्रतुमयः क्रतुप्रायोऽध्यवसायात्मकः पुरुषो जीवः; यथाक्रतुर्यादृशः क्रतुरस्य सोऽयं यथाक्रतुर्यथाध्यवसायो यादृङ्निश्चयोऽस्मिँल्लोके जीवन्निह पुरुषो भवति, तथेतोऽस्माद्देहात्प्रेत्य मृत्वा भवति; क्रत्वनुरूपफलात्मको भवतीत्यर्थः । एवं ह्येतच्छास्त्रतो दृष्टम्—"यं यं वापि

को कहते हैं अर्थात् यह ऐसा ही है, इससे अन्य प्रकारका नहीं है—ऐसी जो अविचल प्रतीति है वही क्रतु है, उस क्रतुको करे—इस प्रकार इसका व्यवधानयुक्त 'उपासीत' इस क्रियासे सम्बन्ध है । किंतु उस क्रतुके करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध करना है ? अथवा किस प्रकार वह क्रतु करना चाहिये तथा वह क्रतु करना किस प्रकार अभीष्ट अर्थकी सिद्धिका साधन है ? इस सब विषयका प्रतिपादन करनेके लिये ही 'अथ' इत्यादि आगेका ग्रन्थ है ।

'अथ खलु' यह पदसमूह हेतुके लिये है । क्योंकि पुरुष यानी जीव क्रतुमय—क्रतुप्राय अर्थात् अध्यवसायात्मक है, इसलिये इस लोकमें जीवित रहता हुआ यह पुरुष यथाक्रतु—जिस प्रकारके क्रतुवाला होता है अर्थात् जिस प्रकारके अध्यवसायवाला—जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे—इस देहसे 'प्रेत्य'—मरकर होता है । तात्पर्य यह है कि वह अपने निश्चयके अनुसार फलवाला होता है। शास्त्रसे भी यह बात ऐसी ही देखी गयी है—"जिस-

स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्" (गीता ८ । ६) इत्यादि । यत एवं व्यवस्था शास्त्रदृष्टातः स एवं जानन्क्रतुं कुर्वीत यादृशं क्रतुं वक्ष्यामस्तम् । यत एवं शास्त्रप्रामाण्यादुपपद्यते क्रत्वनुरूपं फलम्, अतः स कर्तव्यः क्रतुः ॥ १ ॥

जिस भावको स्मरण करता हुआ अन्तमें शरीर त्यागता है [उसी-उसी भावको प्राप्त होता है]" क्योंकि ऐसी व्यवस्था शास्त्रप्रतिपादित है, अतः इस प्रकार जाननेवाला वह पुरुष क्रतु करे—जिस प्रकारका क्रतु हम बतलाते हैं, वैसा ही क्रतु करे । क्योंकि इस प्रकार शास्त्रप्रामाण्यसे निश्चयके अनुरूप ही फल मिलना सिद्ध होता है, इसलिये उसे वह निश्चय करना चाहिये ॥ १ ॥

* * *

समय ब्रह्ममें आरोपित गुण

कथम् ?

किस प्रकार निश्चय करना चाहिये ?

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

[वह ब्रह्म] मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत्को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्रहित और सम्भ्रमशून्य है ॥ २ ॥

मनोमयो मनःप्रायः; मनुतेऽनेनेति मनस्तत्स्ववृत्त्या विष-

मनोमय—मनःप्राय; जिसके द्वारा जीव मनन करता है उसे मन कहते हैं, यह अपनी वृत्तिद्वारा

येषु प्रवृत्तं भवति, तेन मनसा तन्मयः; तथा प्रवृत्त इव तत्प्रायो निवृत्त इव च । अत एव प्राणशरीरः प्राणो लिङ्गात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्छितः, "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः" (कौ० उ० ३ । ३) इति श्रुतेः । स शरीरं यस्य स प्राणशरीरः, "मनोमयः प्राणशरीरनेता" (मु० उ० २ । २ । ७) इति च श्रुत्यन्तरात् ।

भारूपः, भा दीप्तिश्चैतन्यलक्षणं रूपं यस्य स भारूपः । सत्यसंकल्पः, सत्या अवितथाः संकल्पा यस्य सोऽयं सत्यसंकल्पः । न यथा संसारिण इवानैकान्तिकफलः संकल्प ईश्वरस्येत्यर्थः । अनृतेन मिथ्याफलत्वहेतुना प्रत्यूढत्वात्संकल्पस्य मिथ्याफलत्वम् । वक्ष्यति— 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' इति ।

विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करता है । उस मनके कारण वह मनोमय है; अतः पुरुष मनःप्राय होकर मनके प्रवृत्त होनेपर प्रवृत्त-सा होता है और निवृत्त होनेपर निवृत्त-सा हो जाता है । इसीलिये वह प्राणशरीर है, "जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है" इस श्रुतिके अनुसार विज्ञान और क्रिया इन दो शक्तियोंसे मिलकर बना हुआ लिङ्गशरीर ही प्राण है; वह प्राण जिसका शरीर है उसे प्राणशरीर कहते हैं; जैसा कि "आत्मा मनोमय और प्राणरूप शरीरको [अन्य देहमें] ले जानेवाला है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

भारूप— भा—दीप्ति अर्थात् चैतन्य ही जिसका रूप है उसे भारूप कहते हैं । सत्यसंकल्प—जिसके संकल्प सत्य यानी अमिथ्या हैं वह यह ब्रह्म सत्यसंकल्प है । तात्पर्य यह है कि संसारी पुरुषके समान ईश्वरका संकल्प अनैकान्तिक (कभी हो, कभी न हो ऐसे) फलवाला नहीं है । संसारी जीवका संकल्प अनृत अर्थात् मिथ्या फलरूप हेतुसे प्रत्यूढ—वृद्धिको प्राप्त होनेके कारण मिथ्या फलवाला होता है । 'वे अनृतसे प्रत्यूढ हैं' ऐसा आगे चलकर श्रुति कहेगी भी ।

आकाशात्मा, आकाश इवात्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा । सर्वगतत्वं सूक्ष्मत्वं रूपादिहीनत्वं चाकाशतुल्यतेश्वरस्य । सर्वकर्मा, सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण क्रियत इति जगत्सर्वं कर्मास्य स सर्वकर्मा; "स हि सर्वस्य कर्ता" (बृ० उ० ४ । ४ । १३) इति श्रुतेः । सर्वकामः, सर्वे कामा दोषरहिता अस्येति सर्वकामः; "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि" (गीता ७ । ११) इति स्मृतेः ।

ननु कामोऽस्मीति वचनादिह बहुव्रीहिर्न संभवति सर्वकाम इति ।

न; कामस्य कर्तव्यत्वाच्छब्दादिवत्पारार्थ्यप्रसङ्गाच्च दे-

आकाशात्मा—जिसका आत्मा यानी स्वरूप आकाशके समान हो उसे 'आकाशात्मा' कहते हैं । सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म तथा रूप आदिसे रहित होना ही ईश्वरका आकाशके समान होना है । सर्वकर्मा—उस ईश्वरके द्वारा सर्व यानी विश्वका निर्माण किया जाता है—इसलिये यह सारा जगत् उसका कर्म है; अतः वह ईश्वर सर्वकर्मा है, जैसा कि "वही सबका कर्ता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । सर्वकाम—सम्पूर्ण दोषरहित काम उस परमात्माके ही हैं इसलिये वह सर्वकाम है; जैसा कि "मैं प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम हूँ" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है ।

शङ्का—किंतु 'कामोऽस्मि' (मैं काम हूँ) ऐसा वचन होनेके कारण 'सर्वकाम' इस पदमें बहुव्रीहिसमास नहीं हो सकता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि कामका कार्यत्व स्वीकृत किया गया है*; इसलिये शब्दादिके समान भगवान्‌की भी

---

* अतः यदि बहुव्रीहि न मानकर कर्मधारय मानें तो समस्त काम (कार्य) और ब्रह्म एकरूप सिद्ध होंगे, ऐसी दशामें जैसे कार्य अनादि नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनादि नहीं माना जा सकेगा । इसके अतिरिक्त जैसे सभी कार्य किसी चेतन कर्ताके अधीन होते हैं उसी तरह ब्रह्ममें भी पराधीनताका दोष उपस्थित होगा । इतना ही नहीं, शब्दादिके समान काम भी परार्थ है अतः काम और ब्रह्मकी एकता माननेपर ब्रह्ममें भी परार्थताकी आपत्ति होने लगेगी; इसलिये यहाँ बहुव्रीहिसमास ही ठीक है ।

वस्य । तस्माद्यथेह सर्वकाम इति बहुव्रीहिस्तथा कामोऽस्मीति स्मृत्यर्थो वाच्यः ।

सर्वगन्धः, सर्वे गन्धाः सुखकरा अस्य सोऽयं सर्वगन्धः । "पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्" (गीता ७ । ९) इति स्मृतेः । तथा रसा अपि विज्ञेया अपुण्यगन्धरसग्रहणस्य पाप्मसम्बन्धनिमित्तत्वश्रवणात् । "तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च । पाप्मना ह्येष विद्धः" (छा० उ० १ । २ । २) इति श्रुतेः । न च पाप्मसंसर्ग ईश्वरस्य; अविद्यादिदोषस्यानुपपत्तेः ।

सर्वमिदं जगदभ्यात्तोऽभिव्याप्तः । अततेर्व्याप्त्यर्थस्य कर्तरि निष्ठा । तथावाकी, उच्यते-

परार्थताका प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अतः जिस प्रकार यहाँ 'सर्वकामः' पदमें बहुव्रीहिसमास किया गया है उसी प्रकार 'कामोऽस्मि' इस स्मृतिका अर्थ करना चाहिये ।*

सर्वगन्ध—समस्त सुखकर गन्ध उसीके हैं इसलिये वह 'सर्वगन्ध' है; जैसा कि "पृथिवीमें मैं पुण्यगन्ध हूँ" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है । इसी प्रकार पुण्यरस भी उसीके समझने चाहिये । क्योंकि श्रुतिने अपुण्यगन्ध और रसका ग्रहण तो पापसम्बन्धके निमित्तसे बतलाया है; जैसा कि "इसीसे उस (घ्राणेन्द्रिय) के द्वारा सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनोंको ही सूँघता है, क्योंकि यह पापसे विद्ध है" इस श्रुतिद्वारा प्रमाणित होता है । किंतु ईश्वरका पापसे संसर्ग नहीं है, क्योंकि उसमें अविद्यादि दोष होने सम्भव नहीं हैं ।

इस सम्पूर्ण जगत्‌को वह सब ओर व्याप्त किये हुए है । व्याप्ति अर्थवाले 'अत्' धातुसे कर्ता अर्थमें निष्ठा (क्त) प्रत्यय होनेसे 'आत्तः' पद सिद्ध होता है । इसी प्रकार वह अवाकी भी है, जिसके द्वारा बोला जाता है उसे 'वाक्'

---

* तात्पर्य यह कि उक्त गीताके 'कामोऽस्मि' इन पदोंका 'काम हूँ' ऐसा अर्थ न करके 'कामवाला हूँ' यह अर्थ समझना चाहिये ।

ऽनयेति वाक्,वागेव वाकः। यद्वा वचेर्घञन्तस्य करणे वाकः। स यस्य विद्यते स वाकी न वाकी अवाकी। वाक्प्रतिषेधश्चात्रोपलक्षणार्थः। गन्धरसादिश्रवणादीश्वरस्य प्राप्तानि घ्राणादीनि करणानि गन्धादिग्रहणाय। अतो वाक्प्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते तानि। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३। १९) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

अनादरोऽसंभ्रमः। अप्राप्तप्राप्तौ हि संभ्रमः स्यादनाप्तकामस्य। न त्वाप्तकामत्वान्नित्यतृप्तस्येश्वरस्य संभ्रमोऽस्ति क्वचित् ॥ २ ॥

कहते हैं, 'वाक्' ही 'वाक' है। अथवा 'वच्' धातुसे करण अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'वाक' शब्द निष्पन्न होता है। वह (वाक) जिसमें हो उसे 'वाकी' कहते हैं, जो वाकी न हो वही 'अवाकी' कहलाता है। यहाँ जो वाक्का प्रतिषेध किया गया है वह अन्य इन्द्रियोंका भी उपलक्षण करनेके लिये है। श्रुतिमें गन्ध और रसादिका प्रसंग होनेसे उन गन्धादिका ग्रहण करनेके लिये ईश्वरके घ्राणादि इन्द्रियाँ होनी सिद्ध होती हैं; अतः वाक्के प्रतिषेधद्वारा उन सबका भी प्रतिषेध किया गया है; जैसा कि "बिना हाथ-पाँवका ही वह वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है तथा बिना नेत्रका होकर भी देखता और बिना कर्णका होकर भी सुनता है" इत्यादि मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

अनादर अर्थात् असम्भ्रम (आग्रहरहित) है। जो आप्तकाम नहीं है उसे ही अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये आग्रह हो सकता है। आप्तकाम होनेके कारण नित्यतृप्त ईश्वरको कहीं भी सम्भ्रम नहीं है ॥२॥

ब्रह्म छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा है

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा धानसे, यवसे, सरसोंसे, श्यामाकसे अथवा श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है तथा हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकोंकी अपेक्षा भी बड़ा है ॥ ३ ॥

एष यथोक्तगुणो मे ममात्मान्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकस्यान्तर्मध्येऽणीयानणुतरो व्रीहेर्वा यवाद्वेत्याद्यत्यन्तसूक्ष्मत्वप्रदर्शनार्थम् । श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वेति परिच्छिन्नपरिमाणादणीयानित्युक्तेऽणुपरिमाणत्वं प्राप्तमाशङ्क्य अतस्तत्प्रतिषेधायारभते—एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या इत्यादिना । ज्यायःपरिमाणाच्च ज्यायस्त्वं दर्शयन्ननन्तपरिमा-

यह उपर्युक्त गुणविशिष्ट मेरा आत्मा अन्तर्हृदये—हृदयकमलके अन्तः— भीतर व्रीहि (धान) से, अथवा यवादिसे भी अणीयान्–सूक्ष्मतर है, यह कथन आत्माकी अत्यन्त सूक्ष्मता प्रदर्शित करनेके लिये है । वह श्यामाक और श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है—इस प्रकार परिच्छिन्न परिमाणसे सूक्ष्म बतलानेपर उसका अणुपरिमाणत्व प्राप्त होता है—ऐसी आशङ्का कर अब उसका प्रतिषेध करनेके लिये 'एष म आत्मा ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादि वाक्यसे श्रुति आरम्भ करती है । इस प्रकार स्थूलतर पदार्थोंकी अपेक्षा भी उसकी महत्ता प्रदर्शित कर श्रुति 'मनोमयः'

णत्वं दर्शयति मनोमय इत्यादिना ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य इत्यन्तेन ॥ ३ ॥

यहाँसे लेकर 'ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' यहाँतकके ग्रन्थद्वारा उसका अनन्तपरिमाणत्व प्रदर्शित करती है ॥३॥

हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्मकी एकता

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्‌रहित और सम्भ्रमशून्य है वह मेरा आत्मा हृदयकमलके मध्यमें स्थित है। यही ब्रह्म है, इस शरीरसे मरकर जानेपर मैं इसीको प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषयमें कोई संदेह भी नहीं है [उसे ईश्वरभावकी ही प्राप्ति होती है] ऐसा शाण्डिल्यने कहा है, शाण्डिल्यने कहा है ॥ ४ ॥

अत्रोपास्यत्वेन सगुणब्रह्मैवाभिप्रेतं न निर्गुणमिति स्थापनम्

यथोक्तगुणलक्षण ईश्वरो ध्येयो न तु तद्गुणविशिष्ट एव। यथा राजपुरुषमानय चित्रगुं वेत्युक्ते न विशेषणस्याप्यानयने व्याप्रियते तद्वदिहापि प्राप्तमतस्तन्निवृत्त्यर्थं सर्वकर्मेत्यादि

पूर्वोक्त गुणोंसे लक्षित होनेवाले ईश्वरका ही ध्यान करना चाहिये, उन गुणोंसे युक्तका नहीं; जिस प्रकार 'राजपुरुषको अथवा चित्रगुंको लाओ' ऐसा कहे जानेपर उनके विशेषण (राजा अथवा चित्र-विचित्र गाय) को लानेकी चेष्टा नहीं की जाती उसी प्रकार यहाँ भी निर्गुण ब्रह्म ही [उपास्यरूपसे] प्राप्त होता था; अतः उसकी निवृत्तिके लिये 'सर्व-

---

१. जिसकी गाय चित्र-विचित्र रंगकी हो उसे 'चित्रगु' कहते हैं।

पुनर्वचनम् । तस्मान्मनोमयत्वादिगुणविशिष्ट एवेश्वरो ध्येयः ।

कर्मा' इत्यादि विशेषणोंको पुनः कहा गया है । इसलिये मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त ईश्वरका ही ध्यान करना चाहिये ।

अत एव षष्ठसप्तमयोरिव "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८ । १६) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७।२५।२) इति नेह स्वाराज्येऽभिषिञ्चति, एष म आत्मैतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति लिङ्गात्; न त्वात्मशब्देन प्रत्यगात्मैवोच्यते, ममेति षष्ठ्याः संबन्धार्थप्रत्यायकत्वात्, एतम् अभिसंभवितास्मीति च कर्मकर्तृत्वनिर्देशात् ।

इसीसे छठे और सातवें अध्यायोंमें श्रुतिने जिस प्रकार "तत्त्वमसि" [तू वह है] और "आत्मैवेदं सर्वम्" [यह सब आत्मा ही है] इन वाक्योंद्वारा साधकको स्वाराज्यपर अभिषिक्त किया है उस प्रकार वह यहाँ नहीं करती; 'यह मेरा आत्मा है' 'यह ब्रह्म है, मैं यहाँसे मरकर जानेपर इसे प्राप्त होऊँगा' इत्यादि वाक्य इस विषयमें लिङ्ग हैं । यहाँ 'आत्मा' शब्दसे प्रत्यगात्माका ही निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि 'मम' यह षष्ठी उसके सम्बन्धार्थकी प्रतीति करानेवाली है । तथा 'मैं इसे प्राप्त होऊँगा' इन शब्दोंद्वारा ब्रह्म और आत्माके कर्मत्व और कर्तृत्वका निर्देश किया गया है ।

पूर्वपक्षिण आक्षेपः ननु षष्ठेऽप्यथ संपत्स्य इति सत्संपत्तेः कालान्तरितत्वं दर्शयति ।

पूर्व०—किंतु छठे अध्यायमें भी 'अथ संपत्स्ये' [देहत्यागके अनन्तर सत्स्वरूप हो जाऊँगा] इस वचनसे श्रुतिने सत्स्वरूप होनेमें कालका व्यवधान तो दिखाया ही है ।

उक्ताक्षेप-निरासः

न, आरब्धसंस्कारशेषस्थित्यर्थपरत्वात्, न कालान्तरितार्थता; अन्यथा तत्त्वमसीत्येतस्यार्थस्य बाधप्रसङ्गात्। यद्यप्यात्मशब्दस्य प्रत्यगर्थत्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति च प्रकृतम्, एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मेत्युच्यते; तथाप्यन्तर्धानमीषदपरित्यज्यैवैतमात्मानमितोऽस्माच्छरीरात्प्रेत्याभिसंभवितास्मीत्युक्तम्।

यथाक्रतुरूपस्यात्मनः प्रतिपत्तास्मीति यस्यैवंविदः स्याद्धवेदद्धा सत्यमेवं स्यामहं प्रेत्यैवं न

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह वचन प्रारब्धकर्मजनित संस्कारोंकी समाप्तिपर्यन्त ही जीवकी स्थिति बतलानेके लिये है, इसका तात्पर्य कालका व्यवधान प्रदर्शित करनेमें नहीं है; नहीं तो 'तू वह है' इस वाक्यके अर्थके बाध होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा*। यद्यपि यहाँ 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्माका बोधक है, और 'यह सब निश्चय ब्रह्म ही है' इस वाक्यसे ब्रह्मका भी प्रकरण है तथा 'यह मेरा आत्मा हृदयके भीतर है—यह ब्रह्म है' ऐसा भी कहा गया है; तथापि 'थोड़ा-सा भी व्यवधान न छोड़कर मैं मरनेपर इस शरीरसे जाकर इसे प्राप्त हो ऊँगा'— ऐसा साधकका निश्चय बताया गया है।

इस प्रकार जाननेवाले जिस विद्वान्को 'मैं अपने निश्चयके अनुरूप सगुण परमात्माको प्राप्त होनेवाला हूँ, मैं अवश्य वैसा ही हो

---

* इसमें ब्रह्म और आत्माके अभेदका वर्तमानकालिक क्रियापदसे प्रतिपादन किया गया है; अतः कालभेद स्वीकार करनेसे इसके अभिप्रायसे विरोध उपस्थित होगा।

स्यामिति न च विचिकित्सास्ति, इत्येतस्मिन्नर्थे क्रतुफलसंबन्धे; स तथैवेश्वरभावं प्रतिपद्यते विद्वानित्येतदाह स्मोक्तवान्किल शाण्डिल्यो नामर्षिः । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥ ४ ॥

जाऊँगा' ऐसा निश्चय है; और जिसे 'मैं ऐसा नहीं होऊँगा' ऐसी अपने निश्चयके फलके सम्बन्धमें शङ्का नहीं है; वह विद्वान् उसी प्रकार ईश्वरभावको प्राप्त हो जाता है—ऐसा शाण्डिल्यनामक ऋषिने कहा है । 'शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः' यह द्विरुक्ति आदरके लिये है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१४॥

पञ्चदश खण्ड

विराट्कोशोपासना

‘अस्य कुले वीरो जायते’ इत्युक्तम् । न वीरजन्ममात्रं पितुस्त्राणाय; “तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः” इति श्रुत्यन्तरात् । अतस्तद्दीर्घायुष्ट्वं कथं स्यादित्येवमर्थं कोशविज्ञानारम्भः । अभ्यर्हितविज्ञानव्यासङ्गादनन्तरमेव नोक्तं तदिदानीमेवारभ्यते—

‘इसके कुलमें वीर पुत्र होता है’— ऐसा (३ । १३ । ६ में) कहा गया है । किंतु वीर पुत्रका जन्ममात्र ही पिताकी रक्षाका कारण नहीं हो सकता; जैसा कि “अतः अनुशासित पुत्रको [ब्राह्मणलोग] लोक्य [पुण्यलोक प्राप्त करानेवाला] कहते हैं” इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः उसे दीर्घायुष्ट्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है—इसीके लिये कोशविज्ञानका आरम्भ किया जाता है । अभ्यर्हित* उपासनाके प्रतिपादनमें संलग्न रहनेके कारण ‘वीरो जायते’ इस श्रुतिके अनन्तर ही इसका वर्णन नहीं किया, इसलिये अब आरम्भ किया जाता है—

---

* गायत्रीरूप उपाधिसे युक्त ब्रह्मकी उपासनाको कौक्षेय ज्योतिमें आरोपित करके परब्रह्मकी उपासना करना अभ्यर्हित है और उसकी मनोमयत्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्मोपासना अन्तरङ्ग है ।

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳस एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥ १ ॥

अन्तरिक्ष जिसका उदर है वह कोश पृथिवीरूप मूलवाला है । वह जीर्ण नहीं होता । दिशाएँ इसके कोण हैं, आकाश ऊपरका छिद्र है वह यह कोश वसुधान है । उसीमें यह सारा विश्व स्थित है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमुदरमन्तःसुषिरं यस्य सोऽयमन्तरिक्षोदरः, कोशः कोश इवानेकधर्मसादृश्यात्कोशः, स च भूमिबुध्नः, भूमिर्बुध्नो मूलं यस्य स भूमिबुध्नः; न जीर्यति न विनश्यति, त्रैलोक्यात्मकत्वात् । सहस्रयुगकालावस्थायी हि सः ।

दिशो ह्यस्य सर्वाः स्रक्तयः कोणाः । द्यौरस्य कोशस्योत्तरमूर्ध्वं बिलम्, स एष यथोक्तगुणः कोशो वसुधानः, वसु धीयतेऽस्मिन्प्राणिनां कर्मफलाख्यमतो वसुधानः । तस्मिन्नन्तर्विश्वं समस्तं प्राणिकर्मफलं सह

अन्तरिक्ष है उदर--अन्तःछिद्र जिसका वह यह अन्तरिक्षोदर कोश, जो अनेक धर्मोंमें सादृश्य रखनेके कारण कोशके समान कोश है, वह भूमिबुध्न–भूमि है बुध्न–मूल जिसका ऐसा भूमिबुध्न (पृथ्वीमूलक) है, वह त्रैलोक्यरूप होनेके कारण जीर्ण नहीं होता अर्थात् नाशको प्राप्त नहीं होता । क्योंकि वह तो सहस्रयुगकालपर्यन्त रहनेवाला है ।

समस्त दिशाएँ ही इसकी स्रक्तियाँ अर्थात् कोण हैं । द्युलोक इस कोशका ऊपरी छिद्र है । वह यह पूर्वोक्त गुणोंवाला कोश वसुधान है, इसमें प्राणियोंके कर्मफलसंज्ञक वसुका आधान किया जाता है, इसलिये यह कोश वसुधान है । तात्पर्य यह है कि उस कोशके भीतर ही प्राणियोंका सम्पूर्ण कर्मफल, जिसका कि

तत्साधनैरिदं यद्गृह्यते प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रितमाश्रितं स्थितमित्यर्थः ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ग्रहण किया जाता है, अपने साधनोंके सहित श्रित—आश्रित अर्थात् स्थित है ॥ १ ॥

* * *

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम् ॥ २ ॥

उस कोशकी पूर्व दिशा 'जुहू' नामवाली है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामकी है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नामकी है। उन दिशाओंका वायु वत्स है। वह, जो इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता है पुत्रके निमित्तसे रोदन नहीं करता। वह मैं इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता हूँ; अतः मैं पुत्रके कारण न रोऊँ ॥ २ ॥

तस्यास्य प्राची दिक्प्राग्गतो भागो जुहूर्नाम जुह्वत्यस्यां दिशि कर्मिणः प्राङ्मुखाः सन्त इति जुहूर्नाम। सहमाना नाम सहन्तेऽस्यां पापकर्मफलानि यमपुर्यां प्राणिन इति सहमाना नाम दक्षिणा दिक्। तथा राज्ञी नाम प्रतीची पश्चिमा दिक्,

उस इस कोशकी प्राची दिशा—पूर्वकी ओरका भाग, 'जुहू' नामवाला है। कर्मठ लोग इस दिशामें पूर्वाभिमुख होकर हवन करते हैं इसलिये यह 'जुहू' नामवाली है। दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामकी है, क्योंकि इसी दिशामें जीव यमपुरीमें अपने पापकर्मोंके फलरूप दुःखको सहन करते हैं, इसलिये दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामवाली है। तथा प्रतीची यानी पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामकी है; वरुण राजासे

राज्ञी राज्ञा वरुणेनाधिष्ठिता, संध्यारागयोगाद्वा । सुभूता नाम भूतिमद्भिरीश्वरकुबेरादिभिरधिष्ठितत्वात्सुभूता नामोदीची ।

तासां दिशां वायुर्वत्सो दिग्जत्वाद्वायोः; पुरोवात इत्यादिदर्शनात् । स यः कश्चित्पुत्रदीर्घजीवितार्थ्येवं यथोक्तगुणं वायुं दिशां वत्सममृतं वेद, स न पुत्ररोदं पुत्रनिमित्तं रोदनं न रोदिति पुत्रो न म्रियत इत्यर्थः । यत एवं विशिष्टं कोशदिग्वत्सविषयं विज्ञानमतः सोऽहं पुत्रजीवितार्थ्येवमेतं वायुं दिशां वत्सं वेद जाने । अतो मा पुत्ररोदं रुदं पुत्रमरणनिमित्तम् । पुत्ररोदो मम माभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

अधिष्ठित होनेके कारण अथवा सायंकालिक राग (लालिमा) के योगसे पश्चिम दिशा 'राज्ञी' है । उत्तर दिशा 'सुभूता' नामवाली है । ईश्वर, कुबेर आदि भूतिसम्पन्न देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण उत्तर दिशा 'सुभूता' नामवाली है ।

उन दिशाओंका वायु वत्स है, क्योंकि वायु दिशाओंसे ही उत्पन्न होनेवाला है । जैसा कि पूर्वीय वायु आदि प्रयोगोंसे देखा जाता है । वह कोई भी पुरुष, जो कि पुत्रके दीर्घजीवनकी कामनावाला है, यदि इस प्रकार पूर्वोक्त गुणवाले दिशाओंके वत्स अमृतरूप वायुको जानता है वह पुत्ररोद—पुत्रनिमित्तक रोदन नहीं करता । अर्थात् उसका पुत्र नहीं मरता । क्योंकि कोश और दिशाओंके वत्ससे सम्बन्ध रखनेवाला विज्ञान ऐसे गुणवाला है अतः अपने पुत्रके जीवनकी कामनावाला मैं दिशाओंके वत्सरूप इस वायुको इस प्रकार जानता हूँ; इसलिये पुत्ररोद——पुत्रके मरणसे होनेवाला रोदन न करूँ । अर्थात् मुझे पुत्रके लिये रोनेका प्रसङ्ग प्राप्त न हो ॥ २ ॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना ॥ ३ ॥

मैं अमुक अमुक अमुकके सहित अविनाशी कोशकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित प्राणकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भूःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित स्वःकी शरण हूँ * ॥ ३ ॥

अरिष्टमविनाशिनं कोशं यथोक्तं प्रपद्ये प्रपन्नोऽस्मि पुत्रायुषे । अमुनामुनामुनेति त्रिर्नाम गृह्णाति पुत्रस्य । तथा प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना, भूःप्रपद्येऽमुनामुनामुना, भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना, स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना, सर्वत्र प्रपद्य इति त्रिर्नाम गृह्णाति पुनः पुनः ॥ ३ ॥

पुत्रकी दीर्घायुके लिये मैं पूर्वोक्त अरिष्ट---अविनाशी कोशकी शरण हूँ । 'अमुना अमुना अमुना' इसका यह तात्पर्य है कि तीन-तीन बार अपने पुत्रका नाम लेता है । तथा अमुक अमुक अमुकके सहित प्राणकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भूःकी शरण हूँ, अमुक अमुक अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ और अमुक अमुक अमुकके सहित स्वःकी शरण हूँ । सर्वत्र 'अमुक अमुक अमुकके सहित शरण हूँ' ऐसा कहकर बारम्बार तीन-तीन बार पुत्रका नाम लेता है ॥ ३ ॥

◆

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥ अथ यदवोचं

---

* इसमें जहाँ-जहाँ 'अमुक' शब्द आया है वहाँ अपने पुत्रके नामका उच्चारण करना चाहिये ।

भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥ अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥ अथ यदवोचꣳस्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥७॥

उस मैंने जो कहा कि 'मैं प्राणकी शरण हूँ' सो यह जो कुछ सम्पूर्ण भूतसमुदाय है प्राण ही है, उसीकी मैं शरण हूँ ॥४॥ तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भूःकी शरण हूँ' इससे मैंने यही कहा है कि 'मैं पृथिवीकी शरण हूँ, अन्तरिक्षकी शरण हूँ और द्युलोककी शरण हूँ' ॥ ५ ॥ फिर मैंने जो कहा कि 'मैं भुवःकी शरण हूँ' इससे यह कहा गया है कि 'मैं अग्निकी शरण हूँ, वायुकी शरण हूँ और आदित्यकी शरण हूँ' ॥ ६ ॥ तथा मैंने जो कहा कि 'मैं स्वःकी शरण हूँ' इससे 'मैं ऋग्वेदकी शरण हूँ, यजुर्वेदकी शरण हूँ और सामवेदकी शरण हूँ' यही मैंने कहा है, यही मैंने कहा है ॥ ७ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति व्याख्यानार्थमुपन्यासः । प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं जगत् । 'यथा वारा नाभौ' (छा० उ० ७ । १५ । १) इति वक्ष्यति । अतस्तमेव सर्वं तत्तेन प्राणप्रतिपादनेन प्रापत्सि प्रपन्नोऽभूवम् । तथा भूः प्रपद्य इति त्रींल्लोकान्

'उस मैंने जो कहा कि मैं प्राणकी शरण हूँ' इसीकी व्याख्या करनेके लिये विस्तार किया जाता है। यह जितना भी जगत् है सब प्राण ही है, 'जैसे कि नाभिमें अरे लगे रहते हैं [उसी प्रकार प्राणमें सम्पूर्ण भूत समर्पित हैं]' ऐसा आगे कहेंगे भी। अतः उस प्राणकी प्रतिपत्तिके द्वारा मैं उस सर्वभूत [विराट्] की ही शरण हूँ। मैंने जो यह कहा कि 'मैं भूः-

भूरादीन्प्रपद्य इति तदवोचम् । अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्न्यादीन्प्रपद्य इति तदवोचम् । अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदादीन्प्रपद्य इत्येव तदवोचमिति । उपरिष्टान्मन्त्राञ्जपेत्ततः पूर्वोक्तमजरं कोशं सदिग्वत्सं यथावद्ध्यात्वा । द्विर्वचनमादरार्थम् ॥ ४–७ ॥

की शरण हूँ' उससे यही कहा गया कि मैं पृथिवी आदि तीन लोकोंकी शरण हूँ । तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भुवःकी शरण हूँ' उससे यही कहा गया है कि मैं अग्नि आदिकी शरण हूँ । और ऐसा जो कहा है कि 'मैं स्वःकी शरण हूँ' इससे यही कहा गया है कि मैं ऋग्वेदादिकी शरण हूँ । तत्पश्चात् उपर्युक्त अजर कोशका दिशाओंके वत्सके सहित विधिपूर्वक ध्यान कर ऊपरके मन्त्रोंको जपे । 'तदवोचं तदवोचम्' यह द्विरुक्ति आदरके लिये है ॥ ४–७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१५॥

षोडश खण्ड

आत्मयज्ञोपासना

पुत्रायुष उपासनमुक्तं जपश्च । अथेदानीमात्मनो दीर्घजीवनायेदमुपासनं जपं च विदधदाह । जीवन्हि स्वयं पुत्रादिफलेन युज्यते, नान्यथा । इत्यत आत्मानं यज्ञं संपादयति पुरुषः —

पुत्रकी आयुके लिये उपासना और जप कहे गये । अब अपनी दीर्घायुके लिये इस जप और उपासनाका विधान करता हुआ वेद कहता है । पुरुष स्वयं जीवित रहनेपर ही पुत्रादि फलसे युक्त होता है, और किसी प्रकार नहीं; इसीसे वह अपनेको यज्ञरूपसे निष्पन्न करता है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

निश्चय पुरुष ही यज्ञ है । उसके (उसकी आयुके) जो चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातःसवन हैं । गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है; और प्रातःसवन गायत्री छन्दसे सम्बद्ध है । उस इस प्रातःसवनके वसुगण अनुगत हैं । प्राण ही वसु हैं, क्योंकि ये ही इस सबको बसाये हुए हैं ॥ १ ॥

पुरुषो जीवनविशिष्टः कार्यकरणसंघातो यथाप्रसिद्ध एव । वावशब्दोऽवधारणार्थः । पुरुष

जीवनसे युक्त देह और इन्द्रियोंका संघात, जैसा कि प्रसिद्ध है, वही 'पुरुष' है । 'वाव' शब्द निश्चयार्थक है । अतः तात्पर्य यह है कि पुरुष

एव यज्ञ इत्यर्थः । तथा हि सामान्यैः संपादयति यज्ञत्वम् । कथम् ? तस्य पुरुषस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाण्यायुषस्तत्प्रातःसवनं पुरुषाख्यस्य यज्ञस्य ।

केन सामान्येन ? इत्याह—चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री छन्दो गायत्रं गायत्रीछन्दस्कं हि विधियज्ञस्य प्रातःसवनम् । अतः प्रातःसवनसंपन्नेन चतुर्विंशतिवर्षायुषा युक्तः पुरुषः । अतो विधियज्ञसादृश्याद्यज्ञः । तथोत्तरयोरप्यायुषोः सवनद्वयसंपत्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यक्षरसंख्यासामान्यतो वाच्या ।

किं च तदस्य पुरुषयज्ञस्य प्रातःसवनं विधियज्ञस्येव वसवो देवा अन्वायत्ता अनुगताः, सवनदेवतात्वेन स्वामिन इत्यर्थः । पुरुषयज्ञेऽपि विधियज्ञ इवाग्न्यादयो वसवो देवाः प्राप्ता इत्यतो

ही यज्ञ है । अब श्रुति सदृशता दिखलाकर पुरुषकी यज्ञरूपता सिद्ध करती है । किस प्रकार ? (सो बतलाते हैं—) उस पुरुषकी आयुके जो चौबीस वर्ष हैं, वे उस पुरुषसंज्ञक यज्ञके प्रातःसवन हैं ।

वे किस समताके कारण प्रातःसवन हैं ? सो बतलाते हैं—गायत्री छन्द चौबीस अक्षरोंवाला है और विधियज्ञका प्रातःसवन भी गायत्र—गायत्रीछन्दवाला है । अतः पुरुष प्रातःसवनरूपसे निष्पन्न हुई चौबीस वर्षकी आयुसे युक्त है । इसीसे विधियज्ञसे सदृशता होनेके कारण वह यज्ञ है । इसी प्रकार पीछेकी दोनों आयुओंसे त्रिष्टुप् और जगती छन्दके अक्षरोंकी संख्यामें समानता होनेके कारण उनके द्वारा अन्य दोनों सवनोंकी निष्पत्ति बतलानी चाहिये ।

तथा विधियज्ञके समान इस पुरुषयज्ञके प्रातःसवनके भी वसु देवता अनुगत हैं । तात्पर्य यह है कि सवनदेवतारूपसे वे उसके स्वामी हैं । [इस कथनसे] विधियज्ञके समान पुरुषयज्ञमें भी अग्नि आदि ही वसुदेवता निश्चित होते हैं; अतः

विशिनष्टि । प्राणा वाव वसवो वागादयो वायवश्च; ते हि यस्मादिदं पुरुषादिप्राणिजातमेते वासयन्ति । प्राणेषु हि देहे वसत्सु सर्वमिदं वसति, नान्यथा; इत्यतो वसनाद्वासनाच्च वसवः ।१।

श्रुति उनकी विशेषता (विभिन्नता) बतलाती है । [पुरुषयज्ञमें] वाक् आदि इन्द्रियाँ और प्राण आदि वायु ही वसु हैं, क्योंकि वे ही इस पुरुष आदि प्राणिसमुदायको वासित किये हुए हैं । देहमें प्राणोंके रहते हुए ही यह सब बसा हुआ है, और किसी प्रकार नहीं; अतः देहमें बसने अथवा उसे बसानेके कारण प्राण वसु हैं ॥ १ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

यदि इस प्रातःसवनसम्पन्न आयुमें उसे कोई रोग आदि कष्ट पहुँचावे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप वसुगण ! मेरे इस प्रातःसवनको माध्यन्दिनसवनके साथ एकरूप कर दो; यज्ञस्वरूप मैं आप प्राणरूप वसुओंके मध्यमें विलुप्त (नष्ट) न होऊँ' तब उस कष्टसे मुक्त होकर वह नीरोग हो जाता है ॥ २ ॥

तं चेद्यज्ञसंपादिनमेतस्मिन्प्रातःसवनसंपन्ने वयसि किञ्चिद्व्याध्यादि मरणशङ्काकारणमुपतपेद् दुःखमुत्पादयेत्स तदा यज्ञसंपादी

उस यज्ञसम्पादकको यदि प्रातःसवनरूपसे निष्पन्न हुई इस आयुमें मरणकी शङ्काकी कारणभूत कोई व्याधि आदि कष्ट पहुँचावे तो वह यज्ञसम्पादन करनेवाला पुरुष

पुरुष आत्मानं यज्ञं मन्यमानो ब्रूयाज्जपेदित्यर्थ इमं मन्त्रम्—

हे प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं मम यज्ञस्य वर्तते तन्माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति माध्यन्दिनेन सवनेनायुषा सहितमेकीभूतं संततं कुरुतेत्यर्थः । माहं यज्ञो युष्माकं प्राणानां वसूनां प्रातःसवनेशानां मध्ये विलोप्सीय विलुप्येय विच्छिद्येयेत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः । स तेन जपेन ध्यानेन च ततस्तस्मादुपतापादुदेत्युद्गच्छति । उद्गम्य विमुक्तः सन्नगदो हानुपतापो भवत्येव ॥ २ ॥

अपनेको यज्ञ मानते हुए कहे—अर्थात् इस मन्त्रको जपे—

'हे प्राणरूप वसुगण ! यह मेरे यज्ञका प्रातःसवन विद्यमान है; इसे माध्यन्दिनसवनरूपसे अनुसंतत करो; अर्थात् इसे माध्यन्दिनसवनरूप मेरी आयुके साथ एकीभूत कर दो । यज्ञस्वरूप मैं प्रातःसवनके अधिष्ठाता आप प्राणरूप वसुओंके मध्यमें विलुप्त अर्थात्—विच्छिन्न न होऊँ ।' मूलमें 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये है । उस जप और ध्यानके द्वारा वह उस कष्टसे छूट जाता है और उससे छूटकर अगद—संतापशून्य ही हो जाता है ॥ २ ॥

* * *

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳरोदयन्ति ॥ ३ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳरुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् जो चौवालीस वर्ष हैं, वे माध्यन्दिनसवन हैं। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरोंवाला है और माध्यन्दिनसवन त्रिष्टुप् छन्दसे सम्बद्ध है। उस माध्यन्दिनसवनके रुद्रगण अनुगत हैं। प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको रुलाते हैं। यदि उस यज्ञकर्ताको इस आयुमें कोई [रोगादि] संतप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप रुद्रगण ! मेरे इस मध्याह्नकालिक सवनको तृतीय सवनके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रोंके मध्यमें कभी विच्छिन्न (नष्ट) न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे छूट जाता है और नीरोग हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणीत्यादि समानम् । रुदन्ति रोदयन्तीति प्राणा रुद्राः । क्रूरा हि ते मध्यमे वयस्यतो रुद्राः ॥ ३-४ ॥

'अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है। रोते अथवा रुलाते हैं, इसलिये प्राण 'रुद्र' हैं। वे (प्राण) मध्यम आयुमें क्रूर होते हैं, इसलिये रुद्र कहलाते हैं ॥ ३-४ ॥

* * *

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते ॥ ५ ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् जो अड़तालीस वर्ष हैं, वे तृतीय सवन हैं। जगती छन्द अड़तालीस अक्षरोंवाला है तथा तृतीय सवन जगती छन्दसे सम्बन्ध

रखता है। इस सवनके आदित्यगण अनुगत हैं। प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण शब्दादि विषयसमूहको ग्रहण करते हैं। उस उपासकको यदि इस आयुमें कोई [रोगादि] संतप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवनको आयुके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप आदित्योंके मध्यमें विनष्ट न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे मुक्त होकर नीरोग हो जाता है॥ ५-६॥

तथादित्याः प्राणाः। ते हीदं शब्दादिजातमाददतेऽत आदित्याः। तृतीयसवनमायुः षोडशोत्तरवर्षशतं समापयतानुसंतनुत यज्ञं समापयतेत्यर्थः। समानमन्यत्॥ ५-६॥

इसी प्रकार प्राण ही आदित्य हैं। वे इस शब्दादि विषयसमूहका आदान (ग्रहण) करते हैं, इसलिये आदित्य हैं। [हे प्राणरूप आदित्यगण!] तृतीय सवनको आयुरूपसे अनुसंतत करो अर्थात् एक सौ सोलह वर्षतक पूर्ण करो यानी इस यज्ञको समाप्त करो। शेष सब पूर्ववत् है॥ ५-६॥

* * *

निश्चिता हि विद्या फलायेत्येतद्दर्शयन्नुदाहरति—

निश्चिता विद्या अवश्य फलवती होती है—इस बातको प्रदर्शित करती हुई श्रुति उदाहरण देती है—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद॥ ७॥

इस प्रसिद्ध विद्याको जाननेवाले ऐतरेय महिदासने कहा था—'[अरे रोग!] तू मुझे क्यों कष्ट देता है, जो मैं कि इस रोगद्वारा

मृत्युको प्राप्त नहीं हो सकता ।' वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा था; जो इस प्रकार जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ॥ ७ ॥

एतद्यज्ञदर्शनं ह स्म वै किल तद्विद्वानाह महिदासो नामतः, इतराया अपत्यमैतरेयः । किं कस्मान्मे ममैतदुपतपनमुपतपसि स त्वं हे रोग; योऽहं यज्ञोऽनेन त्वत्कृतेनोपतापेन न प्रेष्यामि न मरिष्याम्यतो वृथा तव श्रम इत्यर्थः । इत्येवमाह स्मेति पूर्वेण संबन्धः । स एवंनिश्चयः सन् षोडशं वर्षशतमजीवत् । अन्योऽप्येवंनिश्चयः षोडशं वर्षशतं प्रजीवति य एवं यथोक्तं यज्ञसंपादनं वेद जानाति, स इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इस प्रसिद्ध यज्ञदर्शनको जाननेवाले महिदासनामक इतराके पुत्र ऐतरेयने 'हे रोग ! तू मुझे यह संताप क्यों देता है ? जो यज्ञरूप मैं तेरे इस संतापसे मृत्युको प्राप्त नहीं होऊँगा—नहीं मरूँगा; तात्पर्य यह है कि इसलिये तेरा यह श्रम वृथा ही है'—इस प्रकार कहा था—इसका पूर्वसे सम्बन्ध है । ऐसे निश्चयवाला होकर वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा । ऐसे ही निश्चयवाला दूसरा पुरुष भी, जो इस प्रकार पूर्वोक्त यज्ञसम्पादनको जानता है, एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१६॥

सप्तदश खण्ड

अक्षयादि फल देनेवाली आत्मयज्ञोपासना

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

वह [पुरुष] जो भोजन करनेकी इच्छा करता है, जो पीनेकी इच्छा करता है और जो रममाण (प्रसन्न) नहीं होता — वही इसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

स यदशिशिषतीत्यादियज्ञसामान्यनिर्देशः पुरुषस्य पूर्वेणैव संबध्यते । यदशिशिषत्यशितुमिच्छति, तथा पिपासति पातुमिच्छति, यन्न रमत इष्टाद्यप्राप्तिनिमित्तम्, यदेवंजातीयकं दुःखमनुभवति ता अस्य दीक्षाः, दुःखसामान्याद्विधियज्ञस्येव । १ ।

'वह जो भोजन करनेकी इच्छा करता है' इत्यादि पुरुषका यज्ञसे सादृश्यनिरूपण पूर्वग्रन्थसे ही सम्बन्ध रखता है । जो 'अशिशिषति'—खानेकी इच्छा करता है, तथा 'पिपासति' पीनेकी इच्छा करता है, तथा जो इष्ट पदार्थोंकी अप्राप्तिके कारण रममाण नहीं होता अर्थात् जो इस प्रकारके दुःखका अनुभव करता है, वह, दुःखमें सदृशता होनेके कारण विधियज्ञकी दीक्षाके समान, इसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

फिर वह जो खाता है, जो पीता है और जो रतिका अनुभव करता है — वह उपसदोंकी सदृशताको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते रतिं चानुभवतीष्टादिसंयोगात्तदुपसदैः समानतामेति । उपसदां च पयोव्रतत्वनिमित्तं सुखमस्ति । अल्पभोजनीयानि चाहान्यासन्नानीति प्रश्वासोऽतोऽशनादीनामुपसदां च सामान्यम् ॥ २ ॥

फिर वह जो भोजन करता है, पीता है और इष्ट पदार्थादिके संयोगसे रतिका अनुभव करता है—वह सब उपसदोंकी समानताको प्राप्त होता है । उपसदोंको पयोव्रतत्व (केवल दुग्धपान) सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है । जिन दिनोंमें स्वल्प आहार प्राप्त हो सकता है वे समीप ही हैं—यह देखकर यज्ञकर्ताको आश्वासन होता है । अतः भोजनादिकी उपसदोंसे सदृशता है ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

तथा वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता है—वे सब स्तुत शस्त्रकी ही समानताको प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति भक्षयति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तत्समानतामेति; शब्दवत्त्वसामान्यात् ॥ ३ ॥

तथा वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता है वह स्तुतशस्त्रकी समानताको प्राप्त होता है; क्योंकि शब्दयुक्त होनेमें उनमें समानता है ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

तथा जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही इसकी दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः; धर्मपुष्टिकरत्वसामान्यात् ॥ ४ ॥

तथा पुरुषके जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यभाषण [आदि गुण] हैं, वे ही इसकी दक्षिणा हैं; क्योंकि धर्मकी पुष्टि करनेमें [दक्षिणाके साथ] उनकी तुल्यता है ॥ ४ ॥

यस्माच्च यज्ञः पुरुषः—

क्योंकि पुरुष यज्ञ है—

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः ॥ ५ ॥

इसीसे कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' अथवा 'प्रसूता हुई' वह इसका पुनर्जन्म ही है; तथा मरण ही अवभृथस्नान है ॥ ५ ॥

तस्मात्तं जनयिष्यति माता यदा, तदाहुरन्ये सोष्यतीति तस्य मातरम्, यदा च प्रसूता भवति, तदाऽसोष्ट पूर्णिकेति, विधियज्ञ इव सोष्यति सोमं देवदत्तोऽसोष्ट सोमं यज्ञदत्त इति, अतः शब्दसामान्याद्वा पुरुषो यज्ञः। पुनरुत्पादनमेवास्य तत्पुरुषाख्यस्य यज्ञस्य यत्सोष्यत्यसोष्टेतिशब्द-

इसीसे जब माता उसे जन्म देनेवाली होती है, तब दूसरे लोग उसकी माताके विषयमें कहते हैं कि 'यह प्रसूता होगी' और जब वह प्रसूता होती है तो 'यह प्रसूता हुई अर्थात् पूर्णिका हुई' ऐसा कहते हैं; जैसे कि विधियज्ञमें 'देवदत्त सोमाभिषव (सोमरसका पान या संधान) करेगा' अथवा 'यज्ञदत्तने सोमाभिषव किया' ऐसा कहते हैं । इस प्रकार 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' शब्दोंमें समानता होनेके कारण पुरुष यज्ञ है । विधियज्ञके समान इस पुरुषसंज्ञक यज्ञका जो 'सोष्यति' और 'असोष्ट' इन शब्दोंसे सम्बद्ध होना है वह पुनरुत्पादन

संबन्धित्वं विधियज्ञस्येव । किं च तन्मरणमेवास्य पुरुषयज्ञस्यावभृथः; समाप्तिसामान्यात् ।।५।।

ही है; तथा मरण ही इस पुरुषसंज्ञक यज्ञका अवभृथस्नान है, क्योंकि समाप्तिमें इन (मरण और अवभृथस्नान) दोनोंकी तुल्यता है ॥ ५ ॥

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

घोर आङ्गिरस ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको यह यज्ञदर्शन सुनाकर, जिससे कि वह अन्य विद्याओंके विषयमें तृष्णाहीन हो गया था, कहा—'उसे अन्तकालमें इन तीन मन्त्रोंका जप करना चाहिये (१) तू अक्षित (अक्षय) है, (२) अच्युत (अविनाशी) है और (३) अति सूक्ष्म प्राण है ।' तथा इसके विषयमें ये दो ऋचाएँ हैं ॥ ६ ॥

तद्धैतद्यज्ञदर्शनं घोरो नामत आङ्गिरसो गोत्रतः कृष्णाय देवकीपुत्राय शिष्यायोक्त्वोवाच तदेतत्त्रयमित्यादिव्यवहितेन संबन्धः । स चैतद्दर्शनं श्रुत्वापिपास एवान्याभ्यो विद्याभ्यो बभूव । इत्थं च विशिष्टेयं विद्या यत्कृष्णस्य देवकीपुत्रस्यान्यां

इस यज्ञदर्शनको आङ्गिरस गोत्रवाले घोरनामक ऋषिने अपने शिष्य देवकीपुत्र कृष्णके प्रति कहकर फिर कहा । इस वाक्यका 'तदेतत्त्रयम्' इस व्यवधानयुक्त वाक्यसे सम्बन्ध है । तथा वह कृष्ण तो इस यज्ञदर्शनका श्रवण कर फिर अन्य विद्याओंके प्रति तृष्णारहित हो गया । 'यह विद्या ऐसी विशिष्ट गुणसम्पन्ना है कि यह अन्य विद्याओंके प्रति देवकीपुत्र कृष्णकी तृष्णा-

विद्यां प्रति तृड्विच्छेदकरीति पुरुषयज्ञविद्यां स्तौति ।

घोर आङ्गिरसः कृष्णायोक्त्वेमां विद्यां किमुवाच ? इति तदाह—स एवं यथोक्तयज्ञविदन्तवेलायां मरणकाल एतन्मन्त्रत्रयं प्रतिपद्येत जपेदित्यर्थः । किं तत् ? अक्षितमक्षीणमक्षतं वासीत्येकं यजुः । सामर्थ्यादादित्यस्थं प्राणं चैकीकृत्याह—तथा तमेवाहाच्युतं स्वरूपादप्रच्युतमसीति द्वितीयं यजुः । प्राणसंशितं प्राणश्च स संशितं सम्यक्तनूकृतं च सूक्ष्मं तत्त्वमसीति तृतीयं यजुः । तत्रैतस्मिन्नर्थे विद्यास्तुतिपरे द्वे ऋचौ मन्त्रौ भवतः, न जपार्थे, त्रयं प्रतिपद्येतेति त्रित्वसंख्याबाध-

का छेदन करनेवाली हुई'—ऐसा कहकर श्रुति पुरुषयज्ञविद्याकी स्तुति करती है ।

घोर आङ्गिरसने कृष्णके प्रति यह विद्या कहकर क्या कहा—यह बतलाते हैं—'पूर्वोक्त यज्ञविद्याको जाननेवाला वह पुरुष अन्तिम समय—मरणकाल उपस्थित होनेपर इन तीन मन्त्रोंको प्रतिपन्न हो अर्थात् इनका जप करे । वह मन्त्र कौन-से हैं ? 'तू अक्षित—अक्षीण अथवा अक्षय है' यह एक यजु है । प्रसङ्गके सामर्थ्यसे यह कथन आदित्यस्थ पुरुष और प्राणकी एकता करके किया गया है । तथा उसीके प्रति श्रुति कहती है—'तू अच्युत—स्वरूपसे च्युत न होनेवाला है'—यह दूसरा यजु है । 'तू प्राणसंशित—जो प्राण संशित—सम्यक् प्रकारसे तनु यानी सूक्ष्म किया गया है वह तू है'—यह तीसरा यजु है । इस अर्थमें इस विद्याकी स्तुति करनेवाली दो ऋचाएँ यानी दो मन्त्र हैं; किंतु वे जपके लिये नहीं हैं, क्योंकि पहले जो 'त्रयं प्रतिपद्येत' (तीनका जप करे) ऐसी विधि की गयी है उसकी 'तीन' संख्याका बाध हो

नात्; पञ्चसंख्या हि तदा स्यात् ॥६॥

जायगा और तब 'पाँच' संख्या हो जायगी ॥ ६ ॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः । उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

['आदित्प्रत्नस्य रेतसः' यह एक मन्त्र है और 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरा है । इनमें पहला मन्त्र इस प्रकार है—'आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि'* इसका अर्थ यह है—] पुरातन कारणका प्रकाश देखते हैं; यह सर्वत्र व्याप्त प्रकाश, जो परब्रह्ममें स्थित परम तेज देदीप्यमान है, उसका है । [अब 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरे मन्त्रका अर्थ करते हैं—] अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत उत्कृष्ट ज्योतिको देखते हुए तथा आत्मीय उत्कृष्ट तेजको देखते हुए हम सम्पूर्ण देवोंमें प्रकाशवान् सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यको प्राप्त हुए ॥ ७ ॥

आदिदित्यत्राकारस्यानुबन्धस्तकारोऽनर्थक इच्छब्दश्च । प्रत्नस्य चिरन्तनस्य पुराणस्येत्यर्थः, रेतसः कारणस्य बीजभूतस्य जगतः सदाख्यस्य ज्योतिः प्रकाशं पश्यन्ति । आशब्द उत्सृष्टानुबन्धः पश्यन्तीत्यनेन संबध्यते । किं तज्ज्योतिः

'आत् इत्' इसमें आकारके पीछेका तकार और 'इत्' शब्द अर्थरहित हैं । 'प्रत्नस्य'–चिरन्तन यानी पुरातन 'रेतसः' कारणके अर्थात् जगत्के बीजभूत सत्-संज्ञक ब्रह्मके 'ज्योतिः'—प्रकाशको देखते हैं । अपने अनुबन्ध तकारसे रहित 'आ' शब्द 'पश्यन्ति' इस क्रियासे सम्बद्ध है । उस किस ज्योतिको देखते हैं ? [इसपर श्रुति

---

* आनन्दगिरिकृत टीकासे ।

पश्यन्ति ? वासरमहरहरिव तत्सर्वतो व्याप्तं ब्रह्मणो ज्योतिः ।

निवृत्तचक्षुषो ब्रह्मविदो ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनैः शुद्धान्तःकरणा आ समन्ततो ज्योतिः पश्यन्तीत्यर्थः । परः परमिति लिङ्गव्यत्ययेन, ज्योतिष्परत्वात्; यदिध्यते दीप्यते दिवि द्योतनवति परस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमानम्, येन ज्योतिषेद्धः सविता तपति चन्द्रमा भाति विद्युद्विद्योतते ग्रहतारागणा विभासन्ते ।

किं चान्यो मन्त्रदृगाह यथोक्तं ज्योतिः पश्यन्—उद्वयं तमसोऽज्ञानलक्षणात्परि परस्तादिति शेषः । तमसो वापनेतृ यज्ज्योतिरुत्तरमादित्यस्थं परिपश्यन्तो वयमुदगन्मेति व्यवहितेन संबन्धः । तज्ज्योतिः स्वः स्वमात्मीयमस्मद्धृदि स्थितम्,

कहती है—] वासर अर्थात् दिनके समान सर्वत्र व्याप्त उस ब्रह्मकी ज्योतिको देखते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं वे ब्रह्मचर्य आदि निवृत्तिके साधनोंद्वारा शुद्धचित्त हुए ब्रह्मवेत्ता उस ज्योतिको सब ओर देखते हैं । जो ज्योति 'दिवि' द्योतनवान् परब्रह्ममें देदीप्यमान है; तथा जिस ज्योतिसे दीप्त होकर सूर्य तपता है, चन्द्रमा प्रकाशित होता है, बिजली चमकती है तथा ग्रह और तारागण विशेषरूपसे भासते हैं । यहाँ 'परः' यह शब्द [नपुंसकलिङ्ग] 'ज्योतिः' के साथ अन्वित है, इसलिये इसका लिङ्ग बदलकर 'परम्' ऐसा समझना चाहिये ।

तथा उपर्युक्त ज्योतिको देखनेवाला एक दूसरा मन्त्रद्रष्टा कहता है—अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत [जो परम तेज है] अथवा अन्धकारकी निवृत्ति करनेवाला जो सूर्यमण्डलस्थ उत्कृष्ट तेज है उसे देखते हुए हम प्राप्त हुए—इस प्रकार इसका व्यवधानयुक्त क्रियासे सम्बन्ध है । वह ज्योति 'स्व'—आत्मीय अर्थात् हमारे

आदित्यस्थं च तदेकं ज्योतिः । यदुत्तरमुत्कृष्टतरमूर्ध्वतरं वापरं ज्योतिरपेक्ष्य पश्यन्त उदगन्म वयम् ।

कमुदगन्म ? इत्याह—देवं द्योतनवन्तं देवेषु सर्वेषु सूर्यं रसानां रश्मीनां प्राणानां च जगत ईरणात्सूर्यस्तमुदगन्म गतवन्तो ज्योतिरुत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्कृष्टतममहो प्राप्ता वयमित्यर्थः । इदं तज्ज्योतिर्यदृग्भ्यां स्तुतं यद्यजुस्त्रयेण प्रकाशितम् । द्विरभ्यासो यज्ञकल्पनापरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्तःकरणमें स्थित तेज और आदित्यमें स्थित तेज एक ही है, जिस अन्य तेजोंकी अपेक्षा उत्तर—उत्कृष्टतर अर्थात् ऊर्ध्वतर तेजको देखते हुए हम प्राप्त हुए ।

किसे प्राप्त हुए—यह श्रुति बतलाती है—समस्त देवताओंमें देव अर्थात् द्योतनवान् सूर्यको प्राप्त हुए; जो रस, किरण और संसारके प्राणोंको प्रेरित करनेके कारण सूर्य कहलाता है उस उत्तम ज्योतिको—सम्पूर्ण ज्योतियोंमें उत्कृष्टतम ज्योतिको प्राप्त हुए; अहो ! [आश्चर्य है कि] हम उसे प्राप्त हुए—ऐसा इसका तात्पर्य है । यही वह ज्योति है जिसकी दो ऋचाओंने स्तुति की है तथा जो उपर्युक्त तीन यजुःश्रुतियोंद्वारा प्रकाशित है । 'ज्योतिरुत्तमं ज्योतिरुत्तमम्' यह द्विरुक्ति यज्ञकल्पनाकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१७॥

अष्टादश खण्ड

मन आदि दृष्टिसे अध्यात्म और आधिदैविक ब्रह्मोपासना

मनोमय ईश्वर उक्त आकाशात्मेति च ब्रह्मणो गुणैकदेशत्वेन । अथेदानीं मनआकाशयोः समस्तब्रह्मदृष्टिविधानार्थ आरम्भो मनो ब्रह्मेत्यादि—

[चतुर्दश खण्डके द्वितीय मन्त्रमें] ईश्वरके गुणोंके एक देशको लेकर उसे मनोमय और आकाशात्मा कहा गया है । अब इससे आगे मन और आकाशमें समस्त ब्रह्मदृष्टिका विधान करनेके लिये 'मनो ब्रह्म' इत्यादि [अष्टादश खण्ड] का आरम्भ किया जाता है—

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करे । यह अध्यात्मदृष्टि है । तथा 'आकाश ब्रह्म है' यह अधिदैवतदृष्टि है । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया गया ॥ १ ॥

मनो मनुतेऽनेनेत्यन्तःकरणं तद्ब्रह्म परमित्युपासीतेति, एतदात्मविषयं दर्शनमध्यात्मम् । अथाधिदैवतं देवताविषयमिदं वक्ष्यामः । आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत । एवमुभयमध्यात्ममधि-

मन—जिससे प्राणी मनन करता है उस अन्तःकरणको मन कहते हैं । वह परब्रह्म है—ऐसी उपासना करे । यह आत्मविषयक दर्शन अध्यात्म है । अब यह अधिदैवत—देवताविषयक दर्शन कहते हैं । आकाश ब्रह्म है—ऐसी उपासना करे । इस प्रकार अध्यात्म और

दैवतं चोभयं ब्रह्मदृष्टिविषयमादिष्टमुपदिष्टं भवति, आकाशमनसोः सूक्ष्मत्वात् मनसोपलभ्यत्वाच्च ब्रह्मणो योग्यं मनो ब्रह्मदृष्टेः । आकाशश्च, सर्वगतत्वात्सूक्ष्मत्वादुपाधिहीनत्वाच्च।१।

अधिदैवत दोनों प्रकारकी ब्रह्मदृष्टिके विषयमें आदेश—उपदेश किया जाता है; क्योंकि आकाश और मन दोनों ही सूक्ष्म हैं। इसके सिवा, ब्रह्म मनसे उपलब्ध किया जा सकता है, इसलिये भी मन ब्रह्मदृष्टिके योग्य है, तथा सर्वगत, सूक्ष्म और उपाधिहीन होनेके कारण आकाश भी ब्रह्मदृष्टिके योग्य है ॥ १ ॥

◆

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म । वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

वह यह (मनःसंज्ञक) ब्रह्म चार पादोंवाला है । वाक् पाद है, प्राण पाद है, चक्षु पाद है और श्रोत्र पाद है । यह अध्यात्म है । अब अधिदैवत कहते हैं—अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशाएँ पाद हैं । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया गया ॥ २ ॥

तदेतन्मनआख्यं चतुष्पाद्ब्रह्म, चत्वारः पादा अस्येति । कथं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मणः ? इत्याह—वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्र-

वह यह मनःसंज्ञक ब्रह्म चतुष्पाद् है । जिसके चार पाद हों उसे चतुष्पाद् कहते हैं । यह मनोब्रह्म चतुष्पाद् किस प्रकार है ? यह श्रुति बतलाती है—वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये इसके पाद हैं । यह अध्यात्म-

मित्येते पादा इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमाकाशस्य ब्रह्मणोऽग्निर्वायुरादित्यो दिश इत्येते । एवमुभयमेव चतुष्पाद्ब्रह्मादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च । २ ।

दृष्टि है । अब अधिदैवत बतलाते हैं——आकाशसंज्ञक ब्रह्मके अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ ये पाद हैं । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों प्रकारके चतुष्पाद् ब्रह्मका आदेश किया गया ॥२॥

* * *

तत्र—

उनमें——

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाक् ही ब्रह्मका चौथा पाद है; वह अग्निरूप ज्योतिसे दीप्त होता है और तपता है । जो ऐसा जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजके कारण देदीप्यमान होता और तपता है ॥ ३ ॥

वागेव मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः पाद इतरपादत्रयापेक्षया । वाचा हि पादेनेव गवादि वक्तव्यविषयं प्रति तिष्ठति । अतो मनसः पाद इव वाक् । तथा प्राणो घ्राणः पादः । तेनापि गन्धविषयं प्रति च क्रामति । तथा चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद

वाक् ही मनरूप ब्रह्मका, अन्य तीन पादोंकी अपेक्षा चौथा पाद है। जिस प्रकार गौ आदि जीव पादद्वारा इष्ट स्थानपर जाकर उपस्थित होते हैं उसी प्रकार वाणीसे ही मन वक्तव्य विषयपर ठहरता है । अतः वाक् मनके पादके समान है । इसी प्रकार प्राण——घ्राण भी उसका पाद है । उसके द्वारा भी वह गन्धरूप विषयके प्रति जाता है । ऐसे ही चक्षु पाद है और श्रोत्र भी पाद है । इस प्रकार यह

इत्येवमध्यात्मं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मणः ।

अथाधिदैवतमग्निवाय्वादित्यदिश आकाशस्य ब्रह्मण उदर इव गोः पादा विलग्ना उपलभ्यन्ते । तेन तस्याकाशस्याग्न्यादयः पादा उच्यन्ते । एवमुभयमध्यात्मं चैवाधिदैवतं चतुष्पादादिष्टं भवति । तत्र वागेव मनसो ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निनाधिदैवतेन ज्योतिषा भाति च दीप्यते तपति च संतापं चौष्ण्यं करोति ।

अथवा तैलघृताद्याग्नेयाशनेनेद्धा वाग्भाति च तपति च वदनायोत्साहवती स्यादित्यर्थः । विद्वत्फलम्—भाति च तपति च

मनरूप ब्रह्मका अध्यात्म चतुष्पात्त्व है ।

तथा अधिदैवतदृष्टि इस प्रकार है—जिस तरह गौके उदरसे पैर जुड़े रहते हैं उसी प्रकार आकाशरूप ब्रह्मके उदरमें अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ—ये दिखायी देते हैं । इसलिये ये अग्नि आदि उस आकाशरूप ब्रह्मके पाद कहे जाते हैं । इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों प्रकारके चतुष्पाद् ब्रह्मका उपदेश किया जाता है । उनमें वाक् ही उस मनरूप ब्रह्मका चौथा पाद है । वह अग्निरूप अधिदैवत ज्योतिसे भासित—दीप्त होता और तपता अर्थात् संताप यानी उष्णता करता है ।

अथवा तैल और घृत आदि आग्नेय (तेजोमय) पदार्थोंके भक्षणसे दीप्त हुई वाक् प्रकाशित होती और तपती है; अर्थात् बोलनेके लिये उत्साहयुक्त होती है । इस प्रकारकी उपासना करनेवालेको प्राप्त होनेवाला फल—जो पूर्वोक्त

कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं यथोक्तं वेद ॥ ३ ॥

अर्थको जानता है वह कीर्ति[1], यश[2] और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राण ही मनोमय ब्रह्मका चौथा पाद है। वह वायुरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

चक्षु ही मनःसंज्ञक ब्रह्मका चौथा पाद है। वह आदित्यरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

श्रोत्र ही मनोरूप ब्रह्मका चौथा पाद है। वह दिशारूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ ६ ॥

---

[1] प्रत्यक्ष प्रशंसा। [2] परोक्ष प्रशंसा।

तथा प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स वायुना गन्धाय भाति च तपति च । तथा चक्षुरादित्येन रूपग्रहणाय श्रोत्रं दिग्भिः शब्दग्रहणाय । विद्याफलं समानम् । सर्वत्र ब्रह्मसंपत्तिरदृष्टं फलं य एवं वेद । द्विरुक्तिर्दर्शनसमाप्त्यर्था ॥४-६॥

इसी प्रकार प्राण ही ब्रह्मका चौथा पाद है । वह वायुद्वारा गन्धग्रहणके लिये प्रकाशित होता और तपता है [अर्थात् उत्साहित होता है] । इसी तरह चक्षु रूपग्रहणके लिये आदित्यद्वारा और श्रोत्र शब्दग्रहणके लिये दिशाओंद्वारा उत्साहित होता है । इस प्रकारकी उपासनाका फल सर्वत्र समान है । जो ऐसा जानता है उसे सर्वत्र ब्रह्मप्राप्तिरूप अदृष्ट फल मिलता है । 'य एवं वेद, य एवं वेद' यह द्विरुक्ति विद्याकी समाप्तिके लिये है ॥ ४—६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१८॥

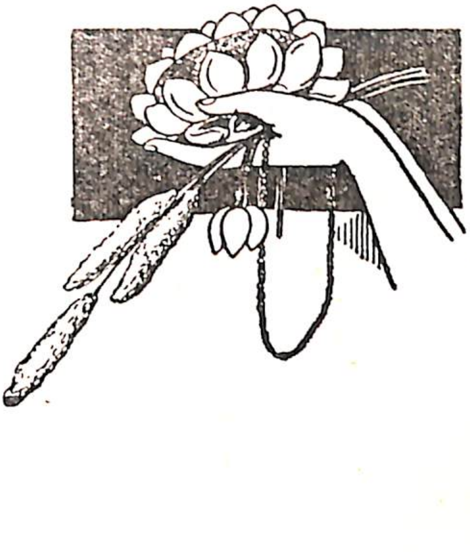

एकोनविंश खण्ड

आदित्य और अण्डदृष्टिसे अध्यात्म एवं आधिदैविक उपासना

आदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्त इति तस्मिन्सकलब्रह्मदृष्ट्यर्थमिदमारभ्यते—

आदित्यको ब्रह्मका पाद बतलाया गया है; अतः उसमें समस्त ब्रह्मकी दृष्टि करनेके लिये इस खण्डका आरम्भ किया जाता है—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ १ ॥

आदित्य ब्रह्म है—ऐसा उपदेश है; उसीकी व्याख्या की जाती है। पहले यह असत् ही था। वह सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह अङ्कुरित हुआ। वह एक अण्डेमें परिणत हो गया। वह एक वर्षपर्यन्त उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा; वे दोनों अण्डेके खण्ड रजत और सुवर्णरूप हो गये ॥ १ ॥

असत्कार्यवाद-समीक्षा

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश उपदेशस्तस्योपव्याख्यानं क्रियते स्तुत्यर्थम्। असदव्याकृतनामरूपमिदं जगदशेषमग्रे प्रागवस्थाया-

'आदित्य ब्रह्म है' यह आदेश—उपदेश है। उस आदित्यका स्तुतिके लिये उपाख्यान किया जाता है। पहले अर्थात् अपनी उत्पत्तिसे पूर्वकी अवस्थामें यह सम्पूर्ण जगत् असत्—जिसके नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है ऐसा था; सर्वथा असत् [शून्य]

मुत्पत्तेरासीन्न त्वसदेव; 'कथमसतः सज्जायेत' इत्यसत्कार्यत्वस्य प्रतिषेधात् ।

नन्विहासदेवेति विधानाद्विकल्पः स्यात् ।

न; क्रियास्विव वस्तुनि विकल्पानुपपत्तेः ।

कथं तर्हीदमसदेवेति ?

नन्ववोचामाव्याकृतनामरूपत्वादसदिवासदिति ।

नन्वेवशब्दोऽवधारणार्थः ।

सत्यमेवम्, न तु सत्त्वाभावमवधारयति ।

किं तर्हि ?

व्याकृतनामरूपाभावमवधारयति; नामरूपव्याकृतविषये सच्छब्दप्रयोगो दृष्टः । तच्च नामरूपव्याकरणमादित्यायत्तं प्रायशो

ही नहीं था, क्योंकि 'असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है' इस प्रकार [आगे छठे अध्यायमें] श्रुतिने असत्कार्यत्वका प्रतिषेध किया है ।

पूर्व०—किंतु यहाँ 'असदेव आसीत्' ऐसा विधान होनेके कारण विकल्प* हो सकता है ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि क्रियाओंके समान वस्तुमें विकल्प होना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—तो फिर 'इदम् असत् एव' यह वाक्य क्यों कहा गया है ?

सिद्धान्ती—हम कह चुके हैं न, कि 'नाम-रूपकी अभिव्यक्तिसे रहित होनेके कारण मानो असत्की तरह 'असत्' था' ।

पूर्व०—किंतु 'एव' शब्द तो निश्चयार्थक है !

सिद्धान्ती—यह तो ठीक है, किंतु यह सत्ताके अभावका निश्चय नहीं करता ।

पूर्व०—तो फिर क्या करता है ?

सिद्धान्ती—व्यक्त नाम-रूपके अभावका निश्चय करता है । 'सत्' शब्दका प्रयोग, जिनके नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं उन पदार्थोंके विषयमें देखा गया है; और जगत्के नाम-रूपकी अभिव्यक्ति प्रायः आदित्यके अधीन

---

* अर्थात् सृष्टिके पूर्व यह सब कुछ 'असत्' अथवा 'सत्' था, इस प्रकार विकल्प हो सकता है ।

जगतः । तदभावे ह्यन्धं तम इदं न प्रज्ञायेत किञ्चन, इत्यतस्तत्स्तुतिपरे वाक्ये सदपीदं प्रागुत्पत्तेर्जगदसदेवेत्यादित्यं स्तौति ब्रह्मदृष्ट्यर्हत्वाय ।

है, क्योंकि उसके अभावमें घोर अन्धकाररूप हुआ यह जगत् कुछ भी नहीं जाना जाता । इसलिये आदित्यके स्तवनपरक वाक्यमें, सत् होनेपर भी 'उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् असत् ही था' ऐसा कहकर श्रुति, यह सूचित करनेके लिये कि आदित्य ब्रह्मदृष्टिके योग्य है, उसकी स्तुति करती है ।

आदित्यनिमित्तो हि लोके सदिति व्यवहारः; यथासदेवेदं राज्ञः कुलं सर्वगुणसंपन्ने पूर्णवर्मणि राजन्यसतीति तद्वत् । न च सत्त्वमसत्त्वं वेह जगतः प्रतिपिपादयिषितम्, आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशपरत्वात् । उपसंहरिष्यत्यन्ते 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' इति ।

लोकमें आदित्यके कारण ही 'सत्' ऐसा व्यवहार होता है, जिस प्रकार 'सर्वगुणसम्पन्न राजा पूर्णवर्माके न रहनेसे यह राजवंश नहीं सा रह गया है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये । इसके सिवा यहाँ इस वाक्यसे जगत्की सत्ता अथवा असत्ताका प्रतिपादन करना अभीष्ट भी नहीं है, क्योंकि यह मन्त्र 'आदित्य ब्रह्म है' ऐसा आदेश करनेके लिये ही है; तथा अन्तमें भी 'आदित्य ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है—ऐसा कहकर श्रुति इसका उपसंहार करेगी ।

तत्सदासीत्, तदसच्छब्दवाच्यं प्रागुत्पत्तेः स्तिमितमनिस्पन्दमसदिव सत्कार्याभिमुखमीषदुप-

'तत्सदासीत्'— वह, 'असत्' शब्दसे कहा जानेवाला तत्त्व, जो उत्पत्तिसे पूर्व स्तब्ध, स्पन्दनरहित और असत्के समान था, सत् यानी कार्याभिमुख होकर कुछ प्रवृत्ति

जातप्रवृत्ति सदासीत्, ततो लब्धपरिस्पन्दं तत्समभवदल्पतरनामरूपव्याकरणेनाङ्कुरीभूतमिव बीजम् । ततोऽपि क्रमेण स्थूलीभवत्तदद्भ्य आण्डं समवर्तत संवृत्तम् । आण्डमिति दैर्घ्यं छान्दसम् ।

तदण्डं संवत्सरस्य कालस्य प्रसिद्धस्य मात्रां परिमाणमभिन्नस्वरूपमेवाशयत स्थितं बभूव । तत्ततः संवत्सरपरिमाणात्कालादूर्ध्वं निरभिद्यत निर्भिन्नं वयसामिवाण्डम् । तस्य निर्भिन्नस्याण्डस्य कपाले द्वे रजतं च सुवर्णं चाभवतां संवृत्ते ॥ १ ॥

पैदा होनेसे 'सत्' हो गया । फिर उससे भी कुछ स्पन्दन प्राप्त कर वह थोड़ेसे नाम-रूपकी अभिव्यक्तिके कारण अङ्कुरित हुए बीजके समान हो गया । उस अवस्थासे भी वह क्रमशः कुछ और स्थूल होता हुआ जलसे अण्डेके रूपमें परिणत हो गया । 'आण्डम्' यह दीर्घ प्रयोग वैदिक है ।

वह अण्डा संवत्सर नामसे प्रसिद्ध कालकी मात्रा यानी परिमाणतक [अर्थात् पूरे एक वर्ष]उसी प्रकार एकरूपसे पड़ा रहा । तत्पश्चात् एक वर्षपरिमाण कालके अनन्तर वह पक्षियोंके अण्डेके समान फूट गया । उस फूटे हुए अण्डेके जो दो खण्ड थे वे रजत और सुवर्णरूप हो गये ॥ १ ॥

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳसा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳसमेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः ॥ २ ॥

उनमें जो खण्ड रजत हुआ वह यह पृथिवी है और जो सुवर्ण हुआ वह द्युलोक है । उस अण्डेका जो जरायु (स्थूल गर्भवेष्टन) था [वही] वे पर्वत हैं, जो उल्व (सूक्ष्म गर्भवेष्टन) था वह मेघोंके सहित कुहरा

है, जो धमनियाँ थीं वे नदियाँ हैं तथा जो वस्तिगत जल था वह समुद्र है ॥ २ ॥

तत्तयोः कपालयोर्यद्रजतं कपालमासीत्, सेयं पृथिवी पृथिव्युपलक्षितमधोऽण्डकपालमित्यर्थः । यत्सुवर्णं कपालं सा द्यौर्द्युलोकोपलक्षितमूर्ध्वं कपालमित्यर्थः । यज्जरायु गर्भपरिवेष्टनं स्थूलमण्डस्य द्विशकलीभावकाल आसीत्, ते पर्वता बभूवुः । यदुल्बं सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनम्, तत्सह मेघैः समेघो नीहारोऽवश्यायो बभूवेत्यर्थः । या गर्भस्य जातस्य देहे धमनयः शिराः, ता नद्यो बभूवुः । यत्तस्य वस्तौ भवं वास्तेयमुदकम्, स समुद्रः ॥२॥

उन खण्डोंमें जो रजतमय खण्ड था वही यह पृथिवी अर्थात् पृथिवीरूपसे उपलक्षित नीचेका अण्डार्द्ध है; और जो सुवर्णमय खण्ड था वह द्यौः अर्थात् द्युलोकरूपसे उपलक्षित ऊपरका अण्डार्द्ध है । तथा दो खण्डोंमें विभक्त होनेके समय उस अण्डेका जो जरायु---स्थूल गर्भवेष्टन था वह पर्वतसमूह हुआ, जो उल्ब—सूक्ष्म गर्भवेष्टन था वह मेघोंके सहित नीहार---अवश्याय अर्थात् कुहरा हुआ, जो उत्पन्न हुए उस गर्भके शरीरमें धमनियाँ --[रक्तवाहिनी] नाडियाँ थीं वे नदियाँ हुईं और जो उसके वस्तिस्थान (मूत्राशय) में जल था, वह समुद्र हुआ ॥ २ ॥

* * *

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥ ३ ॥

फिर उससे जो उत्पन्न हुआ वह यह आदित्य है । उसके उत्पन्न होते ही बड़े जोरोंका शब्द हुआ तथा उसीसे सम्पूर्ण प्राणी

और सारे भोग हुए हैं। इसीसे उसका उदय और अस्त होनेपर दीर्घशब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग भी उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्तदजायत गर्भरूपं तस्मिन्नण्डे, सोऽसावादित्यः, तमादित्यं जायमानं घोषाः शब्दा उलूलव उरूरवो विस्तीर्णरवा उदतिष्ठन्नुत्थितवन्तः, ईश्वरस्येवेह प्रथमपुत्रजन्मनि; सर्वाणि च स्थावरजङ्गमानि भूतानि सर्वे च तेषां भूतानां कामाः काम्यन्त इति विषयाः स्त्रीवस्त्रान्नादयः।

फिर उस अण्डेमें जो गर्भरूपसे उत्पन्न हुआ वह यह आदित्य है। उस आदित्यके उत्पन्न होनेपर उलूलव — उरूरव यानी सुदूरव्यापी शब्दवाले घोष—शब्द उत्थित हुए—उत्पन्न हुए, जिस प्रकार कि लोकमें किसी राजाके यहाँ प्रथम पुत्रजन्म होनेपर [उत्सवपूर्ण कोलाहल हुआ करता है] तथा उसी समय समस्त स्थावर-जङ्गम जीव और उन जीवोंके काम—जिनकी कामना की जाती है वे स्त्री, वस्त्र एवं अन्न आदि विषय उत्पन्न हुए।

यस्मादादित्यजन्मनिमित्ता भूतकामोत्पत्तिस्तस्मादद्यत्वेऽपि तस्यादित्यस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रत्यस्तगमनं च प्रति, अथवा पुनः पुनः प्रत्यागमनं प्रत्यायनं तत्प्रति तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः, सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा घोषा उलूलवश्चानूत्तिष्ठ-

क्योंकि प्राणिवर्ग और उसके भोगोंकी उत्पत्ति आदित्यके जन्मके कारण ही हुई है इसलिये आजकल भी उस सूर्यदेवके उदयके प्रति और प्रत्यायन अर्थात् प्रत्यस्तगमन (अस्त) के प्रति अथवा पुनः-पुनः प्रत्यागमन ही प्रत्यायन है, उसके प्रति अर्थात् उसे ही निमित्त बनाकर सम्पूर्ण भूत, सारे भोग और दीर्घशब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं।

न्ति, प्रसिद्धं ह्येतदुदयादौ सवितुः ॥ ३ ॥

सूर्यके उदय आदि होनेके समय ये सब प्रसिद्ध ही हैं ॥ ३ ॥

* * *

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला होकर आदित्यकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [वह आदित्यरूप हो जाता है, तथा] उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर घोष आते हैं और उसे सुख देते हैं, सुख देते हैं ॥४॥

स यः कश्चिदेतमेवं यथोक्तमहिमानं विद्वान्सन्नादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते स तद्भावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। किञ्च दृष्टं फलमभ्याशः क्षिप्रं तद्विदः, यदिति क्रियाविशेषणम्, एनमेवंविदं साधवः शोभना घोषाः, साधुत्वं घोषादीनां यदुपभोगे पापानुबन्धाभावः। आ च गच्छेयुरागच्छेयुश्च, उप च

वह जो कोई इस आदित्यको ऐसी महिमावाला जानकर इसकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, वह तद्रूप ही हो जाता है—ऐसा इसका भावार्थ है । तथा उसे यह दृष्टफल भी मिलता है—इस प्रकार जाननेवाले उस उपासकके समीप अभ्याशः—शीघ्र ही साधु—सुन्दर घोष आकर प्राप्त होते हैं । मूलमें 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है । घोषादिकी साधुता यही है कि उनका उपभोग करनेपर पापानुबन्ध नहीं होता । वे घोष

निम्रेडेरन्नुपनिम्रेडेरंश्च न केवलमागमनमात्रं घोषाणामुपसुखयेयुश्चोपसुखं च कुर्युरित्यर्थः । द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थ आदरार्थश्च ॥ ४ ॥

आते हैं और उसे सुख देते हैं, उसे सुख देते हैं । तात्पर्य यह है कि घोषोंका केवल आगमन ही नहीं होता वे उसे सुख भी देते हैं, सुख भी देते हैं । 'निम्रेडेरन्निम्रेडेरन्' यह द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करने और आदरप्रदर्शनके लिये है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयाध्याय एकोनविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

राजा जानश्रुति और रैकका उपाख्यान

वायुप्राणयोर्ब्रह्मणः पाददृष्ट्यध्यासः पुरस्ताद्वर्णितः । अथेदानीं तयोः साक्षाद्ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वायोत्तरमारभ्यते । सुखावबोधार्थाख्यायिका विद्यादानग्रहणविधिप्रदर्शनार्था च । श्रद्धान्नदानानुद्धतत्वादीनां च विद्याप्राप्तिसाधनत्वं प्रदर्श्यत आख्यायिकया—

वायु और प्राणमें ब्रह्मकी पाददृष्टिके अध्यासका वर्णन पहले (तृतीय अध्यायमें) कर दिया गया । अब इस समय उनका साक्षात् ब्रह्मरूपसे उपास्यत्व बतलानेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है वह सरलतासे समझनेके लिये तथा विद्याके दान और ग्रहणकी विधि प्रदर्शित करनेके लिये है । साथ ही इस आख्यायिकाद्वारा श्रद्धा, अन्नदान और अनुद्धतत्व (विनय) आदिका विद्याप्राप्तिमें साधनत्व भी प्रदर्शित किया जाता है—

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

जनश्रुतकी संतान-परम्परामें उत्पन्न एवं उसके पुत्रका पौत्र श्रद्धापूर्वक देनेवाला एवं बहुत दान करनेवाला था और उसके यहाँ [दान करनेके लिये]

बहुत-सा अन्न पकाया जाता था । उसने, इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायँगे, सर्वत्र निवासस्थान (धर्मशाले) बनवा दिये थे ॥ १ ॥

जानश्रुतिर्जनश्रुतस्यापत्यम्, ह ऐतिह्यार्थः, पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः, स एव श्रद्धादेयः श्रद्धापुरःसरमेव ब्राह्मणादिभ्यो देयमस्येति श्रद्धादेयः । बहुदायी प्रभूतं दातुं शीलमस्येति बहुदायी । बहुपाक्यो बहु पक्तव्यमहन्यहनि गृहे यस्यासौ बहुपाक्यः । भोजनार्थिभ्यो बह्वस्य गृहेऽन्नं पच्यत इत्यर्थः । एवंगुणसंपन्नोऽसौ जानश्रुतिः पौत्रायणो विशिष्टे देशे काले च कस्मिंश्चिदास बभूव ।

स ह सर्वतः सर्वासु दिक्षु ग्रामेषु नगरेषु चावसथानेत्य वसन्ति येष्वित्यावसथास्तान्मापयाञ्चक्रे कारितवानित्यर्थः । सर्वत एव मे ममान्नं तेष्वावसथेषु

जानश्रुतिः——जनश्रुतका अपत्य (वंशधर), 'ह' यह निपात इतिहासका द्योतक है, पुत्रके पोतेको पौत्रायण कहते हैं; वही श्रद्धादेय था, उसके पास जो कुछ था वह ब्राह्मण आदिको श्रद्धापूर्वक देनेके लिये ही था, इसलिये उसे श्रद्धादेय कहा गया है; बहुदायी——जिसका स्वभाव बहुत दान करनेका था और बहुपाक्य——जिसके घरमें नित्यप्रति बहुत-सा पाक्य——पकाया हुआ अन्न रहता था अर्थात् जिसके घर भोजनार्थियोंके लिये बहुत-सा अन्न पकाया जाता था——ऐसा था, ऐसे गुणोंसे युक्त वह जनश्रुतकी संततिमें उत्पन्न हुआ उसका प्रपौत्र किसी उत्तम देश और कालमें हुआ था ।

प्रसिद्ध है, उसने सब ओर——समस्त दिशाओंमें ग्राम और नगरोंके भीतर आवसथ (धर्मशाले)——जिनमें आकर यात्री ठहरते हैं वे आवसथ कहलाते हैं——निर्मित कराये अर्थात् बनवा दिये थे । इससे उसका यह अभिप्राय था कि

वसन्तोऽत्स्यन्ति भोक्ष्यन्त इत्येवमभिप्रायः ॥ १ ॥

उन धर्मशालोंमें निवास करनेवाले लोग सर्वत्र मेरा ही अन्न भोजन करेंगे ॥ १ ॥

* * *

तत्रैवं सति राजनि तस्मिन् घर्मकाले हर्म्यतलस्थे—

वहाँ इस प्रकार रहता हुआ वह राजा जब एक बार गर्मीके समय अपने महलकी छतपर बैठा था——

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳहꣳसो हꣳसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

उसी समय रात्रिमें उधरसे हंस उड़कर गये। उनमेंसे एक हंसने दूसरे हंससे कहा——'अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुति पौत्रायणका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है; तू उसका स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर डाले' ॥ २ ॥

अथ ह हंसा निशायां रात्रावतिपेतुः । ऋषयो देवता वा राज्ञोऽन्नदानगुणैस्तोषिताः सन्तो हंसरूपा भूत्वा राज्ञो दर्शनगोचरेऽतिपेतुः पतितवन्तः । तत्तस्मिन्काले तेषां पततां हंसानामेकः पृष्ठतः पतन्नग्रतः पतन्तं हंसम-

उसी समय निशा अर्थात् रात्रिमें उधरसे हंस उड़कर गये। राजाके अन्नदानसम्बन्धी गुणोंसे संतुष्ट हुए ऋषि या देवता हंसरूप होकर राजाकी दृष्टिके सामने होकर उड़े। उस समय उड़कर जाते हुए उन हंसोंमेंसे पीछे उड़ते हुए एक हंसने आगे उड़कर जाते हुए दूसरे हंससे 'अरे ओ भल्लाक्ष! ओ भल्लाक्ष!'

भ्युवादाभ्युक्तवान् हो होऽयीति भो भो इति संबोध्य भल्लाक्ष भल्लाक्षेत्यादरं दर्शयन्यथा पश्य पश्याश्चर्यमिति तद्वत् । भल्लाक्षेति मन्ददृष्टित्वं सूचयन्नाह । अथवा सम्यग्ब्रह्मदर्शनाभिमानवत्त्वात्तस्यासकृदुपालब्धस्तेन पीड्यमानोऽमर्षितया तत्सूचयति भल्लाक्षेति ।

जानश्रुतेः प्रभाववर्णनम्

जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं तुल्यं दिवा द्युलोकेन ज्योतिः प्रभास्वरमन्नदानादिजनितप्रभावजमाततं व्याप्तं द्युलोकस्पृगित्यर्थः । दिवाह्ना वा समं ज्योतिरित्येतत् । तन्मा प्रसाङ्क्षीः सञ्जनं सक्तिं तेन ज्योतिषा सम्बन्धं मा कार्षीरित्यर्थः । तत्प्रसञ्जनेन तज्ज्योतिस्त्वा त्वां मा प्रधा-

इस प्रकार सम्बोधन करते हुए और जैसे कि 'देखो, देखो, बड़ा आश्चर्य है' इत्यादि कथनमें देखा जाता है, उसी प्रकार 'भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष !' ऐसा कहकर [अपने कथनके प्रति] आदर प्रदर्शित करते हुए कहा । 'भल्लाक्ष !' ऐसा कहकर उसकी मन्ददृष्टिताको सूचित करते हुए वह बोला । अथवा सम्यक् ब्रह्मज्ञानके अभिमानसे युक्त होनेके कारण उस (आगे उड़नेवाले हंस) से निरन्तर छेड़े जानेसे पीड़ित होकर क्रोधवश उसे 'भल्लाक्ष' कहकर सूचित करता है । [क्या सूचित करता है ? यह बतलाते हैं--]

जानश्रुति पौत्रायणकी ज्योति---अन्नदानादिजनित प्रभावसे प्राप्त हुई कान्ति द्युलोकके समान फैली हुई है; अर्थात् द्युलोकका स्पर्श करनेवाली है । अथवा इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि दिवा यानी दिनके समान है । उससे प्रसङ्ग---सञ्जन यानी सक्ति न कर अर्थात् उस ज्योतिसे सम्बन्ध न कर । उसका सङ्ग करनेसे वह ज्योति तुझे भस्म अर्थात् दग्ध न कर

क्षीर्मा दहत्वित्यर्थः । पुरुषव्यत्ययेन मा प्रधाक्षीदिति ॥ २ ॥

डाले। यहाँ पुरुषका परिवर्तन करके ['मा प्रधाक्षीः'*के स्थानमें] 'मा प्रधाक्षीत्' ऐसा पाठ समझना चाहिये॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तꣳसयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथꣳसयुग्वा रैक्क इति ॥ ३ ॥

उससे दूसरे [अग्रगामी] हंसने कहा——'अरे ! तू किस महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति इस तरह सम्मानित वचन कह रहा है ? क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्वके समान बतलाता है ?' [इसपर उसने पूछा—] 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' ॥ ३ ॥

रैक्कापेक्षया जानश्रुतेर्निकृष्टत्वकथनम्

तमेवमुक्तवन्तं पर इतरोऽग्रगामी प्रत्युवाचारे निकृष्टोऽयं राजा वराकस्तं कमु एनं सन्तं केन माहात्म्येन युक्तं सन्तमिति कुत्सयत्येनमेवं सबहुमानमेतद्वचनमात्थ ? रैक्कमिव सयुग्वानं सह युग्वना गन्त्र्या वर्तत इति सयुग्वा रैक्कः, तमि-

इस प्रकार कहते हुए उस हंससे दूसरे आगे चलनेवाले हंसने कहा—— अरे ! यह बेचारा राजा तो बहुत तुच्छ है। भला किस रूपमें वर्तमान—कैसे महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति तू इस प्रकार यह अत्यन्त सम्मानपूर्ण शब्द कह रहा है——ऐसा कहकर वह उसकी अवज्ञा करता है—क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्वके समान [बतलाता है ?] जो युग्वा अर्थात् गाड़ीके साथ स्थित है उसे सयुग्वा कहते हैं; ऐसा जो रैक्व है उसके समान तू

---

* क्योंकि 'प्रधाक्षीः' मध्यम पुरुषकी क्रिया है और इसका कर्ता है 'ज्योतिः' जो प्रथम पुरुष है। इसलिये इसका रूप भी प्रथम पुरुषके अनुसार 'प्रधाक्षीत्' ऐसा होना चाहिये ।

वात्थैनम् ? अननुरूपमस्मिन्, न युक्तमीदृशं वक्तुं रैक्व इवेत्यभिप्रायः । इतरश्चाह—यो नु कथं त्वयोच्यते सयुग्वा रैक्वः ? इत्युक्तवन्तं भल्लाक्ष आह—शृणु यथा स रैक्वः ॥ ३ ॥

इसे बतला रहा है ? यह कथन इसके अनुरूप नहीं है; अर्थात् 'यह रैक्वके समान है' ऐसा कहना उचित नहीं । इसपर दूसरेने कहा—'जिसके विषयमें तुम कह रहे हो वह गाड़ीवाला रैक्व कैसा है ?' ऐसा कहनेवाले उस हंससे भल्लाक्ष बोला—'जैसा वह रैक्व है, सुन' ॥ ३ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

जिस प्रकार [द्यूतक्रीडामें] कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उससे निम्न श्रेणीके सारे पासे हो जाते हैं उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है वह सब उस (रैक्व) को प्राप्त हो जाता है । जो बात वह रैक्व जानता है उसे जो कोई भी जानता है उसके विषयमें भी मैंने यह कह दिया ॥ ४ ॥

रैक्वस्य महत्त्वम्

यथा लोके कृतायः कृतो नामायो द्यूतसमये प्रसिद्धश्चतुरङ्कः, स यदा जयति द्यूते प्रवृत्तानां तस्मै विजिताय तदर्थमितरे त्रिद्व्येकाङ्का अधरेयास्त्रेताद्वापरकलिना-

जिस प्रकार लोकमें द्यूतक्रीडाके समय जो चार अङ्कवाला कृतनामक पासा प्रसिद्ध है, जब द्यूतमें प्रवृत्त हुए पुरुषोंका वह कृतनामक पासा जय प्राप्त करता है तो उसके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेको ही तीन, दो और एक अङ्कसे युक्त त्रेता, द्वापर और कलिनामक

मानः संयन्ति संगच्छन्तेऽन्तर्भवन्ति । चतुरङ्के कृताये त्रिद्व्येकाङ्कानां विद्यमानत्वात्तदन्तर्भवन्तीत्यर्थः । यथायं दृष्टान्तः, एवमेनं रैक्वं कृतायस्थानीयं त्रेताद्यायस्थानीयं सर्वं तदभिसमेत्यन्तर्भवति रैक्वे । किं तत् ? यत्किञ्च लोके सर्वाः प्रजाः साधु शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति तत्सर्वं रैक्वस्य धर्मेऽन्तर्भवति । तस्य च फले सर्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भवतीत्यर्थः ।

तथान्योऽपि कश्चिद्यस्तद्वेद्यं वेद, किं तत् ? यद्वेद्यं स रैक्वो वेद तद्वेद्यमन्योऽपि यो वेद तमपि सर्वप्राणिधर्मजातं तत्फलं च रैक्वमिवाभिसमेतीत्यनुवर्तते । स एवंभूतोऽरैक्वोऽपि मया विद्वानेत-

नीचेके पासे भी प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उसके अधीन हो जाते हैं; तात्पर्य यह है कि चार अङ्कसे युक्त कृतनामक पासेमें तीन, दो और एक अङ्कवाले पासे भी विद्यमान रहनेके कारण वे भी उसके अन्तर्गत हो जाते हैं । जैसा यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार कृतस्थानीय इस रैक्वको त्रेतादिस्थानीय वह सब प्राप्त हो जाता है—सब उस रैकके अन्तर्गत हो जाता है । वह क्या है ? वह यह कि जो कुछ लोकमें प्रजा साधु—शोभन यानी धर्मकार्य करती है सब-का-सब रैक्वके धर्ममें समा जाता है । तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियोंके धर्मफल उसके धर्मफलके अन्तर्गत हो जाते हैं ।

तथा दूसरा पुरुष भी, जो कोई उस वेद्यको जानता है—वह वेद्य क्या है ? जिसे कि वह रैक्व जानता है उस वेद्यको दूसरा भी जो कोई जानता है उसे भी रैक्वके समान समस्त प्राणियोंका धर्मसमूह और उसका फल प्राप्त हो जाता है इस प्रकार यहाँ 'सर्वं तदभिसमेति' इस पूर्ववाक्यका अनुवर्तन होता है । वह इस प्रकारका रैक्वसे भिन्न विद्वान् भी मैंने ऐसा कहकर बतला दिया ।

दुक्त एवमुक्तः, रैक्वत्स एव कृतायस्थानीयो भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

तात्पर्य यह है कि रैक्वके समान वही कृतनामक पासेके सदृश होता है ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥ ५ ॥ यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

इस बातको जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया । [दूसरे दिन सबेरे] उठते ही उसने सेवकसे कहा—‘अरे भैया ! तू गाड़ीवाले रैक्वके समान मेरी स्तुति क्या करता है ?’ [इसपर सेवकने पूछा—] ‘यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?’ ॥ ५ ॥ [राजाने कहा–] ‘जिस प्रकार कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उससे निम्नवर्ती समस्त पासे हो जाते हैं उसी प्रकार उस रैक्वको जो कुछ प्रजा सत्कर्म करती है, वह सब प्राप्त हो जाता है तथा जो कुछ वह (रैक्व) जानता है उसे जो कोई जानता है उसके विषयमें भी इस कथनद्वारा मैंने बतला दिया’ ॥ ६ ॥

तदु ह तदेतदीदृशं हंसवाक्यमात्मनः कुत्सारूपमन्यस्य विदुषो रैक्वादेः प्रशंसारूपमुपशुश्राव श्रुतवान्हर्म्यतलस्थो राजा जानश्रुतिः पौत्रायणः । तच्च हंसवाक्यं

महलकी छतपर स्थित राजा जानश्रुति पौत्रायणने अपनी निन्दारूप और रैक्व आदि किसी अन्य विद्वान्‌की प्रशंसारूप यह इस प्रकारका हंसका वचन सुन लिया । तथा उस हंसके वचनको पुनः-

स्मरन्नेव पौनःपुन्येन रात्रिशेषमतिवाहयामास ।

पुनः स्मरण करते हुए ही उसने शेष रात्रिको बिताया ।

ततः स वन्दिभी राजा स्तुतियुक्ताभिर्वाग्भिः प्रतिबोध्यमान उवाच क्षत्तारं संजिहान एव शयनं निद्रां वा परित्यजन्नेव, हेऽङ्ग वत्सारे ह सयुग्वानमिव रैक्कमात्थ किं माम् ? स एव स्तुत्यर्हो नाहमित्यभिप्रायः । अथवा सयुग्वानं रैक्कमात्थ गत्वा मम तद्दिदृक्षाम्; तदेवशब्दोऽवधारणार्थोऽनर्थको वा वाच्यः ।

तब वन्दियोंद्वारा स्तुतियुक्त वाक्योंसे जगाये जानेपर राजाने शय्या अथवा निद्राको त्यागते ही सेवकसे कहा—'हे वत्स ! अरे ! क्या तू मुझे गाड़ीवाले रैक्वके समान बतला रहा है ?' तात्पर्य यह है कि स्तुतिके योग्य तो वही है, मैं नहीं हूँ; अथवा तू जाकर गाड़ीवाले रैक्वको उसे देखनेकी मेरी इच्छा सुना । ऐसा अर्थ होनेपर 'सयुग्वानम् इव' इसमें 'इव' शब्द निश्चयार्थक अथवा अर्थहीन कहना चाहिये ।

स च क्षत्ता प्रत्युवाच रैक्कानयनकामो राज्ञोऽभिप्रायज्ञः । यो नु कथं सयुग्वा रैक्क इति राज्ञैवं चोक्त आनेतुं तच्चिह्नं ज्ञातुमिच्छन् यो नु कथं सयुग्वा रैक्क इत्यवोचत् । स च भल्लाक्षवचनमेवावोचत् ॥ ५-६ ॥

राजाके अभिप्रायको जाननेवाले उस सेवकने रैक्वको लानेकी इच्छासे पूछा—'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' अर्थात् राजाके इस प्रकार कहनेपर उसे लानेके लिये उसके चिह्न जाननेकी इच्छासे उसने 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' ऐसा कहा । तब राजाने भल्लाक्षका वचन ही दुहरा दिया ॥ ५-६ ॥

* * *

तस्य स्मरन्—

उसके कथनको याद रखकर—

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

वह सेवक उसकी खोज करनेके अनन्तर 'मैं उसे नहीं पा सका' ऐसा कहता हुआ लौट आया ! तब उससे राजाने कहा—'अरे ! जहाँ ब्राह्मणकी खोज की जाती है वहाँ उसके पास जा' ॥ ७ ॥

स ह क्षत्ता नगरं ग्रामं वा गत्वान्विष्य रैक्वं नाविदं न व्यज्ञासिषमिति प्रत्येयाय प्रत्यागतवान् । तं होवाच क्षत्तारमरे यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद एकान्तेऽरण्ये नदीपुलिनादौ विविक्ते देशेऽन्वेषणानुमार्गणं भवति तत्तत्रैनं रैक्वमर्च्छ ऋच्छ गच्छ तत्र मार्गणं कुर्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

वह सेवक नगर या ग्राममें जाकर वहाँ खोजनेके अनन्तर 'मैंने रैकको नहीं जाना—नहीं पहचाना' ऐसा कहता हुआ लौट आया । तब राजाने उस सेवकसे कहा—अरे ! जहाँ एकान्त जंगलमें—नदीके तीर आदि शून्य स्थानोंमें ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ताकी खोज की जाती है वहाँ इस रैकके पास 'ऋच्छ' अर्थात् जा यानी वहाँ जाकर उसकी खोज कर ॥ ७ ॥

* * *

इत्युक्तः—

इस प्रकार कहे जानेपर—

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तꣳहाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इत्यहꣳ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

उसने एक छकड़ेके नीचे खाज खुजलाते हुए [रैकको देखा] । वह उसके पास बैठ गया और बोला—'भगवन् ! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक हैं ?' तब रैकने 'अरे ! हाँ, मैं ही हूँ' ऐसा कहकर स्वीकार

किया । तब वह सेवक यह समझकर कि मैंने उसे पहचान लिया है, लौट आया ॥ ८ ॥

क्षत्तान्विष्य तं विजने देशेऽधस्ताच्छकटस्य गन्त्र्याः पामानं खर्जूं कषमाणं कण्डूयमानं दृष्ट्वा 'अयं नूनं सयुग्वा रैक्वः' इत्युपसमीप उपविवेश विनयेनोपविष्टवान् । तं च रैक्वं हाभ्युवादोक्तवान्—त्वमसि हे भगवो भगवन् सयुग्वा रैक्व इति । एवं पृष्टोऽहमस्मि ह्यरा ३ अर इति हानादर एव प्रतिजज्ञेऽभ्युपगतवान् । स तं विज्ञायाविदं विज्ञातवानस्मीति प्रत्येयाय प्रत्यागत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वह सेवक निर्जन स्थानमें खोज करनेपर उसे एक गाड़ीके नीचे खाज खुजाते देखकर 'निश्चय यही गाड़ीवाला रैक्व है' ऐसा निश्चय कर उसके समीप नम्रतापूर्वक बैठ गया; तथा उस रैक्वसे कहा——'हे भगवन्! गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं?' इस तरह पूछे जानेपर 'अरे! हाँ, मैं ही हूँ' इस प्रकार 'अरे' कहकर उसने अनादर ही प्रकट किया। तब सेवक उसे जानकर—यह समझकर कि 'अब मैंने रैक्वको जान लिया—पहचान लिया है' लौट आया ॥ ८ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

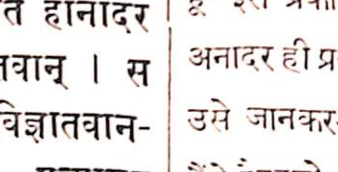

द्वितीय खण्ड

रैक्कके प्रति जानश्रुतिकी उपसत्ति

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳहाभ्युवाद ॥१॥

तब वह जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, एक हार और एक खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ लेकर उसके पास आया और बोला ॥ १ ॥

तत्तत्र ऋषेर्गार्हस्थ्यं प्रत्यभिप्रायं बुद्ध्वा धनार्थितां च उ ह एव जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कं कण्ठहारमश्वतरीरथमश्वतरीभ्यां युक्तं रथं तदादाय धनं गृहीत्वा प्रतिचक्रमे रैक्कं प्रति गतवान्। तं च गत्वाभ्युवाद हाभ्युक्तवान् ॥१॥

तब [सेवकके कथनसे] ऋषिका गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी अभिप्राय और धनकी इच्छा जान वह जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, निष्क—गलेका हार और एक अश्वतरीरथ—दो अश्वतरियों (खच्चरियों) से जुता हुआ रथ—यह इतना धन लेकर रैक्वके पास चला । और उसके पास जाकर अभिवादन किया अर्थात् कहा ॥ १ ॥

रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताꣳशाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

'हे रैक्व ! ये छः सौ गौएँ, यह हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ मैं [आपके लिये] लाया हूँ । [आप इस धनको स्वीकार कीजिये

और] हे भगवन् ! आप मुझे उस देवताका उपदेश दीजिये, जिसकी आप उपासना करते हैं' ॥ २ ॥

हे रैक्क गवां षट् शतानीमानि तुभ्यं मयानीतानि, अयं निष्कोऽश्वतरीरथश्चायमेतद्धनमादत्स्व, भगवोऽनुशाधि च मे मामेताम्, यां च देवतां त्वमुपास्से तद्देवतोपदेशेन मामनुशाधीत्यर्थः ॥ २ ॥

हे रैक्व ! मैं आपके लिये ये छः सौ गौएँ लाया हूँ तथा यह हार और खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ भी लाया हूँ, इस धनको ले लीजिये और हे भगवन् ! मुझे उस देवताका उपदेश दीजिये जिसकी आप उपासना करते हैं; अर्थात् उस देवताका उपदेश करनेके द्वारा मेरा अनुशासन कीजिये ॥ २ ॥

* * *

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

उस राजासे दूसरे [अर्थात् रैक्व] ने कहा—'ऐ शूद्र ! गौओंके सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे ।' तब वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और अपनी कन्या—इतना धन लेकर फिर उसके पास आया ॥ ३ ॥

तमेवमुक्तवन्तं राजानं प्रत्युवाच परो रैक्वः, अहेत्ययं निपातो विनिग्रहार्थो योऽन्यत्रेह त्वनर्थकः, एवशब्दस्य पृथक्प्रयोगात् । हारेत्वा हारेण युक्ता इत्वा गन्त्री

इस प्रकार कहते हुए उस राजासे उस द्वितीय व्यक्ति—रैक्वने कहा—'अह' यह निपात दूसरी जगह 'विनिग्रह' अर्थमें प्रयुक्त होता है, किंतु यहाँ 'एव' शब्दका पृथक् प्रयोग रहनेके कारण निरर्थक है । हारसे युक्त जो इत्वा—गाड़ी

सेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु तवैव तिष्ठतु,न ममापर्याप्तेन कर्मार्थमनेन प्रयोजनमित्यभिप्रायः, हे शूद्रेति ।

ननु राजासौ क्षत्तृसम्बन्धात्स ह क्षत्तारमुवाचेत्युक्तम् । विद्याग्रहणाय च ब्राह्मणसमीपोपगमाच्छूद्रस्य चानधिकारात्कथमिदमननुरूपं रैक्वेणोच्यते हे शूद्रेति ?

तत्राहुराचार्याः—हंसवचनश्रवणाच्छुगेनमाविवेश; तेनासौ शुचा, श्रुत्वा रैक्वस्य महिमानं वा आद्रवतीति ऋषिरात्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयञ्शूद्रेत्याहेति । शूद्रवद्वा धनेनैवैनं विद्याग्रहणायोपजगाम

उसे 'हारेत्वा' कहते हैं, वह यह गौओंके सहित 'हारेत्वा' तेरा ही रहे। तात्पर्य यह है कि हे शूद्र ! जो कर्मके लिये अपर्याप्त है ऐसे इस धनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है ।

शङ्का—क्षत्ता (सेवक) से सम्बन्ध होनेके कारण यह जानश्रुति तो राजा है, क्योंकि 'स ह क्षत्तारमुवाच' (उसने सेवकसे कहा) ऐसा पहले कहा जा चुका है । तथा शूद्रका अधिकार न होनेसे ब्राह्मणके समीप विद्याग्रहणके लिये जानेके कारण भी [यह क्षत्रिय ही जान पड़ता है] । फिर रैक्वने 'हे शूद्र' ऐसा अनुचित शब्द क्यों कहा ?

समाधान—इस विषयमें आचार्यगण ऐसा कहते हैं कि हंसका वचन सुननेपर इस जानश्रुतिमें शोकका आवेश हो गया था । उस शोकसे अथवा रैक्वकी महिमा सुनकर वह द्रवीभूत हो रहा था; इसलिये ऋषिने अपनी परोक्षज्ञता प्रदर्शित करनेके लिये उसे 'शूद्र' कहकर सम्बोधित किया । अथवा वह शूद्रके समान केवल धनके द्वारा ही विद्या ग्रहण करनेके लिये उसके समीप गया था, शुश्रूषाद्वारा ग्रहण करने नहीं गया

न च शुश्रूषया, न तु जात्यैव शूद्र इति ।

अपरे पुनराहुरल्पं धनमाहृतमिति रुषैवैनमुक्तवाञ्छूद्रेति ।

लिङ्गं च बह्वाहरण उपादानं धनस्येति ।

तदु हर्षेर्मतं ज्ञात्वा पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणो गवां सहस्रमधिकं जायां चर्षेरभिमतां दुहितरमात्मनस्तदादाय प्रतिचक्रमे क्रान्तवान् ॥ ३ ॥

[इसलिये उसे 'शूद्र' कहा हो] वह जातिसे ही शूद्र हो—ऐसी बात नहीं है ।

परंतु अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि वह थोड़ा धन लाया था इसलिये रोषवश उसे 'शूद्र' कहा था; बहुत-सा धन लानेपर उसे ग्रहण कर लेना इस बातको सूचित करता है ।

तब ऋषिका अभिप्राय समझकर राजा जानश्रुति पौत्रायण पहलेसे अधिक करके एक सहस्र गौएँ तथा ऋषिकी अभीष्ट पत्नीरूपा अपनी एक कन्या लेकर फिर उसके पास गया ॥ ३ ॥

तꣳहाभ्युवाद रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥ तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास स तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

और उस (रैक्व) से कहा—'हे रैक्व ! ये एक सहस्र गौएँ, यह हार, यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, यह पत्नी और यह ग्राम जिसमें कि आप हैं लीजिये और हे भगवन् ! मुझे अवश्य अनुशासित कीजिये' ॥ ४ ॥

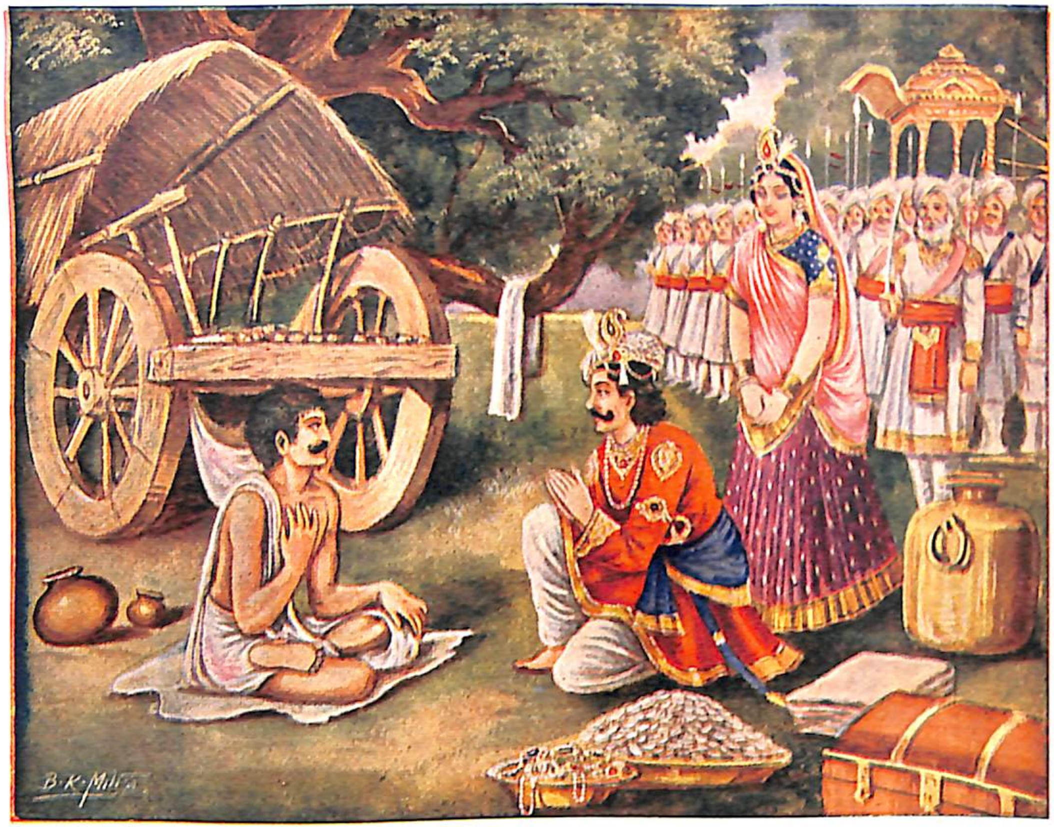

रैक्व और जानश्रुति

[पृष्ठ ३६६

तब उस (राजकन्या) के मुखको ही [विद्याग्रहणका द्वार] समझते हुए रैकने कहा—'अरे शूद्र ! तू ये (गौएँ आदि) लाया है [सो ठीक है;] तू इस विद्याग्रहणके द्वारसे ही मुझसे भाषण कराता है ।' इस प्रकार जहाँ वह रैक रहता था वे रैकपर्णनामक ग्राम महावृष देशमें प्रसिद्ध हैं । तब उसने उससे कहा ॥ ५ ॥

रैक्वेदं गवां सहस्रमयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायार्थं मम दुहितानीतायं च ग्रामो यस्मिन्नास्से तिष्ठसि स च त्वदर्थे मया कल्पितः । तदेतत्सर्वमादायानुशाध्येव मा मां हे भगवः ।

इत्युक्तस्तस्या जायार्थमानीताया राज्ञो दुहितुर्हैव मुखं द्वारं विद्याया दाने तीर्थमुपोद्गृह्णञ्जानन्नित्यर्थः । "ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः । विद्यया वा विद्यां प्राह तानि तीर्थानि षण्मम" इति विद्याया वचनं विज्ञायते हि ।

एवं जानन्नुपोद्गृह्णन्नुवाचोक्तवान्—आजहाराहृतवान्भ-

[और रैकसे कहा——] 'हे रैक ! ये एक सहस्र गौएँ, यह हार, यह खच्चरियोंसे युक्त रथ और यह पत्नी अर्थात् आपकी भार्या होनेके लिये अपनी कन्या लाया हूँ; तथा जिसमें आप रहते हैं वह गाँव भी मैंने आपहीके लिये निश्चित कर दिया है । हे भगवन् ! इन सबको ग्रहणकर आप मुझे उपदेश कर ही दीजिये ।'

ऐसा कहे जानेपर भार्या होनेके लिये लायी गयी उस राजकन्याके मुखको ही विद्यादानका द्वार अर्थात् तीर्थ जानते हुए [रैकने कहा–] ऐसा इसका तात्पर्य है । इस विषयमें विद्याका यह वचन प्रसिद्ध है–"ब्रह्मचारी, धन देनेवाला, बुद्धिमान्, श्रोत्रिय, प्रिय और जो विद्याके बदलेमें विद्याका उपदेश करता है–ये छः मेरे तीर्थ हैं ।"

ऐसा जानकर अर्थात् ग्रहण कर रैकने कहा–'तू जो ये गौएँ तथा

वान्यदिमा गा यच्चान्यद्धनं तत्साध्विति वाक्यशेषः । शूद्रेति पूर्वोक्तानुकृतिमात्रं न तु कारणान्तरापेक्षया पूर्ववत् । अनेनैव मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेनालापयिष्यथा आलापयसीति मां भाणयसीत्यर्थः ।

ते हैते ग्रामा रैक्वपर्णा नाम विख्याता महावृषेषु देशेषु यत्र येषु ग्रामेषूवासोपितवान्रैक्वः, तानसौ ग्रामानदादस्मै रैक्वाय राजा । तस्मै राज्ञे धनं दत्तवते ह किलोवाच विद्यां स रैक्वः ॥४-५॥

अन्य धन लाया है, यह ठीक ही है,—ऐसा वाक्यशेष है । यहाँ जो 'शूद्र' ऐसा सम्बोधन है यह पूर्वोक्तका अनुकरणमात्र ही है, पूर्ववत् किसी अन्य कारणकी अपेक्षासे नहीं है । इस मुख यानी विद्याग्रहणके द्वारसे ही तू मुझसे आलाप अर्थात् सम्भाषण कराता है ।

वे ये रैकपर्ण नामसे प्रसिद्ध ग्राम महावृष देशमें हैं, जिन ग्रामोंमें कि रैक रहा करता था, वे ग्राम राजाने इस रैकको दे दिये । इस प्रकार धन देनेवाले उस राजाको रैकने विद्याका उपदेश किया ॥४-५॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२॥

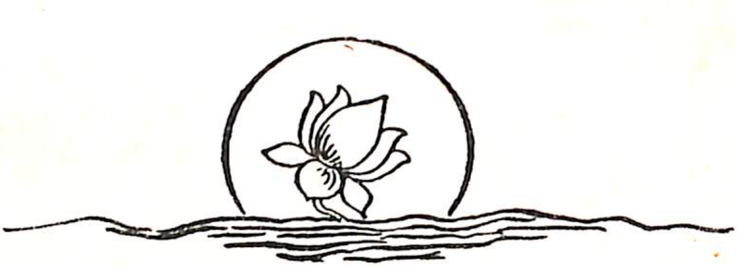

तृतीय खण्ड

रैकद्वारा संवर्गविद्याका उपदेश

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

वायु ही संवर्ग है । जब अग्नि बुझता है तो वायुमें ही लीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वायुमें ही लीन हो जाता है ॥ १ ॥

वायुर्वाव संवर्गो वायुर्बाह्यो वावेत्यवधारणार्थः । संवर्गः संवर्जनात्संग्रहणात्संग्रसनाद्वा संवर्गः । वक्ष्यमाणा अग्न्याद्या देवता आत्मभावमापादयतीत्यतः संवर्गः । संवर्जनाख्यो गुणो ध्येयो वायुवत्, कृतायान्तर्भावदृष्टान्तात् । कथं संवर्गत्वं वायोः ? इत्याह—यदा यस्मिन्काले वा अग्निरुद्वायत्युद्वासनं प्राप्नो-

वायु ही संवर्ग है । यहाँ 'वायु' शब्दसे बाह्यवायु अभिप्रेत है । 'वाव' यह निपात निश्चयार्थक है । संवर्जन—संग्रहण अथवा संग्रसन करनेके कारण वह संवर्ग है । आगे कहे जानेवाले अग्नि आदि देवताओंको वायु अपने स्वरूपमें मिला लेता है इसलिये वह संवर्ग है । कृतनामक पासेमें जैसे अन्य पासोंका अन्तर्भाव हो जाता है उसी दृष्टान्तके अनुसार वायुके समान संवर्जनसंज्ञक गुणका चिन्तन करना चाहिये । वायुकी संवर्गता किस प्रकार है ? इस विषयमें श्रुति कहती है-जब अर्थात् जिस समय अग्नि उद्वासनको प्राप्त होता है अर्थात्

त्युपशाम्यति तदासावग्निर्वायुमेवाप्येति वायुस्वाभाव्यमपिगच्छति । तथा यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ।

ननु कथं सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपावस्थितयोर्वायावपिगमनम् ?

नैष दोषः; अस्तमनेऽदर्शनप्राप्तेर्वायुनिमित्तत्वात्, वायुना ह्यस्तं नीयते सूर्यः, चलनस्य वायुकार्यत्वात् । अथवा प्रलये सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजोरूपयोर्वायावेवापिगमनं स्यात् ।१।

शान्त हो जाता है उस समय यह अग्नि वायुमें ही लीन हो जाता है अर्थात् वायुके स्वभावको प्राप्त हो जाता है । तथा जिस समय सूर्य अस्त होता है वह भी वायुमें ही लीन हो जाता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है वह भी वायुमें ही लीन हो जाता है ।

शङ्का-अपने स्वरूपमें स्थित सूर्य और चन्द्रमाका वायुमें किस प्रकार लय हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इनका अस्त होनेपर अदर्शनको प्राप्त होना वायुके कारण होता है । सूर्य वायुके ही द्वारा अस्तको प्राप्त कराया जाता है, क्योंकि गति वायुका ही कार्य है । अथवा प्रलयकालमें तेजोरूप सूर्य और चन्द्रमाके स्वरूपका नाश होनेपर भी उनका वायुमें ही लय हो सकता है ॥ १ ॥

* * *

तथा—

तथा—

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

जिस समय जल सूखता है वह वायुमें ही लीन हो जाता है। वायु ही इन सब जलोंको अपनेमें लीन कर लेता है। यह अधिदैवत दृष्टि है ॥ २ ॥

यदाप उच्छुष्यन्त्युच्छोषमाप्नुवन्ति तदा, वायुमेवापियन्ति । वायुर्हि यस्मादेवैतानग्न्याद्यान्महाबलान्संवृङ्क्ते, अतो वायुः संवर्गगुण उपास्य इत्यर्थः । इत्यधिदैवतं देवतासु संवर्गदर्शनमुक्तम् ॥ २ ॥

जब जल सूखता है—शोषणको प्राप्त होता है उस समय वह भी वायुमें ही लीन हो जाता है। क्योंकि वायु ही इन अग्नि आदि महाबलवान् तत्त्वोंको अपनेमें लीन कर लेता है, इसलिये वायुकी संवर्ग गुणरूपसे उपासना करनी चाहिये—यह इसका तात्पर्य है। इस प्रकार यह अधिदैवत—देवताओंमें संवर्ग-दृष्टि कही गयी ॥ २ ॥

* * *

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳश्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—प्राण ही संवर्ग है। जिस समय वह पुरुष सोता है, प्राणको ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है; प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है। प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है ॥ ३ ॥

अथानन्तरमध्यात्ममात्मनि संवर्गदर्शनमिदमुच्यते—प्राणो मुख्यो वाव संवर्गः । स पुरुषो यदा यस्मिन्काले स्वपिति प्राण-

अब आगे यह अध्यात्म अर्थात् शरीरमें संवर्गदर्शन कहा जाता है। मुख्य प्राण ही संवर्ग है। यह पुरुष जिस समय सोता है उस समय प्राणको ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो

मेव वागप्येति वायुमिवाग्निः । प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो हि यस्मादेवैतान्वागादीन्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥३॥

जाती है, जिस प्रकार कि अग्नि वायुको । तथा प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है; क्योंकि प्राण ही इन वाक् आदि सबको अपनेमें लीन कर लेता है ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४॥

वे ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण ॥४॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ संवर्जनगुणौ वायुरेव देवेषु संवर्गः प्राणः प्राणेषु वागादिषु मुख्यः ॥४॥

वे ये दो ही संवर्ग——संवर्जन गुणवाले हैं——देवताओंमें वायु ही संवर्ग है तथा वाक् आदि प्राणोंमें (इन्द्रियोंमें) मुख्य प्राण ॥ ४ ॥

संवर्गकी स्तुतिके लिये आख्यायिका

अथैतयोः स्तुत्यर्थमियमाख्यायिकारभ्यते—

अब इन (वायु और प्राण) की स्तुतिके लिये आख्यायिका आरम्भ की जाती है——

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

एक बार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीसे, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था, एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी; किंतु उन्होंने उसे भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

हेत्यैतिह्यार्थः, शौनकं च शुनकस्यापत्यं शौनकं कापेयं कपिगोत्रमभिप्रतारिणं च नामतः कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिं भोजनायोपविष्टौ परिविष्यमाणौ सूपकारैर्ब्रह्मचारी ब्रह्मविच्छौण्डो बिभिक्षे भिक्षितवान् । ब्रह्मचारिणो ब्रह्मविन्मानितां बुद्ध्वा तं जिज्ञासमानौ तस्मा उ भिक्षां न ददतुर्न दत्तवन्तौ ह किमयं वक्ष्यतीति ॥ ५ ॥

'ह' यह निपात ऐतिह्य (परम्परागत कथानक) का द्योतक है । शौनक — शुनकका पुत्र शौनक जो कि कापेय—कपिके गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, उससे और कक्षसेनका पुत्र काक्षसेनि, जो नामसे अभिप्रतारी था, उससे, जब कि वे दोनों भोजनके लिये बैठे थे और रसोइयोंद्वारा इन्हें भोजन परोसा जा रहा था, अपनेको ब्रह्मवेत्ताओंमें शूरवीर समझनेवाले एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी । ब्रह्मचारीके 'मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ' ऐसे अभिमानको जानकर यह जाननेकी इच्छासे कि 'देखें यह क्या कहता है ?' उन्होंने भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

* * *

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

उसने कहा—भुवनोंके रक्षक उस एक देव प्रजापतिने चार महात्माओंको ग्रस लिया है । हे कापेय ! हे अभिप्रतारिन् ! मनुष्य अनेक प्रकारसे निवास करते हुए उस एक देवको नहीं देखते; तथा जिसके लिये यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

स होवाच ब्रह्मचारी महात्मनश्चतुर इति द्वितीयाबहुवचनम् ।

उस ब्रह्मचारीने कहा—'महात्मनः' और 'चतुरः' ये पद द्वितीया विभक्तिके बहुवचन हैं । उस एक ही देव

देव एकोऽग्न्यादीन्वायुर्वागादीन् प्राणः, कः स प्रजापतिर्जगार ग्रसितवान् । कः स जगारेति प्रश्नमेके । भुवनस्य भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं भूरादिः सर्वो लोकस्तस्य गोपा गोपायिता रक्षिता गोप्तेत्यर्थः । तं कं प्रजापतिं हे कापेय नाभिपश्यन्ति न जानन्ति मर्त्या मरणधर्माणोऽविवेकिनो वा हेऽभिप्रतारिन्बहुधाध्यात्माधिदैवताधिभूतप्रकारैर्वसन्तम् । यस्मै वा एतदहन्यहन्यन्नमदनायाह्रियते संस्क्रियते च तस्मै प्रजापतय एतदन्नं न दत्तमिति ॥ ६ ॥

क—प्रजापतिने अर्थात् वायुने अग्नि आदिको और प्राणने वागादिको ग्रस लिया है । किन्हीं-किन्हींका मत है कि जिसने ग्रसा है वह एक देव कौन है ? इस प्रकार यह प्रश्न है । वह भुवनका—जिसमें भूत (प्राणी) आदि होते हैं उस भूर्लोक आदि समस्त लोकोंको भुवन कहते हैं, उसका गोपा—गोपायिता अर्थात् रक्षा करनेवाला है । हे कापेय ! उस क अर्थात् प्रजापतिको अथवा हे अभिप्रतारिन् ! अनेक प्रकारसे यानी अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत भेदसे वास करते हुए उस देवको मर्त्य—मरणधर्मा अथवा अविवेकी पुरुष नहीं देखते । तथा जिसके भक्षणके लिये नित्यप्रति इस अन्नका आहरण—संस्कार किया जाता है उस प्रजापतिको ही यह अन्न नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

* * *

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७॥

उस वाक्यका कपिगोत्रोत्पन्न शौनकने मनन किया और फिर उस [ब्रह्मचारी] के पास आकर कहा—'जो देवताओंका आत्मा, प्रजाओंका

उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणशील और मेधावी है, जिसकी बड़ी महिमा कही गयी है, जो स्वयं दूसरोंसे न खाया जानेवाला और जो वस्तुतः अन्न नहीं हैं उनको भी भक्षण कर जाता है, हे ब्रह्मचारिन् ! उसीकी हम उपासना करते हैं । [ऐसा कहकर उसने सेवकोंको आज्ञा दी कि] 'इस ब्रह्मचारीको भिक्षा दो' ॥ ७ ॥

तदु ह ब्रह्मचारिणो वचनं शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानो मनसालोचयन्ब्रह्मचारिणं प्रत्येयायाजगाम । गत्वा चाह यं त्वमवोचो न पश्यन्ति मर्त्या इति तं वयं पश्यामः; कथम् ? आत्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्य, किञ्च देवानामग्न्यादीनामात्मनि संहृत्य ग्रसित्वा पुनर्जनितोत्पादयिता वायुरूपेणाधिदैवतमग्न्यादीनाम् । अध्यात्मं च प्राणरूपेण वागादीनां प्रजानां च जनिता ।

कपिगोत्रोत्पन्न शौनक ब्रह्मचारीके उस वचनकी मनसे आलोचना कर ब्रह्मचारीके समीप गया तथा जाकर इस प्रकार बोला—जिसके विषयमें तुमने कहा कि मर्त्यगण उसे नहीं देखते उसे हम देखते हैं। किस प्रकार देखते हैं ? वह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमका आत्मा तथा अग्नि आदि देवताओंका उत्पत्तिकर्त्ता अर्थात् अधिदैवत वायुरूपसे अपनेमें लीन कर अग्नि आदिका पुनः उत्पन्न करनेवाला और अध्यात्मप्राणरूपसे वागादि प्रजाओंकी उत्पत्ति करनेवाला है ।

अथ वात्मा देवानामग्निवागादीनां जनिता प्रजानां स्थावरजङ्गमानाम् । हिरण्यदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्रोऽभग्नदंष्ट्र इति यावत् । बभसो भक्षणशीलः । अनसूरिः सूरिर्मे-

अथवा यों समझो कि अग्नि और वाक् आदि देवोंका आत्मा और स्थावर-जङ्गम प्रजाओंका उत्पत्तिकर्त्ता है । हिरण्यदंष्ट्र—अमृतदंष्ट्र अर्थात् जिसकी डाढ़ें कभी नहीं टूटतीं, 'बभसः'—भक्षणशील, 'अनसूरिः'—सूरि मेधावीको कहते हैं, जो सूरि न

धावी न सूरिरसूरिस्तत्प्रतिषेधोऽनसूरिः सूरिरेवेत्यर्थः । महान्तमतिप्रमाणमप्रमेयमस्य प्रजापतेर्महिमानं विभूतिमाहुर्ब्रह्मविदः । यस्मात्स्वयमन्यैरनद्यमानोऽभक्ष्यमाणो यदनन्नमग्निवागादिदेवतारूपमत्ति भक्षयतीति । वा इति निरर्थकः । वयं हे ब्रह्मचारिन् आ इदमेवं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म वयमा उपास्महे । वयमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । अन्ये न वयमिदमुपास्महे, किं तर्हि ? परमेव ब्रह्मोपास्मह इति वर्णयन्ति । दत्तास्मै भिक्षामित्यवोचद् भृत्यान् ॥ ७ ॥

हो वह 'असूरि' कहलाता है उसका भी प्रतिषेध 'अनसूरि' है अर्थात् वह सूरि (मेधावी) ही है । ब्रह्मवेत्तालोग इस प्रजापतिकी महती—अति प्रमाणवाली अर्थात् अप्रमेय महिमा विभूति बतलाते हैं; क्योंकि यह स्वयं दूसरोंसे अभक्ष्यमाण—न खाया जानेवाला और जो अग्नि आदि देवतारूप अनन्न (दूसरोंका अन्न नहीं) है उसका अदन—भक्षण करता है। 'वै' यह अव्यय निरर्थक है । हे ब्रह्मचारिन् ! हम इस उपर्युक्त लक्षणोंवाले ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं । 'उपास्महे' इस क्रियाका व्यवधानयुक्त 'वयम्' इस कर्तासे सम्बन्ध है । कोई-कोई ['ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे' इसका 'ब्रह्मचारिन् न इदं उपास्महे' ऐसा पदच्छेद कर] हम इस ब्रह्मकी उपासना नहीं करते; तो किसकी करते हैं ? परब्रह्मकी ही उपासना करते हैं—ऐसी व्याख्या करते हैं । फिर उसने सेवकोंसे कहा कि 'इसे भिक्षा दो'॥७॥

* * *

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतꣳसैषा

विराडन्नादी तयेदꣳसर्वं दृष्टꣳसर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वे ये [अग्न्यादि और वायु पाँच [वागादिसे] अन्य हैं तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच अन्य हैं। इस प्रकार ये सब दश होते हैं। ये दश कृत (कृतनामक पासेसे उपलक्षित द्यूत) हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओंमें ये अन्न ही दश कृत हैं। यह विराट् ही अन्नादी (अन्न भक्षण करनेवाला) है। उसके द्वारा यह सब देखा जाता है। जो ऐसा जानता है उसके द्वारा यह सब देख लिया जाता है और वह अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते हि भिक्षाम्। ते वै ये ग्रस्यन्तेऽग्न्यादयो यश्च तेषां ग्रसिता वायुः पञ्चान्ये वागादिभ्यः तथान्ये तेभ्यः पञ्चाध्यात्मं वागादयः प्राणश्च, ते सर्वे दश भवन्ति संख्यया, दश सन्तस्तत्कृतं भवति ते। चतुरङ्क एकाय एवं चत्वारस्त्र्यङ्काय एवं त्रयोऽपरे द्व्यङ्काय

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वे ये अग्नि आदि, जो कि भक्षण किये जाते हैं और जो उन्हें भक्षण करनेवाला वायु है—ये पाँचों वागादिसे अन्य हैं तथा उनसे वागादि और प्राण—ये पाँच अध्यात्म अन्य हैं। ये सब संख्यामें दश होते हैं और दश होनेके कारण ये कृत हैं। उनमें एक पासा चार अङ्कोंवाला होता है; उसी प्रकार [अग्नि आदि और वागादि—ये] चार हैं। जिस प्रकार तीन अङ्कोंवाला पासा होता है उसी प्रकार [अग्न्यादि और वागादिमेंसे एक-एकको छोड़कर] शेष अन्न हैं। जिस प्रकार दो अङ्कोंवाला पासा होता है उसी प्रकार [दो-दोको छोड़कर] अन्य

एवं द्वावन्यावेकाङ्काय एवमेकोन्य इति । एवं दश सन्तस्तत्कृतं भवति ।

यत एवम्, तस्मात्सर्वासु दिक्षु दशस्वप्यग्न्याद्या वागाद्याश्च दशसंख्यासामान्यादन्नमेव । "दशाक्षरा विराट्" "विराडन्नम्" इति हि श्रुतिः । अतोऽन्नमेव दशसंख्यत्वात् । तत एव दश कृतं कृतेऽन्तर्भावाच्चतुरङ्कायत्वेनेत्यवोचाम । सैषा विराड् दशसंख्या सत्यन्नं चान्नादी—अन्नादिनी च कृतत्वेन । कृते हि दशसंख्यान्तर्भूतातोऽन्नमन्नादिनी च सा ।

अन्न हैं तथा जिस प्रकार एक अङ्कवाला पासा होता है उसी प्रकार इनसे भिन्न [वायु और प्राण —ये अन्नादी] हैं । इस प्रकार [४, ३, २, १] ये सब मिलकर दश होनेके कारण ही कृत हैं ।

क्योंकि ऐसा है, इसलिये सम्पूर्ण यानी दशों दिशाओंमें अग्न्यादि और वागादि—ये दश संख्यामें समान होनेके कारण अन्न ही हैं । "विराट् दश अक्षरोंवाला है" "विराट् अन्न है" ऐसी श्रुति भी है । अतः दश संख्यावाले होनेके कारण ये [अग्न्यादि और वागादि] अन्न ही हैं । इसीलिये ये दश कृत ही हैं, क्योंकि चार अङ्कवाला होनेसे कृतनामक पासेमें सब पासोंका अन्तर्भाव हो जाता है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । वह यह विराट् देवता दश संख्यावाली होती हुई अन्न और अन्नादी—अन्नादिनी अर्थात् अन्न भक्षण करनेवाली है, क्योंकि वह कृतरूपा है । कृतमें दश संख्याका अन्तर्भाव है, इसलिये यह अन्न और अन्नादिनी है ।

संवर्गविद्यायाः सर्वोपलब्धिफलत्वम्

तथा विद्वान्दशदेवतात्मभूतः सन्विराट्त्वेन दशसंख्ययान्नं कृतसंख्ययान्नादी च। तयान्नान्नादिन्येदं सर्वं जगद्दशदिक्संस्थं दृष्टं कृतसंख्याभूतयोपलब्धम्। एवंविदोऽस्य सर्वं कृतसंख्याभूतस्य दशदिक्संबद्धं दृष्टमुपलब्धं भवति। किञ्चान्नादश्च भवति य एवं वेद यथोक्तदर्शी। द्विरभ्यास उपासनसमाप्त्यर्थः ॥८॥

इस प्रकार जाननेवाला उपासक दश देवताओंसे तादात्म्य प्राप्त कर दश संख्याके कारण विराट्रूपसे अन्न और कृतरूपसे अन्नादी हो जाता है। इस प्रकार कृतसंख्याभूत उस अन्न और अन्नादिनीद्वारा दशों दिशाओंसे सम्बद्ध यह सारा जगत् दृष्ट अर्थात् उपलब्ध कर लिया गया है। इस प्रकार जाननेवाले कृतसंख्याभूत इस विद्वान्को दशों दिशाओंसे सम्बद्ध सब कुछ दृष्ट यानी उपलब्ध हो जाता है। तथा पूर्वोक्त दृष्टिवाला जो उपासक इस प्रकार जानता है वह अन्नाद [दीप्ताग्नि] भी होता है। 'य एवं वेद य एवं वेद' यह द्विरुक्ति उपासनाकी समाप्तिके लिये है ॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥३॥

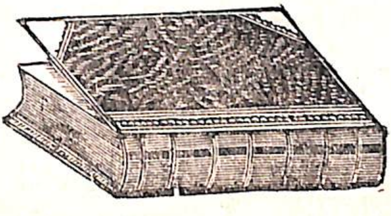

चतुर्थ खण्ड

सत्यकामका ब्रह्मचर्य-पालन और वनमें जाकर गौ चराना

सर्वं वागाद्यग्न्यादि चान्नान्नादत्वसंस्तुतं जगदेकीकृत्य षोडशधा प्रविभज्य तस्मिन्ब्रह्मदृष्टिर्विधातव्येत्यारभ्यते । श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनायाख्यायिका ।

अन्न और अन्नादरूपसे भली प्रकार स्तुत हुए वागादि और अग्न्यादिरूप सम्पूर्ण जगत्को कारणरूपसे एक कर फिर उसके सोलह विभाग कर उसमें ब्रह्मदृष्टिका विधान करना है; इसीके लिये अब आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है वह श्रद्धा और तपका ब्रह्मोपासनाका अङ्गत्व प्रदर्शित करनेके लिये है ।

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १ ॥

जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जबालाको सम्बोधित करके निवेदन किया—'हे पूज्ये ! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक [गुरुकुलमें] निवास करना चाहता हूँ; [बता] मैं किस गोत्रवाला हूँ ?' ॥ १ ॥

सत्यकामो ह नामतः, हशब्द ऐतिह्यार्थः, जबालाया अपत्यं जाबालो जबालां स्वां मातरमामन्त्रयाञ्चक्र आमन्त्रितवान् । ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायग्रहणाय हे भवति विवत्स्याम्याचार्यकुले

'ह' शब्द इतिहासका द्योतक है । जबालाके पुत्रने, जो नामसे सत्यकाम था, अपनी माता जबालाको आमन्त्रित—सम्बोधित [करके निवेदन] किया—'हे पूजनीये ! मैं स्वाध्यायग्रहणके लिये ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुलमें निवास करूँगा ।

किंगोत्रोऽहं किमस्य मम गोत्रं सोऽहं किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥

मैं किंगोत्र हूँ ? मेरा क्या गोत्र है ? अर्थात् मैं किस गोत्रवाला हूँ ?' ।१।

* * *

एवं पृष्टा—

इस प्रकार पूछी जानेपर—

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

उसने उससे कहा—'हे तात ! तू जिस गोत्रवाला है उसे मैं नहीं जानती । पहले मैं पतिके घर आये हुए बहुत-से अतिथियोंकी सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी । [परिचर्यामें संलग्न होनेसे गोत्र आदिकी ओर मेरा ध्यान नहीं था] उन्हीं दिनों युवावस्थामें जब मैंने तुझे प्राप्त किया [तुम्हारे पिता परलोकवासी हो गये, अतः उनसे भी पूछ न सकी] इसलिये मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं तो जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है । अतः तू अपनेको 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना' ॥ २ ॥

जबाला सा हैनं पुत्रमुवाच—नाहमेतत्तव गोत्रं वेद, हे तात यद्गोत्रस्त्वमसि । कस्मान्न वेत्सि ? इत्युक्ताह—बहु भर्तृगृहे परिचर्याजातमतिथ्यभ्यागतादि चरन्त्यहं परिचारिणी परिचरन्तीति परिचरणशीलैवाहम्, परिचरणचित्ततया गोत्रादिस्मरणे मम मनो

उस जबालाने अपने उस पुत्रसे कहा—'हे तात ! जिस गोत्रवाला तू है मैं इस तेरे गोत्रको नहीं जानती ।' क्यों नहीं जानती ?—इस प्रकार कही जानेपर वह बोली—पतिके घरमें अतिथि और अभ्यागतादिकोंकी बहुत टहल करनेवाली मैं परिचारिणी—परिचर्या करनेवाली अर्थात् शुश्रूषापरायणा थी । इस प्रकार परिचर्यामें चित्त लगा रहनेके कारण गोत्रादिको याद रखनेमें मेरा

नाभूत् । यौवने च तत्काले त्वामलभे लब्धवत्यस्मि । तदैव ते पितोपरतः । अतोऽनाथाहं साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स त्वं सत्यकाम एवाहं जाबालोऽस्मीत्याचार्याय ब्रुवीथाः, यद्याचार्येण पृष्ट इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

मन नहीं था । तथा उस समय युवावस्थामें ही मैंने तुझे प्राप्त किया था । उसी समय तेरे पिताका देहान्त हो गया । इसलिये मैं अनाथा हो गयी और इसीसे मुझे इसका कुछ पता नहीं कि तू किस गोत्रवाला है । मैं तो जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है; अतः तात्पर्य यह है कि यदि आचार्य तुझसे पूछें तो तू यही कह देना कि 'मैं सत्यकाम जाबाल हूँ' ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

उसने हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं पूज्य श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे आपकी सन्निधिमें आया हूँ' ॥३॥

स ह सत्यकामो हारिद्रुमतं हरिद्रुमतोऽपत्यं हारिद्रुमतं गौतमं गोत्रत एत्य गत्वोवाच ब्रह्मचर्यं भगवति पूजावति त्वयि वत्स्याम्यत उपेयामुपगच्छेयं शिष्यतया भगवन्तम् ॥ ३ ॥

उस सत्यकामने, जो गोत्रतः गौतम थे, उन हारिद्रुमत—हरिद्रुमान्‌के पुत्रके पास जाकर कहा—'आप भगवान्—पूज्यवरके यहाँ मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे मैं आपकी सन्निधिमें उपसत्ति—शिष्यभावसे गमन करता हूँ' ॥ ३ ॥

इत्युक्तवन्तम्—

इस प्रकार कहनेवाले—

तꣳहोवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳसा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न

वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳसत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति॥ ४ ॥

उससे [गौतमने] कहा—'हे सोम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?' उसने कहा—'भगवन् ! मैं जिस गोत्रवाला हूँ उसे नहीं जानता । मैंने मातासे पूछा था । उसने मुझे यह उत्तर दिया कि 'पहले मैं पतिके घर आये हुए बहुत-से अतिथियोंकी सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी [परिचर्यामें संलग्न होनेसे ही गोत्र आदिकी ओर मेरा ध्यान नहीं रहा] उन्हीं दिनों युवावस्थामें जब मैंने तुझे प्राप्त किया [तुम्हारे पिता परलोकवासी हो गये, अतः उनसे भी न पूछ सकी] इसलिये मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है ।' अतः हे गुरो ! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ' ॥ ४ ॥

तं होवाच गौतमः—किंगोत्रो नु सोम्यासि ? इति, विज्ञातकुलगोत्रः शिष्य उपनेतव्यः,इति पृष्टः प्रत्याह सत्यकामः । स होवाच नाहमेतद्वेद भोः, यद्गोत्रोऽहमस्मि, किं त्वपृच्छं पृष्टवानस्मि मातरम्; सा मया पृष्टा मां प्रत्यब्रवीन्माता—बह्वहं चरन्तीत्यादि पूर्ववत् । तस्या अहं वचः स्मरामि, सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

उससे गौतमने कहा—'हे सोम्य ! तू किस गोत्रवाला है ? क्योंकि जिसके कुल और गोत्रका पता हो उसी शिष्यका उपनयन करना चाहिये ।' इस प्रकार पूछे जानेपर सत्यकामने उत्तर दिया । वह बोला—'भगवन् ! मैं जिस गोत्रवाला हूँ, उसे नहीं जानता, किंतु मैंने मातासे पूछा था, मेरेद्वारा पूछे जानेपर माताने मुझे यही उत्तर दिया कि 'मैं बहुत-से अतिथियोंकी सेवा-टहल करनेवाली' इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये । मुझे उसके वे वचन याद हैं; अतः हे गुरो ! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ' ॥ ४ ॥

* * *

तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳसंपेदुः ॥ ५ ॥

उससे गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता । अतः हे सोम्य ! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, क्योंकि तूने सत्यका त्याग नहीं किया ।' तब उसका उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सोम्य ! तू इन गौओंके पीछे जा ।' उन्हें ले जाते समय उसने कहा—'इनकी एक सहस्र गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा' जबतक कि वे एक सहस्र हुईं वह बहुत वर्षोंतक वनमें ही रहा ॥ ५ ॥

तं होवाच गौतमो नैतद्वचोऽब्राह्मणो विशेषेण वक्तुमर्हत्यार्जवार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्मणा नेतरे स्वभावतः । यस्मान्न सत्याद्ब्राह्मणजातिधर्मादगा नापेतवानसि, अतो ब्राह्मणं त्वामुपनेष्येऽतः संस्कारार्थं होमाय समिधं सोम्याहरेत्युक्त्वा तमुपनीय कृशानामबलानां गो-

उससे गौतमने कहा—'ऐसा सरलार्थयुक्त वचन विशेषतः कोई अब्राह्मण नहीं बोल सकता, क्योंकि ब्राह्मण तो स्वभावतः ही सरल होते हैं, और लोग नहीं । क्योंकि तू ब्राह्मणजातिके धर्म सत्यसे विचलित अर्थात् भ्रष्ट नहीं हुआ, अतः मैं तुझ ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार करूँगा । इसलिये हे सोम्य ! संस्कारार्थ होम करनेके लिये तू समिध ले आ ।' ऐसा कह उसका उपनयन करनेके अनन्तर उसने गौओंके यूथमेंसे

यूथान्निराकृत्यापकृष्य चतुःशता चत्वारि शतानि गवामुवाचेमा गाः सोम्यानुसंव्रजानुगच्छ ।

इत्युक्तस्ता अरण्यं प्रत्यभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणापूर्णेन सहस्रेण नावर्तेय न प्रत्यागच्छेयम् । स एवमुक्त्वा गा अरण्यं तृणोदकबहुलं द्वन्द्वरहितं प्रवेश्य स ह वर्षगणं दीर्घं प्रोवास प्रोषितवान् । ताः सम्यग्गावो रक्षिता यदा यस्मिन्काले सहस्रं संपेदुः संपन्ना बभूवुः ॥५॥

चार सौ कृश और निर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'हे सोम्य! तू इन गौओंका अनुगमन कर—इनके पीछे-पीछे जा ।'

इस प्रकार कहे जानेपर उन्हें वनकी ओर हाँकते हुए सत्यकामने कहा—'बिना एक सहस्र हुए अर्थात् इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा ।' ऐसा कह वह उन गौओंको एक वनमें, जिसमें कि तृण और जलकी अधिकता थी तथा जो सर्वथा द्वन्द्व-रहित था, ले गया और वर्षों तक—बहुत कालपर्यन्त, जबतक कि सम्यक् प्रकारसे रक्षा की हुई वे गौएँ एक सहस्र हुईं, वहीं रहा ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳसंपेदुः ॥ ५ ॥

उससे गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता । अतः हे सोम्य ! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, क्योंकि तूने सत्यका त्याग नहीं किया ।' तब उसका उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सोम्य ! तू इन गौओंके पीछे जा ।' उन्हें ले जाते समय उसने कहा—'इनकी एक सहस्र गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा' जबतक कि वे एक सहस्र हुईं वह बहुत वर्षोंतक वनमें ही रहा ॥ ५ ॥

तं होवाच गौतमो नैतद्वचोऽब्राह्मणो विशेषेण वक्तुमर्हत्यार्जवार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्मणा नेतरे स्वभावतः । यस्मान्न सत्याद्ब्राह्मणजातिधर्मादगा नापेतवानसि, अतो ब्राह्मणं त्वामुपनेष्येऽतः संस्कारार्थं होमाय समिधं सोम्याहरेत्युक्त्वा तमुपनीय कृशानामबलानां गो-

उससे गौतमने कहा—'ऐसा सरलार्थयुक्त वचन विशेषतः कोई अब्राह्मण नहीं बोल सकता, क्योंकि ब्राह्मण तो स्वभावतः ही सरल होते हैं, और लोग नहीं । क्योंकि तू ब्राह्मणजातिके धर्म सत्यसे विचलित अर्थात् भ्रष्ट नहीं हुआ, अतः मैं तुझ ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार करूँगा । इसलिये हे सोम्य ! संस्कारार्थ होम करनेके लिये तू समिध ले आ ।' ऐसा कह उसका उपनयन करनेके अनन्तर उसने गौओंके यूथमेंसे

यूथान्निराकृत्यापकृष्य चतुःशता चत्वारि शतानि गवामुवाचेमा गाः सोम्यानुसंव्रजानुगच्छ ।

इत्युक्तस्ता अरण्यं प्रत्यभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणापूर्णेन सहस्रेण नावर्तेय न प्रत्यागच्छेयम् । स एवमुक्त्वा गा अरण्यं तृणोदकबहुलं द्वन्द्वरहितं प्रवेश्य स ह वर्षगणं दीर्घं प्रोवास प्रोषितवान् । ताः सम्यग्गावो रक्षिता यदा यस्मिन्काले सहस्रं संपेदुः संपन्ना बभूवुः ॥५॥

चार सौ कृश और निर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'हे सोम्य ! तू इन गौओंका अनुगमन कर—इनके पीछे-पीछे जा ।'

इस प्रकार कहे जानेपर उन्हें वनकी ओर हाँकते हुए सत्यकामने कहा—'बिना एक सहस्र हुए अर्थात् इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा ।' ऐसा कह वह उन गौओंको एक वनमें, जिसमें कि तृण और जलकी अधिकता थी तथा जो सर्वथा द्वन्द्वरहित था, ले गया और वर्षों तक—बहुत कालपर्यन्त, जबतक कि सम्यक् प्रकारसे रक्षा की हुई वे गौएँ एक सहस्र हुईं, वहीं रहा ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

वृषभद्वारा सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश

तमेतं श्रद्धातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्सम्बन्धिनी तुष्टा सत्यृषभमनुप्रविश्यर्षभभावमापन्नानुग्रहाय ।

श्रद्धा और तपसे सिद्ध हुए उस इस सत्यकामसे दिक्सम्बन्धिनी वायुदेवता संतुष्ट होकर ऋषभ (साँड) में अनुप्रविष्ट हुई अर्थात् उसपर कृपा करनेके लिये ऋषभभावको प्राप्त हुई ।

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

तब उससे साँडने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया । [वह बोला–] 'हे सोम्य ! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे' ॥ १ ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवादाभ्युक्तवान्सत्यकाम ३ इति संबोध्य, तमसौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ । प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः, पूर्णा तव प्रतिज्ञा, अतः प्रापय नोऽस्मानाचार्यकुलम् ॥ १ ॥

तब उससे साँडने 'सत्यकाम !' इस प्रकार सम्बोधन करते हुए कहा । उसे सत्यकामने 'भगवन् !' ऐसा कहकर प्रतिवचन––प्रत्युत्तर दिया । [साँडने कहा–] 'हे सोम्य ! हम एक सहस्र हो गये हैं, तेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी; अतः अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे' ॥ १ ॥

किं च-

तथा—

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

'[क्या] मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' तब [सत्यकामने] कहा—'भगवान् मुझे [अवश्य] बतलावें ।' साँड उससे बोला—'पूर्व दिक्कला, पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला, हे सोम्य ! यह ब्रह्मका 'प्रकाशवान्' नामक चार कलाओंवाला पाद है' ॥ २ ॥

अहं ब्रह्मणः परस्य ते तुभ्यं पादं ब्रवाणि कथयानि ? इत्युक्तः प्रत्युवाच—ब्रवीतु कथयतु मे मह्यं भगवान् । इत्युक्त ऋषभस्तस्मै सत्यकामाय होवाच—प्राची दिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । तथा प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य ब्रह्मणः पादश्चतुष्कलश्चतस्रः कला अवयवा यस्य सोऽयं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम प्रकाशवानित्येव नामाभिधानं यस्य । तथोत्तरेऽपि पादास्त्रयश्चतुष्कला ब्रह्मणः ॥२॥

'[क्या] मैं तुझसे परब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ—कहूँ ?' ऐसा कहे जानेपर सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवान् मुझे [अवश्य] बतलावें ।' इस प्रकार कहे जानेपर साँडने उस सत्यकामसे कहा—'पूर्व दिक्कला उस ब्रह्मके पादका चौथा भाग है । इसी प्रकार पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला है—हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कलपाद है—जिसमें चार कलाएँ अवयव हैं ऐसा यह ब्रह्मका प्रकाशवान् नामका अर्थात् 'प्रकाशवान्' यही जिसका नाम है [ऐसा एक पाद है] । इसी प्रकार ब्रह्मके आगेके तीन पाद भी चार कलाओंवाले ही हैं' ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ३ ॥

स यः कश्चिदेवं यथोक्तमेतं ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादं विद्वान्प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्टमुपास्ते तस्येदं फलं प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रख्यातो भवतीत्यर्थः । तथादृष्टं फलं प्रकाशवतो ह लोकान्देवादिसम्बन्धिनो मृतः सञ्जयति प्राप्नोति । य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३॥

वह, जो कोई विद्वान् ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी इस प्रकार 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है उसे यह फल मिलता है कि वह इस लोकमें प्रकाशवान् अर्थात् विख्यात होता है । तथा अदृष्टफल यह होता है कि वह मरनेपर देवतादिसे सम्बद्ध प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है, जो विद्वान् कि इस प्रकार ब्रह्मके इस चतुष्कलपादकी 'प्रकाशवान्' इस रूपसे उपासना करता है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

अग्निद्वारा ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

'अग्नि तुझे [दूसरा] पाद बतलावेगा'—ऐसा [कहकर वृषभ मौन हो गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको [गुरुकुलकी ओर] हाँक दिया । वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गौओंको रोक समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

सोऽग्निस्ते पादं वक्तेत्युपररामर्षभः । स सत्यकामो ह श्वोभूते परेद्युर्नैत्यकं नित्यं कर्म कृत्वा गा अभि प्रस्थापयाञ्चकाराचार्यकुलं प्रति । ताः शनैश्चरन्त्य आचार्यकुलाभिमुख्यः प्रस्थिता यत्र यस्मिन्काले देशेऽभि सायं निशायामभिसंबभूवुरेकत्राभिमुख्यः संभूताः । तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ऋषभवचो ध्यायन् ॥ १ ॥

वह साँड 'अग्नि तुझे [दूसरा] पाद बतलावेगा'—ऐसा कहकर मौन हो गया । दूसरे दिन सत्यकामने नैत्यक—नित्यकर्म करनेके अनन्तर गौओंको गुरुकुलकी ओर चला दिया । वे गुरुकुलकी ओर धीरे-धीरे चलती हुई जिस समय और जिस स्थानमें अभि सायम्—रातमें एकत्रित हुईं वहीं अग्नि स्थापित कर गौओंको रोक समिधाधान कर साँडके वचनोंको याद करता हुआ अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

उससे अग्निने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । तब उसने 'भगवन् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति संबोध्य, तमसौ सत्यकामो भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ ॥ २ ॥	उससे अग्निने 'सत्यकाम !' इस प्रकार सम्बोधन करते हुए कहा । उसे सत्यकामने 'भगवन् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

* * *

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकामने कहा—] 'भगवान् मुझे [अवश्य] बतलावें ।' तब उसने उससे कहा—'पृथिवी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है । हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच—पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलेत्यात्मगोचरमेव दर्शनमग्निरब्रवीत् । एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥	'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकामने कहा—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब उसने उससे कहा—'पृथिवी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है'—इस प्रकार अग्निने अपनेसे सम्बद्ध दर्शनका निरूपण किया—'हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चार कलाओंवाला पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

* * *

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'अनन्तवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'अनन्तवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

स यः कश्चिद्यथोक्तं पादमनन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्ते स तथैव तद्गुणो भवत्यस्मिँल्लोके मृतश्चानन्तवतो ह लोकान्स जयति य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

वह, जो कोई पुरुष उपर्युक्त पादकी अनन्तवत्त्व गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें उसी प्रकार—उसी गुणवाला हो जाता है, तथा मरनेपर अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष——इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

हंसद्वारा ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥ तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

'हंस तुझे [तीसरा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर अग्नि निवृत्त हो गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको आचार्यकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायङ्कालमें जहाँ एकत्रित हुईं वह उसी जगह अग्नि प्रज्वलित कर, गौओंको रोक और समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठा ॥ १ ॥ तब हंसने उसके समीप उतरकर कहा—'सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' ॥ २ ॥

सोऽग्निर्हंसस्ते पादं वक्तेत्युक्त्वोपरराम । हंस आदित्यः, शौक्ल्यात्पतनसामान्याच्च । स ह श्वोभूत इत्यादि समानम् ॥ १-२ ॥

वह अग्नि 'हंस तुझे तीसरा पाद बतलावेगा' ऐसा कहकर उपरत हो गया । शुक्लता तथा उड़नेमें समानता होनेके कारण यहाँ आदित्यको हंस कहा गया है । 'स ह श्वोभूते' आदि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

[हंसने कहा—] 'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकाम बोला—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब वह उससे बोला— 'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत् कला है । हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'ज्योतिष्मान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

जो कोई इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादको 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें ज्योतिष्मान् होता है तथा ज्योतिष्मान् लोकोंको जीत लेता है, जो कोई कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादको 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्येति ज्योतिर्विषयमेव च दर्शनं प्रोवाचातो हंसस्यादित्यत्वं प्रतीयते । विद्वत्फलम्—ज्योतिष्मान्दीप्तियुक्तोऽस्मिँल्लोके भवति । चन्द्रादित्यादीनां ज्योतिष्मत एव च मृत्वा लोकाञ्जयति; समानमुत्तरम् ॥ ३-४ ॥

'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्र कला है, विद्युत् कला है, हे सोम्य यह' इत्यादि वाक्यसे उसने ज्योतिर्विषयक दर्शनका ही निरूपण किया है; इससे हंसका आदित्यत्व प्रतीत होता है । इस प्रकारके विद्वान्को प्राप्त होनेवाला फल—वह इस लोकमें ज्योतिष्मान्—दीप्तियुक्त होता है तथा मरनेपर चन्द्र एवं आदित्यादिके ज्योतिष्मान् लोकोंको ही जीत लेता है । आगेका अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥७॥

अष्टम खण्ड

मद्गुद्वारा ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

'मद्गु तुझे [चौथा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर हंस चला गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गायोंको रोक समिधाधान कर अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया ॥ १ ॥

हंसोऽपि मद्गुष्टे पादं वक्तेत्युपरराम । मद्गुरुदकचरः पक्षी स चाप्सम्बन्धात्प्राणः । स ह श्वोभूत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

हंस भी 'मद्गु तुझे [चौथा] पाद बतलावेगा' ऐसा कहकर चला गया । 'मद्गु' जलचर पक्षीको कहते हैं; जलसे सम्बन्ध होनेके कारण वह प्राण ही है । 'स ह श्वोभूते' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य पूर्ववत् है ।१।

* * *

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

मद्गुने उसके पास उतरकर कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

[मद्गु बोला—] 'हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकाम बोला—] 'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब वह उससे बोला—'प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है । हे सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'आयतनवान्' नामवाला है' ॥ ३ ॥

स च मद्गुः प्राणः स्वविषयमेव च दर्शनमुवाच प्राणः कलेत्याद्यायतनवानित्येवं नाम । आयतनं नाम मनः सर्वकरणोपहृतानां भोगानां तद्यस्मिन्पादे विद्यत इत्यायतनवान्नाम पादः ॥ २-३ ॥

उस मद्गु यानी प्राणने भी 'प्राण कला है' इत्यादि 'आयतनवान्' इस नामवाला पाद है' ऐसा कहकर अपनेसे सम्बद्ध दर्शनका ही निरूपण किया । समस्त इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये हुए भोगोंका आयतन मन ही है; वह जिस पादमें विद्यमान है वह पाद 'आयतनवान्' नामवाला है ॥२-३॥

* * *

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है वह इस लोकमें आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकोंको जीत लेता है, जो कोई कि इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है ॥ ४ ॥

तं पादं तथैवोपास्ते यः स आयतनवानाश्रयवानस्मिँल्लोके भवति । तथायतनवत एव सावकाशाँल्लोकान्मृतो जयति । य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥४॥

उस पादकी जो उसी प्रकार उपासना करता है वह इस लोकमें 'आयतनवान्'—आश्रयवाला होता है तथा मरनेपर आयतनवान्—अवकाशयुक्त लोकोंको ही जीतता है । 'य एतमेवम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्यायेऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥८॥

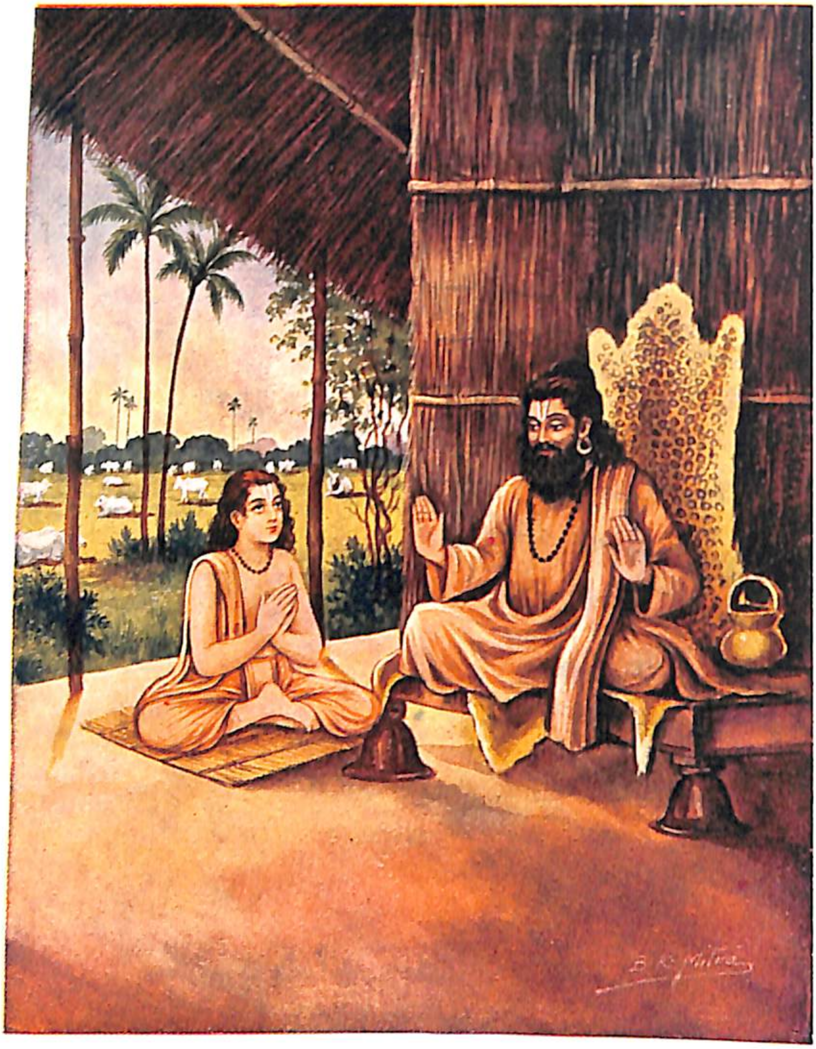

गुरुभक्त सत्यकाम [पृष्ठ ३९७

नवम खण्ड

सत्यकामका आचार्यकुलमें पहुँचकर आचार्यद्वारा
पुनः उपदेश ग्रहण करना

स एवं ब्रह्मवित्सन्—	इस प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता होकर—

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

आचार्यकुलमें पहुँचा । उससे आचार्यने कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया——'भगवन् !' ॥ १ ॥

प्राप ह प्राप्तवानाचार्यकुलम् ।	आचार्यकुलमें पहुँचा । उससे
तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३	आचार्यने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । तब उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर
इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।१।	दिया ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

'हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है; तुझे किसने उपदेश दिया है ?' ऐसा [आचार्यने पूछा] । तब उसने उत्तर दिया 'मनुष्योंसे भिन्न [देवताओं] ने मुझे उपदेश दिया है, अब मेरी इच्छाके अनुसार आप पूज्यपाद ही मुझे विद्याका उपदेश करें' ॥ २ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि ।	'हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है ।' कृतार्थ ब्रह्म-
प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनश्च	वेत्ता ही प्रसन्नेन्द्रिय, हासयुक्त मुख-

निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद्भवति । अत आचार्यो ब्रह्मविदिव भासीति को न्विति वितर्कयन्नुवाच कस्त्वामनुशशासेति ।

स चाह सत्यकामोऽन्ये मनुष्येभ्यो देवता मामनुशिष्टवत्यः, कोऽन्यो भगवच्छिष्यं मां मनुष्यः सन्ननुशासितुमुत्सहेतेत्यभिप्रायः । अतोऽन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् । भगवांस्त्वेव मे कामे ममेच्छायां ब्रूयात्किमन्यैरुक्तेन नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥२॥

वाला और चिन्तारहित हुआ करता है । इसीसे आचार्यने कहा कि 'तू ब्रह्मवेत्ता-सा प्रतीत होता है' और 'को नु' इस प्रकार वितर्क करते हुए पूछा 'तुझे किसने उपदेश दिया है ?'

उस सत्यकामने कहा—'मनुष्योंसे अन्य देवताओंने मुझे उपदेश दिया है ।' तात्पर्य यह है कि 'मनुष्य होनेपर तो मुझ श्रीमान्के शिष्यको उपदेश करनेका साहस ही कौन कर सकता है ?' अतः उसने यही प्रतिज्ञा की कि 'मुझे मनुष्योंसे अन्यने उपदेश किया है ।' 'अब मेरी इच्छाके अनुसार भगवान् ही मुझे उपदेश करें, औरोंके कहे हुएसे मुझे क्या लेना है ?' अभिप्राय यह है कि 'मैं उसे कुछ भी नहीं समझता' ॥ २ ॥

किं च—

यही नहीं——

श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

'मैंने श्रीमान्-जैसे ऋषियोंसे सुना है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है ।' तब आचार्यने उसे उसी विद्याका उपदेश किया । उसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ, न्यून नहीं हुआ [अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही] ॥ ३ ॥

श्रुतं हि यस्मान्मम विद्यत एवास्मिन्नर्थे भगवद्दृशेभ्यो भगवत्समेभ्य ऋषिभ्यः, आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापति प्राप्नोतीत्यतो भगवानेव ब्रूयादित्युक्त आचार्योऽब्रवीत्तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम् । अत्र ह न किञ्चन षोडशकलविद्यायाः किञ्चिदेकदेशमात्रमपि न वीयाय न विगतमित्यर्थः । द्विरभ्यासो विद्यापरिसमाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

‘क्योंकि इस विषयमें भगवान्—श्रीमान्‌के सदृश ऋषियोंसे मेरा यही सुना हुआ है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है । अतः अब श्रीमान् ही मुझे उपदेश करें ।’ ऐसा कहे जानेपर आचार्यने उसे देवताओंद्वारा कही हुई उसी विद्याका उपदेश किया । उसमें अर्थात् उस षोडश कलाओंवाली विद्यामें कुछ भी—उसका एकदेश भी व्यययुक्त यानी विगत नहीं हुआ अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही । ‘वीयाय वीयाय’ यह द्विरुक्ति विद्याकी समाप्तिके लिये है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

उपकोसलके प्रति अग्निद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश

पुनर्ब्रह्मविद्यां प्रकारान्तरेण वक्ष्यामीत्यारभते गतिं च तद्विदोऽग्निविद्यां च । आख्यायिका पूर्ववच्छ्रद्धातपसोर्ब्रह्मविद्यासाधनत्वप्रदर्शनार्था ।

पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मविद्याका निरूपण करना है, इसलिये तथा ब्रह्मवेत्ताकी गति और अग्निविद्या भी बतलानी है, इसलिये श्रुति आरम्भ करती है । यहाँ जो आख्यायिका है वह पूर्ववत् श्रद्धा और तपका ब्रह्मविद्यामें साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये है ।

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳ ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

उपकोसलनामसे प्रसिद्ध कमलका पुत्र सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके रहता था । उसने बारह वर्षतक उस आचार्यके अग्नियोंकी सेवा की; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो समावर्तन संस्कार कर दिया, किंतु केवल इसीका नहीं किया ॥ १ ॥

उपकोसलो ह वै नामतः कमलस्यापत्यं कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य ह ऐतिह्यार्थः । तस्याचार्यस्य द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचाराग्नी-

कमलके पुत्र कामलायनने, जिसका नाम उपकोसल था, सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया । 'तस्य ह' इसमें ह ऐतिह्यके लिये है । उसने बारह वर्षोंतक उस आचार्यके अग्नियोंकी

नां परिचरणं कृतवान् । स ह स्माचार्योऽन्यान्ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्तयंस्तमेवोपकोसलमेकं न समावर्तयति स्म ह ॥ १ ॥

परिचर्या—सेवा की । किंतु उस आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो स्वाध्याय ग्रहण कराकर समावर्तन कर दिया, किंतु उस उपकोसलका ही समावर्तन नहीं किया ॥ १ ॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

उस (आचार्य) से उसकी भार्याने कहा—'यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह अग्नियोंकी सेवा की है । [देखिये] अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें । अतः इसे विद्याका उपदेश कर दीजिये ।' किंतु वह उसे उपदेश किये बिना ही बाहर चला गया ॥ २ ॥

उपकोसलाय विद्यां ब्रूहीति पतिं प्रत्याचार्यपत्न्या अनुरोधः

तमाचार्यं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं सम्यगग्नीन्परिचचारीत्परिचरितवान् । भगवांश्चाग्निषु भक्तं न समावर्तयति । अतोऽस्मद्भक्तं न समावर्तयतीति ज्ञात्वा त्वामग्नयो मा परिप्रवोचन्गर्हां तव मा कुर्युः । अतः प्रब्रूह्यस्मै विद्यामि-

उस आचार्यसे उसकी भार्याने कहा—'इस ब्रह्मचारीने खूब तपस्या की है; इसने अग्नियोंकी अच्छी तरह सेवा की है । किंतु श्रीमान् तो अग्नियोंमें भक्ति रखनेवाले इसका समावर्तन ही नहीं करते । अतः 'यह हमारे भक्तका समावर्तन नहीं करता'—ऐसा जानकर अग्नियाँ आपका परिवाद—आपकी निन्दा न करें; इसलिये इस उपकोसलको इसकी अभीष्ट विद्याका उपदेश कर दीजिये ।'

ष्टामुपकोसलायेति । तस्मा एवं जाययोक्तोऽपि हाप्रोच्यैवानुक्त्वैव किञ्चित्प्रवासाञ्चक्रे प्रवसितवान् २

किंतु, स्त्रीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी, वह उससे कुछ कहे बिना ही बाहर चला गया ॥ २ ॥

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति । स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

उस उपकोसलने मानसिक खेदसे अनशन करनेका निश्चय किया । उससे आचार्यपत्नीने कहा—'अरे ब्रह्मचारिन् ! तू भोजन कर, क्यों नहीं भोजन करता ?' वह बोला—'इस मनुष्यमें बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं जो वस्तुके स्वरूपका उल्लङ्घन करके अनेक विषयोंकी ओर जानेवाली हैं । मैं उन्हीं नानात्यय (बहुमुखी) मानसिक चिन्ताओंसे परिपूर्ण हूँ, इसलिये भोजन नहीं करूँगा' ॥ ३ ॥

खेदादुपकोसलस्यानशनम्

स होपकोसलो व्याधिना मानसेन दुःखेनानशितुमनशनं कर्तुं दध्रे धृतवान्मनः । तं तूष्णीमग्न्यागारेऽवस्थितमाचार्यजायोवाच हे ब्रह्मचारिन्नशान भुङ्क्ष्व किं नु कस्मान्नु कारणान्नाश्नासीति ।

स होवाच बहवोऽनेकेऽस्मिन्पुरुषेऽकृतार्थे प्राकृते कामा इच्छाः कर्तव्यं प्रति नानात्ययो-

उस उपकोसलने व्याधि—मानसिक दुःखसे अनशन करनेका मनमें निश्चय किया । तब अग्निशालामें चुपचाप बैठे हुए उससे आचार्यपत्नीने कहा—'हे ब्रह्मचारिन् ! अशन—भोजन कर, क्यों—किस कारणसे भोजन नहीं करता ?'

वह बोला—'इस अकृतार्थ साधारण पुरुषमें अपने कर्तव्यके प्रति बहुत-सी कामनाएँ—इच्छाएँ रहती हैं, जिन व्याधियों—कर्तव्य-

ऽतिगमनं येषां व्याधीनां कर्तव्यचिन्तानां ते नानात्यया व्याधयः कर्तव्यताप्राप्तिनिमित्तानि चित्तदुःखानीत्यर्थः । तैः प्रतिपूर्णोऽस्मि; अतो नाशिष्यामीति ॥३॥

सम्बन्धिनी चिन्ताओंके अत्यय—अतिगमन—वस्तुके स्वरूपका उल्लङ्घन करके विषय-प्रवेशके मार्ग नाना हैं ऐसी जो नानात्यय कामनारूप व्याधियाँ अर्थात् कर्तव्यताप्राप्ति-निमित्तक मानसिक दुःख हैं, मैं उनसे परिपूर्ण हूँ, इसलिये भोजन नहीं करूँगा'* ॥ ३ ॥

* * *

उक्त्वा तूष्णींभूते ब्रह्मचारिणि—

ब्रह्मचारीके इस प्रकार कहकर चुप हो जानेपर—

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

फिर अग्नियोंने एकत्रित होकर कहा —'यह ब्रह्मचारी तपस्या कर चुका है; इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है। अच्छा, हम इसे उपदेश करें' ऐसा निश्चयकर वे उससे बोले—'प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है' ॥ ४ ॥

अथ हाग्नयः शुश्रूषयावर्जिताः कारुण्याविष्टाः सन्तस्त्रयोऽपि समूदिरे संभूयोक्तवन्तः । हन्तेदानीमस्मै ब्रह्मचारिणेऽस्मद्भक्ताय दुःखिताय तपस्विने श्रद्दधानाय सर्वेऽनुशास्मोऽनुप्रब्रवाम ब्रह्मविद्यामिति । एवं संप्रधार्य तस्मै होचुरुक्तवन्तः—प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

अग्नीनां
तसा उपदेष्टुं
निश्चय:

फिर उसकी सेवासे अनुकूल हुए तीनों अग्नियोंने करुणावश आपसमें मिलकर कहा—'अच्छा, अब अपने भक्त इस दुःखित, तपस्वी एवं श्रद्धालु ब्रह्मचारीको हम शिक्षा दें—इसे हम ब्रह्मविद्याका उपदेश करें—ऐसा निश्चयकर वे उससे बोले—'प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है' ॥ ४ ॥

---

* यद्यपि 'नानात्ययाः' पद 'कामाः' का ही विशेषण है, तथापि भाष्यकारने कामनाओं और व्याधियोंको एक मानकर उसे व्याधिका भी विशेषण बनाया है ।

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

वह बोला—'यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है; किंतु 'क' और 'ख' को नहीं जानता ।' तब वे बोले—'निश्चय जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है ।' इस प्रकार उन्होंने उसे प्राण और उसके [आश्रयभूत] आकाशका उपदेश किया ॥ ५ ॥

उपदिश्यमानस्य ब्रह्मचारिणः शङ्का

स होवाच ब्रह्मचारी विजानाम्यहं यद्भवद्भिरुक्तं प्रसिद्धपदार्थकत्वात्प्राणो ब्रह्मेति; यस्मिन्सति जीवनं यदपगमे च न भवति, तस्मिन्वायुविशेषे लोके रूढः; अतो युक्तं ब्रह्मत्वं तस्य । तेन प्रसिद्धपदार्थकत्वाद्विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्मेति । कं च तु खं च न विजानामीति ।

ननु कंखंशब्दयोरपि सुखाकाशविषयत्वेन प्रसिद्धपदार्थक-

वह ब्रह्मचारी बोला—'आपने जो कहा कि प्राण ब्रह्म है, सो प्रसिद्ध पदार्थवाला होनेके कारण यह तो मैं जानता हूँ, जिसके रहनेपर जीवन रहता है और जिसके चले जानेपर जीवन भी नहीं रहता लोकमें उस वायुविशेषमें ही 'प्राण' शब्द रूढ है । अतः उसका ब्रह्मरूप होना तो उचित ही है । अतः प्रसिद्ध पदार्थयुक्त होनेके कारण यह तो मैं जानता हूँ कि 'प्राण ब्रह्म है' किंतु 'क' और 'ख' को मैं नहीं जानता ।'

शङ्का—सुख और आकाशविषयक होनेके कारण 'क' और 'ख' शब्द भी तो प्रसिद्ध पदार्थवाले ही

त्वमेव कस्माद्ब्रह्मचारिणोऽज्ञानम् ।

तदीयशङ्काया युक्तत्वम्

नूनं सुखस्य कंशब्दवाच्यस्य क्षणप्रध्वंसित्वात्खंशब्दवाच्यस्य चाकाशस्याचेतनस्य कथं ब्रह्मत्वमिति मन्यते, कथं च भवतां वाक्यमप्रमाणं स्यादिति; अतो न विजानामीत्याह ।

अग्निकर्तृकं समाधानम्

तमेवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं ते हाग्नय ऊचुः । यद्वाव यदेव वयं कमवोचाम तदेव खमाकाशमिति । एवं खेन विशेष्यमाणं कं विषयेन्द्रियसंयोगजात्सुखान्निवर्तितं स्यान्नीलेनेव विशेष्यमाणमुत्पलं रक्तादिभ्यः । यदेव खमित्याकाशमवोचाम तदेव च कं सुखमिति जानीहि । एवं च सुखेन विशेष्यमाणं खं भौतिकादचेतनात्खान्निवर्तितं स्यान्नीलो-

हैं; फिर ब्रह्मचारीको उनका अज्ञान कैसे रहा ?

समाधान—निश्चय ब्रह्मचारी यही मानता है कि 'क' शब्दका वाच्य सुख क्षणप्रध्वंसी होनेके कारण और 'ख' शब्दका वाच्य आकाश अचेतन होनेसे किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है ? और आपका वचन भी कैसे अप्रामाणिक होगा ? इसीसे उसने कहा कि 'मैं नहीं जानता' ।

इस प्रकार कहते हुए उस ब्रह्मचारीसे अग्नियोंने कहा—'हम जिसे 'क' ऐसा कहकर पुकारते हैं वही 'ख' यानी आकाश है । इस प्रकार जैसे 'नील' इस विशेषणसे युक्त कमल रक्तकमल आदिसे विलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार 'ख' शब्दसे विशेषित 'क' विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखसे निवृत्त कर दिया जाता है । जिसे हम 'ख'—आकाश कहते हैं उसीको तू 'क'—सुख जान । इस प्रकार नीलोत्पलके समान ही सुखसे विशेषित किया हुआ 'ख' (आकाश) भौतिक अचेतन 'ख' से निवृत्त कर दिया जाता है । तात्पर्य यह है कि

त्पलवदेव । सुखमाकाशस्थं नेतरल्लौकिकम् । आकाशं च सुखाश्रयं नेतरद्भौतिकमित्यर्थः ।

विशेषणद्वयेऽन्यतरस्यायुक्तत्वशङ्कनम्

नन्वाकाशं चेत्सुखेन विशेषयितुमिष्टमस्त्वन्यतरदेव विशेषणं यद्वाव कं तदेव खमित्यतिरिक्तमितरत् । यदेव खं तदेव कमिति पूर्वविशेषणं वा ।

उभयोरावश्यकताप्रदर्शनम्

ननु सुखाकाशयोरुभयोरपि लौकिकसुखाकाशाभ्यां व्यावृत्तिरिष्टेत्यवोचाम । सुखेनाकाशे विशेषिते व्यावृत्तिरुभयोरर्थप्राप्तैवेति चेत्सत्यमेवं किं तु सुखेन विशेषितस्यैवाकाशस्य ध्येयत्वं विहितं न त्वाकाशगुणस्य विशेष-

आकाशस्थित सुख ब्रह्म है अन्य लौकिक सुख नहीं तथा सुखके आश्रित रहनेवाला आकाश ब्रह्म है अन्य भौतिक आकाश नहीं ।'

शङ्का—यदि यहाँ आकाशको सुखके द्वारा विशेषित करना इष्ट है तो कोई भी एक विशेषण रह सकता था; अर्थात् 'यद्वाव कं तदेव खम्' ऐसा एक विशेषण रह जाता, दूसरा 'यदेव खं तदेव कम्' यह विशेषण अधिक है । अथवा यदि 'यदेव खं तदेव कम्' यही रहे तो पहला विशेषण अधिक है ।*

समाधान—किंतु इन सुख और आकाश दोनोंहीकी लौकिक सुख और आकाशसे व्यावृत्ति अभीष्ट है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । यदि कहो कि सुखके द्वारा आकाशके विशेषित होनेपर दोनोंकी व्यावृत्ति स्वतः सिद्ध ही है तो यह ठीक है, किंतु इससे सुखसे विशेषित आकाशका ही ध्येयत्व विहित होगा, आकाशगुणसे युक्त विशेषणभूत सुखका ध्येयत्व विहित नहीं होगा;

---

* तात्पर्य यह है कि इन दो उक्तियोंमेंसे किसी भी एक उक्तिसे श्रुतिका अभिप्राय सिद्ध हो सकता था; फिर दोनोंका कथन क्यों हुआ ?

णस्य सुखस्य ध्येयत्वं विहितं स्यात् । विशेषणोपादानस्य विशेष्यनियन्तृत्वेनैवोपक्षयात् । अतः खेन सुखमपि विशेष्यते ध्येयत्वाय ।

कुतश्चैतन्निश्चीयते ?

कंशब्दस्यापि ब्रह्मशब्दसंबन्धात्कं ब्रह्मेति । यदि हि सुखगुणविशिष्टस्य खस्य ध्येयत्वं विवक्षितं स्यात्कं खं ब्रह्मेति ब्रूयुरग्नयः प्रथमम् । न चैवमुक्तवन्तः; किं तर्हि ? कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति । अतो ब्रह्मचारिणो मोहापनयनाय कंखंशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वनिर्देशो युक्त एव यद्वाव कमित्यादिः ।

तदेतदग्निभिरुक्तं वाक्यार्थमस्मद्बोधाय श्रुतिराह—प्राणं च

क्योंकि विशेषणका ग्रहण अपने विशेष्यका नियन्त्रण करके ही समाप्त हो जाता है। इसलिये [सुखका भी] ध्येयत्व प्रतिपादन करनेके लिये आकाशसे सुखको भी विशेषित किया गया है।

शङ्का—किंतु ऐसा किस प्रकार निश्चय किया जाता है ?

समाधान—'ब्रह्म' शब्दसे 'क' शब्दका भी सम्बन्ध होनेके कारण 'क' ब्रह्म है—ऐसा निश्चय होता है। यदि सुखगुणविशिष्ट आकाशका ही ध्येयत्व बतलाना इष्ट होता तो अग्निगण पहले 'कं खं ब्रह्म' (सुखस्वरूप आकाश ब्रह्म है) ऐसा कहते। किंतु उन्होंने ऐसा नहीं कहा; तो क्या कहा है ?—'क' ब्रह्म है 'ख' ब्रह्म है, ऐसा कहा है। अतः ब्रह्मचारीके मोहकी निवृत्तिके लिये 'यद्वाव कम्' इत्यादि रूपसे 'क' और 'ख' दोनों ही शब्दोंको एक दूसरेके विशेषणविशेष्यरूपसे बतलाना उचित ही है।

अग्नियोंके कहे हुए इस वाक्यके अर्थको श्रुति हमारे बोधके लिये

हास्मै ब्रह्मचारिणे, तस्याकाशस्तदाकाशः प्राणस्य संबन्ध्याश्रयत्वेन हार्द आकाश इत्यर्थः, सुखगुणवत्त्वनिर्देशात्तं चाकाशं सुखगुणविशिष्टं ब्रह्म तत्स्थं च प्राणं ब्रह्मसंपर्कादेव ब्रह्मेत्युभयं प्राणं चाकाशं च समुच्चित्य ब्रह्मणी ऊचुरग्नय इति ॥ ५ ॥

कहती हैं—'अग्नियोंने उस ब्रह्मचारीको प्राण और 'तदाकाश'—उसके आकाशका अर्थात् आश्रयरूपसे प्राणसे सम्बद्ध हृदयाकाशका उपदेश किया, तथा सुखगुणविशिष्टता बतलानेके कारण उस आकाशको सुखगुणविशिष्ट ब्रह्म और उसमें स्थित प्राणको ब्रह्मके सम्पर्कके कारण ही ब्रह्म बतलाया । इस प्रकार प्राण और आकाश इन दोनोंका समुच्चय कर अग्नियोंने दो ब्रह्म बतलाये' ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१०॥

एकादशखण्ड

गार्हपत्याग्निविद्या

संभूयाग्नयो ब्रह्मचारिणे ब्रह्मोक्तवन्तः ।

[इस प्रकार] सब अग्नियोंने मिलकर ब्रह्मचारीको ब्रह्मका उपदेश किया ।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

फिर उसे गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—'पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य [ये मेरे चार शरीर हैं] । आदित्यके अन्तर्गत जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ' ॥ १ ॥

अथानन्तरं प्रत्येकं स्वस्वविषयां विद्यां वक्तुमारेभिरे । तत्रादावेनं ब्रह्मचारिणं गार्हपत्योऽग्निरनुशशास । पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति ममैताश्चतस्रस्तनवः । तत्र य आदित्य एष पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि गार्हपत्योऽग्निर्यश्च गार्हपत्योऽग्निः स एवाहमादित्ये पुरुषोऽस्मीति । पुनः परावृत्त्या स एवाहमस्मीति वचनम् ।

फिर उनमेंसे प्रत्येकने अपने-अपनेसे सम्बद्ध विद्याका निरूपण करना आरम्भ किया । उनमें सबसे पहले उस ब्रह्मचारीको गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—'पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य—ये मेरे चार शरीर हैं । उनमें आदित्यमें जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं गार्हपत्याग्नि हूँ और यह जो गार्हपत्याग्नि है वही मैं आदित्यमें पुरुष हूँ । 'वही मैं हूँ' यह वाक्य [पूर्ववाक्यकी] पुनरावृत्ति करके कहा गया है ।

पृथिव्यन्नयोरिव भोज्यत्वलक्षणयोः संबन्धो न गार्हपत्यादित्ययोः । अत्तृत्वपक्तृत्वप्रकाशनधर्मा अविशिष्टा इत्यत एकत्वमेवानयोरत्यन्तम् । पृथिव्यन्नयोस्तु भोज्यत्वेनाभ्यां संबन्धः ॥ १ ॥

भोज्यत्व ही जिनका लक्षण है उन पृथिवी और अन्नके समान गार्हपत्याग्नि और आदित्यका सम्बन्ध नहीं है । इन दोनोंमें भोक्तृत्व, पाचकत्व और प्रकाशकत्व ये धर्म समानरूपसे हैं; अतः इन दोनोंका अत्यन्त अभेद है । पृथिवी और अन्नका तो इनसे भोज्यरूपसे सम्बन्ध है ॥ १ ॥

* * *

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, पापकर्मोंको नष्ट कर देता है, अग्निलोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है तथा इसके उत्तरवर्ती (संतान-परम्परामें उत्पन्न) पुरुष क्षीण नहीं होते । तथा उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं जो कि इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है [उसको पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है] ॥ २ ॥

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं गार्हपत्यमग्निमन्नान्नादत्वेन चतुर्धा प्रविभक्तमुपास्ते सोऽपहते विनाशयति पापकृत्यां पापं

वह पुरुष, जो कोई कि इस प्रकार भोग्य और भोक्तारूपसे चार प्रकारोंमें विभक्त हुए पूर्वोक्त गार्हपत्याग्निकी उपासना करता है वह पापकर्मोंका नाश कर देता है तथा

कर्म । लोकी लोकवांश्चासदीयेन लोकेनाग्नेयेन तद्वान्भवति यथा वयम् । इह च लोके सर्वं वर्षशतमायुरेति प्राप्नोति । ज्योगुज्ज्वलं जीवति नाप्रख्यात इत्येतत् । न चास्यावराश्च ते पुरुषाश्चास्य विदुषः सन्ततिजा इत्यर्थः । न क्षीयन्ते सन्तत्युच्छेदो न भवतीत्यर्थः । किं च तं वयमुपभुञ्जामः पालयामोऽस्मिंश्च लोके जीवन्तममुष्मिंश्च परलोके । य एतमेवं विद्वानुपास्ते यथोक्तं तस्यैतत्फलमित्यर्थः ॥ २ ॥

हमारे आग्नेय लोकके द्वारा उसी प्रकार लोकी—लोकवान् होता है जैसे कि हम हैं । इस लोकमें भी वह सम्पूर्ण—सौ वर्षकी आयु प्राप्त करता है; ज्योक्—उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है अर्थात् अप्रसिद्ध होकर नहीं जीता तथा इसके अवर पुरुष जो अवर—पश्चाद्वर्ती यानी संततिमें उत्पन्न हुए पुरुष हैं वे क्षीण नहीं होते अर्थात् इसकी संततिका उच्छेद नहीं होता । यही नहीं, इस लोकमें जीवित रहते हुए तथा परलोकमें भी हम उसका पालन करते हैं । तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् इस प्रकार इसकी उपासना करता है उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है ॥ २ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥११॥

द्वादश खण्ड

अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

फिर उसे अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने शिक्षा दी—'जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा [ये मेरे चार शरीर हैं] । चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ' ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मोंका नाश कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है और उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है । उसके पीछे होनेवाले पुरुष (वंशज) क्षीण नहीं होते तथा इस लोक और परलोकमें भी हम उसका पालन करते हैं, जो कि इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है ॥ २ ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास दक्षिणाग्निरापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इत्येता मम चतस्रस्तनवश्चतुर्धाहमन्वाहार्यप-

फिर उसे अन्वाहार्यपचन—दक्षिणाग्निने शिक्षा दी—'जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा—ये मेरे चार शरीर हैं । मैं अपनेको चार प्रकारसे विभक्त करके अन्वा-

चन आत्मानं प्रविभज्यावस्थितः । तत्र य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति पूर्ववत् ।

अन्नसंबन्धाज्ज्योतिष्ट्वसामान्याच्चान्वाहार्यपचनचन्द्रमसोरेकत्वं दक्षिणदिक्संबन्धाच्च । अपां नक्षत्राणां च पूर्ववदन्नत्वेनैव संबन्धः । नक्षत्राणां चन्द्रमसो भोग्यत्वप्रसिद्धेः । अपामन्नोत्पादकत्वादन्नत्वं दक्षिणाग्नेः पृथिवीवद्गार्हपत्यस्य । समानमन्यत् ॥ १-२ ॥

हार्यपचनरूपसे स्थित हूँ । उनमेंसे चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—' ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये ।

अन्नसे[1] सम्बन्ध होनेके कारण, ज्योतिष्ट्वमें समानता होनेसे तथा दक्षिण[2] दिशासे सम्बन्ध होनेके कारण अन्वाहार्यपचन और चन्द्रमाकी एकता है । जल और नक्षत्रोंका तो पूर्ववत् अन्नरूपसे ही सम्बन्ध है, क्योंकि नक्षत्र चन्द्रमाके भोग्य हैं, यह प्रसिद्ध है तथा अन्नके उत्पत्तिकर्ता होनेके कारण जलोंको भी इसी प्रकार दक्षिणाग्निका अन्नत्व प्राप्त है जैसे पृथिवीको गार्हपत्याग्निका । शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

---

[1] दर्श-पूर्णमास यज्ञमें अन्वाहार्यपचन अग्निमें हविष्य पकाया जाता है; तथा चन्द्रमाके विषयमें 'चन्द्रमाको प्राप्त होकर अन्न हो जाता है' ऐसा श्रुतिवाक्य है । इसलिये इन दोनोंका अन्नसे सम्बन्ध है ।

[2] अन्वाहार्यपचनको दक्षिणाग्नि भी कहते हैं; तथा चन्द्रमाको भी दक्षिण मार्गसे जानेवाले ही प्राप्त होते हैं । इसलिये इन दोनोंका दक्षिण दिशासे सम्बन्ध है ।

त्रयोदश खण्ड

आहवनीयाग्निविद्या

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने उपदेश किया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् [ये मेरे चार शरीर हैं] । यह जो विद्युत्में पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ' ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चतुर्धा विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मको नष्ट कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है तथा उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। उसके पश्चाद्वर्ती पुरुष (वंशज) क्षीण नहीं होते। तथा उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं जो कि इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है ॥ २ ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति ममाप्येताश्चतस्रस्तनवः । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मीत्यादि पूर्ववत्सामान्यात् । दिवाकाशयोस्त्वाश्रयत्वाद्विद्युदाहवनीययोर्भोग्यत्वेनैव संबन्धः । समानमन्यत् ॥ १-२ ॥

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने उपदेश किया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्—ये मेरे भी चार शरीर हैं। यह जो विद्युत्में पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ' इत्यादि अर्थ पहलेहीके समान होनेके कारण पूर्ववत् है । द्युलोक और आकाशके साथ विद्युत् और आहवनीयका भोग्यरूपसे ही सम्बन्ध है, क्योंकि ये क्रमशः इनके आश्रय हैं । शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १-२ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

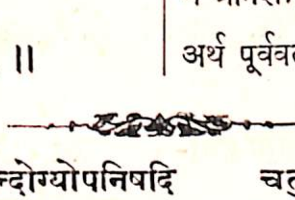

चतुर्दश खण्ड

आचार्यका आगमन

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

उन्होंने कहा—'उपकोसल ! हे सोम्य ! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या तेरे प्रति कही । आचार्य तुझे [इनके फलकी प्राप्तिका] मार्ग बतलावेंगे ।' तदनन्तर उसके आचार्य आये । उससे आचार्यने कहा—'उपकोसल !' ॥ १ ॥

ते पुनः संभूयोचुर्होपकोसलैषा सोम्य ते तवास्मद्विद्याग्निविद्येत्यर्थः । आत्मविद्या पूर्वोक्ता प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति च । आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता विद्याफलप्राप्तय इत्युक्त्वोपरेमुरग्नयः । आजगाम हास्याचार्यः कालेन । तं च शिष्यमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

तब उन्होंने पुनः एक साथ कहा—'उपकोसल ! हे सोम्य ! यह हमने तेरे प्रति अपनी विद्या अर्थात् अग्निविद्या और आत्मविद्या—जो पहले 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्यादि रूपसे कही गयी है, कह दी । अब इस विद्याके फलकी प्राप्तिके लिये आचार्य तुझे मार्ग बतलावेंगे ।' ऐसा कहकर अग्निगण उपरत हो गये । कालान्तरमें उसके आचार्य आये, तब आचार्यने उस अपने शिष्यसे कहा—'उपकोसल !' ॥ १ ॥

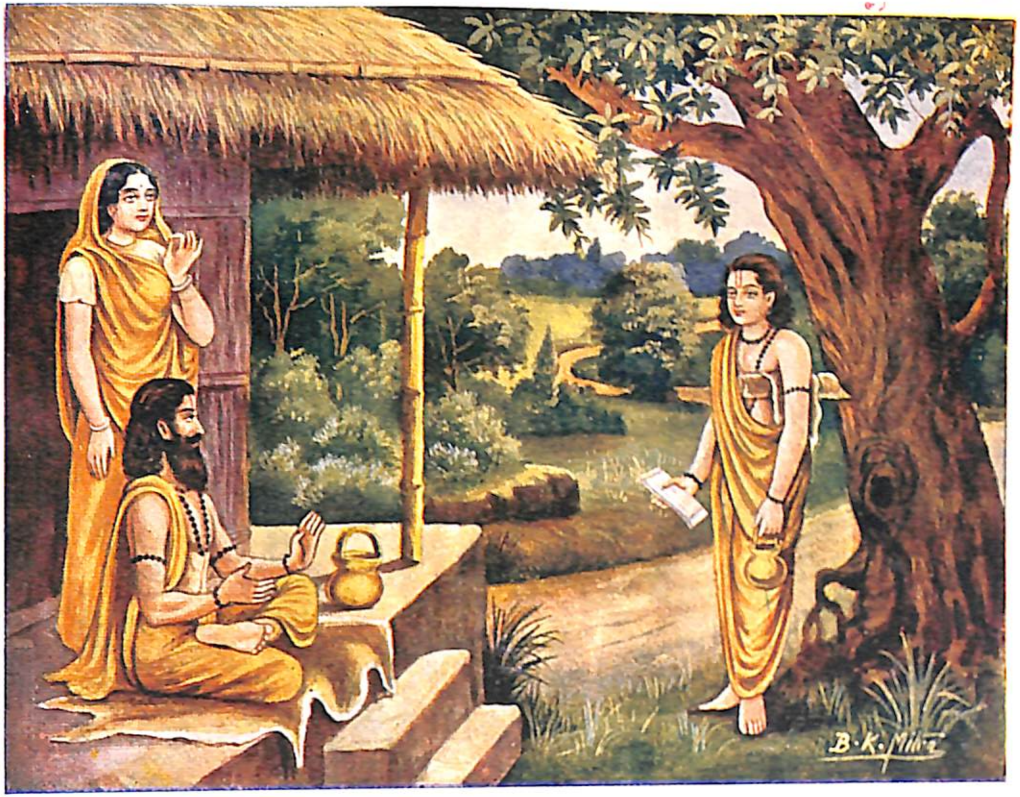

सत्यकाम और उपकोशल

[पृष्ठ ४१७

आचार्य और उपकोसलका संवाद

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया। [आचार्य बोले—] 'हे सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान जान पड़ता है; तुझे किसने उपदेश किया है ?' 'अजी ! मुझे कौन उपदेश करता' ऐसा कहकर वह मानो उसे छिपाने लगा। [फिर अग्नियोंकी ओर संकेत करके बोला—] 'निश्चय इन्हींने [उपदेश किया है] जो अन्य प्रकारके थे और अब ऐसे हैं'—ऐसा कहकर उसने अग्नियोंको बतलाया। [तब आचार्यने पूछा--] 'हे सोम्य ! इन्होंने तुझे क्या बतलाया है ?' ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

तब उसने 'यह बतलाया है' ऐसा कहकर उत्तर दिया। [इसपर आचार्यने कहा—] 'हे सोम्य ! उन्होंने तो तुझे केवल लोकोंका ही उपदेश किया है; अब मैं तुझे वह बतलाता हूँ जिसे जाननेवालेसे पापकर्मका उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता जैसे कमलपत्रसे जलका सम्बन्ध नहीं होता।' वह बोला--'भगवान् मुझे बतलावें।' तब आचार्य उससे बोले ॥ ३ ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं प्रसन्नं भाति, को नु त्वानुशशासेत्युक्तः प्रत्याह—को नु मानुशिष्यादनुशासनं कुर्याद्धो भगवंस्त्वयि प्रोषित इतीहापेव निह्नुतेऽपनिह्नुत इवेति व्यवहितेन संबन्धः, न चापनिह्नुते न च यथावदग्निभिरुक्तं ब्रवीतीत्यभिप्रायः ।

कथम् ? इमेऽग्नयो मया परिचरिता उक्तवन्तो नूनं यतस्त्वां दृष्ट्वा वेपमाना इवेदृशा दृश्यन्ते पूर्वमन्यादृशाः सन्त इतीहाग्नीनभ्यूदेऽभ्युक्तवान्काक्वाग्नीन्दर्शयन् । किं नु सोम्य किल ते तुभ्यमवोचन्नग्नय इति पृष्ट इत्येवमिदमुक्तवन्त इत्येवं ह प्रति-

उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया । फिर आचार्यद्वारा 'हे सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रसन्न जान पड़ता है, सो तुझे किसने उपदेश किया है' ऐसा कहे जानेपर वह बोला—'भगवन् ! आपके बाहर चले जानेपर भला मुझे कौन उपदेश करता ?' इस प्रकार मानो वह [अग्निके कथनका] अपह्नव—(गोपन) सा करने लगा । 'अप इव निह्नुते' इसमें 'अप' उपसर्गका 'इव' के द्वारा व्यवधानयुक्त 'निह्नुते' क्रियाके साथ सम्बन्ध है, अतः 'अपनिह्नुते इव' ऐसा समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि वह अग्निके कथनको न तो ज्यों-का-त्यों बतलाता ही है और न उसे [सर्वथा] छिपाता ही है ।

'सो कैसे ? देखिये, मेरे द्वारा परिचर्या किये हुए इन अग्नियोंने ही मुझे उपदेश किया है; क्योंकि अब आपको देखकर ये इस प्रकार काँपते हुए-से दिखायी देते हैं, जब कि पहले ये अन्य प्रकारके थे' इस प्रकार काकुवचन (व्यङ्ग्योक्ति) के द्वारा उसने अग्नियोंको बतलाया । फिर 'हे सोम्य ! अग्नियोंने तुझे क्या बतलाया है ?' इस प्रकार पूछे जानेपर 'यही कहा है'

जज्ञे प्रतिज्ञातवान्प्रतीकमात्रं किञ्चिन्न सर्वं यथोक्तमग्निभिरुक्तमवोचत् ।

यत आहाचार्यो लोकान्वाव पृथिव्यादीन्हे सोम्य किल तेऽवोचन्न ब्रह्म साकल्येन । अहं तु ते तुभ्यं तद्ब्रह्म यदिच्छसि त्वं श्रोतुं वक्ष्यामि, शृणु तस्य मयोच्यमानस्य ब्रह्मणो ज्ञानमाहात्म्यम्—यथा पुष्करपलाशे पद्मपत्र आपो न श्लिष्यन्त एवं यथा वक्ष्यामि ब्रह्मैवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते न संबध्यत इत्येवमुक्तवत्याचार्य आहोपकोसलो ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाचार्यः ॥ २-३ ॥

ऐसा कहा, अर्थात् कुछ प्रतीकमात्र ही बतलाया, अग्नियोंका कहा हुआ सारा उपदेश यथावत् नहीं कहा ।

अतः आचार्यने कहा—'हे सोम्य ! अग्नियोंने तुझे पृथिवी आदि लोक ही बतलाये हैं, ब्रह्मका पूर्णतया उपदेश नहीं किया । अब मैं तुझे उस ब्रह्मका उपदेश करूँगा, जिसे कि तू सुनना चाहता है । मेरेद्वारा कहे जाते हुए उस ब्रह्मके ज्ञानका माहात्म्य सुन–जिस प्रकार पुष्करपलाश—कमलपत्रमें जल श्लिष्ट—सम्बद्ध नहीं होता उसी प्रकार जैसे ब्रह्मका मैं उपदेश करूँगा उसे जाननेवालेमें पापकर्मका सम्बन्ध नहीं होता ।' आचार्यके इस प्रकार कहनेपर उपकोसलने कहा—'भगवान् मुझे बतलावें ।' तब आचार्य उससे बोले ॥ २-३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१४॥

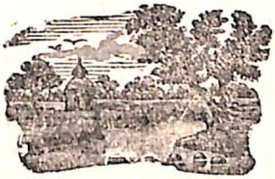

पञ्चदश खण्ड

आचार्यका उपदेश––नेत्रस्थित पुरुषकी उपासना

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

'यह जो नेत्रमें पुरुष दिखायी देता है यह आत्मा है'––ऐसा उसने कहा 'यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है ।' उस (पुरुषके स्थानरूप नेत्र) में यदि घृत या जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है ॥१

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नैः शान्तैर्विवेकिभिर्दृष्टेर्द्रष्टा, "चक्षुषश्चक्षुः" (के० उ० १ । २) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।

'जिनका बाह्य इन्द्रियग्राम निवृत्त हो गया है उन ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न, शान्तात्मा विवेकियोंद्वारा जो यह नेत्रके अन्तर्गत दृष्टिका द्रष्टा पुरुष देखा जाता है, जैसा कि "वह चक्षुओंका चक्षु है" ऐसी अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है' [वह प्राणियोंका आत्मा है—ऐसा आचार्यने कहा ।]

नन्वग्निभिरुक्तं वितथं यत आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति गतिमात्रस्य वक्तेत्यवोचन्भविष्यद्विषयापरिज्ञानं चाग्नीनाम् ।

शङ्का–[आचार्यके इस कथनसे] अग्नियोंका कथन मिथ्या प्रमाणित होता है, क्योंकि उन्होंने तो 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' ऐसा कहकर 'केवल गतिमात्र कहलावेंगे' इतना ही कहा था । तथा इससे अग्नियोंका भविष्यद्विषयसम्बन्धी ज्ञान न होना सिद्ध होता है ।

नैष दोषः; सुखाकाशस्यैवाक्षिणि दृश्यत इति द्रष्टुरनुवादात् । एष आत्मा प्राणिनामिति होवाचैवमुक्तवानेतद्यदेवात्मतत्त्वमवोचाम एतदमृतममरणधर्म्यविनाश्यत एवाभयं यस्य हि विनाशाशङ्का तस्य भयोपपत्तिस्तदभावादभयमत एवैतद्ब्रह्म बृहदनन्तमिति ।

किञ्चास्य ब्रह्मणोऽक्षिपुरुषस्य माहात्म्यं तत्तत्र पुरुषस्य स्थानेऽक्षिणि यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति पक्ष्मावेव गच्छति न चक्षुषा संबध्यते पद्मपत्रेणेवोदकम् । स्थानस्याप्येतन्माहात्म्यं किं पुनः स्थानिनोऽक्षिपुरुषस्य निरञ्जनत्वं वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा कहकर आचार्यने [अग्नियोंके बतलाये हुए] सुखाकाशरूप द्रष्टाका ही 'जो नेत्रमें दिखायी देता है' इस प्रकार अनुवाद किया है । यह प्राणियोंका आत्मा है 'इति होवाच'——इस प्रकार कहा । जिस आत्मतत्त्वका वर्णन हम पहले कर चुके हैं वही यह अमृत——अमरणधर्मा यानी अविनाशी है; इसीसे अभय भी है, क्योंकि जिसके नाशकी शङ्का होती है उसीको भय हो सकता है; अतः उसका अभाव होनेके कारण यह अभय है । इसीसे यह ब्रह्म——बृहत् यानी अनन्त है ।

तथा इस ब्रह्म——नेत्रस्थ पुरुषका ऐसा माहात्म्य है कि इस पुरुषके स्थानभूत नेत्रमें यदि घृत या जल डाला जाय तो वह इधर-उधर पलकोंमें ही चला जाता है; पद्मपत्रसे जलके समान नेत्रसे उसका सम्बन्ध नहीं होता । जब कि स्थानका भी ऐसा माहात्म्य है तो स्थानी नेत्रस्थ पुरुषकी निःसङ्गताके विषयमें तो कहना ही क्या है ? यह इसका अभिप्राय है ॥ १ ॥

एतꣳसंयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳहि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इसे 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे इसे ही प्राप्त होती हैं; जो इस प्रकार जानता है उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥

एतं यथोक्तं पुरुषं संयद्वाम इत्याचक्षते । कस्मात् ? यस्मादेतं सर्वाणि वामानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनान्यभिसंयन्त्यभिसंगच्छन्तीत्यतः संयद्वामः । तथैवंविदमेनं सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

इस पूर्वोक्त पुरुषको 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं । क्यों ? क्योंकि सम्पूर्ण वाम—वननीय—सम्भजनीय अर्थात् शोभन पदार्थ सब ओरसे इसे ही प्राप्त होते हैं, इसलिये यह संयद्वाम है । इसी प्रकार ऐसा जाननेवाले पुरुषको—जो इसे ऐसा जानता है उसे, सम्पूर्ण सेवनीय पदार्थ सब ओरसे प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

यही वामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण वामोंका वहन करता है । जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण वामोंको वहन करता है ॥ ३ ॥

एष उ एव वामनीर्यस्मादेष हि सर्वाणि वामानि पुण्यकर्मफलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति वहति चात्मधर्मत्वेन । विदुषः फलं सर्वाणि

यही वामनी है, क्योंकि यही अपने धर्मरूपसे प्राणियोंके प्रति उनके पुण्यानुसार सम्पूर्ण वाम—पुण्य कर्मफलोंका वहन करता है । इसके विद्वान्को मिलनेवाला फल—जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण

वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥

वामोंका (पुण्यकर्मफलोंका) वहन करता है ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकोंमें भासमान होता है। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ग लोकोंमें भासमान होता है ॥ ४ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि यस्मात्सर्वेषु लोकेष्वादित्यचन्द्राग्न्यादिरूपैर्भाति दीप्यते । "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क०उ० ५।१६) इति श्रुतेः; अतो भामानि नयतीति भामनीः । य एवं वेदासावपि सर्वेषु लोकेषु भाति ॥४॥

यही भामनी है, क्योंकि सम्पूर्ण लोकोंमें आदित्य, चन्द्र और अग्नि आदिके रूपोंमें यही भासमान—दीप्त होता है । "उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है" इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है । अतः भामों (प्रकाशों) का वहन करता है इसलिये भामनी है । जो ऐसा जानता है वह भी सम्पूर्ण लोकोंमें भासमान होता है ॥ ४ ॥

ब्रह्मवेत्ताकी गति

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥५॥

अब [श्रुति पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलाती है—] इसके लिये शवकर्म करें अथवा न करें, वह अर्चिरभिमानी देवताको ही प्राप्त होता है। फिर अर्चिरभिमानी देवतासे दिवसाभिमानी देवताको, दिवसाभिमानीसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे उत्तरायणके छः मासोंको प्राप्त होता है। मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है। वहाँसे अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग—ब्रह्ममार्ग है। इससे जानेवाले पुरुष इस मानवमण्डलमें नहीं लौटते, नहीं लौटते ॥५॥

अथेदानीं यथोक्तब्रह्मविदो गतिरुच्यते—यद् यदि उ चैवास्मिन्नेवंविदि शव्यं शवकर्म मृते कुर्वन्ति यदि च न कुर्वन्ति ऋत्विजः सर्वथाप्येवंवित्तेन शवकर्मणाकृतेनापि प्रतिबद्धो न न ब्रह्म प्राप्नोति न च कृतेन शवकर्मणास्य कश्चनाभ्यधिको लोकः। "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ०उ०४।४।२३) इति श्रुत्यन्तरात्।

शवकर्मण्यनादरं दर्शयन्विद्यां स्तौति न पुनः शवकर्मैवंविदो न कर्तव्यमिति। अक्रिय-

अब उपर्युक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलायी जाती है—इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके लिये उसकी मृत्यु होनेपर ऋत्विग्गण शवकर्म करें अथवा न करें उस शवकर्मके न करनेसे भी इस प्रकार जाननेवाला वह उपासक सर्वथा प्रतिबद्ध होकर ब्रह्मको प्राप्त न होता हो—ऐसा नहीं होता और न उस शवकर्मके करनेसे इसे कोई ब्रह्मसे उत्कृष्ट लोक ही प्राप्त होता है; जैसा कि "यह कर्मसे न तो बढ़ता है और न घटता ही है" इस एक अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है।

शवकर्मके प्रति अनादर प्रदर्शित करता हुआ यह मन्त्र केवल विद्याकी स्तुति करता है, इस प्रकार जाननेवालेका शवकर्म नहीं करना चाहिये—यह नहीं बतलाता। इस

माणे हि शवकर्मणि कर्मणां फलारम्भे प्रतिबन्धः कश्चिदनुमीयतेऽन्यत्र; यत इह विद्याफलारम्भकाले शवकर्म स्याद्वा न वेति विद्यावतोऽप्रतिबन्धेन फलारम्भं दर्शयति । ये सुखाकाशमक्षिस्थं संयद्वामो वामनीर्भामनीरित्येवंगुणमुपासते प्राणसहितामग्निविद्यां च, तेषामन्यत् कर्म भवतु मा वा भूत्सर्वथापि तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिरभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

अर्चिषोऽर्चिर्देवताया अहरहरभिमानिनीं देवतामह्न आपूर्यमाणपक्षं शुक्लपक्षदेवतामापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङुत्तरां दिशमेति सविता तान्मासानुत्तरायणदेवतां तेभ्यो मासेभ्यः

विद्वान्‌के सिवा अन्य किसीके लिये तो शवकर्म न करनेपर उसके कर्मफलके आरम्भमें कुछ प्रतिबन्ध होनेका अनुमान किया जाता है; क्योंकि यहाँ श्रुति उपासनाका फल आरम्भ होनेके समय केवल उपासकके लिये ही——उसका शवकर्म किया जाय अथवा न किया जाय—अप्रतिबन्धपूर्वक फलका आरम्भ दिखलाती है । जो लोग नेत्रमें स्थित संयद्वाम, वामनी और भामनी इत्यादि गुणोंसे युक्त सुखाकाशकी उपासना करते हैं तथा प्राणसहित अग्निविद्याकी उपासना करते हैं——उनका अन्य कर्म हो अथवा न हो——वे सर्वथा अर्चिरभिमानी देवताको ही प्राप्त होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

अर्चिः—अर्चिरभिमानी देवतासे अहः—अहरभिमानी (दिवसाभिमानी) देवताको, अहरभिमानी देवतासे आपूर्यमाण पक्ष—शुक्लपक्षदेवताको, शुक्लपक्षसे षडुदङ्——जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशामें चलता है उन महीनोंको अर्थात् उत्तरायण-देवताको, उन उत्तरायणके छः महीनोंसे संवत्सर—संवत्सरा-

संवत्सरं संवत्सरदेवतां ततः संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्तत्रस्थांस्तान् पुरुषः कश्चिद्ब्रह्मलोकादेत्यामानवो मानव्यां सृष्टौ भवो मानवो न मानवोऽमानवः स पुरुष एनान्ब्रह्म सत्यलोकस्थं गमयति गन्तृगन्तव्यगमयितृत्वव्यपदेशेभ्यः। सन्मात्रब्रह्मप्राप्तौ तदनुपपत्तेः । ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीति हि तत्र वक्तुं न्याय्यम् । सर्वभेदनिरासेन सन्मात्रप्रतिपत्तिं वक्ष्यति । न चादृष्टो मार्गोऽग-

भिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। फिर संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। वहाँ स्थित हुए उन उपासकोंको कोई अमानव—जो मानवी सृष्टिमें होता है उसे 'मानव' कहते हैं, जो मानव न हो उसीका नाम 'अमानव' है; ऐसा कोई अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर सत्यलोकमें स्थित ब्रह्मके पास पहुँचा देता है। गमन करनेवाले, गन्तव्य स्थान और गमन करानेवालेका उल्लेख होनेके कारण [यहाँ कार्यब्रह्म ही अभिप्रेत है] क्योंकि सत्तामात्र ब्रह्मकी प्राप्तिमें यह कुछ नहीं कहा जा सकता। वहाँ तो यही कहना न्याय्य है कि 'वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त होता है'। आगे छठे (अध्यायमें) श्रुति सम्पूर्ण भेदके बाधद्वारा सन्मात्र ब्रह्मकी प्राप्तिका उल्लेख करेगी।* तथा बिना देखा हुआ [एकत्वरूप] मार्ग तो मोक्षमें उपयोगी ही नहीं हो सकता। जैसा कि

---

* यहाँ यह शङ्का होती है कि जब परमार्थतः जीव ब्रह्म ही है तो ब्रह्मके उपासकका भी लोकान्तरमें जाना ठीक नहीं है। उसका भी मोक्ष ही हो जाना चाहिये। इसका समाधान करनेके लिये आगेकी बात कहते हैं।

मनायोपतिष्ठते। "स एनमविदितो न भुनक्ति" इति श्रुत्यन्तरात्।

एष देवपथः, देवैरर्चिरादिभिर्गमयितृत्वेनाधिकृतैरुपलक्षितः पन्था देवपथ उच्यते। ब्रह्म गन्तव्यं तेन चोपलक्षित इति ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनुसंबन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्तं नावर्तन्त आवर्तन्तेऽस्मिञ्जननमरणप्रबन्धचक्रारूढा घटीयन्त्रवत्पुनः पुनरित्यावर्तस्तं न प्रतिपद्यन्ते। नावर्तन्त इति द्विरुक्तिः सफलाया विद्यायाः परिसमाप्तिप्रदर्शनार्था ॥ ५ ॥

"वह (परमात्मा) विदित न होनेपर इस अधिकारीका [मुक्ति प्रदान करके] पालन नहीं करता" इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है।

यह देवमार्ग है—उपासकको पहुँचानेके लिये अधिकारप्राप्त देवताओंसे उपलक्षित होनेके कारण यह मार्ग देवमार्ग कहलाता है, तथा ब्रह्म गन्तव्य (प्राप्तव्य) स्थान है, उससे उपलक्षित होता है, इसलिये यह ब्रह्ममार्ग है। इसके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त हुए अर्थात् जानेवाले उपासक इस मानव—मनुसम्बन्धी अर्थात् मनुकी सृष्टिरूप आवर्तमें नहीं लौटते। जिसमें जन्म-मरणके प्रवाहरूप चक्रपर चढ़े हुए प्राणी घटीयन्त्रके समान पुनः-पुनः आवर्तन करते हैं उस इस लोकको 'आवर्त्त' कहते हैं, इसे वे प्राप्त नहीं होते। 'नावर्तन्ते नावर्तन्ते' यह द्विरुक्ति फलके सहित विद्याकी परिसमाप्ति प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१५॥

षोडश खण्ड

यज्ञोपासना

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गादारण्यकत्वसामान्याच्च यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्था विधातव्यास्तदभिज्ञस्य चर्त्विजो ब्रह्मणो मौनमित्यत इदमारभ्यते—

रहस्य (उपासना) के प्रकरणमें [मार्गोपदेशका] प्रसङ्ग होनेके कारण, [पूर्वोत्तर प्रकरणोंका] आरण्यकत्वमें सादृश्य होनेके कारण, और यज्ञमें कोई क्षत प्राप्त होनेपर उसके प्रायश्चित्तके लिये व्याहृतियोंका विधान करना है——तथा प्रायश्चित्तको जाननेवाले ऋत्विक् ब्रह्माके लिये मौनका विधान करना है——इसलिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है——

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳसर्वं पुनाति । यदेष यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

यह जो चलता है निश्चय यज्ञ ही है । यह चलता हुआ निश्चय इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है; क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसारको पवित्र कर देता है इसलिये यही यज्ञ है । मन और वाक्—ये दोनों इसके मार्ग हैं ॥ १ ॥

एष ह वा एष वायुर्योऽयं पवतेऽयं यज्ञः । ह वा इति प्रसिद्धार्थावद्योतकौ निपातौ । वायुप्रतिष्ठो हि यज्ञः प्रसिद्धः

'एष ह वै'—यह वायु जो कि चलता है, यज्ञ है । 'ह' और 'वै' ये प्रसिद्ध पदार्थके द्योतक निपात हैं । श्रुतियोंमें यज्ञ वायुरूप प्रतिष्ठावाला ही प्रसिद्ध है । जैसा कि

श्रुतिषु, "स्वाहा वाते धाः" (यजु० २ । २१ तथा ८ । २१) "अयं वै यज्ञो योऽयं पवते" इत्यादिश्रुतिभ्यः । वात एव हि चलनात्मकत्वात्क्रियासमवायी । "वात एव यज्ञस्यारम्भको वातः प्रतिष्ठा" इति च श्रवणात् ।

एष ह यन्गच्छंश्चलन्निदं सर्वं जगत्पुनाति पावयति शोधयति । न ह्यचलतः शुद्धिरस्ति । दोषनिरसनं चलतो हि दृष्टं न स्थिरस्य । यद्यस्माच्च यन्नेष इदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञो यत्पुनातीति ।

तस्यास्यैवं विशिष्टस्य यज्ञस्य वाक्च मन्त्रोच्चारणे व्यापृता, मनश्च यथाभूतार्थज्ञाने व्यापृतम्, ते एते वाङ्मनसे वर्तनी मार्गौ

"यह यज्ञ आपके हाथमें सौंपता हूँ । आप इसे वायु देवतामें स्थापित करें[१] ।", "यह निश्चय यज्ञ ही है जो कि चलता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है । चलनात्मकत्वरूप गुणवाला होनेके कारण वायुका ही क्रियासे समवाय-सम्बन्ध है; जैसा कि श्रुति कहती है—"वायु ही यज्ञका आरम्भक है और वायु ही उसकी प्रतिष्ठा है ।"

यह चलता—गमन करता हुआ इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र—शुद्ध कर देता है । जो नहीं चलता [अर्थात् विहित क्रियाका अनुष्ठान नहीं करता] उसकी शुद्धि नहीं होती । दोषनिवृत्ति गतिशीलकी ही देखी जाती है, स्थिरकी नहीं देखी जाती; क्योंकि यह चलता हुआ इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र कर देता है इसलिये यही यज्ञ है, क्योंकि पवित्र करता है ।

उस इस प्रकारकी विशेषतावाले यज्ञके मन्त्रोच्चारणमें प्रवृत्त वाणी और यथार्थ वस्तुके ज्ञानमें प्रवृत्त मन—ये दोनों अर्थात् वाणी और मन 'वर्तनी'—मार्ग हैं । जिन-

---

१. इस मन्त्रकी एक अर्धाली इस प्रकार है—'मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः' अर्थात् 'हे चित्तके प्रवर्तक देव (परमेश्वर)! मैं यह यज्ञ आपके हाथोंमें सौंपता हूँ, आप इसे वायु देवतामें स्थापित करें ।'

याभ्यां यज्ञस्तायमानः प्रवर्तते ते वर्तनी ।"प्राणापानपरिचलनवत्या हि वाचश्चित्तस्य चोत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः" इति हि श्रुत्यन्तरम् । अतो वाङ्मनसाभ्यां यज्ञो वर्तते इति वाङ्मनसे वर्तनी उच्येते यज्ञस्य ॥ १ ॥

के द्वारा विस्तृत किया हुआ यज्ञ प्रवृत्त होता है उन्हें 'वर्तनी' कहते हैं । "प्राण और अपान इन दोनोंके योगसे जिनका परिचलन होता है उन वाणी और मनका जो पूर्वापरक्रम[1] है वही यज्ञ है"—ऐसी एक दूसरी श्रुति कहती है । इस प्रकार क्योंकि वाणी और मनसे यज्ञ प्रवृत्त होता है, इसलिये वाणी और मन यज्ञके मार्ग कहे गये हैं ॥ १ ॥

ब्रह्माके मौनभङ्गसे यज्ञकी हानि

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराꣳस यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥ अन्यतरामेव वर्तनीꣳसꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥

उनमेंसे एक मार्गका ब्रह्मा मनके द्वारा संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये वाणीद्वारा दूसरे मार्गका संस्कार करते हैं । यदि प्रातरनुवाकके आरम्भ हो जानेपर परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे पूर्व ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्गका ही संस्कार करता

---

[1] क्योंकि मनसे चिन्तन करके वाणीसे उच्चारण करनेवाला पुरुष ही इनके पूर्वापरभावरूप क्रमपूर्वक यज्ञ-सम्पादन करता है ।

है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पाँवसे चलनेवाला पुरुष अथवा एक पहियेसे चलनेवाला रथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इसका यज्ञ भी नाशको प्राप्त हो जाता है। यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यजमानका नाश होता है; इस प्रकारका यज्ञ करनेपर वह और भी अधिक पापी हो जाता है ॥ २-३ ॥

तयोर्वर्तन्योरन्यतरां वर्तनीं मनसा विवेकज्ञानवता संस्करोति ब्रह्मर्त्विग्वाचा वर्तन्या होताध्वर्युरुद्गातेत्येते त्रयोऽप्यृत्विजोऽन्यतरां वाग्लक्षणां वर्तनीं वाचैव संस्कुर्वन्ति । तत्रैवं सति वाङ्मनसे वर्तनी संस्कार्ये यज्ञे ।

उन दोनों मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गका ब्रह्मानामक ऋत्विक् विवेकज्ञानयुक्त चित्तद्वारा संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तीनों ऋत्विक् भी दूसरे वाक्नामक मार्गका वाणीके द्वारा ही संस्कार करते हैं। अतः ऐसा होनेके कारण यज्ञमें वाक् और मन दोनों ही मार्गोंका संस्कार करना चाहिये ।

अथ स ब्रह्मा यत्र यस्मिन्काल उपाकृते प्रारब्धे प्रातरनुवाके शस्त्रे पुरा पूर्वं परिधानीयाया ऋचो ब्रह्मैतस्मिन्नन्तरे काले व्यववदति मौनं परित्यजति यदि तदान्यतरामेव वाग्वर्तनीं संस्करोति । ब्रह्मणासंस्क्रियमाणा मनोवर्तनी हीयते विनश्यति छिद्रीभवत्यन्यतरा, स यज्ञो वाग्वर्तन्यैवान्यतरया वर्तितुमशक्नुवन्रिष्यति ।

इसके बाद यह ब्रह्मा जिस कालमें प्रातरनुवाक शस्त्रका प्रारम्भ हो गया हो उस समयसे परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे पूर्व बोल उठता है—यदि मौन छोड़ देता है तो एक अर्थात् वाक्रूप मार्गका ही संस्कार करता है । इस प्रकार ब्रह्माद्वारा संस्कारशून्य हुआ एक मनरूप मार्ग विनष्ट अर्थात् छिद्रयुक्त हो जाता है । तब वह यज्ञ एकमात्र वाग्वर्तनीसे ही रहनेमें असमर्थ होनेके कारण नष्ट हो जाता है ।

कथमिव ? इत्याह—स यथैकपात्पुरुषो व्रजन्गच्छन्नध्वानं रिष्यति, रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो गच्छन्रिष्यति, एवमस्य यजमानस्य कुब्रह्मणा यज्ञो रिष्यति विनश्यति । यज्ञं रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति; यज्ञप्राणो हि यजमानः, अतो युक्तो यज्ञरेषे रेषस्तस्य । स तं यज्ञमिष्ट्वा तादृशं पापीयान्पापतरो भवति ॥ २-३ ॥

किस प्रकार नष्ट हो जाता है ? यह श्रुति बतलाती है—जिस प्रकार मार्गमें एक पाँवसे चलनेवाला मनुष्य गिर जाता है अथवा एक पहियेसे चलनेवाला रथ नाशको प्राप्त होता है उसी प्रकार कुत्सित ब्रह्माके द्वारा इस यजमानका यज्ञ नष्ट हो जाता है । यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यजमानका भी नाश होता है, क्योंकि यजमानका तो यज्ञ ही प्राण है, इसलिये यज्ञके नाश होनेपर उसका नाश होना उचित ही है । वह इस प्रकारके उस यज्ञका यजन करनेपर पापीयान्——अधिकतर पापी होता है ॥ २-३ ॥

ब्रह्माके मौनपालनसे यज्ञकी प्रतिष्ठा

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥ स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ ५ ॥

और यदि प्रातरनुवाकका आरम्भ होनेके अनन्तर परिधानीया ऋचासे पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलता है तो [समस्त ऋत्विक् मिलकर] दोनों ही मार्गोंका संस्कार कर देते हैं । तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता । जिस प्रकार दोनों पैरोंसे चलनेवाला पुरुष अथवा दोनों पहियोंसे चलने-

वाला रथ स्थित रहता है इसी प्रकार इसका यज्ञ स्थित रहता है, यज्ञके स्थित रहनेपर यजमान भी स्थित रहता है । वह [ऐसा] यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥ ४-५ ॥

अथ पुनर्यत्र ब्रह्मा विद्वान्मौनं परिगृह्य वाग्विसर्गमकुर्वन्वर्तते यावत्परिधानीयाया न व्यववदति तथैव सर्वर्त्विज उभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरापि । किमिव ? इत्याह पूर्वोक्तविपरीतौ दृष्टान्तौ । एवमस्य यजमानस्य यज्ञः स्ववर्तनीभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठति स्वेनात्मनाविनश्यन्वर्तत इत्यर्थः । यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति । स यजमान एवं मौनविज्ञानवद्ब्रह्मोपेतं यज्ञमिष्ट्वा श्रेयान्भवति श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ ४-५ ॥

किंतु जहाँ विद्वान् ब्रह्मा मौन ग्रहण करनेके अनन्तर परिधानीया ऋचापर्यन्त वाणी उच्चारण न करता हुआ रहता है, मौन त्याग नहीं करता; और उसीकी तरह अन्य सब ऋत्विक् भी [नियमबद्ध] रहते हैं, वहाँ वे सब दोनों ही मार्गोंका संस्कार कर देते हैं । तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता । किस प्रकार नष्ट नहीं होता, इसमें श्रुति पहलेसे विपरीत दृष्टान्त देती है । तात्पर्य यह है कि उसी प्रकार अपने दोनों मार्गोंद्वारा स्थित हुआ इस यजमानका यज्ञ प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् अपने स्वरूपसे भ्रष्ट न होता हुआ वर्तमान रहता है । यज्ञके प्रतिष्ठित रहनेपर यजमान भी उसीकी तरह प्रतिष्ठित रहता है । इस प्रकारके मौनविज्ञानयुक्त ब्रह्मावाला वह यजमान यज्ञ करके श्रेयान् होता है अर्थात् श्रेष्ठ होता है ॥ ४-५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१६॥

सप्तदश खण्ड

यज्ञ-दोषके प्रायश्चित्तरूपसे व्याहृतियोंकी उपासना

अत्र ब्रह्मणो मौनं विहितम्; तद्रेषे ब्रह्मत्वकर्मणि चाथान्यस्मिंश्च हौत्रादिकर्मरेषे व्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तमिति तदर्थं व्याहृतयो विधातव्या इत्याह—

यहाँ ब्रह्माके मौनका विधान किया गया, उसका भ्रंश होनेपर ब्रह्मत्व कर्मका विनाश होने अथवा अन्य किसी हौत्रादि कर्मका विनाश होनेपर व्याहृतिहोम यह प्रायश्चित्त है; उसके लिये व्याहृतियोंका विधान करना है, इसलिये श्रुति कहती है—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳरसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापतिने लोकोंको लक्ष्य बनाकर ध्यानरूप तप किया । उन तप किये जाते हुए लोकोंसे उसने रस निकाले । पृथिवीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोकसे आदित्यको उद्धृत किया ॥ १ ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपल्लोकानुद्दिश्य तत्र सारजिघृक्षया ध्यानलक्षणं तपश्चकार । तेषां तप्यमानानां लोकानां रसान्साररूपान्प्रावृहदुद्धृतवाञ्जग्राहेत्यर्थः। कान् ? अग्निं रसं पृथिव्याः,

प्रजापतिने लोकोंको अर्थात् लोकोंको लक्ष्य बनाकर उनसे सार ग्रहण करनेकी इच्छासे ध्यानरूप तप किया । इस प्रकार तप किये जाते हुए उन लोकोंके साररूप रसोंको 'प्रावृहत्'—उद्धृत अर्थात् ग्रहण किया । किन रसोंको ग्रहण किया ? पृथिवीसे अग्निरूप रस,

वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ॥ १ ॥	अन्तरिक्षसे वायुरूप रस और द्युलोकसे आदित्यरूप रस ग्रहण किया ॥१॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात् ॥२॥

[फिर] उसने इन तीन देवताओंको लक्ष्य करके तप किया। उन तप किये जाते हुए देवताओंसे उसने रस निकाले। अग्निसे ऋक्, वायुसे यजुः और आदित्यसे साम ग्रहण किये ॥ २ ॥

पुनरप्येवमेवाग्न्याद्याः स एतास्तिस्रो देवता उद्दिश्याभ्यतपत् । ततोऽपि सारं रसं त्रयीविद्यां जग्राह ॥ २ ॥	फिर भी उसी प्रकार उसने अग्नि आदि तीन देवताओंको लक्ष्य बनाकर तप किया। उनसे भी त्रयीविद्यारूप सार—रस ग्रहण किया ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥ तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति ॥ ४ ॥

[तदनन्तर] उसने इस त्रयीविद्याको लक्ष्य करके तप किया। उस तप की जाती हुई विद्यासे उसने रस निकाले। ऋक्-श्रुतियोंसे भूः, यजुःश्रुतियोंसे भुवः तथा सामश्रुतियोंसे स्वः इन रसोंको ग्रहण किया। उस यज्ञमें यदि ऋक्-श्रुतियोंके सम्बन्धसे क्षत हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह ऋचाओंके रससे ऋचाओंके वीर्यद्वारा ऋक्सम्बन्धी यज्ञके क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ३-४ ॥

स एतां पुनरभ्यतपत्त्रयीं विद्याम् । तस्यास्तप्यमानाया रसं भूरिति व्याहृतिमृग्भ्यो जग्राह, भुवरिति व्याहृतिं यजुर्भ्यः, स्वरिति व्याहृतिं सामभ्यः । अत एव लोकदेववेदरसा महाव्याहृतयः । अतस्तत्र यज्ञे यद्यृक्त ऋक्संबन्धादृङ्निमित्तं रिष्येद्यज्ञः क्षतं प्राप्नुयाद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्, सा तत्र प्रायश्चित्तिः । कथम् ? ऋचामेव, तदिति क्रियाविशेषणम्, रसेनर्चां वीर्येणौजसर्चां यज्ञस्य ऋक्संबन्धिनो यज्ञस्य विरिष्टं विच्छिन्नं क्षतरूपमुत्पन्नं संदधाति प्रतिसंधत्ते ॥ ३-४ ॥

फिर उसने इस त्रयीविद्याको लक्ष्य करके तप किया । उस तप की जाती हुई विद्याके रस 'भूः' इस व्याहृतिको ऋक्श्रुतियोंसे ग्रहण किया । तथा 'भुवः' इस व्याहृतिको यजुःश्रुतियोंसे और 'स्वः' इस व्याहृतिको सामश्रुतियोंसे ग्रहण किया । इसीसे ये महाव्याहृतियाँ लोक, देव और वेदकी सारभूत हैं । इसलिये यदि उस यज्ञमें ऋक्से—ऋक्के सम्बन्धसे—ऋक्के कारण क्षत प्राप्त हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्निमें हवन करे । उस अवस्थामें वही प्रायश्चित्त है । किस प्रकार ? ऋचाओंके ही रससे ऋचाओंके वीर्य—ओजद्वारा वह यज्ञके ऋक्सम्बन्धी विरिष्ट—विच्छेद अर्थात् उत्पन्न हुए क्षतकी पूर्ति करता है । 'ऋचामेव तत्' इसमें 'तत्' यह क्रियाविशेषण है ॥ ३-४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति ॥ ५ ॥

और यदि यजुःश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमें हवन करे । इस प्रकार वह यजुओंके रससे यजुओंके वीर्यद्वारा यज्ञके यजुःसम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति ॥ ६ ॥

और यदि सामश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमें हवन करे । इस प्रकार वह सामके रससे सामके वीर्यद्वारा यज्ञके सामसम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है ॥ ६ ॥

अथ यदि यजुष्टो यजुर्निमित्तं रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । तथा सामनिमित्ते रेषे स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात् । तथा पूर्ववद्यज्ञं संदधाति । ब्रह्मनिमित्ते तु रेषे त्रिष्वग्निषु तिसृभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात् । त्रय्या हि विद्यायाः स रेषः । "अथ केन

और यदि यजुर्निमित्तक क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमें हवन करे, तथा सामसम्बन्धी क्षत होनेपर 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमें हवन करे । इस प्रकार वह पूर्ववत् (ऋक्सम्बन्धी क्षतमें किये हुएके अनुसार) यज्ञक्षतकी पूर्ति कर लेता है । [ये सब प्रायश्चित्त होता, उद्गाता और अध्वर्युद्वारा होनेवाले क्षतोंकी पूर्तिके लिये हैं ।] ब्रह्माके कारण यज्ञक्षत होनेपर तो तीनों अग्नियोंमें तीनों व्याहृतियोंद्वारा हवन करे; क्योंकि [उसके द्वारा होनेवाला] वह यज्ञक्षत तो त्रयीविद्याका ही क्षत

ब्रह्मत्वमित्यनयैव त्रय्या विद्यया" इति श्रुतेः । न्यायान्तरं वा मृग्यं ब्रह्मत्वनिमित्ते रेषे ॥५-६॥

है । जैसा कि "ब्रह्मत्व किसके द्वारा सिद्ध होता है ? इस त्रयीविद्यासे ही" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अथवा ब्रह्मत्वके कारण होनेवाले यज्ञक्षतके लिये कोई और न्याय ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५-६ ॥

विद्वान् ब्रह्माकी विशिष्टता

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳसंदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसंदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

इस विषयमें [ऐसा समझना चाहिये कि] जिस प्रकार लवण (क्षार) से सुवर्णको, सुवर्णसे चाँदीको, चाँदीसे त्रपुको, त्रपुसे सीसेको, सीसेसे लोहेको और लोहेसे काष्ठको अथवा चमड़ेसे काष्ठको जोड़ा जाता है । उसी प्रकार इन लोक, देवता और त्रयीविद्याके वीर्यसे यज्ञके क्षतका प्रतिसंधान किया जाता है । जिसमें इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ निश्चय ही मानो ओषधियोंद्वारा संस्कृत होता है ॥७-८॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् क्षारेण टङ्कणादिना । खरे मृदुत्वकरं हि तत् । सुवर्णेन रजतमशक्यसंधानं संदध्यात् । रजतेन तथा त्रपु, त्रपुणा सीसं

उस सम्बन्धमें [ऐसा समझना चाहिये कि] जिस प्रकार लवण-टङ्कणादि क्षारसे सुवर्णको जोड़ा जाता है, क्योंकि वह कठिन सुवर्णको मृदु करनेवाला है, सुवर्णसे चाँदीको——जिसका जुड़ना अत्यन्त कठिन है——जोड़ते हैं, इसी प्रकार चाँदीसे त्रपु (राँगा),

सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा चर्मबन्धनेन। एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण रसाख्येनौजसा यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञः, रोगार्त इव पुमांश्चिकित्सकेन सुशिक्षितेनैष यज्ञो भवति। कोऽसौ ? यत्र यस्मिन्यज्ञ एवंविद्यथोक्तव्याहृतिहोमप्रायश्चित्तविद्ब्रह्मर्त्विग्भवति स यज्ञ इत्यर्थः ॥७-८॥

त्रपुसे सीसा, सीसेसे लोहा और लोहेसे काष्ठ अथवा चर्म—चमड़ेके बन्धनसे काष्ठको जोड़ा जाता है, उसी प्रकार इन लोक, देवता और त्रयीविद्याके वीर्य—रससंज्ञक ओजसे यज्ञक्षतकी पूर्ति करते हैं। सुशिक्षित चिकित्सकके द्वारा [नीरोग किये हुए] रोगार्त्त पुरुषके समान यह यज्ञ निश्चय ही मानो ओषधियोंद्वारा सुसंस्कृत होता है—कौन यज्ञ ? जहाँ अर्थात् जिस यज्ञमें इस प्रकार जाननेवाला यानी पूर्वोक्त व्याहृतिहोमरूप प्रायश्चित्त जाननेवाला ब्रह्मा ऋत्विक् होता है वह यज्ञ—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ७-८ ॥

* * *

किं च—

तथा—

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्माके उद्देश्यसे ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि "जहाँ-जहाँ कर्म आवृत होता है वहीं वह पहुँच जाता है" ॥९॥

एष ह वा उदक्प्रवण उदङ्निम्नो दक्षिणोच्छ्रायो यज्ञो

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण—उत्तरकी ओर झुका हुआ और

भवति, उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः, यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति। एवंविदं ह वै ब्रह्माणमृत्विजं प्रत्येषानुगाथा ब्रह्मणः स्तुतिपरा—यतो यत आवर्तते कर्म प्रदेशादृत्विजां यज्ञः क्षतीभवंस्तत्तद्यज्ञस्य क्षतरूपं प्रतिसंदधत्प्रायश्चित्तेन गच्छति परिपालयतीत्येतत् ॥९॥

दक्षिण ओर उठा हुआ—अर्थात् उत्तरमार्गकी प्राप्तिका हेतु होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्मा ऋत्विक्के विषयमें ही ब्रह्माकी स्तुति करनेवाली यह अनुगाथा है—जिस-जिस प्रदेशसे कर्म आवृत्त होता है अर्थात् होता आदि ऋत्विजोंका यज्ञ क्षतयुक्त होता है उस-उस यज्ञके क्षतकी प्रायश्चित्तसे पूर्ति करता हुआ ब्रह्मा जाता है अर्थात् यज्ञकर्ताकी सब प्रकार रक्षा करता है ॥ ९ ॥

* * *

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳसर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥१०॥

एक मानव ब्रह्मा ही ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी योद्धाओंकी रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी भी सब ओरसे रक्षा करता है। अतः इस प्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवालेको नहीं ॥ १० ॥

मानवो ब्रह्मा मौनाचरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वात्ततो ब्रह्मैवैकर्त्विक्कुरून्कर्तॄन् योद्धॄनारूढानश्वा

मौनाचरण करनेसे अथवा मनन करनेके कारण ब्रह्मा मानव है; अतः ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मा ही एक ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी 'कुरून्'—

वडवा यथाभिरक्षत्येवंविद् ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति तत्कृतदोषापनयनात् । यत एवं विशिष्टो ब्रह्मा विद्वान्, तस्मादेवंविदम् एव यथोक्तव्याहृत्यादिविदं ब्रह्माणं कुर्वीत, नानेवंविदं कदाचनेति । द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥

कर्ताओंकी यानी अपनी पीठपर चढ़े हुए योद्धाओंकी सब प्रकारसे रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा भी यज्ञ, यजमान और समस्त ऋत्विजोंकी, उनके किये हुए दोषोंकी निवृत्ति करके, सब ओरसे रक्षा करता है । क्योंकि विद्वान् ब्रह्मा ऐसा विशिष्टगुणसम्पन्न होता है इसलिये इस प्रकार—उपर्युक्त व्याहृति आदिका ज्ञान रखनेवालेको ही ब्रह्मा बनावे; इस प्रकार न जाननेवालेको कभी न बनावे । 'नानेवंविदं नानेवंविदम्' यह द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ १० ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

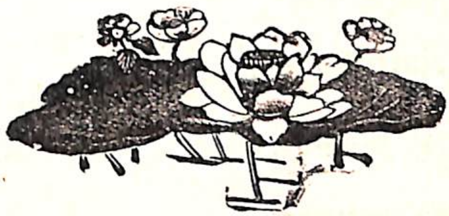

पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

उपक्रमः

सगुणब्रह्मविद्याया उत्तरा गतिरुक्ता । अथेदानीं पञ्चमेऽध्याये पञ्चाग्निविदो गृहस्थस्योर्ध्वरेतसां च श्रद्धालूनां विद्यान्तरशीलिनां तामेव गतिमनूद्यान्या दक्षिणदिक्संबन्धिनी केवलकर्मिणां धूमादिलक्षणा पुनरावृत्तिरूपा, तृतीया च ततः कष्टतरा संसारगतिः, वैराग्यहेतोर्वक्तव्या इत्यारभ्यते । प्राणः श्रेष्ठो वागादिभ्यः प्राणो वाव संवर्ग इत्यादि च बहुशोऽतीते ग्रन्थे प्राणग्रहणं कृतम्, स कथं श्रेष्ठो वागादिषु सर्वैः संहत्यकारित्वाविशेषे, कथं

[गत अध्यायमें] सगुण ब्रह्मविद्याकी उत्तर (उत्तरायण मार्गरूपा) गति कह दी गयी । अब इसके अनन्तर पञ्चम अध्यायमें पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थ तथा अन्य विद्याओंमें निष्ठा रखनेवाले श्रद्धालु ऊर्ध्वरेताओंकी उसी गतिका अनुवाद कर केवल कर्मपरायण पुरुषोंकी उससे भिन्न दक्षिण दिशासे सम्बन्ध रखनेवाली धूमादिलक्षणा पुनरावृत्तिरूपा गति और तीसरी उससे भी क्लिष्टतर संसारगतिका वैराग्यके लिये वर्णन करना है—इसीसे आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । वागादिकी अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ है; क्योंकि गत ग्रन्थमें 'प्राण ही संवर्ग है' इत्यादि अनेकों प्रकारसे प्राणका ग्रहण किया गया है । 'सबके साथ मिलकर कार्य करनेमें समानता होनेपर भी वह वागादि इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ क्यों है ? और क्यों उसकी उपासना करनी चाहिये ?'—

च तस्योपासनमिति तस्य श्रेष्ठत्वादिगुणविधित्सयेदमनन्तरमारभ्यते—

इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये उसके श्रेष्ठत्व आदि गुणोंका विधान करनेकी इच्छासे यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणोपासना

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यो ह वै कश्चिज्ज्येष्ठं च प्रथमं वयसा श्रेष्ठं च गुणैरभ्यधिकं वेद, स ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। फलेन पुरुषं प्रलोभ्याभिमुखीकृत्याह—प्राणो वाव ज्येष्ठश्च वयसा वागादिभ्यः। गर्भस्थे हि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिका भवति, यया गर्भो विवर्धते। चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां पश्चाद्वागादीनां वृत्तिलाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति। श्रेष्ठत्वं तु प्रति-

जो कोई ज्येष्ठ—आयुमें प्रथम और श्रेष्ठ—गुणोंमें अधिकको जानता है वह निश्चय ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। इस प्रकार फलके द्वारा पुरुषको प्रलोभित कर उसे प्राणोपासनाके अभिमुख कर श्रुति कहती है—वागादिकी अपेक्षा प्राण ही आयुमें ज्येष्ठ है, क्योंकि पुरुषके गर्भस्थ होनेपर वागादिकी अपेक्षा प्राणकी वृत्ति पहले लब्धस्वरूप होती है, जिससे कि गर्भ बढ़ता है। वागादिकी वृत्तियोंका लाभ तो चक्षुरादि गोलक और अवयवोंके निष्पन्न हो जानेके अनन्तर होता है; इसलिये आयुकी दृष्टिसे प्राण ज्येष्ठ है। तथा उसकी

पादयिष्यति सुहय इत्यादिनिदर्शनेन । अतः प्राण एव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चास्मिन्कार्यकरणसंघाते ॥ १ ॥

श्रेष्ठताका तो 'सुहयः' इत्यादि दृष्टान्तद्वारा [बारहवें मन्त्रमें] प्रतिपादन किया जायगा । अतः इस कार्यकरणसंघातमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो कोई वसिष्ठको जानता है वह स्वजातियोंमें वसिष्ठ होता है; निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है ॥ २ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वसितृतममाच्छादयितृतमं वसुमत्तमं वा यो वेद स तथैव वसिष्ठो ह भवति स्वानां ज्ञातीनाम् । कस्तर्हि वसिष्ठः ? इत्याह—वाग्वाव वसिष्ठः, वाग्मिनो हि पुरुषा वसन्त्यभिभवन्त्यन्यान्वसुमत्तमाश्च, अतो वाग्वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो कोई वसिष्ठ—अत्यन्त बसनेवाले अर्थात् आच्छादन करनेवालेको अथवा अत्यन्त वसुमान् (धनवान्) को जानता है वह उसी प्रकार अपने सजातियोंमें वसिष्ठ होता है । अच्छा तो वसिष्ठ कौन है ? इसपर श्रुति कहती है—निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है; क्योंकि वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) लोग ही बसते अर्थात् दूसरोंका पराभव करते हैं और अधिक धनवान् भी होते हैं; अतः वाक् ही वसिष्ठ है ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है; चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद स अस्मिँल्लोकेऽमुष्मिंश्च परे प्रतितिष्ठति ह । का तर्हि प्रतिष्ठा ? इत्याह—चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा । चक्षुषा हि पश्यन्समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति यस्मात्, अतः प्रतिष्ठा चक्षुः ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है । अच्छा तो प्रतिष्ठा क्या है ? इसपर श्रुति कहती है—चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि चक्षुसे देखकर ही पुरुष सम और विषम प्रदेशमें स्थित होता है; इसलिये चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

* * *

यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते
दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पद्को जानता है उसे दैव और मानुष काम (भोग) सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं । श्रोत्र ही सम्पद् है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद तस्मा अस्मै दैवाश्च मानुषाश्च कामाः संपद्यन्ते ह । का तर्हि संपद् ? इत्याह—श्रोत्रं वाव संपत् । यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते तदर्थविज्ञानं च, ततः कर्माणि क्रियन्ते, ततः कामसंपत् । इत्येवं कामसंपद्धेतुत्वाच्छ्रोत्रं वा संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पद्को जानता है उसे दैव और मानुष भोग सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं । अच्छा तो सम्पद् क्या है ? इसपर श्रुति कहती है—श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि श्रोत्रसे वेद और उनके अर्थका विशेष ज्ञान ग्रहण किये जाते हैं, फिर कर्म किये जाते हैं और तदनन्तर भोगोंकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार भोगोंकी प्राप्तिके हेतु होनेके कारण श्रोत्र ही सम्पद् है ॥ ४ ॥

* * *

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति
मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

जो आयतनको जानता है वह स्वजातियोंका आयतन (आश्रय) होता है । निश्चय ही मन आयतन है ॥ ५ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवत्याश्रयो भवतीत्यर्थः। किं तदायतनम् ? इत्याह—मनो ह वा आयतनम् । इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां भोक्त्रर्थानां प्रत्ययरूपाणां मन आयतनमाश्रयः; अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

जो आयतनको जानता है वह स्वजनोंका आयतन होता है अर्थात् उनका आश्रय बन जाता है । वह आयतन क्या है ? इसपर श्रुति कहती है——मन ही आयतन है । इन्द्रियोंद्वारा लाये हुए एवं भोक्ताके प्रत्ययरूप विषयोंका मन ही आयतन यानी आश्रय है; इसलिये मन ही आयतन है—ऐसा कहा गया है ॥ ५ ॥

इन्द्रियोंका विवाद

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करने लगे ॥ ६ ॥

अथ ह प्राणा एवं यथोक्तगुणाः सन्तः अहंश्रेयसि 'अहं श्रेयानस्मि अहं श्रेयानस्मि' इत्येतस्मिन्प्रयोजने व्यूदिरे नाना विरुद्धं चोदिर उक्तवन्तः ॥ ६ ॥

एक बार इस प्रकार पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त प्राण अपनी श्रेष्ठताके लिये 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजनसे विवाद करने लगे; अर्थात् बहुत-सी विरुद्ध बातें कहने लगे ॥६॥

प्रजापतिका निर्णय

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

उन प्राणोंने अपने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा——'भगवन् ! हममें कौन श्रेष्ठ है ?' प्रजापतिने उनसे कहा——'तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे वही तुममें श्रेष्ठ है' ॥ ७ ॥

ते ह ते हैवं विवदमाना आत्मनः श्रेष्ठत्वविज्ञानाय प्रजापतिं पितरं जनयितारं कञ्चिदेत्योचुरुक्तवन्तः—हे भगवन्को नोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठोऽभ्यधिको गुणैः ? इत्येवं पृष्टवन्तः। तान्पितोवाच ह—यस्मिन्वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते शरीरमिदं पापिष्ठमिवातिशयेन जीवतोऽपि समुत्क्रान्तप्राणं ततोऽपि पापिष्ठतरमिवातिशयेन दृश्येत कुणपमस्पृश्यमशुचि दृश्येत, स वो युष्माकं श्रेष्ठः, इत्यवोचत्काक्वा तद्दुःखं परिजिहीर्षुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार विवाद करते हुए वे अपनी श्रेष्ठताको विशेषरूपसे जाननेके लिये प्रजापति——अपने पिता यानी किसी उत्पत्तिकर्ताके पास जाकर बोले——'हे भगवन् ! हम सबमें कौन श्रेष्ठ है ?' अर्थात् गुणोंके कारण कौन सबसे बढ़ा-चढ़ा है— ऐसा पूछा । उनसे पिताने कहा——'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर यह शरीर अतिशय पापिष्ठ-सा अर्थात् जीवित रहते हुए भी प्राणहीन तथा उससे भी अत्यन्त निकृष्ट-सा दिखायी दे और शवके समान अस्पृश्य एवं अपवित्र जान पड़े वही तुममें श्रेष्ठ है ।' इस प्रकार उनके दुःखकी निवृत्ति चाहते हुए प्रजापतिने काकुसे [अर्थात् स्वरभङ्गरूप उपायविशेषसे] उत्तर दिया ॥७॥

वागिन्द्रियकी परीक्षा

तथोक्तेषु पित्रा प्राणेषु—

प्राणोंके प्रति पितासे इस प्रकार कहे जानेपर—

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा 'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार गूँगेलोग बिना बोले प्राणसे प्राणनक्रिया करते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।' ऐसा सुनकर वाक् इन्द्रियने शरीरमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सा ह वागुच्चक्रामोत्क्रान्तवती । सा चोत्क्रम्य संवत्सरमात्रं प्रोष्य स्वव्यापारान्निवृत्ता सती पुनः पर्येत्येतरान्प्राणानुवाच—कथं केन प्रकारेणाशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना जीवितुं धारयितुमात्मानमिति, ते होचुर्यथा कला इत्यादि । कला मूका यथा लोकेऽवदन्तो वाचा जीवन्ति । कथम् ?

उस वाक् इन्द्रियने उत्क्रमण किया । तथा उसने उत्क्रमण कर केवल एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर—अपने व्यापारसे निवृत्त रहकर फिर लौटकर अन्य प्राणोंसे कहा—'तुमलोग मेरे बिना कैसे किस प्रकारसे जीवित रह सके ?' तब उन्होंने 'जिस प्रकार गूँगे' इत्यादि उत्तर दिया । जिस प्रकार 'कलाः'—गूँगेलोग संसारमें वाणीसे बिना बोले भी जीवित रहते हैं—किस प्रकार ?—प्राणसे प्राणन

प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवं सर्वकरणचेष्टां कुर्वन्त इत्यर्थः; एवं वयमजीविष्मेत्यर्थः। आत्मनोऽश्रेष्ठतां प्राणेषु बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक्पुनः स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः।८।

करते हुए, नेत्रसे देखते हुए, कानसे सुनते हुए और मनसे चिन्तन करते हुए, तात्पर्य यह है कि इस प्रकार समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाएँ करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। तब प्राणोंमें अपनी अश्रेष्ठता समझकर वाक् इन्द्रियने प्रवेश किया; अर्थात् वह पुनः अपने व्यापारमें प्रवृत्त हो गयी ॥ ८ ॥

चक्षुकी परीक्षा

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

[फिर] चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार अन्धेलोग बिना देखे प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।' ऐसा सुनकर चक्षुने प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रकी परीक्षा

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा बधिरा अशृण्वन्तः

प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

[तदनन्तर] श्रोत्रने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।' यह सुनकर श्रोत्रने शरीरमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

मनकी परीक्षा

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

[तत्पश्चात्] मनने उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष प्रवास कर फिर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' [उन्होंने कहा—]'जिस प्रकार बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राणसे प्राणनक्रिया करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे] ।' यह सुनकर मनने भी प्रवेश किया ॥ ११ ॥

समानमन्यत्, चक्षुर्होच्चक्राम श्रोत्रं होच्चक्राम मनो होच्चक्रामेत्यादि । यथा

चक्षुने उत्क्रमण किया, श्रोत्रने उत्क्रमण किया एवं मनने उत्क्रमण किया इत्यादि शेष समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य समान है । जिस प्रकार बालक 'अमना'–अप्ररूढमना

बाला अमनसोऽप्ररूढमनस इत्यर्थः ॥ ९-११ ॥

अर्थात् जिनका मन विकसित नहीं हुआ है ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ९-११ ॥

प्राणकी परीक्षा और विजय

एवं परीक्षितेषु वागादिषु—

इस प्रकार वागादिकी परीक्षा हो चुकनेपर—

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

फिर प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा की । उसने, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेकी कीलोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार, अन्य प्राणोंको भी उखाड़ दिया । तब उन सबने उसके सामने जाकर कहा——'भगवन् ! आप [हमारे स्वामी] रहें, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें' ॥ १२ ॥

अथानन्तरं ह स मुख्यः प्राण उच्चिक्रमिषन्नुत्क्रमितुमिच्छन्किमकरोत् ? इत्युच्यते—यथा लोके सुहयः शोभनोऽश्वः पड्वीशशङ्कून्पादबन्धनकीलान् परीक्षणायारूढेन कशया हतः सन्संखिदेत्समुत्खनेत्समुत्पाटयेत्, एवमितरान्वागादीन्प्राणान्समखिदत्समुद्धृतवान् ।

ते प्राणाः संचालिताः सन्तः स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमाना

अथ—इसके पश्चात् उस मुख्य प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा करते हुए क्या किया ? सो बतलाया जाता है—लोकमें जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपनी परीक्षाके लिये चढ़े हुए मनुष्यद्वारा चाबुकसे मारे जानेपर पैर बाँधनेकी कीलोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार उसने वाक् आदि अन्य प्राणोंको उखाड़ दिया अर्थात् [शरीरसे] बाहर निकाल लिया ।

[इसी प्रकार] विचलित कर दिये जानेपर वे प्राण अपने गोलकोंमें स्थित रहनेमें असमर्थ होनेके कारण

अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं तमूचुः—हे भगवन्नेधि भव नः स्वामी, यस्मात्त्वं नोऽस्माकं श्रेष्ठोऽसि; मा चास्माद्देहादुत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

मुख्यप्राणके सम्मुख जा उससे बोले—'हे भगवन् ! 'एधि'—आप हमारे स्वामी हों, क्योंकि हम सबमें आप श्रेष्ठ हैं। तथा इस शरीरसे आप उत्क्रमण न करें' ॥ १२ ॥

इन्द्रियोंद्वारा प्राणकी स्तुति

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥ १३ ॥ अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

फिर उससे वाक् इन्द्रियने कहा—'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो।' तदनन्तर उससे चक्षुने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो' ॥ १३ ॥ फिर उससे श्रोत्रने कहा—'मैं जो सम्पद् हूँ सो तुम्हीं सम्पद् हो।' तत्पश्चात् उससे मन बोला—'मैं जो आयतन हूँ सो तुम्हीं आयतन हो' ॥ १४ ॥

अथ हैनं वागादयः प्राणस्य श्रेष्ठत्वं कार्येणापादयन्त आहुर्बलिमिव हरन्तो राज्ञे विशः। कथम् ? वाक् तावदुवाच—यदहं वसिष्ठोऽस्मि, यदिति क्रियाविशेषणम्, यद्वसिष्ठत्वगुणास्मीत्य-

तदनन्तर वैश्यलोग जिस प्रकार राजाको भेंट समर्पण करते हैं उसी प्रकार वागादि इन्द्रियोंने अपने कार्यसे प्राणकी श्रेष्ठता सम्पादन करते हुए कहा। किस प्रकार कहा ?—पहले वाणी बोली—मैं जो वसिष्ठ हूँ, यहाँ मूलमें 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है, अर्थात् 'मैं जो वसिष्ठत्व

र्थः; त्वं तद्वसिष्ठस्तेन वसिष्ठत्वगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसि तद्गुणस्त्वमित्यर्थः । अथवा तच्छब्दोऽपि क्रियाविशेषणमेव । त्वत्कृतस्त्वदीयोऽसौ वसिष्ठत्वगुणोऽज्ञानान्ममेति मयाभिमत इत्येतत् । तथोत्तरेषु योज्यं चक्षुःश्रोत्रमनःसु ॥ १३-१४ ॥

गुणवाली हूँ सो तुम वसिष्ठ हो—उस वसिष्ठत्व गुणसे तद्वसिष्ठ हो अर्थात् तुम्हीं उस गुणवाले हो ।' अथवा 'तत्' शब्द भी क्रियाविशेषण ही है । तब इसका यह तात्पर्य होगा कि 'तुम्हारा किया हुआ अर्थात् तुम्हारा जो यह वसिष्ठत्व गुण है वह अज्ञानसे 'मेरा है' ऐसा मैंने समझ लिया है ।' इसी प्रकार आगेके चक्षु, श्रोत्र और मनके विषयमें योजना कर लेनी चाहिये ॥ १३-१४ ॥

श्रुतेरिदं वचो युक्तमिदं वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभिहितं यस्मात्—

वाक् आदि इन्द्रियोंद्वारा मुख्य प्राणके प्रति कहा हुआ जो यह श्रुतिका वाक्य है सो ठीक ही है, क्योंकि —

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

[लोकमें समस्त इन्द्रियोंको] न वाक्, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं; परंतु 'प्राण' ऐसा कहते हैं, क्योंकि ये सब प्राण ही हैं ॥ १५ ॥

न वै लोके वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनांसीति वागादीनि करणान्याचक्षते लौकिका

लोकमें इन वाक् आदि [समस्त] इन्द्रियोंको लौकिक अथवा शास्त्रज्ञ पुरुष न तो वाक् कहते हैं और न

आगमज्ञा वा; किं तर्हि ? प्राणा इत्येवाचक्षते कथयन्ति । यस्मात् प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि वागादीनि करणजातानि भवत्यतो मुख्यं प्राणं प्रत्यनुरूपमेव वागादिभिरुक्तमिति प्रकरणार्थमुपसंजिहीर्षति ।

ननु कथमिदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहंश्रेष्ठतायै विवदन्तोऽन्योन्यं स्पर्धेरन् ? इति । न हि चक्षुरादीनां वाचं प्रत्याख्याय प्रत्येकं वदनं संभवति; तथापगमो देहात्पुनः प्रवेशो ब्रह्मगमनं प्राणस्तुतिर्वोपपद्यते ।

तत्राग्न्यादिचेतनावद्देवताधिष्ठितत्वाद्वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत्सिद्धमागमतः । तार्किकसमयविरोध इति चेद्देह एकस्मिन्ननेकचेतनावत्त्वे, न, ईश्वरस्य

चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं। तो फिर क्या कहते हैं? बस 'प्राण' ऐसा ही कहते हैं। क्योंकि प्राण ही यह समस्त वागादि इन्द्रियसमुदाय हो जाता है, अतः मुख्य प्राणके प्रति वागादि इन्द्रियोंद्वारा ठीक ही कहा गया है—इस प्रकार श्रुति इस प्रकरणके अर्थका उपसंहार करना चाहती है।

शङ्का—किंतु यह किस प्रकार सम्भव है कि वागादि प्राणोंने चेतनायुक्त पुरुषोंके समान अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करते हुए एक-दूसरेसे स्पर्धा की? क्योंकि वाक्के सिवा अन्य चक्षु आदि इन्द्रियोंमेंसे किसीका भी बोलना सम्भव नहीं है और न उनका देहसे चला जाना, उसमें पुनः प्रवेश करना, ब्रह्माके पास जाना अथवा प्राणकी स्तुति करना ही सम्भव है।

समाधान—उसमें हमारा यह कथन है कि अग्नि आदि चेतन देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण वागादि इन्द्रियोंकी चेतनता तो शास्त्रसे ही सिद्ध है। यदि कहो कि इस प्रकार एक ही देहमें अनेक चेतनावानोंके रहनेसे तार्किकोंके मतसे विरोध होगा—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि

निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात् । ये तावदीश्वरमभ्युपगच्छन्ति तार्किकास्ते मनआदिकार्यकरणानामाध्यात्मिकानां बाह्यानां च पृथिव्यादीनामीश्वराधिष्ठितानामेव नियमेन प्रवृत्तिमिच्छन्ति रथादिवत् । न चास्माभिरग्न्याद्याश्चेतनावत्योऽपि देवता अध्यात्मं भोक्त्र्योऽभ्युपगम्यन्ते; किं तर्हि ? कार्यकरणवतीनां हि तासां प्राणैकदेवताभेदानामध्यात्माधिभूताधिदैवभेदकोटिविकल्पानामध्यक्षतामात्रेण नियन्तेश्वरोऽभ्युपगम्यते, स ह्यकरणः । "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३ । १९) इत्यादिमन्त्रवर्णात् । "हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्" (श्वे० उ० ४ । १२)। "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" (श्वे० उ० ३ । ४) इत्यादि च श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति ।

उन्होंने ईश्वरकी निमित्तकारणता स्वीकार की है। तार्किकलोग जो ईश्वरको स्वीकार करते हैं तो वे रथ आदिके समान ईश्वरसे अधिष्ठित हुए ही मन आदि आध्यात्मिक भूत एवं इन्द्रियोंकी तथा पृथिवी आदि बाह्य पदार्थोंकी नियत प्रवृत्ति मानते हैं । तथा हमलोग तो अग्नि आदि चेतन देवताओंको भी अध्यात्म (शरीरान्तर्वर्ती) भोक्ता नहीं मानते । तो क्या मानते हैं ?—हम तो अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभेदसे करोड़ों विकल्पोंवाली एकमात्र प्राणदेवताकी भेदस्वरूप उन देहेन्द्रियवती देवताओंका ईश्वरको अध्यक्षतामात्रसे नियन्ता मानते हैं, क्योंकि वह (ईश्वर) अकरण (इन्द्रियादिरहित) है । जैसा कि "वह बिना हाथ-पाँवके ही वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है तथा बिना नेत्रवाला होकर भी देखता है और कर्णहीन होनेपर भी सुनता है" इस मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है । इसके सिवा श्वेताश्वतर शाखावालोंका यह भी पाठ है कि—"उत्पन्न होते हुए हिरण्यगर्भको देखो" तथा "पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया" इत्यादि ।

भोक्ता कर्मफलसंवन्धी देहे तद्विलक्षणो जीव इति वक्ष्यामः । वागादीनां चेह संवादः कल्पितो विदुषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठतानिर्धारणार्थम्; यथा लोके पुरुषा अन्योन्यमात्मनः श्रेष्ठतायै विवदमानाः कश्चिद्गुणविशेषाभिज्ञं पृच्छन्ति को नः श्रेष्ठो गुणैः ? इति, तेनोक्ता एकैकश्येनादः कार्यं साधयितुमुद्यच्छत, येनादः कार्यं साध्यते स वः श्रेष्ठः, इत्युक्तास्तथा एवोद्यच्छन्त आत्मनोऽन्यस्य वा श्रेष्ठतां निर्धारयन्ति; तथेमं संव्यवहारं वागादिषु कल्पितवती श्रुतिः, कथं नाम विद्वान्वागादीनामेकैकस्याभावेऽपि जीवनं दृष्टं न तु प्राणस्येति प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्येतेति ।

[इस शरीरमें] उन ईश्वर और देवताओंसे विलक्षण कर्मफलसे सम्बन्ध रखनेवाला जीव भोक्ता है—ऐसा हम (आगे) कहेंगे। वागादिका संवाद तो यहाँ उपासकके प्रति अन्वय एवं व्यतिरेकसे प्राणकी श्रेष्ठताका निर्णय करानेके लिये कल्पित किया गया है । जिस प्रकार लोकमें मनुष्य अपनी श्रेष्ठताके लिये एक-दूसरेसे विवाद करते हुए किसी विशेष गुणज्ञसे पूछते हैं कि 'हममें गुणोंकी दृष्टिसे कौन श्रेष्ठ है ?' और उसके यह कहनेपर कि 'इस कार्यको सिद्ध करनेके लिये तुम एक-एक करके उद्योग करो; जिससे यह कार्य सिद्ध हो जाय, वही तुममें श्रेष्ठ है' उसी प्रकार उद्योग करके अपनी या किसी दूसरेकी श्रेष्ठताका निर्णय करते हैं—उसी प्रकार श्रुतिने वागादिमें इस व्यवहारकी कल्पना की है, जिससे कि 'वागादिमेंसे एक-एकके अभावमें भी जीवन देखा गया है किंतु प्राणके अभावमें नहीं देखा गया' ऐसा देखकर उपासक किसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठता समझ जाय ।

तथा च श्रुतिः कौषीतकिनाम्; "जीवति वागपेतो मूकान्हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोऽपेतो बालान्हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्नः" (कौ० उ० ३ । ३) इत्याद्या ॥ १५ ॥

ऐसी ही कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्की श्रुति भी है—"मनुष्य बिना वाणीके जीवित रहता है, क्योंकि हम गूँगोंको देखते हैं; नेत्रके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम अन्धोंको देखते हैं; श्रोत्रके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम बहरोंको देखते हैं; मनके बिना जीवित रहता है, क्योंकि हम बालकोंको देखते हैं तथा भुजा कट जानेपर जीवित रहता है, ऊरु (जाँघ) कट जानेपर जीवित रहता है" इत्यादि ॥ १५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

प्राणका अन्ननिर्देश

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

उसने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा ?' तब वागादिने कहा—'कुत्तों और पक्षियोंसे लेकर सब जीवोंका यह जो कुछ अन्न है [सब तुम्हारा अन्न है]', सो यह सब अन (प्राण) का अन्न है । 'अन' यह प्राणका प्रत्यक्ष नाम है । इस प्रकार जाननेवालेके लिये भी कुछ अनन्न (अभक्ष्य) नहीं होता है ॥१॥

स होवाच मुख्यः प्राणः किं मेऽन्नं भविष्यतीति । मुख्यं प्राणं प्रष्टारमिव कल्पयित्वा वागादीन्प्रतिवक्तॄनिव कल्पयन्ती श्रुतिराह—यदिदं लोकेऽन्नजातं प्रसिद्धमा श्वभ्यः श्वभिः सहा शकुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्राणिनां यदन्नं तत्तवान्नमिति होचुर्वागादय इति । प्राणस्य सर्वमन्नं प्राणोऽत्ता सर्वस्यान्नस्येत्येवं प्रतिपत्तये कल्पिताख्यायिकारूपाद्व्यावृत्त्य स्वेन श्रुतिरूपे-

उस मुख्य प्राणने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा ?' [इस प्रकार] मुख्य प्राणको मानो प्रश्नकर्ता बनाकर वागादिको उत्तरदाता-सा कल्पित करती हुई श्रुति कहती है—'इस लोकमें कुत्तोंके सहित और पक्षियोंके सहित सम्पूर्ण प्राणियोंका यह जो कुछ अन्न प्रसिद्ध है वही तेरा अन्न है' ऐसा वागादिने कहा । इस प्रकार सब कुछ प्राणका अन्न है और प्राण इस अन्नका भोक्ता है—इस बातको समझानेके लिये कल्पित आख्यायिकारूपसे निवृत्त हो ग्रन्थ अपने श्रुतिरूपसे कहता

णाह—तद्वा एतद्यत्किञ्चिल्लोके प्राणिभिरन्नमद्यतेऽनस्य प्राणस्य तदन्नं प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः । सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थमन इति प्राणस्य प्रत्यक्षं नाम । प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगतिरेव स्यात् । तथा च सर्वान्नानामत्तुर्नामग्रहणमितीदं प्रत्यक्षं नामान इति सर्वान्नानामत्तुः साक्षादभिधानम् ।

न ह वा एवंविदि यथोक्तप्राणविदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्तेति, तस्मिन्नेवंविदि ह वै किञ्चन किञ्चिदपि प्राणिभिराद्यं सर्वैरनन्नमनाद्यं न भवति सर्वमेवंविद्यन्नं भवतीत्यर्थः;

है—'यह जो कुछ अन्न इस लोकमें प्राणियोंद्वारा भक्षित होता है वह अन—प्राणका ही अन्न है; अर्थात् वह प्राणसे ही भक्षित होता है ।' प्राणका सब प्रकारकी चेष्टामें व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करनेके लिये उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है, क्योंकि 'प्र' आदि उपसर्ग पूर्वमें रहनेपर उसकी विशेष गति ही सिद्ध होती है ।* इस प्रकार सम्पूर्ण अन्नोंको भक्षण करनेवाले प्राणका नाम ग्रहण किया गया है अतः उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है; अर्थात् यह सर्वान्नभक्षी प्राणका साक्षात् नाम है ।

इस प्रकार जाननेवाले—उपर्युक्त प्राणवेत्ताके लिये, अर्थात् जो यह जानता है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित सारे अन्नोंका भोक्ता प्राण हूँ, उसके लिये कुछ भी, समस्त प्राणियोंद्वारा भक्षित होनेवाला कोई भी अन्न, अभक्ष्य नहीं होता । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जाननेवालेके लिये सभी अन्न है,

---

* 'अन प्राणने' इस धातुपाठके अनुसार 'अन' शब्द गतिशीलका वाचक है । उसके पहले प्र, अप, उत्+आ, वि+आ इन उपसर्गोंके तथा 'सम' शब्दके लगनेसे क्रमशः प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान शब्द सिद्ध होते हैं । इनके योगसे मुख्य प्राणका गतिभेद ही द्योतित होता है ।

प्राणभूतत्वाद्विदुषः । "प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति" (बृ० १ । ५ । २३) इत्युपक्रम्य "एवंविदो ह वा उदेति सूर्य एवंविद्यस्तमेति" इति श्रुत्यन्तरात् ॥१॥

क्योंकि वह विद्वान् प्राणस्वरूप हो जाता है; जैसा कि एक दूसरी श्रुतिमें भी "प्राणसे ही यह सूर्य उदित होता है और प्राणमें ही अस्त होता है" ऐसा उपक्रम कर "इस प्रकार जाननेवालेसे ही सूर्य उदित होता है और ऐसा जाननेवालेमें ही अस्त हो जाता है" [ऐसा उपसंहार किया गया है]॥ १॥

प्राणका वस्त्रनिर्देश

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

उसने कहा—'मेरा वस्त्र क्या होगा ?' तब वागादि बोले—'जल'। इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे आच्छादन करते हैं। [ऐसा करनेसे] वह वस्त्र प्राप्त करनेवाला और अनग्न होता है ॥ २ ॥

स होवाच पुनः प्राणः, पूर्ववदेव कल्पना, किं मे वासो भविष्यति ? इति; आप इति होचुर्वागादयः । यस्मात्प्राणस्य वास आपः, तस्माद्वा एतदशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा भुक्तवन्तश्च ब्राह्मणा विद्वांस एतत्कुर्वन्ति, किम् ? अद्भिर्वासस्थानीयाभिः पुरस्ता-

उस प्राणने फिर कहा—यह कल्पना भी पहलेहीके समान है—'मेरा वस्त्र क्या होगा ?' इसपर वागादिने कहा—'जल'। क्योंकि जल प्राणका वस्त्र है इसीसे भोजन करनेवाले विद्वान् यह करते हैं; क्या करते हैं ? भोजनके पूर्व और पश्चात् वे वस्त्रस्थानीय जलसे

द्भोजनात्पूर्वमुपरिष्टाच्च भोजनादूर्ध्वं च परिदधति परिधानं कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य । लम्भुको लम्भनशीलो वासो ह भवति, वाससो लब्धैव भवतीत्यर्थः । अनग्नो ह भवति, वाससो लम्भुकत्वेनार्थसिद्धैवानग्नतेत्यनग्नो ह भवतीत्युत्तरीयवान् भवतीत्येतत् ।

भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं शुद्ध्यर्थं विज्ञातं तस्मिन् प्राणस्य वास इति दर्शनमात्रमिह विधीयते । अद्भिः परिदधतीति नाचमनान्तरम् । यथा लौकिकैः प्राणिभिरद्यमानमन्नं प्राणस्येति दर्शनमात्रम्, तद्वत् । किं मेऽन्नं किं मे वास इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्यत्वात् । यद्याचमनमपूर्वं तादर्थ्येन क्रियेत

मुख्य प्राणका परिधान (आच्छादन) करते हैं । [ऐसा करनेसे] वह लम्भुक—वस्त्रोंका लम्भनशील अर्थात् वस्त्रोंको प्राप्त करनेवाला ही होता है और अनग्न होता है । वस्त्रोंको प्राप्त करनेवाला होनेसे अनग्नता अर्थतः सिद्ध ही है; अतः अनग्न होता है इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरीय वस्त्रसे युक्त होता है ।

भोजन आरम्भ करनेवाले और भोजन कर चुकनेवालेका जो आचमन शुद्धिके लिये विदित है उसमें 'यह प्राणका वस्त्र है' ऐसी दृष्टिमात्रका विधान किया गया है । 'जलसे परिधान करता है' ऐसा कहकर किसी अन्य आचमनका विधान नहीं किया गया । जिस प्रकार लौकिक प्राणियोंद्वारा भक्षित होनेवाला अन्न प्राणका है——यहाँ जिस तरह केवल दृष्टिमात्रका विधान किया गया है उसी तरह इसे समझना चाहिये; क्योंकि 'मेरा अन्न क्या है ? मेरा वस्त्र क्या है ?' इत्यादि प्रश्न और इनके उत्तर दोनों समान हैं । यदि [इस श्रुतिके अनुसार] प्राणके लिये अपूर्व—नवीन आचमनका विधान मान

तदा कृम्याद्यन्नमपि प्राणस्येति भक्ष्यत्वेन विहितं स्यात् । तुल्ययोर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रतिवचनयोः प्रकरणस्य विज्ञानार्थत्वादर्धजरतीयो न्यायो न युक्तः कल्पयितुम् ।

यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्रायत्यार्थं प्राणस्यानग्नतार्थं च न भवतीत्युच्यते, न तथा वयमाचमनमुभयार्थं ब्रूमः; किं तर्हि ? प्रायत्यार्थाचमनसाधनभूता आपः प्राणस्य वास इति दर्शनं चोद्यत इति ब्रूमः । तत्राचमनस्योभयार्थत्वप्रसङ्गदोषचोदनानुपपन्ना । वासोऽर्थ एवाचमने तद्दर्शनं स्यादिति चेत् ?

लिया जाय तो कृमि आदि अन्नका भी प्राणके भक्ष्यरूपसे विधान समझा जायगा । इस प्रकार समानरूपसे विज्ञानार्थक प्रश्न और उत्तरोंका यह प्रकरण विज्ञानरूप प्रयोजनके लिये ही होनेके कारण यहाँ अर्धजरतीय न्यायकी* कल्पना करना उचित नहीं है ।

तथा ऐसा जो कहा जाता है कि 'शुद्धिके लिये किया जानेवाला प्रसिद्ध आचमन प्राणकी नग्नताके निवारणके लिये नहीं हो सकता' उसके विषयमें हमें यह कहना है कि इस प्रकार हम आचमनको दोनों प्रयोजनोंके लिये नहीं बतलाते । तो फिर क्या कहते हैं ?—हमारा कथन तो यह है कि शुद्धिके लिये किये जानेवाले आचमनका साधनभूत जल प्राणका वस्त्र है—ऐसी दृष्टिका विधान किया गया है । उसमें आचमनके दो प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये होनेरूप दोषकी शङ्का करना उचित नहीं है । यदि कहो कि 'ऐसी दृष्टि करना तो तब उचित होता जब कि आचमन प्राणके वस्त्रके लिये ही किया जाता'—तो

---

* यदि कोई मनुष्य कहे कि आधी गाय तो जवान है और आधी बूढ़ी है तो इसे अर्धजरतीय न्याय कहते हैं । अतः ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि अन्नोंमें तो केवल दृष्टिमात्रका विधान है किंतु आचमन नवीन विहित है ।

न; वासोज्ञानार्थवाक्ये वासोऽर्थापूर्वाचमनविधाने तत्रानग्नतार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः । आचमनस्य तदर्थत्वमन्यार्थत्वं चेति प्रमाणाभावात् ॥२॥

यह ठीक नहीं; क्योंकि वस्त्रदृष्टिके लिये प्रवृत्त हुए वाक्यमें वस्त्रके लिये नवीन आचमनका विधान और उसमें प्राणकी नग्नताके निवारणरूप प्रयोजनकी दृष्टिका विधान माननेसे वाक्यभेदरूप दोष होगा, क्योंकि आचमनके वासोऽर्थत्व और किसी अन्यार्थत्वमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ २ ॥

प्राणविद्याकी स्तुति

तदेतत्प्राणदर्शनं स्तूयते; कथम् ?

उस इस प्राणदर्शनकी स्तुति की जाती है; किस प्रकार ?

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

उस इस (प्राणदर्शन) को सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गोश्रुतिके प्रति निरूपित करके कहा—'यदि इसे शुष्क स्थाणुके प्रति कहे तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायगी और पत्ते फूट आवेंगे ॥ ३ ॥

तद्धैतत्प्राणदर्शनं सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये नाम्ना वैयाघ्रपद्याय व्याघ्रपदोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यस्तस्मै गोश्रुत्याख्यायोक्त्वोवाचान्यदपि वक्ष्यमाणं वचः । किं तदुवाच ? इत्याह—यद्यपि शुष्काय स्थाणव एतद्-

उस इस प्राणदर्शनको सत्यकाम जाबालने गोश्रुतिनामक वैयाघ्रपद्यसे —व्याघ्रपदके पुत्रको वैयाघ्रपद्य कहते हैं, उस गोश्रुति नामवालेसे कहकर और भी आगे कहा जानेवाला वचन कहा । उसने क्या कहा ? सो बतलाते हैं—यदि प्राणवेत्ता पुरुष इस दर्शनको शुष्क स्थाणुके प्रति

शैनं ब्रूयात्प्राणविज्ञायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखाः प्ररोहेयुश्च पलाशानि पत्राणि । किमु जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति ॥ ३ ॥

कहे तो उस स्थाणुमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँ और पत्ते निकल आवें यदि जीवित पुरुषसे, कहे तब तो कहना ही क्या है ? ॥ ३ ॥

◆

मन्थकर्म

यथोक्तप्राणदर्शनविद इदं मन्थाख्यं कर्मारभ्यते—

उपर्युक्त प्राणदर्शनके ज्ञाताके लिये इस मन्थनामक कर्मका आरम्भ किया जाता है—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳरात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ४ ॥

अब यदि वह महत्त्वको प्राप्त होना चाहे तो उसे अमावस्याको दीक्षित होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधके दधि और मधुसम्बन्धी मन्थका मन्थन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए अग्निमें घृतका हवन कर मन्थपर उसका अवशेष डालना चाहिये ॥ ४ ॥

अथानन्तरं यदि महन्महत्त्वं जिगमिषेद्गन्तुमिच्छेन्महत्त्वं प्राप्तुं यदि कामयेतेत्यर्थः, तस्येदं कर्म विधीयते । महत्त्वे हि सति श्रीरुपनमते । श्रीमतो ह्यर्थप्राप्तं धनं ततः कर्मानुष्ठानं ततश्च

अब इसके पश्चात् यदि वह महत् यानी महत्त्वको प्राप्त होना चाहे अर्थात् महत्त्वप्राप्तिकी कामना रखता हो तो उसके लिये इस कर्मका विधान किया जाता है, क्योंकि महत्त्व प्राप्त होनेपर ही लक्ष्मी समीप आती है, क्योंकि श्रीमान्‌को धन तो स्वतः प्राप्त होता ही है, उससे कर्मानुष्ठान होता है और उससे

देवयानं पितृयाणं वा पन्थानं प्रतिपत्स्यत इत्येतत्प्रयोजनमुररीकृत्य महत्त्वप्रेप्सोरिदं कर्म न विषयोपभोगकामस्य । तस्यायं कालादिविधिरुच्यते—

अमावास्यायां दीक्षित्वा दीक्षित इव भूमिशयनादि नियमं कृत्वा तपोरूपं सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमित्यादिधर्मवान्भूत्वेत्यर्थः । न पुनर्दैक्षमेव कर्मजातं सर्वमुपादत्ते, अतद्विकारत्वान्मन्थाख्यस्य कर्मणः । "उपसद्व्रती" (बृ० उ० ६ । ३ । १) इति श्रुत्यन्तरात्पयोमात्रभक्षणं च शुद्धिकारणं तप उपादत्ते । पौर्णमास्यां रात्रौ कर्मारभते । सर्वौषधस्य ग्राम्यारण्यानामोषधीनां यावच्छक्त्यल्पमल्पमुपादाय तद्वितुषीकृत्याममेव पिष्टं दधिमधुनोरौदुम्बरे कंसाकारे चम-

देवयान अथवा पितृयाण मार्ग प्राप्त होना सम्भव है—इस उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर ही महत्त्वप्राप्तिकी इच्छावालेके लिये—विषयोपभोगकी कामनावालेके लिये नहीं—यह कर्म आरम्भ किया जाता है । उसकी यह कालादि विधि कही जाती है—

अमावास्याके दिन दीक्षित हो—दीक्षित पुरुषके समान भूमिशयन आदि नियम कर अर्थात् तपःस्वरूप सत्यवचन, ब्रह्मचर्य इत्यादि धर्मवाला होकर पूर्णिमाकी रात्रिको इस कर्मका आरम्भ करता है । [इस कर्ममें दीक्षित होनेवाला पुरुष] दीक्षासम्बन्धी [मौञ्जीबन्धनादि] समस्त कर्मोंका ग्रहण नहीं करता, क्योंकि यह मन्थाख्य कर्म किसी अन्य कर्मका विकार नहीं है । "उपसद्व्रती भूत्वा" ऐसी अन्य श्रुति होनेके कारण वह शुद्धिका कारणभूत पयोभक्षणमात्र तप स्वीकार करता है । सर्वौषध अर्थात् यथाशक्ति ग्राम्य और वन्य समस्त ओषधियोंका थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर उन्हें तुषरहित कर उसकी कच्ची पिट्ठीको एक अन्य श्रुतिके अनुसार दही और मधुके सहित कंसाकार अथवा चमसाकार

साकारे वा पात्रे श्रुत्यन्तरात्प्रक्षिप्योपमथ्याग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावावसथ्य आज्यस्यावापस्थाने हुत्वा स्रुवसंलग्नं मन्थे संपातमवनयेत्संस्रवमधः पातयेत् ॥४॥

गूलरके पात्रमें डालकर उसका मन्थन कर उसे अपने आगे रख 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए आवसथ्याग्निमें आवापस्थानमें घृतकी आहुति दे और स्रुवमें लगे हुए अवशिष्ट हविको मन्थमें डाल दे अर्थात् उस घृतकी धाराको मन्थमें गिरा दे ॥ ४ ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

[इसी प्रकार] 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'संपदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले ॥ ५ ॥

समानमन्यत्, वसिष्ठाय प्रतिष्ठायै संपद आयतनाय स्वाहेति प्रत्येकं तथैव संपातमवनयेद्धुत्वा ॥ ५ ॥

शेष अर्थ पूर्ववत् है; 'वसिष्ठाय, प्रतिष्ठायै, संपदे तथा आयतनाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए प्रत्येक मन्त्रके अनन्तर आहुति देकर उसी प्रकार घृतका स्राव [मन्थमें] डाले ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳस हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳश्रैष्ठ्यꣳराज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

तदनन्तर अग्निसे कुछ दूर हटकर मन्थको अञ्जलिमें ले वह 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रका जप करे । [अमो नामासि आदि मन्त्रका अर्थ—] हे मन्थ ! तू 'अम' नामवाला है, क्योंकि यह सारा जगत् [अपने प्राणभूत] तेरे साथ अवस्थित है । वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (दीप्तिमान्) और सबका अधिपति है । वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्यको प्राप्त करा । मैं ही यह सर्वरूप हो जाऊँ ॥ ६ ॥

अथ प्रतिसृप्याग्नेरीषदपसृत्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपतीमं मन्त्रम्——अमो नामास्यमा हि ते । अम इति प्राणस्य नाम, अन्नेन हि प्राणः प्राणिति देह इत्यतो मन्थद्रव्यं प्राणस्यान्नत्वात्प्राणत्वेन स्तूयतेऽमो नामासीति । कुतः ? यतोऽमा सह हि यस्मात्ते तव प्राणभूतस्य सर्वं समस्तं जगदिदमतः स हि प्राणभूतो मन्थो ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च । अत एव च राजा दीप्तिमानधिपतिश्चाधिष्ठाय पालयिता सर्वस्य । स मा मामपि मन्थः प्राणो

फिर प्रतिसर्पण कर——अग्निसे कुछ हटकर मन्थको अञ्जलिमें रख इस मन्त्रको जपता है—'अमो नामासि अमा हि ते' इत्यादि । 'अम' यह प्राणका नाम है, अन्नके कारण ही प्राण शरीरमें प्राणनक्रिया करता है; इसीसे मन्थद्रव्य प्राणका अन्न होनेके कारण 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रद्वारा प्राणरूपसे स्तुत होता है । तू क्यों 'अम' नामवाला है ?——क्योंकि प्राणभूत तेरे साथ ही यह सारा जगत् है; अतः वह [तू] प्राणभूत मन्थ ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । इसीसे तू राजा—दीप्तिमान् और अधिपति—सबका अधिष्ठान होकर पालन करनेवाला है । वह

ज्यैष्ठ्यादिगुणपूगमात्मनो गमयत्वहमेवेदं सर्वं जगदसानि भवानि प्राणवत् । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

मन्थरूप प्राण मुझे भी अपने ज्येष्ठत्व आदि गुणसमूहको प्राप्त करावे । प्राणके समान मैं भी यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाऊँ। 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये है ॥ ६ ॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति। तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति । वयं देवस्य भोजनमित्याचामति । श्रेष्ठꣳसर्वधातममित्याचामति । तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति। निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः । स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है । 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठꣳसर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन करता है; तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या चमस (चम्मच) को धोकर सारा मन्थलेप पी जाता है । तत्पश्चात् वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि) पर वाणीका संयम कर [अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे] अभिभूत न होता हुआ शयन करता है । उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो वैसा समझे कि कर्म सफल हो गया ॥ ७ ॥

अथानन्तरं खल्वेतया वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पादश आचा-

इसके अनन्तर वह इस कही जानेवाली ऋचासे पादशः आचमन—भक्षण करता है; अर्थात् इस

---

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके स्वरूपका ध्यान करते हैं ।'

मति भक्षयति मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकं ग्रासं भक्षयति । तद्भोजनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः, प्राणमादित्यं चैकीकृत्योच्यते, आदित्यस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि मन्थरूपम् । येनान्नेन सावित्रेण भोजनेनोपभुक्तेन वयं सवितृस्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः । देवस्य सवितुरिति पूर्वेण संबन्धः । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्नेभ्यः सर्वधातमं सर्वस्य जगतो धारयितृतममतिशयेन विधातृतममिति वा । सर्वथा भोजनविशेषणम् । तुरं त्वरं तूर्णं शीघ्रमित्येतत् । भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेषः । धीमहि चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तुं कर्म

मन्त्रके एक-एक पादसे एक-एक ग्रास भक्षण करता है । हम सविता—सबका प्रसव करनेवाले आदित्यके उस मन्थरूप भोजनकी प्रार्थना करते हैं—यहाँ प्राण और आदित्यको एक मानकर ऐसा कहा गया है—जिस अन्न अर्थात् सविता देवतासे उपभोग किये हुए भोजनद्वारा हम सूर्यस्वरूपको प्राप्त होंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है । 'देवस्य सवितुः' इस प्रकार 'देवस्य' पदका पहले [सवितुः पद] से सम्बन्ध है । श्रेष्ठ—समस्त अन्नोंकी अपेक्षा प्रशस्यतम, 'सर्वधातमम्'—समस्त जगत्के उत्कृष्ट धारयिता अथवा सम्पूर्ण जगत्के अतिशय विधाता (उत्पत्तिकर्ता) [—इस प्रकार कुछ भी अर्थ किया जाय] यह सर्वथा भोजनका विशेषण है । हम तुर—त्वर—तूर्ण अर्थात् शीघ्र ही भग—सविता देवताके स्वरूपका—'स्वरूप' शब्द यहाँ शेष है—[अर्थात् यह ऊपरसे लाना पड़ता है] ध्यान—चिन्तन करते हैं; तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट भोजनसे संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उसके स्वरूपका ध्यान करते हैं । अथवा भग यानी श्रीके कारणभूत महत्त्वको प्राप्त करनेके

ज्यैष्ठ्यादिगुणपूगमात्मनो गमयत्वहमेवेदं सर्वं जगदसानि भवानि प्राणवत् । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

मन्थरूप प्राण मुझे भी अपने ज्येष्ठत्व आदि गुणसमूहको प्राप्त करावे । प्राणके समान मैं भी यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाऊँ । 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्तिके लिये है ॥ ६ ॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति । तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति । वयं देवस्य भोजनमित्याचामति । श्रेष्ठꣳसर्वधातममित्याचामति । तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति । निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः । स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है । 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठꣳसर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन करता है; तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या चमस (चम्मच) को धोकर सारा मन्थलेप पी जाता है । तत्पश्चात् वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि) पर वाणीका संयम कर [अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे] अभिभूत न होता हुआ शयन करता है । उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो वैसा समझे कि कर्म सफल हो गया ॥ ७ ॥

अथानन्तरं खल्वेतया वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पादश आचा-

इसके अनन्तर वह इस कही जानेवाली ऋचासे पादशः आचमन—भक्षण करता है; अर्थात् इस

---

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके स्वरूपका ध्यान करते हैं ।'

मति भक्षयति मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकं ग्रासं भक्षयति । तद्भोजनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः, प्राणमादित्यं चैकीकृत्योच्यते, आदित्यस्य वृणीमहे प्रार्थयेमहि मन्थरूपम् । येनान्नेन सावित्रेण भोजनेनोपभुक्तेन वयं सवितृस्वरूपापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः । देवस्य सवितुरिति पूर्वेण संबन्धः । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्नेभ्यः सर्वधातमं सर्वस्य जगतो धारयितृतममतिशयेन विधातृतममिति वा । सर्वथा भोजनविशेषणम् । तुरं त्वरं तूर्णं शीघ्रमित्येतत् । भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेषः । धीमहि चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तुं कर्म

मन्त्रके एक-एक पादसे एक-एक ग्रास भक्षण करता है । हम सविता—सबका प्रसव करनेवाले आदित्यके उस मन्थरूप भोजनकी प्रार्थना करते हैं—यहाँ प्राण और आदित्यको एक मानकर ऐसा कहा गया है—जिस अन्न अर्थात् सविता देवतासे उपभोग किये हुए भोजनद्वारा हम सूर्यस्वरूपको प्राप्त होंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है । 'देवस्य सवितुः' इस प्रकार 'देवस्य' पदका पहले [सवितुः पद] से सम्बन्ध है । श्रेष्ठ—समस्त अन्नोंकी अपेक्षा प्रशस्यतम, 'सर्वधातमम्'—समस्त जगत्के उत्कृष्ट धारयिता अथवा सम्पूर्ण जगत्के अतिशय विधाता (उत्पत्तिकर्ता) [—इस प्रकार कुछ भी अर्थ किया जाय] यह सर्वथा भोजनका विशेषण है । हम तुर—त्वर—तूर्ण अर्थात् शीघ्र ही भग—सविता देवताके स्वरूपका —'स्वरूप' शब्द यहाँ शेष है—[अर्थात् यह ऊपरसे लाना पड़ता है] ध्यान—चिन्तन करते हैं; तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट भोजनसे संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उसके स्वरूपका ध्यान करते हैं । अथवा भग यानी श्रीके कारणभूत महत्त्वको प्राप्त करनेके

कृतवन्तो वयं तद्धीमहि चिन्तयेमहीति सर्वं च मन्थलेपं पिबति निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं चमसं चमसाकारं वौदुम्बरं पात्रम् ।

लिये कर्म करनेवाले हम उसका ध्यान — चिन्तन करते हैं । ऐसा कहकर कंस——कंसाकार अथवा चमस——चमसाकार गूलरके पात्रको धोकर सारे मन्थलेपको पी जाता है ।

पीत्वाचम्य पश्चादग्नेः प्राक्शिराः संविशति चर्मणि वाजिने स्थण्डिले केवलायां वा भूमौ, वाचंयमो वाग्यतः सन्नित्यर्थः, अप्रसाहो न प्रसह्यते नाभिभूयते स्त्र्याद्यनिष्टस्वप्नदर्शनेन यथा तथा संयतचित्तः सन्नित्यर्थः, स एवंभूतो यदि स्त्रियं पश्येत्स्वप्नेषु तदा विद्यात्समृद्धं ममेदं कर्मेति ॥ ७ ॥

मन्थलेपको पीकर आचमन करनेके अनन्तर अग्निके पीछे चर्म— [मृगादिकी] खालपर अथवा स्थण्डिल—केवल भूमिपर ही पूर्वकी ओर शिर करके वाचंयम अर्थात् संयतवाक् होकर तथा अप्रसाह यानी इस प्रकार संयतचित्त होकर कि जिससे स्त्री आदि अनिष्ट स्वप्नके देखनेसे विकृत न हो जाय सो जाता है । ऐसी अवस्थामें यदि वह स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो यह समझे कि मेरा यह कर्म समृद्ध हो गया ॥ ७ ॥

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳस्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ८ ॥

इस विषयमें यह श्लोक है——जिस समय काम्यकर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो उस स्वप्नदर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने ॥ ८ ॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति । यदा कर्मसु

उस इसी अर्थमें यह श्लोक—मन्त्र भी है । जब कि काम्य——

काम्येषु कामार्थेषु स्त्रियं स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु स्वप्नकालेषु वा पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात् । कर्मणां फलनिष्पत्तिर्भविष्यतीति जानीयादित्यर्थः । तस्मिन् स्त्र्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने सतीत्यभिप्रायः । द्विरुक्तिः कर्मसमाप्त्यर्था ॥ ८ ॥

कामनाओंके लिये किये हुए कर्मोंमें स्वप्नमें—स्वप्नदर्शनमें अथवा स्वप्नकालमें स्त्रीको देखे तो उसमें समृद्धि समझे; अर्थात् उन कर्मोंका फल प्राप्त होगा—ऐसा जाने । तात्पर्य यह है कि उस स्त्री आदि प्रशस्त स्वप्नदर्शनके होनेपर [कर्मकी सफलता समझे] । 'तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' यह द्विरुक्ति कर्मकी समाप्तिके लिये है ॥८॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

पाञ्चालोंकी सभामें श्वेतकेतु

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः संसारगतयो वक्तव्या वैराग्यहेतोर्मुमुक्षूणामित्यत आख्यायिकारभ्यते—

मुमुक्षु पुरुषोंके वैराग्यके लिये ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त संसारकी गतियोंका वर्णन करना चाहिये—इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें आया । उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'हे कुमार ! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' इसपर उसने कहा—'हाँ, भगवन् !' ॥ १ ॥

श्वेतकेतुर्नामतः, ह इत्यैतिह्यार्थः, अरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां जनपदानां समितिं सभामेयायाजगाम । तमागतवन्तं ह प्रवाहणो नामतो जीवलस्यापत्यं जैवलिरुवाचोक्तवान् । हे कुमारानु त्वा त्वामशिषदन्वशिषत्पिता ? किमनुशिष्टस्त्वं

श्वेतकेतु नामवाला—'ह' यह निपात ऐतिह्यके लिये है—अरुणके पुत्रको आरुणि कहते हैं, उसका पुत्र आरुणेय पञ्चाल देशके लोगोंकी सभामें आया । उस आये हुएसे प्रवाहण नामवाले जीवलके पुत्र जैवलिने कहा—'हे कुमार ! क्या पिताने तुझे अनुशासित (शिक्षित) किया है ?' अर्थात् 'क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' ऐसा कहे

पित्रेत्यर्थः । इत्युक्तः स आह—अनु हि अनुशिष्टोऽस्मि भगव इति सूचयन्नाह ॥ १ ॥

जानेपर उसने कहा—'हाँ, भगवन् ! मैं अनुशासित किया गया हूँ'—इस प्रकार सूचित करते हुए उसने उत्तर दिया ॥ १ ॥

प्रवाहणके प्रश्न

तं होवाच—यद्यनुशिष्टोऽसि,

उसने उससे कहा—'यदि तुझे शिक्षा दी गयी है तो—

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ? न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति ? न भगव इति । वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ? न भगव इति ॥ २ ॥

'क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे [जानेपर] प्रजा कहाँ जाती है ?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन् ! नहीं ।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन् !' [प्रवाहण—]'देवयानऔर पितृयाण—इन दोनों मार्गोंका एक-दूसरेसे विलग होनेका स्थान तुझे मालूम है ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं भगवन् !'॥२॥

वेत्थ यदितोऽस्माल्लोकादधि ऊर्ध्वं यत्प्रजाः प्रयन्ति यद्गच्छन्ति, तत्किं जानीषे ? इत्यर्थः । न भगव इत्याहेतरः, न जानेऽहं तद्यत्पृच्छसि । एवं तर्हि, वेत्थ जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्तन्त इति ? न भगव इति प्रत्याह ।

'क्या तू जानता है कि यहाँसे—इस लोकसे परे प्रजा कहाँ जाती है ? तात्पर्य यह है कि क्या तुझे इसका पता है ?' इसपर दूसरे (श्वेतकेतु) ने कहा—'भगवन् ! नहीं; आप जो कुछ पूछते हैं वह मैं नहीं जानता ।' 'अच्छा तो; जिस तरह वह इस लोकमें आती है वह क्या तुझे मालूम है ?' इसपर उसने उत्तर दिया—'भगवन् ! नहीं ।' 'क्या

वेत्थ पथोर्मार्गयोः सहप्रयाणयोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना व्यावर्तनमितरेतरवियोगस्थानं सह गच्छताम् ? इत्यर्थः । न भगव इति ॥ २ ॥

तुझे साथ-साथ जानेवाले देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गोंकी व्यावर्तना—व्यावर्तन अर्थात् इनपर साथ-साथ जानेवाले पुरुषोंके एक-दूसरेसे अलग होनेके स्थानका पता है ?' 'भगवन् ! नहीं' ॥ २ ॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति ? न भगव इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापःपुरुषवचसो भवन्तीति ? नैव भगव इति ॥ ३ ॥

[प्रवाहण—] 'तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है ?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन् ! नहीं ।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुतिके हवन कर दिये जानेपर आप (सोमघृतादि रस) 'पुरुष' संज्ञाको कैसे प्राप्त होते हैं ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन् ! नहीं' ॥ ३ ॥

वेत्थ यथासौ लोकः पितृसम्बन्धी—यं प्राप्य पुनरावर्तन्ते, बहुभिः प्रयद्भिरपि येन कारणेन न सम्पूर्यत इति ? न भगव इति प्रत्याह । वेत्थ यथा येन क्रमेण पञ्चम्यां पञ्चसंख्याकायामाहुतौ हुतायामाहुतिनिर्वृत्ता आहुतिसाधनाश्चापः पुरुषवचसः पुरुष इत्येवं वचोऽभिधानं यासां हूय-

'क्या तू जानता है कि यह पितृगणसम्बन्धी लोक, जिसे प्राप्त होकर फिर लौट आते हैं, बहुतोंके जानेपर भी किस कारणसे नहीं भरता ?' 'भगवन् ! नहीं' ऐसा उसने उत्तर दिया । 'क्या तुझे मालूम है कि किस प्रकार—किस क्रमसे पाँचवीं—पाँच संख्यावाली आहुतिके हुत होनेपर आहुतिमें रहनेवाले आहुतिके साधनभूत आप पुरुषवाची हो जाते हैं ? तात्पर्य यह है कि हवन किये जानेवाले

मानानां क्रमेण षष्ठाहुतिभूतानां ताः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या भवन्ति पुरुषाख्यां लभन्ते ? इत्यर्थः । इत्युक्तो नैव भगव इत्याह, नैवाहमत्र किञ्चन जानामीत्यर्थः ॥ ३ ॥

जिन छठी आहुतिभूत द्रव्योंका 'पुरुष' यही वचन यानी नाम है वे पुरुषवाची कैसे हो जाते हैं ? अर्थात् पुरुषसंज्ञा कैसे प्राप्त करते हैं ?' ऐसा कहे जानेपर उसने यही कहा—'भगवन् ! नहीं; अर्थात् मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानता' ॥३॥

प्रवाहणसे पराभूत श्वेतकेतुका अपने पिताके पास आना

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳसोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तꣳहोवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ॥ ४ ॥

'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा क्यों बोलता था ? जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है ?' तब वह त्रस्त होकर अपने पिताके स्थानपर आया और उससे बोला—'श्रीमान्‌ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है' ॥ ४ ॥

अथैवमज्ञः सन्किमनु कस्मात्त्वमनुशिष्टोऽसीत्यवोचथा उक्तवानसि ? यो हीमानि मया पृष्टान्यर्थजातानि न विद्यान्न विजानीयात्कथं स विद्वत्स्वनुशिष्टोऽस्मीति ब्रुवीत ? इत्येवं स श्वेतकेतू राज्ञायस्त आयासितः

'तो फिर इस प्रकार अज्ञ होनेपर भी तूने 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा कैसे कहा ? जो पुरुष इन मेरी पूछी हुई बातोंको नहीं जानता वह विद्वानोंमें 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा कैसे कह सकता है ?' इस प्रकार राजासे आयस्त—पीडित हो वह श्वेतकेतु अपने

सन्पितुरर्धं स्थानमेयायागतवान्, तं च पितरमुवाच—अननुशिष्यानुशासनमकृत्वैव मा मां किल भगवान्समावर्तनकालेऽब्रवीदुक्तवाननु त्वाशिषमन्वशिषं त्वामिति ॥ ४ ॥

पिताके अर्ध—स्थानपर आया और उस अपने पितासे बोला—'श्रीमान्ने अनुशासन किये बिना ही समावर्तन संस्कारके समय मुझसे कह दिया था कि 'मैंने तुझे शिक्षा दे दी है' ॥ ४ ॥

* * *

यतः—

क्योंकि—

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

'उस क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उनमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका।' उसने कहा—'तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता?' ॥ ५ ॥

पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान् राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवोऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त इत्यर्थः । अप्राक्षीत्पृष्टवान्; तेषां प्रश्नानां नैकञ्चन एकमपि नाशकं न शक्तवानहं विवक्तुं विशेषेणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः ।

'राजन्यबन्धुने—राजन्य (क्षत्रिय लोग) जिसके बन्धु हों उसे राजन्यबन्धु कहते हैं अर्थात् जो स्वयं दुराचारी है ऐसे उस राजन्यबन्धुने मुझसे पाँच—गिनतीके पाँच प्रश्न पूछे थे; किंतु मैं उन प्रश्नोंमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका; अर्थात् उनका विशेषरूपसे अर्थतः निर्णय नहीं कर सका।'

स होवाच पिता—यथा मा मां वत्स त्वं तदागतमात्र एवैतान् प्रश्नानवद् उक्तवानसि—तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति, तथा मां जानीहि, त्वदीयाज्ञानेन लिङ्गेन मम तद्विषयमज्ञानं जानीहीत्यर्थः। कथम्? यथाहमेषां प्रश्नानामेकञ्चनैकमपि न वेद न जान इति; यथा त्वमेवाङ्गैतान् प्रश्नान्न जानीषे तथाहमप्येतान्न जान इत्यर्थः। अतो मय्यन्यथाभावो न कर्तव्यः। कुत एतदेवम्? यतो न जाने; यद्यहमिमान्प्रश्नानवेदिष्यं विदितवानस्मि, कथं ते तुभ्यं प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले पुरा नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि! ॥ ५ ॥

तब उस पिताने कहा—'हे वत्स ! तुमने उस समय आते ही जैसे ये प्रश्न मुझसे कहे हैं उनमेंसे मैं एकका भी विवेचन नहीं कर सकता । ऐसा ही तुम मुझे समझो; अर्थात् अपने अज्ञानरूप लिङ्गसे तुम उस विषयमें मेरा अज्ञान समझ लो; ऐसा क्यों? क्योंकि इन प्रश्नोंमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता । तात्पर्य यह है कि हे तात ! जिस प्रकार तुम इन प्रश्नोंको नहीं जानते उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता । अतः मेरे प्रति तुम्हें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये । किंतु यह बात ऐसी कैसे समझी जाय ? क्योंकि मैं इन्हें जानता नहीं हूँ; यदि मैं इन प्रश्नोंको जानता तो पहले समावर्तनसंस्कारके समय अपने प्रियपुत्र तुम्हारे प्रति क्यों न कहता ?' ॥ ५ ॥

पिता-पुत्रका प्रवाहणके पास आना

इत्युक्त्वा—

ऐसा कहकर—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव

राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ॥ ६ ॥

तब वह गौतम राजाके स्थानपर आया । राजाने अपने यहाँ आये हुए उसकी पूजा की । [दूसरे दिन] प्रातःकाल होते ही राजाके सभामें पहुँचनेपर वह गौतम उसके पास गया । उसने उससे कहा—'हे भगवन् गौतम ! आप मनुष्यसम्बन्धी धनका वर माँग लीजिये ।' उसने कहा—'राजन् ! ये मनुष्यसम्बन्धी धन आपहीके पास रहें; आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात [प्रश्नरूपसे] कही थी वही मुझे बतलाइये ।' तब वह संकटमें पड़ गया ॥ ६ ॥

स ह गौतमो गोत्रतः, राज्ञो जैवलेरर्धं स्थानमेयायागतवान् । तस्मै ह गौतमाय प्राप्तायार्हामर्हणां चकार कृतवान् । स च गौतमः कृतातिथ्य उषित्वा परेद्युः प्रातःकाले सभागे सभां गते राज्युदेयाय । भजनं भागः पूजा सेवा सह भागेन वर्तमानो वा सभागः पूज्यमानोऽन्यैः स्वयं गौतम उदेयाय राजानमुद्गतवान् ।

तं होवाच गौतमं राजा— मानुषस्य भगवन्गौतम मनुष्यसम्बन्धिनो वित्तस्य ग्रामादेर्वरं वरणीयं कामं वृणीथाः प्रार्थयेथाः ।

वह गौतम-गोत्रोत्पन्न मुनि राजा जैवलिके स्थानपर आया । अपने यहाँ आये हुए उस गौतमकी उसने अर्हा—पूजा की । इस प्रकार आतिथ्यसत्कारसे सत्कृत वह गौतम उस दिन निवास कर दूसरे दिन सबेरे ही राजाके सभागत होने—सभामें पहुँचनेपर उसके समीप गया । अथवा ['सभागः' पाठ मानकर ऐसा अर्थ हो सकता है—] भाग—भजन अर्थात् पूजा-सेवाको कहते हैं जो भागसे युक्त अर्थात् दूसरेसे पूजित था वह गौतम स्वयं राजाके पास गया ।

उस गौतमसे राजाने कहा—'हे भगवन् ! आप मनुष्यसम्बन्धी ग्रामादि धनका वरण करने योग्य वर इच्छानुसार माँग लीजिये ।'

स होवाच गौतमः—तवैव तिष्ठतु राजन्मानुषं वित्तम्; यामेव कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचं पञ्चप्रश्नलक्षणामभाषथा उक्तवानसि तामेव वाचं मे मह्यं ब्रूहि कथयेत्युक्तो गौतमेन राजा स ह कृच्छ्री दुःखी बभूव—कथं न्विदमिति ॥ ६ ॥

उस गौतमने कहा—'हे राजन् ! यह मनुष्यसम्बन्धी धन तुम्हारे ही पास रहे । तुमने कुमार अर्थात् मेरे पुत्रके प्रति जो पाँच प्रश्नरूप बात कही थी वही मुझसे कहो ।' गौतमके इस प्रकार कहनेपर वह राजा यह कहता हुआ कि 'यह कैसे हो सकता है ?' कृच्छ्री—दुःखी हो गया ॥ ६ ॥

प्रवाहणका वरप्रदान

स ह कृच्छ्रीभूतोऽप्रत्याख्येयं ब्राह्मणं मन्वानो न्यायेन विद्या वक्तव्येति मत्वा—

इस प्रकार दुखी हुए उस राजाने 'ब्राह्मणका प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये' यह मानते हुए तथा 'विद्याका नियमानुसार ही उपदेश करना चाहिये' यह समझते हुए—

तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार तꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

उसे 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, और उससे कहा—'हे गौतम ! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है [उससे तुम यह समझो कि] पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी । इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें [इस विद्याद्वारा] क्षत्रियोंका ही [शिष्योंके प्रति] अनुशासन होता रहा है ।' ऐसा कहकर वह गौतमसे बोला—॥ ७ ॥

तं ह गौतमं चिरं दीर्घकालं वसेत्येवमाज्ञापयाञ्चकाराज्ञप्तवान् । यत्पूर्वं प्रत्याख्यातवान्राजा

उस गौतमको उसने 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी । राजाने पहले जो विद्याका प्रत्या-

विद्यां यच्च पश्चाच्चिरं वसेत्याज्ञप्तवान्, तन्निमित्तं ब्राह्मणं क्षमापयति हेतुवचनोक्त्या ।

तं होवाच राजा सर्वविद्यो ब्राह्मणोऽपि सन्यथा येन प्रकारेण मा मां हे गौतमावदस्त्वं तामेव विद्यालक्षणां वाचं मे ब्रूहीत्यज्ञानात्तेन त्वं जानीहि । तत्रास्ति वक्तव्यं यथा येन प्रकारेणेयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान्न गच्छति न गतवती । न च ब्राह्मणा अनया विद्ययानुशासितवन्तः । तथैतत्प्रसिद्धं लोके यतस्तस्मादु पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद्बभूव । क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्यैतावन्तं कालमागता, तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान्गमिष्यति । अतो मया यदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै होवाच विद्यां राजा ॥ ७ ॥

ख्यान किया और फिर उसे 'चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, उसका कारण बतलाते हुए वह ब्राह्मणसे क्षमा कराता है ।

राजाने उससे कहा—'सर्वविद्यासम्पन्न ब्राह्मण होनेपर भी हे गौतम ! तुमने जिस प्रकार मुझसे 'उस विद्यारूप वाणीको ही मेरे प्रति कहो' इस प्रकार अज्ञानपूर्वक कहा है इससे तुम यह जानो । उसमें यह कारण बतलाना है कि जिससे यह विद्या तुमसे पहले ब्राह्मणोंमें नहीं गयी तथा इस विद्याद्वारा ब्राह्मणोंने उपदेश ही नहीं किया; क्योंकि इस प्रकार यह बात इस लोकमें प्रसिद्ध है इसीसे पूर्वकालमें समस्त लोकोंमें क्षत्रियका ही—क्षत्रियजातिका ही इस विद्याके द्वारा शिष्योंका शासन—शिक्षकत्व रहा है । अर्थात् क्षत्रियोंकी परम्परासे ही इतने समयतक यह विद्या आयी है । तथापि मैं तुम्हारे प्रति इसका उपदेश करूँगा । तुम्हें देनेके पश्चात् यह ब्राह्मणोंके पास जायगी । इसलिये मैंने जो कुछ कहा है उसे क्षमा करना । ऐसा कहकर राजाने उसे विद्याका उपदेश किया ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

पञ्चम प्रश्नका उत्तर

पञ्चम्यामाहुतावाप इत्ययं प्रश्नः प्राथम्येनापाक्रियते । तदपाकरणमन्वितरेषामपाकरणमनुकूलं भवेदिति । अग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भो यः स उक्तो वाजसनेयके । तं प्रति प्रश्नाः, उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुनरावृत्तिर्लोकं प्रत्युत्थायीति । तेषां चापाकरणमुक्तं तत्रैव—“ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वाते वायुं

अब ‘पाँचवीं आहुतिमें आप (जल) पुरुषसंज्ञक क्यों हो जाते हैं ?’ इस प्रश्नका सबसे पहले निराकरण किया जाता है, क्योंकि उसका निराकरण होनेपर अन्य प्रश्नोंका निराकरण सुगम हो जायगा । अग्निहोत्रकी [प्रातःकालिक और सायंकालिक] दोनों आहुतियोंका जो कार्यारम्भ है वह वाजसनेयोपनिषद्में बतला दिया गया है । वहाँ उस (कार्यारम्भ) के विषयमें उन दोनों आहुतियोंकी उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति तथा लोकोंके प्रति उत्थान करना—ये छः प्रश्न हैं । वहीं उनका निराकरण भी इस प्रकार बतलाया गया है—“वे ये आहुतियाँ हवन किये जानेपर [अपूर्वरूप होकर उत्क्रमण करते हुए यजमानको आवृत कर उसके साथ] उत्क्रमण करती हुई अन्तरिक्षलोकमें प्रवेश करती हैं; और अन्तरिक्षलोकको ही आहवनीय, वायुको समिध् तथा किरणोंको

समिधं मरीचीरेव शुक्लामाहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामतः" इत्यादि; एवमेव पूर्ववद्दिवं तर्पयतस्ते तत आवर्तेते। इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतः। ततः स्त्रियमाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति।

तत्राग्निहोत्राहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेवंप्रकारं भवतीत्युक्तम्। इह तु तं कार्यारम्भमग्निहोत्रापूर्वविपरिणामलक्षणं पञ्चधा प्रविभज्याग्नित्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सन्नाह। असौ वाव लोको गौतमाग्निरित्यादि।

शुक्ल आहुति बनाती हैं; इस प्रकार ये अन्तरिक्षलोकको तृप्त करती हैं* फिर वहाँसे [यजमानके उत्क्रमण करनेपर] वे उत्क्रमण करती हैं" इत्यादिरूपसे इसी तरह पहलेहीके समान द्युलोकको [द्युलोकस्थ यजमानको फलप्रदानद्वारा] तृप्त करती हैं। तत्पश्चात् [प्रारब्धक्षय होनेपर यजमानके पुनरावर्तन करनेपर] वे वहाँसे लौट आती हैं, तथा इस लोकमें प्रवेश कर इसे तृप्त करनेके अनन्तर [रेतःसेकमें समर्थ] पुरुषमें प्रवेश करती हैं। फिर स्त्रीमें प्रवेश कर वे परलोकके प्रति [लौकिक कर्म कराती हुई] उत्थान करनेवाली होती हैं।†

वहाँ (वाजसनेयोपनिषद्में) तो यह बतलाया गया था कि अग्निहोत्रकी आहुतियोंका केवल कार्यारम्भमात्र इस प्रकार होता है; किंतु यहाँ अग्निहोत्रके अपूर्वके विपरिणामरूप उस कार्यारम्भको पाँच प्रकारसे विभक्त कर उनमें उत्तरमार्गकी प्राप्तिके साधनभूत अग्निभावसे उपासनाका विधान करनेकी इच्छासे श्रुति 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इत्यादि कथन करती है।

---

* अर्थात् अन्तरिक्षलोकस्थ यजमानको फलोन्मुख करती हैं।

† अर्थात् गर्भरूपसे उत्पन्न हुए यजमानको कर्मानुष्ठानमें समर्थ देहकी प्राप्ति करा उसके द्वारा पारलौकिक कर्म कराती हुई उसका परलोकके प्रति गमन कराती हैं।

इह सायंप्रातरग्निहोत्राहुती हुते पयआदिसाधने श्रद्धापुरःसरे आहवनीयाग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गभाविते कर्त्रादिकारकभाविते चान्तरिक्षक्रमेणोत्क्रम्य द्युलोकं प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूते अप्समवायित्वादप्शब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दवाच्ये। तयोरधिकरणोऽग्निः, अन्यच्च तत्संबद्धं समिदादीत्युच्यते। या चासावग्न्यादिभावनाहुत्योः सापि तथैव निर्दिश्यते।

इस लोकमें जल आदि जिनके साधन हैं, जो श्रद्धापूर्वक निष्पन्न की जाती हैं, जिनमें आहवनीय अग्नि, समिध्, धूम, अर्चि, अङ्गार और विस्फुलिङ्गकी तथा कर्ता आदि कारककी भावना की गयी है, वे अग्निहोत्रकी सायंकालिक एवं प्रातःकालिक दो आहुतियाँ अन्तरिक्षक्रमसे उत्क्रमण कर द्युलोकमें प्रवेश करती हुई सूक्ष्म एवं अप्-समवायिनी (जलमयी) होनेके कारण 'अप्' शब्दकी वाच्य हैं और श्रद्धाजनित होनेके कारण 'श्रद्धा' शब्दकी वाच्य हैं। यहाँ उनके आश्रयभूत अग्नि और उससे सम्बद्ध जो समिध् आदि हैं उनका वर्णन किया जाता है तथा उन आहुतियोंमें जो अग्नि आदिकी भावना है उसका भी उसी प्रकार निर्देश किया जाता है।

लोकरूपा अग्निविद्या

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! यह प्रसिद्ध [द्यु-] लोक ही अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार हैऔर नक्षत्र विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं ॥ १ ॥

असौ वाव लोकोऽग्निर्हे गौतम यथाग्निहोत्राधिकरणमाहवनीय इह। तस्याग्नेर्द्युलोकाख्यस्यादित्य एव समित्, तेन हीद्धोऽसौ लोको दीप्यते; अतः समिन्धनात्समिदादित्यः। रश्मयो धूमस्तदुत्थानात्, समिधो हि धूम उत्तिष्ठति। अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात्, आदित्यकार्यत्वाच्च। चन्द्रमा अङ्गाराः, अहःप्रशमेऽभिव्यक्तेः; अर्चिषो हि प्रशमेऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाश्चन्द्रमसोऽवयवा इव विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! जिस प्रकार इस लोकमें आहवनीयाग्नि अग्निहोत्रका अधिकरण है उसी प्रकार यह प्रसिद्ध लोक ही अग्नि है। उस द्युलोकसंज्ञक अग्निका आदित्य ही समिध् है; उससे सम्यक्प्रकारसे दीप्त हुआ ही यह लोक देदीप्यमान होता है; अतः सम्यक् प्रकारसे इन्धन (दीपन) करनेके कारण आदित्य ही समिध् (इन्धन) है। उससे निकलनेके कारण किरणें धूम हैं, क्योंकि समिध्से ही धूम निकला करता है। प्रकाशमें समानता और आदित्यका कार्य होनेके कारण दिन ज्वाला है। चन्द्रमा अङ्गार है, क्योंकि यह दिनके शान्त होनेपर अभिव्यक्त होता है; लौकिक अङ्गारे भी ज्वालाके शान्त होनेपर ही प्रकट हुआ करते हैं। तथा चन्द्रमाके अवयवोंके समान नक्षत्रगण विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि इधर-उधर छिटके रहनेमें [विस्फुलिङ्गोंके साथ] उनकी समानता है ॥ १ ॥

* * *

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

उस इस [द्युलोकरूप] अग्निमें देवगण श्रद्धाका हवन करते हैं । उस आहुतिसे सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्यथोक्तलक्षणेऽग्नौ देवा यजमानप्राणा अग्न्यादिरूपा अधिदैवतम् । श्रद्धामग्निहोत्राहुतिपरिणामावस्थारूपाः सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभाविताः श्रद्धा उच्यन्ते । पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यपां होम्यतया प्रश्ने श्रुतत्वात् । 'श्रद्धा वा आपः, श्रद्धामेवारभ्य प्रणीय प्रचरन्ति' इति च विज्ञायते । तां श्रद्धामब्रूपां जुह्वति ।

तस्या आहुतेः सोमो राजापां श्रद्धाशब्दवाच्यानां द्युलोकाग्नौ हुतानां परिणामः सोमो राजा संभवति । यथर्ग्वेदादिपुष्परसा ऋगादिमधुकरोपनीतास्त आदित्ये यशआदिकार्यं रोहितादि-

उस इस उपर्युक्त लक्षणवाले अग्निमें देवगण—[अध्यात्मदृष्टिसे] यजमानके प्राण तथा अधिदैवतरूपसे अग्नि आदि देवगण श्रद्धाका [हवन करते हैं] । अग्निहोत्रकी आहुतियोंकी परिणामावस्थारूप सूक्ष्म जल श्रद्धारूपसे भावित होनेके कारण श्रद्धा कहा जाता है । [यहाँ 'श्रद्धा' शब्दसे जलका उल्लेख इसलिये किया गया है] क्योंकि 'पाँचवीं आहुति देनेपर जल 'पुरुष' शब्दवाची हो जाता है' इस प्रश्नमें जल होम्यद्रव्यरूपसे सुना गया था । इसके सिवा यह प्रसिद्ध भी है कि 'श्रद्धा ही जल है तथा श्रद्धासे आरम्भ करके ही लोग सामग्री जुटाकर कर्म करते हैं' । उस जलरूपा श्रद्धाका वे हवन करते हैं ।

उस आहुतिसे राजा सोम होता है अर्थात् 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका द्युलोकरूप अग्निमें हवन किये जानेपर उसका परिणामरूप दीप्तिमान् चन्द्रमा होता है । जिस प्रकार (अ० ३ खं० १ में) यह कहा गया है कि 'ऋग्वेदादि पुष्पके रस ऋगादि मधुकरोंद्वारा ले जाये जानेपर आदित्यमें जिस प्रकार रोहितादिरूप यश आदि कार्य

रूपलक्षणमारभन्त इत्युक्तं तथेमा अग्निहोत्राहुतिसमवायिन्यः सूक्ष्माः श्रद्धाशब्दवाच्या आपो द्युलोकमनुप्रविश्य चान्द्रं कार्यमारभन्ते फलरूपमग्निहोत्राहुत्योः।

यजमानाश्च तत्कर्तार आहुतिमया आहुतिभावनाभाविता आहुतिरूपेण कर्मणाकृष्टाः श्रद्धाप्समवायिनो द्युलोकमनुप्रविश्य सोमभूता भवन्ति । तदर्थं हि तैरग्निहोत्रं हुतम् । अत्र त्वाहुतिपरिणाम एव पञ्चाग्निसंबन्धक्रमेण प्राधान्येन विवक्षित उपासनार्थं न यजमानानां गतिः । तां त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरत्र वक्ष्यति विदुषां चोत्तरां विद्याकृताम् ॥ २ ॥

आरम्भ करते हैं' उसी प्रकार अग्निहोत्रकी आहुतियोंसे सम्बद्ध ये 'श्रद्धा' शब्दवाच्य सूक्ष्म जल द्युलोकमें प्रवेश कर अग्निहोत्रकी आहुतियोंका फलरूप चन्द्रमासम्बन्धी कार्य आरम्भ करते हैं ।

तथा उस हवनके करनेवाले यजमान आहुतिमय—आहुतिकी भावनासे भावित आहुतिरूप कर्मसे आकर्षित हो श्रद्धारूप जलसे पूर्ण हो द्युलोकमें प्रवेश कर चन्द्रमारूप हो जाते हैं, क्योंकि उसीके लिये उन्होंने अग्निहोत्र किया था । किंतु यहाँ तो उपासनाके लिये प्रधानतया पाँच अग्नियोंके सम्बन्धसे आहुतियोंका परिणाम ही बतलाना अभीष्ट है, यजमानोंकी गति नहीं; उसका तो श्रुति आगे चलकर धूमादिक्रमसे अविद्वानोंकी गतिका तथा विद्यासे प्राप्त होनेवाली विद्वानोंकी उत्तरमार्गीय गतिका वर्णन करेगी ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

पर्जन्यरूपा अग्निविद्या

द्वितीयहोमपर्यायार्थमाह—

अब श्रुति द्वितीय होमके पर्यायार्थका वर्णन करती है—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि है; उसका वायु ही समिध् है, बादल धूम है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अङ्गार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पर्जन्यो वाव पर्जन्य एव गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवताविशेषः । तस्य वायुरेव समित् । वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते, पुरोवातादिप्राबल्ये वृष्टिदर्शनात् । अभ्रं धूमो धूमकार्यत्वाद् धूमवच्च लक्ष्यमाणत्वात् । विद्युदर्चिः, प्रकाशसामान्यात् । अशनिरङ्गाराः, काठिन्याद्विद्युत्सम्बन्धाद्वा । ह्रादनयो

हे गौतम ! 'पर्जन्यो वाव'—पर्जन्य ही अग्नि है—वृष्टिके जो साधन हैं उनके अभिमानी देवताविशेषका नाम 'पर्जन्य' है । उसका वायु ही समिध् है, क्योंकि पर्जन्यरूप अग्नि वायुसे ही प्रदीप्त होता है, जैसा कि पूर्वीय वायु आदिकी प्रबलता होनेपर वृष्टि होती देखी जानेसे सिद्ध होता है । धूमका कार्य होने तथा धूमवत् देखा जानेके कारण बादल धूम है । प्रकाशमें समानता होनेके कारण विद्युत् (बिजली) ज्वाला है । कठिनताके कारण अथवा विद्युत्से सम्बन्ध रखनेके कारण वज्र अङ्गार है । ह्रादनय विस्फुलिङ्ग

विस्फुलिङ्गाः, ह्रादनयो गर्जितशब्दा मेघानां विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥ १ ॥

है; मेघोंकी गर्जनाके शब्दोंको 'ह्रादनि' कहते हैं; विप्रकीर्णत्व (इधर-उधर फैले रहने) में समानता होनेके कारण वे विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳसंभवति ॥ २ ॥

उस अग्निमें देवगण राजा सोमका हवन करते हैं; उस आहुतिसे वर्षा होती है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पूर्ववत्सोमं राजानं जुह्वति । तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति । श्रद्धाख्या आपः सोमाकारपरिणता द्वितीये पर्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य वृष्टित्वेन परिणमन्ते ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण पूर्ववत् राजा सोमका हवन करते हैं । उस आहुतिसे वर्षा होती है । श्रद्धासंज्ञक आप इस द्वितीय पर्यायमें सोमके आकारमें परिणत हो पर्जन्याग्निको प्राप्त होकर वृष्टिरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥५॥

षष्ठ खण्ड

पृथिवीरूपा अग्निविद्या

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है । उसका संवत्सर ही समिध् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निरित्यादि पूर्ववत् । तस्याः पृथिव्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित्; संवत्सरेण हि कालेन समिद्धा पृथिवी व्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति । आकाशो धूमः, पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते; यथाग्नेर्धूमः । रात्रिरर्चिः, पृथिव्या ह्यप्रकाशात्मिकाया अनुरूपा रात्रिः; तमोरूपत्वात्, अग्नेरिवानुरूपमर्चिः ।

'हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है' इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये । उस पृथिवीसंज्ञक अग्निका संवत्सर ही समिध् है, क्योंकि संवत्सररूप कालसे समिद्ध होकर अर्थात् पुष्टि लाभ करके ही पृथिवी धान्यादिकी निष्पत्तिमें समर्थ होती है । आकाश धूम है, क्योंकि आकाश पृथिवीसे उठा हुआ-सा दिखायी देता है, जिस प्रकार कि अग्निसे धुआँ उठता दिखायी देता है । रात्रि ज्वाला है; अप्रकाशात्मिका पृथिवीके अनुरूप ही रात्रि ज्वाला है, क्योंकि वह तमोरूपा है; अतः [पृथिवीरूप] अग्निके समान यह उसके अनुरूप ज्वाला है ।

दिशोऽङ्गाराः, उपशान्तत्वसामान्यात् । अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः, क्षुद्रत्वसामान्यात् ॥ १ ॥

उपशान्तिमें समानता होनेके कारण दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा क्षुद्रत्वमें समानता होनेके कारण अवान्तर दिशाएँ (कोण) विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳसंभवति ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण वर्षाका हवन करते हैं; उस आहुतिसे अन्न होता है ॥ २ ॥

तस्मिन्नित्यादि समानम् । तस्या आहुतेरन्नं व्रीहियवादि संभवति ॥ २ ॥

'तस्मिन्नेतस्मिन्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है । उस आहुतिसे व्रीहि-यवादिरूप अन्न होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

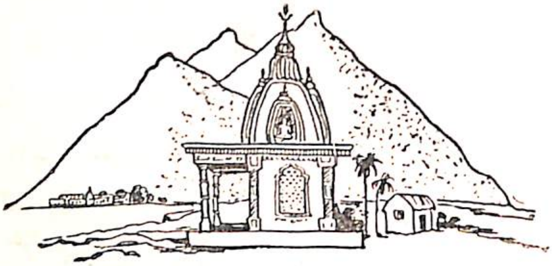

सप्तम खण्ड

पुरुषरूपा अग्निविद्या

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसकी वाक् ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गारे हैं और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निः । तस्य वागेव समित्, वाचा हि मुखेन समिध्यते पुरुषो न मूकः । प्राणो धूमः, धूम इव मुखान्निर्गमनात् । जिह्वार्चिर्लोहितत्वात् । चक्षुरङ्गाराः, भास आश्रयत्वात् । श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः, विप्रकीर्णत्वसाम्यात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसकी वाक् ही समिध् है, क्योंकि वाणीरूप मुखके द्वारा ही पुरुष सुशोभित होता है, मूक पुरुष शोभित नहीं होता । प्राण धूम है, क्योंकि वह धूमके समान मुखसे निकलता है; लाल होनेके कारण जिह्वा ज्वाला है; प्रकाशका आश्रय होनेके कारण नेत्र अङ्गारे हैं तथा विप्रकीर्णत्वमें समानता होनेसे श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं। उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

समानमन्यत् । अन्नं जुह्वति व्रीह्यादिसंस्कृतम् । तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

शेष अर्थ पूर्ववत् है । देवगण इसमें व्रीहि आदिसे सम्यक् प्रकारसे तैयार किये हुए अन्नका हवन करते हैं। उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

स्त्रीरूपा अग्निविद्या

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उसका उपस्थ ही समिध् है, पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है वह अङ्गारे हैं और उससे जो सुख होता है वह विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

योषा वाव गौतमाग्निः । तस्या उपस्थ एव समित्, तेन हि सा पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते । यदुपमन्त्रयते स धूमः, स्त्रीसंभवादुपमन्त्रणस्य । योनिरर्चिर्लोहितत्वात् । यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अग्निसंबन्धात् । अभिनन्दाः सुखलवा विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वात् ॥ १ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उसका उपस्थ ही समिध् है, क्योंकि उससे वह पुत्रादि उत्पन्न करनेके लिये समिद्ध होती है । पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, क्योंकि उपमन्त्रणकी प्रवृत्ति स्त्रीसे ही होती है । लोहितवर्ण होनेके कारण योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है वह अग्निके सम्बन्धके कारण अङ्गारे हैं और अभिनन्द—सुखके कणमात्र क्षुद्र होनेके कारण विस्फुलिङ्ग हैं ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः संभवतीति; एवं श्रद्धासोमवर्षान्नरेतोहवनपर्यायक्रमेणाप एव गर्भीभूतास्ताः । तत्रापामाहुतिसमवायित्वात्प्राधान्यविवक्षा; आपः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति । न त्वाप एव केवलाः सोमादिकार्यमारभन्ते, न चापोऽत्रिवृत्कृताः सन्तीति । त्रिवृत्कृतत्वेऽपि विशेषसंज्ञालाभो दृष्टः पृथिवीयमिमा आपोऽयमग्निरित्यन्यतमबाहुल्यनिमित्तः ।

उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है——इस प्रकार श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और रेतःरूप आहुतियोंके हवनके पर्यायक्रमसे वह जल ही गर्भरूपमें परिणत होता है। उनमें आहुतियोंसे सम्बद्ध होनेके कारण श्रुतिको जलकी ही प्रधानता बतलानी अभीष्ट है, इसीसे उसने कहा है कि पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है। केवल जल ही सोमादि कार्य आरम्भ कर देते हों—यह बात नहीं है, और न जल अत्रिवृत्कृत (पृथिवी, जल और तेज इन तीनोंके सम्मिश्रणसे रहित) हों——ऐसी ही बात है। त्रिवृत्कृत होनेपर भी एक-एक भूतकी बहुलताके कारण उनमेंसे प्रत्येकको 'यह पृथिवी है, यह जल है, यह अग्नि है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होता देखा जाता है। अतः जलकी

तस्मात्समुदितान्येव भूतान्यब्बाहुल्यात्कर्मसमवायीनि सोमादिकार्यारम्भकाण्याप इत्युच्यन्ते । दृश्यते च द्रवबाहुल्यं सोमवृष्ट्यन्नरेतोदेहेषु । बहुद्रवं च शरीरं यद्यपि पार्थिवम् । तत्र पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतोरूपा आपो गर्भीभूताः ॥ २ ॥

बहुलता होनेके कारण कर्ममें सम्मिलित हुए सभी भूत सोमादिकार्य आरम्भ करनेवाले 'जल' कहे जाते हैं । इसके सिवा सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्य और देहमें द्रवत्वकी बहुलता भी देखी ही जाती है । शरीर यद्यपि पार्थिव होता है, तो भी उसमें द्रवकी अधिकता होती है । उनमें पाँचवीं आहुतिके हुत होनेपर वीर्यरूप जल गर्भमें परिणत हो जाता है [अर्थात् 'पुरुष' शब्दवाची हो जाता है] ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्यायेऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

पञ्चम आहुतिमें पुरुषत्वको प्राप्त हुए जलकी गति

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ १ ॥

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जानेपर आप 'पुरुष' शब्दवाची हो जाते हैं। वह जरायुसे आवृत हुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जबतक [पूर्णाङ्ग नहीं होता तबतक माताकी कुक्षिके] भीतर ही शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

इति त्वेवं तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति व्याख्यात एकः प्रश्नः । यत्तु द्युलोकादिमां प्रत्यावृत्तयोराहुत्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमेणाविश्य लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति वाजसनेयक उक्तं तत्प्रासङ्गिकमिहोच्यते । इह च प्रथमे प्रश्न उक्तम् 'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ?' तस्य चायमुपक्रमः ।

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची हो जाता है—इस एक प्रश्नकी व्याख्या हुई। तथा वाजसनेय-श्रुतिमें जो द्युलोकसे पृथिवीकी ओर आयी हुई दो आहुतियोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे क्रमशः पृथिवी, पुरुष और स्त्रीमें प्रवेश कर परलोकके प्रति उत्थान करनेवाली होती हैं, उसका भी प्रसङ्गवश यहाँ वर्णन कर दिया जाता है। यहाँ जो पहले प्रश्नमें कहा गया है कि 'क्या तुम जानते हो कि यह प्रजा [मरनेके अनन्तर] यहाँसे कहाँ जाती है ?' उसका यह उपक्रम है।

स गर्भोऽपां पञ्चमः परिणामविशेष आहुतिकर्मसमवायिनीनां श्रद्धाशब्दवाच्यानामुल्बावृत उल्बेन जरायुणावृतो वेष्टितो दश वा नव वा मासानन्तर्मातुः कुक्षौ शयित्वा यावद्वा यावता कालेन न्यूनेनातिरिक्तेन वाथानन्तरं जायते ।

उल्बावृत इत्यादि वैराग्यहेतोरिदमुच्यते । कष्टं हि मातुः कुक्षौ मूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्मादिपूर्णे तदनुलिप्तस्य गर्भस्योल्बाशुचिपटावृतस्य लोहितरेतोऽशुचिबीजस्य मातुरशितपीतरसानुप्रवेशेन विवर्धमानस्य निरुद्धशक्तिबलवीर्यतेजःप्रज्ञाचेष्टस्य शयनम् । ततो योनिद्वारेण पीड्यमानस्य कष्टतरा निःसृतिर्जन्मेति वैराग्यं ग्राहयति । मुहूर्तमप्यसह्यं दश वा नव वा

आहुतिकर्मसे सम्बद्ध 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका पञ्चम परिणामविशेष वह गर्भ उल्बावृत—उल्ब अर्थात् जरायुसंज्ञक गर्भवेष्टन चर्मसे आवृत—वेष्टित हुआ दश या नौ मासतक अथवा जितने भी न्यून या अधिक समयमें पूर्णाङ्ग हो, माताकी कुक्षिमें शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है ।

उल्बावृत इत्यादि यह सब कथन वैराग्यके लिये है । उल्बरूप अपवित्र वस्त्रसे लिपटे हुए, रज और वीर्यरूप अपवित्र बीजवाले, माताके खाये-पीये पदार्थोंके रसके प्रवेशसे बढ़नेवाले तथा जिसके शक्ति, बल, वीर्य, तेज, बुद्धि और चेष्टा—ये सब निरुद्ध (अविकसित) रहते हैं उस गर्भका माताकी मल-मूत्र-वात-पित्त एवं कफादिसे भरी हुई कुक्षिमें शयन करना कष्टमय ही है । उससे भी अधिक कष्टप्रद योनिद्वारसे पीडित हुए गर्भका बाहर निकलनारूप जन्म है; इस प्रकार श्रुति वैराग्यका ग्रहण कराती है । इसके सिवा जो एक मुहूर्त्तके लिये भी असह्य है उस मातृकुक्षिमें दश या नौ मासके

मासानतिदीर्घकालमन्तः शयित्वेति च ॥ १ ॥

दीर्घकालपर्यन्त शयन करनेके अनन्तर [जन्म लेना भी वैराग्यका ही हेतु है] ॥ १ ॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥

इस प्रकार उत्पन्न होनेपर वह आयुपर्यन्त जीवित रहता है । फिर मरनेपर कर्मवश परलोकको प्रस्थित हुए उस जीवको अग्निके प्रति ही ले जाते हैं, जहाँसे कि वह आया था और जिससे उत्पन्न हुआ था ॥२॥

स एवं जातो यावदायुषं पुनः पुनर्घटीयन्त्रवद्गमनागमनाय कर्म कुर्वन्कुलालचक्रवद्वा तिर्यग्भ्रमणाय यावत्कर्मणोपात्तमायुस्तावज्जीवति । तमेनं क्षीणायुषं प्रेतं मृतं दिष्टं कर्मणा निर्दिष्टं परलोकं प्रति यदि चेज्जीवन्वैदिके कर्मणि ज्ञाने वाधिकृतस्तमेनं मृतमितोऽस्माद् ग्रामादग्नयेऽन्त्यर्थमृत्विजो हरन्ति पुत्रा वान्त्य-

इस प्रकार उत्पन्न हुआ वह जबतक आयु होती है घटीयन्त्रके समान पुनः-पुनः आवागमनके लिये अथवा कुलालचक्रके समान चारों ओर चक्कर काटनेके लिये कर्म करता हुआ कर्मद्वारा जितनी आयु प्राप्त की होती है उतना जीवित रहता है । फिर जिसकी आयु क्षीण हो गयी है ऐसे इस प्रेत—मृत एवं दिष्ट—कर्मद्वारा परलोकके प्रति नियुक्त किये हुए इस जीवको—क्योंकि यदि वह जीवित रहता तो कर्म अथवा ज्ञानका अधिकारी होता अतः उस मरे हुए प्राणीको यहाँसे—इस ग्रामसे ऋत्विक् अथवा

कर्मणे । यत एवेत आगतोऽग्नेः सकाशाच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण, यतश्च पञ्चभ्योऽग्निभ्यः संभूत उत्पन्नो भवति, तस्मा एवाग्नये हरन्ति स्वामेव योनिमग्निमापादयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

पुत्रगण अन्त्येष्टि कर्मके लिये अग्निके प्रति ले जाते हैं, जिस अग्निसे कि श्रद्धा आदि आहुतियोंके क्रमसे वह यहाँ आया था तथा जिन पाँच अग्नियोंसे वह उत्पन्न होता है, उस अग्निके प्रति ही वे इसे ले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उसे अपनी योनिभूत अग्निको ही प्राप्त करा देते हैं॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

प्रथम प्रश्नका उत्तर

वेत्थ यदितोऽधि प्रजा प्रयन्तीत्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितोऽपाकर्तव्यतया ।

अब, 'क्या तू जानता है कि इस लोकसे परे प्रजा कहाँ जाती है ?' ऐसा यह प्रश्न निराकरणके लिये प्रस्तुत किया जाता है ।

तद्य इत्थं विदुः । ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥ १ ॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

वे जो कि इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वनमें श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं [प्राणप्रयाणके अनन्तर] अर्चिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; अर्चिके अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी देवताओंको; दिवसाभिमानियोंसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको; शुक्लपक्षाभिमानियोंसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छः महीनोंको ॥ १ ॥ उन महीनोंसे संवत्सरको; संवत्सरसे आदित्यको; आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं । वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म (कार्यब्रह्म) को प्राप्त करा देता है । यह देवयानमार्ग है ॥ २ ॥

गृहस्थेषु विदुषामुत्तरमार्गः कर्मिणां च दक्षिणमार्ग इति स्थापनम्

तत्तत्र लोकं प्रत्युत्थितानामधिकृतानां गृहमेधिनां य इत्थमेवं यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शनं द्युलोकाद्यग्निभ्यो वयं क्रमेण जाता अग्निस्वरूपाः पञ्चाग्न्यात्मान इत्येवं विदुर्जानीयुः ।

कथमवगम्यत इत्थं विदुरिति गृहस्था एवोच्यन्ते नान्य इति ?

गृहस्थानां ये त्वनित्थंविदः केवलेष्टापूर्तदत्तपरास्ते धूमादिना चन्द्रं गच्छन्तीति वक्ष्यति । ये चारण्योपलक्षिता वैखानसाः परिव्राजकाश्च श्रद्धा तप इत्युपासते तेषां चेत्थंविद्भिः सहार्चिरादिना गमनं वक्ष्यति पारिशेष्यादग्निहोत्राहुतिसंबन्धाच्च गृहस्था एव गृह्यन्त इत्थं विदुरिति ।

वहाँ इस लोकके प्रति उत्थित हुए अधिकारी गृहस्थोंमें जो इस प्रकार यानी उपर्युक्त पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं अर्थात् जो ऐसा समझते हैं कि द्युलोकादि अग्नियोंसे क्रमशः उत्पन्न हुए हमलोग अग्निस्वरूप यानी पञ्चाग्निमय हैं [वे अर्चिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं] ।

शङ्का—'इत्थं विदुः' इस [सामान्य निर्देश] से यह कैसे जाना गया कि यहाँ गृहस्थोंके विषयमें ही कहा गया है, औरोंके लिये नहीं ?

समाधान—गृहस्थोंमें जो ऐसा जाननेवाले नहीं हैं, बल्कि केवल इष्टापूर्त्त एवं दत्त कर्मोंमें ही लगे रहते हैं वे धूमादिके द्वारा चन्द्रमाको ही प्राप्त होते हैं—ऐसा श्रुति आगे कहेगी; तथा जो 'अरण्य' पदसे उपलक्षित वानप्रस्थ एवं संन्यासी 'श्रद्धा और तप' इनकी उपासना करते हैं उनका तो इस प्रकार जाननेवालोंके साथ गमन करना श्रुति आगे कहेगी; अतः परिशेषसे और अग्निहोत्रकी आहुतियोंका सम्बन्ध होनेके कारण भी 'इत्थं विदुः' इस कथनसे गृहस्थोंका ही ग्रहण होता है ।

ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता ग्रामश्रुत्यारण्यश्रुत्या चानुपलक्षिता विद्यन्ते कथं पारिशेष्यसिद्धिः ।

नैष दोषः, पुराणस्मृतिप्रामाण्यादूर्ध्वरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणामुत्तरेणार्यम्णः पन्थाः प्रसिद्धः । अतस्तेऽप्यरण्यवासिभिः सह गमिष्यन्ति । उपकुर्वाणकास्तु स्वाध्यायग्रहणार्था इति न विशेषनिर्देशार्हाः ।

ननूर्ध्वरेतस्त्वं चेदुत्तरमार्गप्रतिपत्तिकारणं पुराणस्मृतिप्रामाण्यादिष्यत इत्थंवित्त्वमनर्थकं प्राप्तम् ।

न; गृहस्थान्प्रत्यर्थवत्त्वात् । ये गृहस्था अनित्थंविदस्तेषां स्वभावतो दक्षिणो धूमादिः पन्थाः प्रसिद्धस्तेषां य इत्थं विदुःसगुणं वान्यद्ब्रह्म विदुः, "अथ

शङ्का—जिनका ग्रामश्रुति और अरण्यश्रुति दोनोंहीसे ग्रहण नहीं होता वे ब्रह्मचारी लोग भी तो रह ज़ाते हैं; फिर तुम्हारे परिशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, पुराण और स्मृतियोंसे ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंका सूर्यसम्बन्धी उत्तर मार्ग प्रसिद्ध है, अतः वे भी अरण्यवासियोंके साथ ही जायँगे । तथा उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी तो स्वाध्यायग्रहणके लिये होते हैं; अतः वे विशेष निर्देशके योग्य नहीं हैं ।

शङ्का—यदि पुराण और स्मृतियोंकी प्रमाणतासे उत्तरायणकी प्राप्तिका कारण ऊर्ध्वरेता होना माना जाता है तब तो इस प्रकार पञ्चाग्नि विद्याका ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होता है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थोंके लिये वह सार्थक है । जो गृहस्थ ऐसा जाननेवाले नहीं हैं उनके लिये स्वभावतः धूमादि दक्षिणमार्ग प्रसिद्ध है; किंतु उनमें जो ऐसा जाननेवाले हैं अथवा जो इनसे भिन्न सगुणब्रह्मके उपासक हैं वे (छा० ४ । १५ । ५

यदु चैवास्मिञ्शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेव" इति लिङ्गादुत्तरेण ते गच्छन्ति ।

ननूर्ध्वरेतसां गृहस्थानां च समान आश्रमित्वे ऊर्ध्वरेतसामेवोत्तरेण पथा गमनं न गृहस्थानामिति न युक्तमग्निहोत्रादिवैदिककर्मबाहुल्ये च सति ।

ऊर्ध्वरेतसां वनौकसां च उत्तरमार्ग एव

नैष दोषः, अपूता हि ते । शत्रुमित्रसंयोगनिमित्तं हि तेषां रागद्वेषौ तथा धर्माधर्मौ हिंसानुग्रहनिमित्तौ । हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादि च बह्वशुद्धिकारणमपरिहार्यं तेषाम्, अतोऽपूताः । अपूतत्वान्नोत्तरेण पथा गमनम् । हिंसानृतमायाब्रह्मचर्यादिपरिहाराच्च शुद्धात्मा-

के) "इस (सगुण ब्रह्मोपासक) के लिये प्रेतकर्म करें अथवा न करें वह अर्चिरादि मार्गको ही प्राप्त होता है" इस श्रुतिरूप लिङ्गके अनुसार उत्तर मार्गसे ही जाते हैं ।

शङ्का—ऊर्ध्वरेता और गृहस्थ—ये दोनों आश्रमी होनेमें समान ही हैं । अतः उनमें केवल ऊर्ध्वरेताओंका ही उत्तरायणमार्गसे गमन होता है, गृहस्थोंका अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी नहीं होता—यह ठीक नहीं है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे अपवित्र होते हैं । शत्रु और मित्रोंका संयोग रहनेके कारण उनमें राग-द्वेष रहते हैं तथा हिंसा और कृपाके कारण धर्माधर्म भी रहते ही हैं । उनके लिये हिंसा, अनृत, कपट और अब्रह्मचर्य आदि बहुतसे अशुद्धिके कारण अनिवार्य ही हैं; इसलिये वे अपवित्र हैं । अपवित्र होनेके कारण उनका उत्तर मार्गसे गमन नहीं हो सकता । किंतु दूसरे वानप्रस्थादि हिंसा, अनृत, माया और अब्रह्मचर्यका त्याग कर देनेके कारण शुद्धचित्त हो जाते हैं, शत्रु-

नो हीतरे शत्रुमित्ररागद्वेषादिपरिहाराच्च विरजसस्तेषां युक्त उत्तरः पन्थाः ।

तथा च पौराणिकाः ‘‘ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते श्मशानानि भेजिरे । ये प्रजां नेषिरे धीरास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे’’ इत्याहुः ।

इत्थंविदां गृहस्थानामरण्यवासिनां च समानमार्गत्वेऽमृतत्वफले च सत्यरण्यवासिनां विद्यानर्थक्यं प्राप्तम् । तथा च श्रुतिविरोधः ‘‘न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः’’ इति ‘‘स एनमविदितो न भुनक्ति’’ इति च विरुद्धम् ।

न; आभूतसंप्लवस्थानस्यामृतत्वेन विवक्षितत्वात् । तत्रैवोक्तं पौराणिकैः—‘‘आभूतसंप्लवं स्थान-

मित्रसम्बन्धी भाव और राग-द्वेषका त्याग कर देनेसे वे मलहीन हो जाते हैं; अतः उनके लिये उत्तर मार्ग ठीक ही है ।

तथा पौराणिक लोग भी ऐसा कहते हैं कि ‘‘जिन मन्दमति पुरुषोंने संतानकी इच्छा की वे श्मशानको ही प्राप्त हुए, किंतु जिन बुद्धिमानोंने संतानकी इच्छा नहीं की वे अमरत्वको ही प्राप्त हुए’’ ।

शङ्का—इस प्रकार जाननेवाले गृहस्थ और वनवासियोंको समानमार्ग और अमृतत्वरूप फल प्राप्त होनेपर तो वनवासियोंके ज्ञानकी व्यर्थता सिद्ध होती है और ऐसा होनेसे ‘‘वहाँ दक्षिणमार्गी और अज्ञानी तपस्वी नहीं जाते’’ इस श्रुतिसे विरोध आता है तथा ‘‘अपना ज्ञान न होनेपर वह (परमात्मा) इस जीवका [मोक्षदानद्वारा] पालन नहीं करता’’ यह कथन भी विपरीत हो जाता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँ अमृतत्वसे भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहना ही अभिप्रेत है । इसी सम्बन्धमें पौराणिकोंने कहा है कि ‘‘भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहना अमृतत्व ही

ममृतत्वं हि भाष्यते" इति । यच्चात्यन्तिकममृतत्वम्, तदपेक्षया "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "स एनमविदितो न भुनक्ति" इत्याद्याः श्रुतयः, इत्यतो न विरोधः ।

"न च पुनरावर्तन्ते" इति "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" (छा० उ० ४ । १५ । ६) इत्यादिश्रुतिविरोध इति चेत् ।

न; 'इमं मानवम्' इति विशेषणात्, 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति' इति च । यदि ह्येकान्तेनैव नावर्तेरन्निमं मानवमिहेति च विशेषणमनर्थकं स्यात् । इममिहेत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत्, न; अनावृत्तिशब्देनैव नित्यानावृत्त्यर्थस्य प्रतीतत्वादाकृतिकल्पनानर्थिका । अत इममिहेति

कहलाता है ।" किंतु जो आत्यन्तिक अमृतत्व है उसकी अपेक्षासे "वहाँ दक्षिणमार्गी नहीं जाते" "अपना ज्ञान न होनेपर वह (परमात्मा) इस जीवका [मोक्षप्रदानद्वारा] पालन नहीं करता" इत्यादि श्रुतियाँ हैं; अतः इससे कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—किंतु [ऐसा मानें तो] "वे फिर नहीं लौटते" "इस मानव आवर्त्तमें फिर नहीं आते" इत्यादि श्रुतिसे विरोध आता है ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'इमं मानवम्' ऐसा विशेषण है, तथा यह भी कहा गया है कि 'उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती' । यदि उनकी सर्वथा पुनरावृत्ति न होती तो 'इमं मानवम्' तथा 'इह'—ये विशेषण व्यर्थ हो जाते । यदि कहो कि 'इमम्' और 'इह' इन शब्दोंसे आकृतिमात्र बतलायी गयी है [अर्थात् किसी देशकालविशेषका नियम न करके उसके नित्य मोक्षका प्रतिपादन किया गया है]—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि नित्य अनावृत्तिरूप अर्थकी प्रतीति तो 'अनावृत्ति' शब्दसे ही हो जाती है; अतः उसमें आकृतिकी कल्पना निरर्थक ही

च विशेषणार्थवत्त्वायान्यत्रावृत्तिः कल्पनीया ।

आत्मविदोऽनुत्क्रान्तिनिरूपणम्

न च 'सदेकमेवाद्वितीयम्' इत्येवं प्रत्ययवतां मूर्धन्यनाड्यार्चिरादिमार्गेण गमनम्, "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" । (बृ० उ० ४ । ४ । ६) "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (बृ० उ० १ । ४ । १०) । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्ते" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः ।

ननु तस्माज्जीवादुच्चिक्रमिषोः प्राणा नोत्क्रामन्ति सहैव गच्छन्तीत्ययमर्थः कल्प्यत इति चेत् ?

न; 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति विशेषणानर्थक्यात्, "सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० उ० ४ ।

है । इसलिये 'इमम्' और 'इह' इन विशेषणोंकी सार्थकताके लिये उसकी अन्यत्र आवृत्ति माननी चाहिये ।*

इसके सिवा जिनका ऐसा अनुभव है कि 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही है' उनका शीर्षस्थानीय नाडीद्वारा अर्चिरादि मार्गसे गमन भी नहीं होता; जैसा कि "वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है" "इसीसे वह सब कुछ हो गया" "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं लीन हो जाते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

शङ्का—यदि इस श्रुतिका ऐसा अर्थ माना जाय कि उत्क्रमण करनेकी इच्छावाले उस जीवके पाससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते, बल्कि उसके साथ ही जाते हैं, तो ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे 'यहीं लीन हो जाते हैं' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा । तथा इसके सिवा "सब प्राण उसका अनुगमन करते हैं"

---

* अर्चिमार्गसे जानेवाले पुरुषकी इस लोकमें तो आवृत्ति नहीं होती; किंतु ब्रह्मलोकमें ही ऐसे कई लोक हैं जिनमें वह अपने तपके प्रभावसे जाता है । महः, जनः, तपः और सत्य—ये चारों ही लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं । साधक अपनी साधनाके प्रभावसे इनमेंसे किसी एक लोकमें जाता है और फिर वहाँसे ज्ञानद्वारा उत्तरोत्तर लोकमें जाता हुआ सत्यलोकमें पहुँचकर मुक्त हो जाता है । यह लोकान्तरगमन ही उसकी अन्यत्र आवृत्ति है ।

४ । २) इति च प्राणैर्गमनस्य प्राप्तत्वात् । तस्मादुत्क्रामन्तीत्यनाशङ्कैवैषा ।

यदापि मोक्षस्य संसारगतिवैलक्षण्यात्प्राणानां जीवेन सहागमनमाशङ्क्य तस्मान्नोत्क्रामन्तीत्युच्यते, तदाप्यत्रैव समवलीयन्त इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । न च प्राणैर्वियुक्तस्य गतिरुपपद्यते जीवत्वं वा । सर्वगतत्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात् प्राणसंबन्धमात्रमेव ह्यग्निविस्फुलिङ्गवज्जीवत्वभेदकारणमित्यतस्तद्वियोगे जीवत्वं गतिर्वा न शक्या परिकल्पयितुं श्रुतयश्चेत्प्रमाणम् ।

न च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो जीवाख्यः सद्रूपं छिद्रीकुर्वन् गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम् ।

इस श्रुतिसे प्राणोंके सहित जीवका गमन सिद्ध भी होता है । अतः 'प्राण उत्क्रमण करते हैं' इस विषयमें कोई शङ्का नहीं हो सकती ।

इसके सिवा संसारगतिसे मोक्षकी विलक्षणता होनेके कारण जब कि जीवके साथ प्राणोंके न जानेकी आशङ्का करके ऐसा कहा जाता है कि वे उससे उत्क्रमण ही नहीं करते [अर्थात् जीव प्राणोंके बिना ही चला जाता है] तो उस समय भी 'वे यहीं लीन हो जाते हैं' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि प्राणोंसे वियुक्त हुए प्राणीकी गति अथवा जीवत्व सम्भव ही नहीं है । क्योंकि सदात्मा तो सर्वगत और निरवयव है; प्राणसे सम्बन्ध होना ही अग्निके विस्फुलिङ्गोंके समान जीवभावरूप भेदका कारण है । अतः यदि श्रुतिको प्रमाण माना जाय तो प्राणोंका वियोग हो जानेपर चिदात्माके जीवत्व अथवा गतिकी कल्पना नहीं की जा सकती ।

इसके सिवा ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि सदात्माका उससे अलग हुआ अणुमात्र अवयव जीवसंज्ञक है और वह सदात्माको छिद्रयुक्त करता हुआ जाता है ।

तस्मात् "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इति सगुणब्रह्मोपासकस्य प्राणैः सह नाड्या गमनम्, सापेक्षमेव चामृतत्वम्, न साक्षान्मोक्ष इति गम्यते; "तदपराजिता पूस्तदैरं मदीयं सरः" इत्याद्युक्त्वा "तेषामेवैष ब्रह्मलोकः" इति विशेषणात् ।

अतः पञ्चाग्निविदो गृहस्था ये चेमेऽरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्मचारिभिः श्रद्धा तप इत्येवमाद्युपासते श्रद्दधानास्तपस्विनश्चेत्यर्थः । उपासनशब्दस्तात्पर्यार्थः, "इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते" इति यद्वत् । श्रुत्यन्तराद्ये च सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यमुपासते ते सर्वेऽर्चिषमर्चिरभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते । समा-

अतः "उस मूर्धन्य नाडीसे ऊपरकी ओर जाता हुआ वह अमरत्वको प्राप्त होता है" इस प्रकार सगुण ब्रह्मोपासकका प्राणोंके साथ मूर्धन्य नाडीसे जाना सापेक्ष अमृतत्व ही है, साक्षात् मोक्ष नहीं है—यह जाना जाता है; क्योंकि श्रुतिने "वह अपराजिता पुरी है, वह हर्षोत्पादक सरोवर है" ऐसा कहकर "उन (सगुण ब्रह्मोपासकों) को ही यह ब्रह्मलोक मिलता है"—ऐसा विशेषण दिया है ।

अतः पञ्चाग्निवेत्ता गृहस्थ और जो ये वनवासी—नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके सहित वानप्रस्थ और संन्यासी 'श्रद्धा और तप' इत्यादिकी उपासना करते हैं अर्थात् श्रद्धालु एवं तपस्वी हैं । जैसा कि "इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते" इस श्रुतिमें है उसीके समान यहाँ 'उपासन' शब्द तत्परताके अर्थमें है । तथा एक अन्य श्रुतिके अनुसार जो हिरण्यगर्भसंज्ञक सत्यब्रह्मकी उपासना करते हैं वे सब अर्चि यानी अर्चिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं । शेष सब चतुर्थ अध्यायके अन्तर्गत [उपकोसल विद्यामें (छा० ४ । १५ । ५

नमन्यच्चतुर्थगतिव्याख्यानेन । एष देवयानः पन्था व्याख्यातः सत्यलोकावसानः, नाण्डाद्बहिः, "यदन्तरा पितरं मातरं च" (बृ० उ० ६ । २ । २) इति मन्त्रवर्णात् ॥ १-२ ॥

में) बतलायी हुई] गतिकी व्याख्याके समान है । यह सत्यलोकमें समाप्त होनेवाले देवयानमार्गकी व्याख्या की गयी; इस मार्गकी ब्रह्माण्डसे बाहर गति नहीं है; जैसा कि जो "पिता (द्युलोक) और माता (पृथिवी) के बीचमें है" इस मन्त्रसे सिद्ध होता है ॥ १-२॥

तृतीय प्रश्नका उत्तर

(देवयान और धूमयानका व्यावर्तनस्थान)

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

तथा जो ये गृहस्थलोग ग्राममें इष्ट, पूर्त्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको तथा कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणमार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं । ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते ॥ ३ ॥

अथेत्यर्थान्तरप्रस्तावनार्थः, य इमे गृहस्था ग्रामे, ग्राम इति गृहस्थानामसाधारणं विशेषणमरण्यवासिभ्यो व्यावृत्यर्थम्, यथा; वानप्रस्थपरिव्राजकानामरण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो व्या-

'अथ' यह शब्द दूसरे विषयकी प्रस्तावनाके लिये है, जो ये गृहस्थगण ग्राममें—जिस प्रकार 'अरण्यम्' यह वानप्रस्थ और परिव्राजकोंका गृहस्थोंसे व्यावृत्ति करनेके लिये असाधारण विशेषण था, उसी प्रकार 'ग्रामे' यह वनवासियोंसे व्यावृत्ति करनेके लिये गृहस्थोंका

वृत्त्यर्थम्, तद्वत्; इष्टापूर्ते इष्टमग्निहोत्रादि वैदिकं कर्म, पूर्तं वापीकूपतडागारामादिकरणम्; दत्तं बहिर्वेदि यथाशक्त्यर्हेभ्यो द्रव्यसंविभागो दत्तम्; इत्येवंविधं परिचरणपरित्राणाद्युपासते, इतिशब्दस्य प्रकारदर्शनार्थत्वात्। ते दर्शनवर्जितत्वाद्धूमं धूमाभिमानिनीं देवतामभिसंभवन्ति प्रतिपद्यन्ते।

तयातिवाहिता धूमाद्रात्रिं रात्रिदेवतां रात्रेरपरपक्षदेवतामेव कृष्णपक्षाभिमानिनीमपरपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणा दक्षिणां दिशमेति सविता, तान्मासान्दक्षिणायनषण्मासाभिमानिनीर्देवताः प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। संघचारि-

असाधारण विशेषण है। 'इष्टापूर्त्ते'—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मको 'इष्ट' कहते हैं तथा वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि लगवानेका नाम पूर्त है; और वेदीसे बाहर दानपात्र व्यक्तियोंको यथाशक्ति धन देना 'दत्त' कहलाता है। इस प्रकार जो परिचर्या (गुरुशुश्रूषा) एवं परित्राण (धर्मरक्षा) आदिका तत्परतापूर्वक सेवन करते हैं—क्योंकि यहाँ 'इति' शब्द अनुष्ठानका प्रकार प्रदर्शित करनेके लिये है—वे उपासनाशून्य होनेके कारण धूम—धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं।

उस धूमाभिमानी देवतासे अतिवाहित (आगे ले जाये जाते) हुए वे धूमसे रात्रिको—रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपरपक्ष यानी कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर होकर चलता है उन महीनोंको अर्थात् दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है। ये षण्मासाभिमानी देवता एक

ण्यो हि षण्मासदेवता इति मासानिति बहुवचनप्रयोगस्तासु। नैते कर्मिणः प्रकृताः संवत्सरं संवत्सराभिमानिनीं देवतामभिप्राप्नुवन्ति।

कुतः पुनः संवत्सरप्राप्तिप्रसङ्गो यतः प्रतिषिध्यते ?

अस्ति हि प्रसङ्गः; संवत्सरस्य ह्येकस्यावयवभूते दक्षिणोत्तरायणे, तत्रार्चिरादिमार्गप्रवृत्तानामुदगयनमासेभ्योऽवयविनः संवत्सरस्य प्राप्तिरुक्ता। अत इहापि तदवयवभूतानां दक्षिणायनमासानां प्राप्तिं श्रुत्वा तदवयविनः संवत्सरस्यापि पूर्ववत्प्राप्तिरापन्ना; इत्यतस्तत्प्राप्तिः प्रतिषिध्यते नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्तीति ॥ ३ ॥

संघमें रहनेवाले हैं; इसलिये उनके लिये 'मासान्' ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया गया है। यहाँ जिनका प्रकरण है, वे ये कर्मकाण्डी संवत्सरको—संवत्सराभिमानी देवताको प्राप्त नहीं होते।

शङ्का—किंतु यहाँ संवत्सरप्राप्तिका प्रसङ्ग ही कहाँ था जो प्रतिषेध किया गया ?

समाधान—हाँ, प्रसङ्ग है; दक्षिणायन और उत्तरायण—ये एक ही संवत्सरके दो अवयव हैं, उनमें अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले पुरुषोंकी उत्तरायणके महीनोंसे अपने अवयवी संवत्सरकी प्राप्ति बतलायी गयी थी। इसलिये यहाँ भी उससे अवयवभूत दक्षिणायनके महीनोंकी प्राप्ति सुनकर पूर्ववत् उनके अवयवी संवत्सरकी भी प्राप्ति हो जाती है, इसीसे 'वे संवत्सरको प्राप्त नहीं होते'—ऐसा कहकर उसकी प्राप्तिका प्रतिषेध किया जाता है ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं । यह चन्द्रमा राजा सोम है । वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् । कोऽसौ यस्तैः प्राप्यते चन्द्रमाः ? य एष दृश्यतेऽन्तरिक्षे सोमो राजा ब्राह्मणानाम्, तदन्नं देवानाम्, तं चन्द्रमसमन्नं देवा इन्द्रादयो भक्षयन्ति । अतस्ते धूमादिना गत्वा चन्द्रभूताः कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते ।

नन्वनर्थायेष्टादिकरणं यद्यन्नभूता देवैर्भक्ष्येरन् ।

नैष दोषः—अन्नमित्युपकरणमात्रस्य विवक्षितत्वात्; न हि ते कवलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते, किं तर्हि ? उपकरणमात्रं देवानां भवन्ति ते स्त्रीपशुभृत्यादिवत् । दृष्टश्चान्न-

वे दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं । उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह यह चन्द्रमा कौन है ? यह जो आकाशमें दिखायी देता है तथा जो सोम ब्राह्मणोंका राजा है, वह देवताओंका अन्न है; उस चन्द्रमारूप अन्नको इन्द्रादि देवता भक्षण करते हैं । अतः धूमादि मार्गसे जाकर चन्द्रमारूप हुए वे कर्मी देवताओंसे भक्षित होते हैं ।

शङ्का—यदि वे अन्नरूप होकर देवताओंद्वारा भक्षित होते हैं तो इष्टादि कर्मोंका करना अनर्थके ही लिये है ?

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'अन्न' इस शब्दसे केवल उपभोगकी सामग्री ही विवक्षित है । वे देवताओंद्वारा ग्रासकी तरह उठाकर नहीं खाये जाते, तो फिर क्या होता है ? वे स्त्री, पशु एवं सेवकादिके समान देवताओंके केवल उपकरणमात्र होते हैं । 'अन्न'

शब्द उपकरणेषु स्त्रियोऽन्नं पशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञामित्यादि । न च तेषां स्त्र्यादीनां पुरुषोपभोग्यत्वेऽप्युपभोगो नास्ति । तस्मात्कर्मिणो देवानामुपभोग्या अपि सन्तः सुखिनो देवैः क्रीडन्ति । शरीरं च तेषां सुखोपभोगयोग्यं चन्द्रमण्डल आप्यमारभ्यते । तदुक्तं पुरस्तात्—श्रद्धाशब्दा आपो द्युलोकाग्नौ हुताः सोमो राजा संभवतीति ।

ता आपः कर्मसमवायिन्य इतरैश्च भूतैरनुगता द्युलोकं प्राप्य चन्द्रत्वमापन्नाः शरीराद्यारम्भिका इष्टाद्युपासकानां भवन्ति । अन्त्यायां च शरीराहुतावग्नौ हुतायामग्निना दह्यमाने शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सहोर्ध्वं यजमानमावेष्ट्य चन्द्रमण्डलं प्राप्य कुशमृत्तिकास्थानीया बा-

शब्दका उपकरणोंमें भी प्रयोग देखा ही जाता है; जैसे 'राजाओंका स्त्रियाँ अन्न हैं, पशु अन्न हैं, वैश्य अन्न हैं' इत्यादि । पुरुषके उपभोग्य होनेपर भी उन स्त्री आदिको उपभोग प्राप्त न होते हों—ऐसी बात नहीं है । अतः कर्मी लोग देवताओंके उपभोग्य होनेपर भी सुखी होकर देवताओंके साथ क्रीडा करते हैं । तथा उनका सुखोपभोगयोग्य जलीय शरीर चन्द्रमण्डलमें आरम्भ होता है । पहले यह बात कही भी जा चुकी है कि 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जलका द्युलोकरूप अग्निमें हवन किये जानेपर सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ।

वह कर्मसम्बन्धी जल अन्य भूतोंसे अनुगत हो द्युलोकमें पहुँचकर चन्द्रभावको प्राप्त हो इष्टादि कर्मोंकी उपासना करनेवाले पुरुषोंके शरीरादिका आरम्भ करनेवाला होता है । फिर शरीररूप अन्तिम आहुतिके हुत होनेपर जब अग्निद्वारा शरीर दग्ध होने लगता है तो उससे उत्पन्न होनेवाला जल धूमके साथ यजमानको आच्छादित कर ऊपर चन्द्रमण्डलमें पहुँचकर कुश एवं

ह्यशरीरारम्भिका भवन्ति । तदारब्धेन च शरीरेणेष्टादिफलमुपभुञ्जाना आस्ते ॥ ४ ॥

मृत्तिकास्थानीय बाह्य शरीरका आरम्भ करनेवाला होता है । उससे आरम्भ हुए शरीरसे ही वे इष्टादि कर्मोंका फल भोगते हुए वहाँ रहते हैं ॥४॥

द्वितीय प्रश्नका उत्तर

(पुनरावर्तनका क्रम)

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं । [वे पहले] आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं ॥ ५ ॥

यावत्तदुपभोगनिमित्तस्य कर्मणः क्षयः, संपतन्ति येनेति संपातः कर्मणः क्षयो यावत्संपातं यावत्कर्मणः क्षय इत्यर्थः; तावत्तस्मिंश्चन्द्रमण्डल उषित्वाथानन्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गं पुनर्निवर्तन्ते । पुनर्निवर्तन्त इति प्रयोगात्पूर्वमप्यसकृच्चन्द्रमण्डलं

जबतक उस चन्द्रलोकके उपभोगोंके निमित्तभूत कर्मका क्षय होता है—जिसके द्वारा सम्पतन होता है उसे सम्पात अर्थात् कर्मका क्षय कहते हैं, यावत्सम्पात अर्थात् जबतक कर्मका क्षय होता है तबतक उस चन्द्रमण्डलमें निवासकर उसके पश्चात् इस आगे कहे जानेवाले मार्गमें ही फिर लौट आते हैं । 'पुनर्निवर्तन्ते' (फिर लौट आते हैं) ऐसा प्रयोग होनेसे यह जाना जाता है कि पहले भी कई बार चन्द्र-

गता निवृत्ताश्चासन्निति गम्यते। तस्मादिह लोक इष्टादिकर्मोपचित्य चन्द्रं गच्छन्ति, तत्क्षये चावर्तन्ते; क्षणमात्रमपि तत्र स्थातुं न लभ्यते, स्थितिनिमित्तकर्मक्षयात्, स्नेहक्षयादिव प्रदीपस्य।

कर्मक्षयस्य सावशेषत्वं निरवशेषत्वं वा ?

तत्र किं येन कर्मणा चन्द्रमण्डलमारूढस्तस्य सर्वस्य क्षये तस्मादवरोहति किं वा सावशेष इति।

किं ततः ?

यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणश्चन्द्रमण्डलस्थस्यैव मोक्षः प्राप्नोति, तिष्ठतु तावत्तत्रैव मोक्षः स्यान्न वेति, तत आगतस्येह शरीरोपभोगादि न संभवति।

मण्डलको प्राप्त होकर लौट चुके हैं; अतः वे इस लोकमें इष्टादि कर्म करके चन्द्रमण्डलको प्राप्त होते हैं; तथा उनका क्षय होनेपर फिर लौट आते हैं। उस समय वहाँकी स्थितिके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय हो जानेके कारण उस स्थानपर उनका एक क्षण भी ठहरना नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि तैलका क्षय हो जानेपर दीपक नहीं ठहर सकता।

पूर्व०—जिस कर्मके द्वारा वह चन्द्रमण्डलपर आरूढ होता है क्या उस सबका क्षय होनेपर वह उससे उतरता है अथवा कुछ शेष रह जानेपर ही उतर आता है ?

सिद्धान्ती—इससे तुम्हें क्या लेना है ?

पूर्व०—यदि सारे ही कर्मका क्षय हो जाता है तो चन्द्रमण्डलमें रहते हुए ही उसका मोक्ष सिद्ध हो जाता है, और 'वहाँ रहते हुए ही मोक्ष होता है या नहीं होता' इस विचारको रहने भी दिया जाय तो भी वहाँसे आनेपर इस लोकमें उसके शरीरोपभोग आदि सम्भव नहीं हो सकते तथा

ततः शेषेणेत्यादिस्मृतिविरोधश्च स्यात् ।

नन्विष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि संभवन्ति, न च तेषां चन्द्रमण्डल उपभोगः, अतोऽक्षीणानि तानि । यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारूढस्तान्येव क्षीणानीत्यविरोधः । शेषशब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्यादविरुद्धः ।

अत एव च तत्रैव मोक्षः स्यादिति दोषाभावः; विरुद्धानेकयोन्युपभोगफलानां च कर्मणामेकैकस्य जन्तोरारम्भकत्वसंभवात् । न चैकस्मिञ्जन्मनि सर्वकर्मणां क्षय उपपद्यते, ब्रह्महत्यादेश्चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मारम्भकत्वस्मरणात् । स्थाव-

'ततः शेषेण' (भुक्तावशेष कर्मोंसे जन्म लेता है) इत्यादि स्मृतिसे भी विरोध होता है ।

सिद्धान्ती—इस मनुष्यलोकमें इष्ट, पूर्त और दत्त—इन कर्मोंसे भिन्न और भी अनेकों शरीरोपभोगके निमित्तभूत कर्म हो सकते हैं; उनका चन्द्रमण्डलमें फलोपभोग भी नहीं होता, इसलिये वे अक्षीण ही रहते हैं । जिन कर्मोंके कारण वह चन्द्रमण्डलपर आरूढ़ होता है उन्हींका वहाँ क्षय भी होता है—इस प्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है । सब कर्मोंका कर्मत्व समान होनेके कारण [उपर्युक्त स्मृतिमें] 'शेष' शब्दका प्रयोग किया गया है । इसलिये वह भी अविरुद्ध ही है ।

इसीलिये 'उसका वहीं मोक्ष हो जाना चाहिये' ऐसा भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि एक-एक जीवके ऐसे कर्मोंका आरम्भकत्व सम्भव हो ही सकता है जिनके फल अनेकों विरुद्ध योनियोंमें भोगे जायँ । एक ही जन्ममें समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि स्मृतियोंमें 'ब्रह्महत्या आदि एक-एक कर्म अनेक जन्मोंके आरम्भक हैं' ऐसा बतलाया गया है । तथा

रादिप्राप्तानां चात्यन्तमूढानामुत्कर्षहेतोः कर्मण आरम्भकत्वासंभवात् । गर्भभूतानां च स्रंसमानानां कर्मासंभवे संसारानुपपत्तिः। तस्मान्नैकस्मिञ्जन्मनि सर्वेषां कर्मणामुपभोगः ।

जो स्थावरादि योनियोंको प्राप्त हुए अत्यन्त मूढ जीव हैं उनके उत्कर्षके हेतुभूत कर्मोंका आरम्भकत्व तो असम्भव ही है । [इसके सिवा कोई-कोई ऐसा भी समझने लगेंगे कि] गर्भरूप होकर क्षीण हुए जीवोंके कोई कर्म न होनेके कारण उन्हें संसारकी प्राप्ति होना ही असम्भव है । अतः एक ही जन्ममें समस्त कर्मोंका उपभोग नहीं हो सकता ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते सर्वकर्माश्रयोपमर्देन प्रायेण कर्मणां जन्मारम्भकत्वम् । तत्र कानिचित्कर्माण्यनारम्भकत्वेनैव तिष्ठन्ति कानिचिज्जन्मारभन्त इति नोपपद्यते; मरणस्य सर्वकर्माभिव्यञ्जकत्वात्स्वगोचराभिव्यञ्जकप्रदीपवदिति । तदसत्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात् ।

कुछ लोगोंका जो ऐसा कथन है कि '[संचित-] कर्म प्रायः सम्पूर्ण [प्रारब्ध] कर्मोंके आश्रय [शरीर] का नाश करके जन्मके आरम्भक होते हैं; उस अवस्थामें कुछ कर्म तो जन्मके अनारम्भकरूपसे ही स्थित रहते हैं और कुछ जन्मका आरम्भ करते हैं—यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि मरण तो अपने विषयके अभिव्यञ्जक दीपकके समान सारे ही कर्मोंका अभिव्यञ्जक है ?'—सो उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि [मधुब्राह्मणमें] सबका सर्वात्मकत्व स्वीकार किया गया

न हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे देशकालनिमित्तावरुद्धत्वात्सर्वात्मनोपमर्दः कस्यचित्क्वचिदभिव्यक्तिर्वा सर्वात्मनोपपद्यते । तथा कर्मणामपि साश्रयाणां भवेत् ।

यथा च पूर्वानुभूतमनुष्यमयूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृता विरुद्धानेकवासना मर्कटत्वप्रापकेन कर्मणा मर्कटजन्मारभमाणेन नोपमृद्यन्ते तथा कर्माण्यप्यन्यजन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपमृद्यन्त इति युक्तम् । यदि हि सर्वाः पूर्वजन्मानुभववासना उपमृद्येरन्मर्कटजन्मनिमित्तेन कर्मणा मर्कटजन्मन्यारब्धे मर्कटस्य जात-

है* । अतः सबका सर्वात्मकत्व होनेपर देश, काल और निमित्तसे अवरुद्ध होनेके कारण किसी पदार्थका सर्वथा नाश अथवा सर्वथा अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती । ऐसा ही कर्म और उनके आश्रयके विषयमें भी होगा [अर्थात् उनका भी सर्वथा नाश अथवा सर्वथा आविर्भाव नहीं हो सकता] ।

जिस प्रकार पहले अनुभव किये हुए मनुष्य, मयूर एवं वानर आदि जन्मोंमें सम्पादित की हुई अनेकों विरुद्ध वासनाएँ वानरत्वकी प्राप्ति करानेवाले वानरजन्मके आरम्भक कर्मसे क्षीण नहीं होतीं उसी प्रकार अन्य जन्मोंकी प्राप्तिके निमित्तभूत कर्म भी क्षीण नहीं होते—यह ठीक ही है । यदि वानरजन्मके निमित्तभूत कर्मसे पूर्वजन्मोंके अनुभवकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो जातीं तो वानरजन्मका आरम्भ होनेपर तत्काल उत्पन्न हुए वानरको माताके

---

* इसका तात्पर्य यह है कि समस्त पदार्थोंमें न्यूनाधिकरूपसे सभीकी सत्ता रहती है । प्रत्येक पदार्थकी अभिव्यक्ति और विनाशके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं । अतः एक व्यक्तिकी मृत्यु किन्हीं-किन्हीं संचित कर्मोंकी अभिव्यञ्जक होनेपर भी सबकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती । इसलिये शेष कर्म अपने उपयुक्त अभिव्यञ्जक निमित्तकी प्राप्तितक फलोन्मुख नहीं होते और न वे आगामी जन्मके आरम्भक ही होते हैं ।

मात्रस्य मातुः शाखायाः शाखान्तरगमने मातुरुदरसंलग्नत्वादिकौशलं न प्राप्नोति, इह जन्मन्यनभ्यस्तत्वात्; न चातीतानन्तरजन्मनि मर्कटत्वमेवासीत्तस्येति शक्यं वक्तुम्, "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृ० उ० ४ । ४ । २) इति श्रुतेः । तस्माद्वासनावन्नाशेषकर्मोपमर्द इति शेषकर्मसंभवः । यत एवं तस्माच्छेषेणोपभुक्तात्कर्मणः संसार उपपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः ।

एक शाखासे दूसरी शाखापर जाते समय उसके पेटसे चिपके रहने आदिकी कुशलता प्राप्त न होती; क्योंकि इस जन्ममें तो उसका अभ्यास हुआ नहीं और ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि इसके पूर्ववर्ती जन्ममें भी उसे वानरत्व ही प्राप्त था । "विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं तथा पूर्वजन्मकी वासना भी" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । अतः वासनाके समान समस्त कर्मोंका भी क्षय नहीं हो सकता, इसलिये शेष कर्मोंका रहना सम्भव है । क्योंकि ऐसी बात है इसलिये उपभुक्त हुए कर्मोंसे बचे हुए कर्मद्वारा संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है—इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता ।

कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्तन्ते? इत्युच्यते—यथेतं यथागतं निवर्तन्ते ।

वह कौन मार्ग है जिसके प्रति ये लौटते हैं ? इसपर श्रुति यह कहती है कि जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटते हैं ।

गमनागमनक्रमयोर्भेद आक्षेपः

ननु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमस-

शङ्का—गमनका क्रम तो इस प्रकार बतलाया गया था कि मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होता है, किंतु निवृत्ति इस प्रकार

मिति गमनक्रम उक्तो न तथा निवृत्तिः। किं तर्हि?आकाशाद्वायुमित्यादि, कथं यथेतमित्युच्यते?

तत्परिहारः नैष दोषः, आकाशप्राप्तेस्तुल्यत्वात्पृथिवीप्राप्तेश्च। न चात्र यथेतमेवेति नियमोऽनेवंविधमपि निवर्तन्ते पुनर्निवर्तन्त इति तु नियमः। अत उपलक्षणार्थमेतद्यथेतमिति। अतो भौतिकमाकाशं तावत्प्रतिपद्यन्ते।

यास्तेषां चन्द्रमण्डले शरीरारम्भिका आप आसंस्तास्तेषां तत्रोपभोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये विलीयन्ते, घृतसंस्थानमिवाग्निसंयोगे। ता विलीना अन्तरिक्षस्था आकाशभूता इव सूक्ष्मा

नहीं बतलायी जाती। तो कैसे बतलायी जाती है ?—आकाशसे वायुको प्राप्त होता है इत्यादि रूपसे बतलायी जाती है; फिर 'जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटते हैं'—ऐसा कैसे कहा जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाशकी प्राप्ति और पृथिवीकी प्राप्ति ये दोनों दशाओंमें समान हैं। इसके सिवा इसमें ऐसा नियम भी नहीं है कि जिस मार्गसे गये थे उसीसे लौटें, किसी अन्य प्रकार भी लौट ही सकते हैं। नियम तो केवल इतना ही है कि वे फिर लौटते हैं। अतः 'जिस मार्गसे गये थे' इत्यादि कथन केवल उपलक्षणमात्र है। अतः भौतिक आकाशको तो वे प्राप्त होते ही हैं।

चन्द्रमण्डलमें जो उनके शरीरका आरम्भ करनेवाला जल होता है वह वहाँके उपभोगके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय होनेपर विलीन हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्निका संयोग होनेपर घृतका पिण्ड विलीन हो जाता है। वह अन्तरिक्षस्थ जल विलीन होकर आकाशभूतके समान सूक्ष्म

भवन्ति । ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति । वायुप्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चामुतश्चोह्यमानास्ताभिः सह क्षीणकर्मा वायुभूतो भवति । वायुर्भूत्वा ताभिः सहैव धूमो भवति । धूमो भूत्वाभ्रम् अब्भरणमात्ररूपो भवति ॥ ५ ॥

हो जाता है । अन्तरिक्षसे वायुरूप हो जाता है । वह वायुमें स्थित होकर वायुरूप हुआ इधर-उधर ले जाया जाता है तथा उसके ही साथ, जिसके कर्म क्षीण हो गये हैं वह जीव वायुरूप हो जाता है । वायु होकर वह उस जलके सहित ही धूम हो जाता है तथा धूम होकर अभ्र—जलभरणमात्ररूप हो जाता है ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है । तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्टप्रद है । उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्यसेचन करता है, तद्रूप ही वह जीव हो जाता है ॥ ६ ॥

अभ्रं भूत्वा ततः सेचनसमर्थो मेघो भवति; मेघो भूत्वोन्नतेषु प्रदेशेष्वथ प्रवर्षति; वर्षधारारूपेण शेषकर्मा पततीत्यर्थः । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिल-

अभ्र होकर उसके पश्चात् वह वर्षा करनेमें समर्थ मेघ होता है । फिर मेघ होकर ऊँचे स्थानोंमें वृष्टि करता है अर्थात् कर्मोंके शेष रहनेके कारण वर्षाकी धाराओंके रूपमें गिर जाता है । वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल

माषा इत्येवंप्रकारा जायन्ते । क्षीणकर्मणामनेकत्वाद्बहुवचननिर्देशः । मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वादेकवचननिर्देशः ।

यस्माद्गिरितटदुर्गनदीसमुद्रारण्यमरुदेशादिसंनिवेशसहस्राणि वर्षधाराभिः पतितानाम्, अतस्तस्माद्धेतोर्वै खलु दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्करणं दुर्निःसरणम् । यतो गिरितटादुदकस्रोतसोह्यमाना नदीः प्राप्नुवन्ति, ततः समुद्रं ततो मकरादिभिर्भक्ष्यन्ते; तेऽप्यन्येन; तत्रैव च सह मकरेण समुद्रे विलीनाः समुद्राम्भोभिर्जलधरैराकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातटे वागम्ये पतितास्तिष्ठन्ति, कदाचिद्व्यालमृगादिपीता

और उड़द इत्यादि प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। क्षीणकर्मा जीवोंकी अनेकता होनेके कारण यहाँ ['ते जायन्ते' इत्यादि रूपसे] बहुवचनका निर्देश किया गया है; इससे पहले मेघ आदिमें एकरूप होनेके कारण एकवचनका निर्देश हुआ है ।

क्योंकि वर्षाकी धाराओंद्वारा गिरे हुए जीवोंके पर्वततट, दुर्ग, नदी, समुद्र, वन एवं मरुस्थल आदि सहस्रों स्थान हैं; अतः इन सब कारणोंसे उनका यह दुर्निष्प्रपतर—दुर्निष्क्रमण अर्थात् कष्टमय निःसरण है; क्योंकि जलके प्रवाहद्वारा गिरितटसे ले जाये जाते हुए वे (जीव) नदीको प्राप्त होते हैं और उससे समुद्रको; तथा उसके पश्चात् मकरादिसे खाये जाते हैं और वे भी दूसरोंसे भक्षित होते हैं । तथा वहाँ समुद्रमें ही यदि मकरके साथ लीन हो गये तो समुद्रके जलके साथ मेघोंसे आकर्षित होकर फिर वर्षाकी धाराओंद्वारा मरुभूमि, शिलातट अथवा अगम्य स्थानोंमें गिरकर पड़े रहते हैं; कभी सर्प एवं मृगादिसे पी लिये जाते हैं अथवा अन्य

भक्षिताश्चान्यैः; तेऽप्यन्यैरित्येवं प्रकाराः परिवर्तेरन्; कदाचिदभक्ष्येषु जातास्तत्रैव शुष्येरन्; भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव, बहुत्वात्स्थावराणाम् इत्यतो दुर्निष्क्रमणत्वम् ।

अथवातोऽस्माद्व्रीहियवादिभावाद्दुर्निष्प्रपतरं दुर्निर्गमतरम् । दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्यः । व्रीहियवादिभावो दुर्निष्प्रपतस्तस्मादपि दुर्निष्प्रपताद्रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्निष्प्रपततर इत्यर्थः; यस्मादूर्ध्वरेतोभिर्बालैः पुंस्त्वरहितैः स्थविरैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते, अनेकत्वादन्नादानाम् । कदाचित्काकतालीयवृत्त्या रेतःसिग्भिर्भक्ष्यन्ते

जीवोंद्वारा भक्षित होते हैं और वे भी किन्हीं अन्य जीवोंद्वारा खा लिये जाते हैं [इस प्रकार वे अनुशयी जीव परिवर्तित होते रहते हैं । कभी अभक्ष्योंमें उत्पन्न होनेपर वे वहीं सूख जाते हैं ।* भक्ष्योंमें भी स्थावरोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको वीर्यसेचन करनेवाले शरीरका सम्बन्ध प्राप्त होना तो कठिन ही है, क्योंकि स्थावरोंकी संख्या बहुत है । इसलिये अनुशयी जीवका निष्क्रमण दुःखमय ही है ।

अथवा यों समझो कि इस व्रीहियवादिभावसे जीवका छुटकारा होना बहुत कठिन है । 'दुर्निष्प्रपतरम्' इस पदमें एक तकार लुप्त समझना चाहिये । अतः तात्पर्य यह है कि व्रीहियवादिभाव दुर्निष्प्रपत है और उस दुर्निष्प्रपतसे भी वीर्यसेचन करनेवाले शरीरका सम्बन्ध दुर्निष्प्रपततर है, क्योंकि अन्न भक्षण करनेवाले अनेकों होनेके कारण ऊर्ध्वरेता, बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषोंद्वारा खाये जानेपर वे पेटके भीतर ही नष्ट हो जाते हैं ।* जिस समय काकतालीयन्यायसे वे कभी वीर्यसेचन करनेवाले पुरुषोंद्वारा भक्षित किये

---

* इन दोनों स्थानोंपर जो जीवके सूखने और नष्ट होनेकी बात कही है वह वैराग्यवृद्धिके उद्देश्यसे स्वर्गावरोहणकी अतिशय दुःखरूपता प्रदर्शित करनेके लिये है ।

यदा, तदा रेतःसिग्भावं गतानां कर्मणो वृत्तिलाभः ।

कथम् ? यो यो ह्यन्नमत्त्यनुशयिभिः संश्लिष्टं रेतःसिक्,यश्च रेतः सिञ्चत्यृतुकाले योषिति, तद्भूय एव तदाकृतिरेव भवति; तदवयवाकृतिभूयस्त्वं भूय इत्युच्यते रेतोरूपेण योषितो गर्भाशयेऽन्तःप्रविष्टोऽनुशयी, रेतसो रेतःसिगाकृतिभावितत्वात्, "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्" (ऐ० उ० ४ । १) इति हि श्रुत्यन्तरात् । अतो रेतःसिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थः । तथा हि—पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवाकृतिरेव न जात्यन्तराकृतिः, तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति ।

जाते हैं उसी समय वीर्यसेचकरूपताको प्राप्त हुए उन जीवोंको कर्मोंकी वृत्तिका लाभ होता है ।

किस प्रकार वृत्तिलाभ होता है ?—जो-जो वीर्यसेचक अनुशयी जीवोंसे युक्त अन्न भक्षण करता है और फिर ऋतुकालमें स्त्रीमें वीर्यसेचन करता है वह जीव 'तद्भूय' अर्थात् उसीके आकारका हो जाता है। उसके अवयवोंकी आकृतिकी अधिकता होना 'भूय' ऐसा कहा जाता है । इस प्रकार वीर्यरूपसे स्त्रीके गर्भाशयमें प्रविष्ट हुआ जीव 'तद्भूय' हो जाता है, क्योंकि वीर्य वीर्यसेचन करनेवालेकी आकृतिसे भावित होता है, जैसा कि "वीर्य पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेज होता है" इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है । इसलिये तात्पर्य यह है कि वह वीर्यसेचन करनेवालेकी ही आकृतिका हो जाता है । इसीसे पुरुषसे पुरुष और बैलसे बैलके आकारवाला ही प्राणी होता है, अन्य जातिकी आकृतिवाला नहीं होता । अतः वह 'तद्भूय' ही होता है—यह कथन ठीक ही है ।

ये त्वन्येऽनुशयिभ्यश्चन्द्रमण्डलमनारुह्येहैव पापकर्मभिर्घोरैर्व्रीहियवादिभावं प्रतिपद्यन्ते, न पुनर्मनुष्यादिभावम्, तेषां नानुशयिनामिव दुर्निष्प्रपतरम्। कस्मात् ? कर्मणा हि तैर्व्रीहियवादिदेह उपात्त इति तदुपभोगनिमित्तक्षये व्रीह्यादिस्तम्बदेहविनाशे यथाकर्मार्जितं देहान्तरं नवं नवं जलूकावत्संक्रमन्ते सविज्ञाना एव; "सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति" (बृ० उ० ४।४।२) इति श्रुत्यन्तरात्। यद्यप्युपसंहृतकरणाः सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति तथापि स्वप्नवद्देहान्तरप्राप्तिनिमित्तकर्मोद्भावितवासनाज्ञानेन सविज्ञाना एव देहान्तरं गच्छन्ति, श्रुतिप्रामाण्यात्।

किंतु जो अनुशयी जीवोंसे भिन्न प्राणी अपने घोर पापकर्मोंके कारण चन्द्रमण्डलपर आरूढ हुए बिना ही व्रीहि-यवादि भावको प्राप्त होते हैं, मनुष्यादि भावको प्राप्त नहीं होते, उनका व्रीहि-यवादि भावसे निष्क्रमण होना बहुत कष्टप्रद नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि उन्होंने कर्मके कारण ही व्रीहि-यवादि देह प्राप्त किया है; अतः उस उपभोगके निमित्तका क्षय होनेपर व्रीहि आदि स्तम्बदेहका नाश हो जानेके कारण वे जान-बूझकर एक तिनकेसे दूसरे तिनकेपर जानेवाली जोंकके समान अपने कर्मानुसार उपार्जित अन्य नवीन-नवीन शरीरमें विज्ञानयुक्त रहकर ही संक्रमण करते हैं; जैसा कि "वह सविज्ञान होता है और सविज्ञान रहता हुआ ही अन्य शरीरमें संक्रमण करता है" इस अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध होता है। यद्यपि जीव इन्द्रियोंका उपसंहार (हृदयमें लय) हो जानेपर ही देहान्तरमें जाते हैं, तथापि इस श्रुति-प्रमाणसे वे स्वप्नके समान देहान्तरकी प्राप्तिके निमित्तभूत कर्मसे उत्पन्न की हुई वासनाके विज्ञानसे सविज्ञान हुए ही देहान्तरको प्राप्त होते हैं।

तथार्चिरादिना धूमादिना च गमनं स्वप्न इवोद्भूतविज्ञानेन, लब्धवृत्तिकर्मनिमित्तत्वाद्गमनस्य । न तथानुशयिनां व्रीह्यादिभावेन जातानां सविज्ञानमेव रेतःसिग्योषिद्देहसंबन्ध उपपद्यते, न हि व्रीह्यादिलवनकण्डनपेषणादौ च सविज्ञानानां स्थितिरस्ति ।

इसी प्रकार उपासकोंका अर्चि आदि मार्गसे और सकाम कर्मियोंका धूम आदि मार्गसे जो गमन होता है वह भी स्वप्नके समान उद्भूत वासनात्मक विज्ञानसे सविज्ञान हुए जीवोंका ही होता है; क्योंकि वह गमन लब्धवृत्ति (अपना फल देनेके लिये उन्मुख) कर्मके कारण होता है । किंतु व्रीहि-यवादिरूपसे उत्पन्न हुए अनुशयी जीवोंका जो वीर्यका आधान करनेवाले पुरुष अथवा स्त्रीके देहोंसे सम्बन्ध होता है वह उनके सविज्ञान रहते हुए ही हो, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि व्रीहि आदिके काटने, कूटने अथवा पीसनेमें सविज्ञान जीवोंकी स्थिति नहीं रह सकती ।

इष्टापूर्तादिलब्धगतेर्दुःखरूपत्वाच्छास्त्रानर्थक्यमित्याक्षेपः

ननु चन्द्रमण्डलादप्यवरोहतां देहान्तरगमनस्य तुल्यत्वाज्जलूकावत्सविज्ञानतैव युक्ता, तथा सति घोरो नरकानुभव इष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रमण्डलादारभ्य प्राप्तो यावद्ब्राह्मणादिजन्म; तथा च सत्यनर्थायैवेष्टापूर्ताद्युपासनं विहितं स्यात्; श्रुतेश्चाप्रामाण्यं प्राप्तम्, वैदिकानां कर्मणामनर्थानुबन्धित्वात् ।

शङ्का—चन्द्रमण्डलसे उतरनेवाले जीवोंका देहान्तरगमन भी वैसा ही होनेके कारण उनकी भी जोंकके समान सविज्ञानता ही माननी उचित है । ऐसा होनेपर इष्ट-पूर्त्त आदि कर्म करनेवालोंको चन्द्रमण्डलसे लेकर जबतक ब्राह्मणादिजन्मकी प्राप्ति होगी तबतक घोर नरकका अनुभव होना सिद्ध होगा । ऐसी अवस्थामें इष्ट-पूर्त्त आदि उपासना अनर्थके लिये ही विहित मानी जायगी और इस प्रकार वैदिक कर्मके अनर्थकारी होनेके कारण श्रुतिकी अप्रामाणिकता सिद्ध होगी ।

आक्षेप-परिहारः न, वृक्षारोहणपतनवद्विशेषसंभवात् । देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सोः कर्मणो लब्धवृत्तित्वात्कर्मणोद्भावितेन विज्ञानेन सविज्ञानत्वं युक्तम् । वृक्षाग्रमारोहत इव फलं जिघृक्षोः, तथार्चिरादिना गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेत्; धूमादिना च चन्द्रमण्डलमारुरुक्षताम् । न तथा चन्द्रमण्डलादवरुरुक्षतां वृक्षाग्रादिव पततां सचेतनत्वम् ।

यथा च मुद्गराद्यभिहतानां तदभिघातवेदनानिमित्तसंमूर्च्छितप्रतिबद्धकरणानां स्वदेहेनैव देशाद्देशान्तरं नीयमानानां विज्ञानशून्यता दृष्टा, तथा चन्द्रमण्डलान्मानुषादिदेहान्तरं प्रत्य-

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वृक्षपर चढ़ने और उससे गिरनेके समान इन अवस्थाओंमें अन्तर रहना सम्भव है । एक देहसे दूसरे देहको प्राप्त करानेकी इच्छावाले कर्म लब्धवृत्ति होनेके कारण उन कर्मोंद्वारा उत्पन्न किये हुए विज्ञानसे उस जीवका सविज्ञान रहना उचित है । फल लेनेकी इच्छासे वृक्षपर चढ़नेवाले मनुष्यकी जिस प्रकार सविज्ञानता सम्भव है, इसी प्रकार अर्चिरादि मार्गसे जानेवाले तथा धूमादि मार्गसे चन्द्रमण्डलपर आरूढ होनेवाले जीवोंकी भी सविज्ञानता सम्भव है । किंतु इसी तरह वृक्षाग्रसे गिरनेवाले पुरुषोंके समान चन्द्रमण्डलसे गिरनेवालोंकी सचेतनता सम्भव नहीं है ।

जिस प्रकार कि मुद्गरादिसे आहत पुरुष जिनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उनके आघातोंकी वेदनाके कारण मूर्च्छित अथवा प्रतिबद्ध (कुण्ठित) हो गयी हैं, अपने देहसे ही एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते समय विज्ञानशून्य (अचेत) देखे गये हैं, उसी प्रकार स्वर्गभोगके निमित्तभूत कर्मोंका क्षय हो जानेसे जिनके जलीय शरीर नष्ट हो गये

वरुरुक्षतां स्वर्गभोगनिमित्तकर्मक्षयान्मृदिताब्देहानां प्रतिबद्धकरणानाम् । अतस्तेऽपरित्यक्तदेहबीजभूताभिरद्भिर्मूर्छिता इवाकाशादिक्रमेणेमामवरुह्य कर्मनिमित्तजातिस्थावरदेहैः संश्लिष्यन्ते । प्रतिबद्धकरणतयानुद्भूतविज्ञाना एव ।

तथा लवनकण्डनपेषणसंस्कारभक्षणरसादिपरिणामरेतःसेककालेषु मूर्छितवदेव, देहान्तरारम्भकस्य कर्मणोऽलब्धवृत्तित्वात् । देहबीजभूताप्संबन्धापरित्यागेनैव सर्वास्ववस्थासु वर्तन्त इति जलूकावच्चेतनावत्त्वं न विरुध्यते । अन्तराले त्वविज्ञानं मूर्छितवदेवेत्यदोषः ।

हैं तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अवरुद्ध हो गयी हैं उन चन्द्रमण्डलसे मनुष्यादि देहान्तरोंके प्रति गिरनेवाले अनुशयी जीवोंकी [विज्ञानशून्यता उचित ही है] । अतः देहके बीजभूत जलके परित्यक्त न होनेसे वे उसके सहित ही मूर्च्छित हुएके समान आकाशादिक्रमसे इस पृथिवीपर उतरकर अपने कर्मानुसार जातिवाले स्थावरशरीरोंमें मिल जाते हैं और इन्द्रियोंके प्रतिबद्ध रहनेके कारण अनुद्भूतविज्ञान (अचेत) ही रहते हैं ।

इसी प्रकार वे काटने, कूटने, पीसने, पकाने, खाने, रसादिरूपमें परिणत होने और वीर्यसेचनके समय भी मूर्च्छित-से ही रहते हैं, क्योंकि उनका देहान्तरका आरम्भ करनेवाला कर्म अलब्धवृत्ति रहता है । वे समस्त अवस्थाओंमें देहके बीजभूत जलका सम्बन्ध न छोड़ते हुए ही विद्यमान रहते हैं, अतः जोंकके समान उनके चेतनायुक्त होनेमें भी कोई विरोध नहीं आता । बीचमें जो विज्ञानशून्य दशा रहती है वह मूर्च्छितके समान है; इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है ।

न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वेनोभयहेतुत्वं शक्यमनुमातुम्, हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् "अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" इति श्रुतेः शास्त्रचोदिताया हिंसाया नाधर्महेतुत्वमभ्युपगम्यते । अभ्युपगतेऽप्यधर्महेतुत्वे मन्त्रैर्विषादिवत्तदपनयोपपत्तेर्न दुःखकार्यारम्भकत्वोपपत्तिर्वैदिकानां कर्मणां मन्त्रेणेव विषभक्षणस्येति ॥ ६ ॥

अनुशयी जीवोंकी कर्मानुरूप गति

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

उन (अनुशयी जीवों) में जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं । वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं । तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं । वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

तत्तत्र तेष्वनुशयिनां य इह लोके रमणीयं शोभनं चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणा रमणीयचरणेनोपलक्षितः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषां ते रमणीयचरणा उच्यन्ते । क्रौर्यानृतमायावर्जितानां हि शक्य उपलक्षयितुं शुभानुशयसद्भावः । तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेणाभ्याशो ह क्षिप्रमेव, यदिति क्रियाविशेषणम्, ते रमणीयां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापद्येरन्प्राप्नुयुर्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा स्वकर्मानुरूपेण ।

अथ पुनर्ये तद्विपरीताः कपूयचरणोपलक्षितकर्माणोऽशुभानुशया अभ्याशो ह यत्ते कपूयां यथाकर्म योनिमापद्येरन्कपूयामेव धर्मसंबन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा

तत्–वहाँ उन अनुशयी जीवोंमें जिनका इस लोकमें रमणीय—शुभ चरण–शील होता है वे शुद्धाचारी जीव—जिनका रमणीयचरणसे उपलक्षित शुभ अनुशय यानी पुण्य-कर्म होता है––वे रमणीयचरण कहलाते हैं । जो लोग क्रूरता, असत्य और कपटसे रहित हैं उन्हींमें शुभानुशयकी सत्ता देखी जा सकती है । चन्द्रमण्डलके भोगसे बचे हुए उस पुण्य अनुशय यानी कर्मसे वे अभ्याश––शीघ्र ही रमणीय -- क्रूरता आदिसे रहित योनिको प्राप्त होते हैं । यहाँ 'यत्' शब्द क्रियाविशेषण है । अपने कर्मोंके अनुसार वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं ।

किंतु उनसे विपरीत जो कपूयचरणसे उपलक्षित कर्मवाले अर्थात् अशुभ अनुशयवाले होते हैं वे शीघ्र ही अपने कर्मानुसार कपूययोनिको प्राप्त होते हैं । कपूय––धर्मसम्बन्धसे रहित अर्थात् निन्दनीय योनिको ही प्राप्त होते हैं । वे भी अपने

सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा स्वकर्मानुरूपेणैव ॥ ७ ॥

कर्मोंके ही अनुसार कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

चतुर्थ प्रश्नका उत्तर

(अशास्त्रीय प्रवृत्तिवालोंकी गति)

ये तु रमणीयचरणा द्विजातयस्ते स्वकर्मस्थाश्चेदिष्टादिकारिणस्ते धूमादिगत्या गच्छन्त्यागच्छन्ति च पुनः पुनर्घटीयन्त्रवत् । विद्यां चेत्प्राप्नुयुस्तदार्चिरादिना गच्छन्ति । यदा तु न विद्यासेविनो नापीष्टादिकर्म सेवन्ते तदा—

किंतु जो शुभाचरणशील द्विजाति हैं वे यदि अपने कर्मोंमें स्थित रहकर इष्टादि कर्म करनेवाले होते हैं तो घटीयन्त्रके समान धूमादि मार्गसे पुनः-पुनः आते-जाते रहते हैं और यदि उन्हें [उपासनात्मक] विद्याकी प्राप्ति हो जाती है तो अर्चि आदि मार्गसे जाते हैं । और जिस समय वे न तो उपासना करनेवाले होते हैं और न इष्टादि कर्मोंका ही सेवन करते हैं, उस समय—

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

इनमेंसे किसी मार्गद्वारा नहीं जाते । वे ये क्षुद्र और बारम्बार आने-जानेवाले प्राणी होते हैं । 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है । इसी कारण यह परलोक नहीं भरता । अतः [इस संसारगतिसे] घृणा करनी चाहिये । इस विषयमें यह मन्त्र है- ॥८॥

अथैतयोः पथोर्यथोक्तयोरर्चिर्धूमादिलक्षणयोर्न कतरेण अन्यतरेण च नापियन्ति। तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि दंशमशककीटादीन्यसकृदावर्तीनि भवन्ति । अत उभयमार्गपरिभ्रष्टा ह्यसकृज्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। तेषां जननमरणसन्ततेरनुकरणमिदमुच्यते । जायस्व म्रियस्वेतीश्वरनिमित्तचेष्टोच्यते । जननमरणक्षणेनैव कालयापना भवति, न तु क्रियासु शोभनेषु भोगेषु वा कालोऽस्तीत्यर्थः ।

एतत्क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं संसरताम्, येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति, अनधिकृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति, तेनासौ लोको न सम्पूर्यते ।

वे इन पूर्वोक्त अर्चि आदि और धूमादि मार्गोंमेंसे किसी भी एकके द्वारा नहीं जाते । वे ये क्षुद्र प्राणी डाँस, मच्छर और कीड़े आदि वारम्बार आने-जानेवाले जीव होते हैं । अतः तात्पर्य यह है कि वे इन दोनों ही मार्गोंसे परिभ्रष्ट होकर वारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं । यह उनके जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्पराका अनुकरण कहा जाता है; 'जन्म लो और मरो' यह ईश्वरसम्बन्धी चेष्टा बतलायी जाती है *। अर्थात् उनका समय जन्म लेने और मरनेमें ही जाता है, कर्म करने अथवा सुन्दर भोग भोगनेके लिये उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता ।

जन्म-मरण-परम्परामें पड़े हुए जीवोंका पहले दो मार्गोंकी अपेक्षा यह क्षुद्र जीवरूप तीसरा स्थान है। क्योंकि इस प्रकार दक्षिणमार्गगामी भी लौट आते हैं तथा ज्ञान और कर्मके अनधिकारियोंका तो दक्षिणमार्गसे वहाँ जाना भी नहीं होता, इसलिये यह परलोक नहीं भरता ।

---

* तात्पर्य यह है कि उन जीवोंको दोनों मार्गोंसे पतित हुए देखकर मानो ईश्वर ही कहता है कि 'तुम जन्म लो और मरो ।'

पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्निविद्यया व्याख्यातः । प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतः । दक्षिणोत्तरयोः पथोर्व्यावर्तनापि—मृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः, ततो व्यावर्तना, अन्येऽर्चिरादिना यन्ति, अन्ये धूमादिना, पुनरुत्तरदक्षिणायने षण्मासान्प्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्तन्ते, अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकम्—इति व्याख्याता । पुनरावृत्तिरपि क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेणोक्ता । अमुष्य लोकस्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्, तेनासौ लोको न सम्पूर्यत इति ।

यस्मादेवं कष्टा संसारगतिस्तस्माज्जुगुप्सेत । यस्माच्च

[उपर्युक्त प्रश्नोंमेंसे] पाँचवें प्रश्नकी व्याख्या पञ्चाग्निविद्याद्वारा की गयी; प्रथम प्रश्नका अपाकरण दक्षिण एवं उत्तरमार्गके वर्णनसे किया गया । तथा—–मरे हुए उपासक और कर्मठ इनको अग्निमें डालना एक समान होता है, वहाँसे आगे उनका वियोग होता है, उनमेंसे एक अर्चि आदि मार्गसे जाते हैं और दूसरे धूमादि मार्गसे; फिर उत्तरायण और दक्षिणायन—इन छः-छः मासोंको प्राप्त होकर वे एक बार मिलकर फिर बिछुड़ जाते हैं । उनमेंसे एक तो संवत्सरको प्राप्त होते हैं और दूसरे मासाभिमानी देवताओंसे पितृलोकको जाते हैं—– इस प्रकार दक्षिण और उत्तर मार्गोंकी व्यावर्तना—–व्यावृत्तिकी भी व्याख्या की गयी । जिनका अनुशय (कर्म) क्षीण हो गया है, उन जीवोंकी चन्द्रमण्डलसे आकाशादि क्रमसे पुनरावृत्ति भी बतला दी गयी । इस परलोककी अपूर्तिका तो 'तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' ऐसे प्रत्यक्ष शब्दोंसे ही उल्लेख कर दिया गया ।

क्योंकि इस प्रकार संसारगति अत्यन्त कष्टमयी है, इसलिये उससे घृणा करनी चाहिये । क्योंकि

जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते च घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः, सागर इवागाधेऽप्लवे निराशाश्चोत्तरणं प्रति; तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत घृणी भवेत्, मा भूदेवंविधे संसारमहोदधौ घोरे पात इति । तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः पञ्चाग्निविद्यास्तुतये ॥८॥

जन्म-मरणसे होनेवाली वेदनाके अनुभवमें ही जिनका समय जाता है वे क्षुद्र जीव नौकाहीन अगाध सागरके समान, जिसे पार करनेमें वे निराश रहते हैं, अति दुस्तर घोर अज्ञानान्धकारमें प्रविष्ट कर दिये जाते हैं; इसलिये इस प्रकारकी संसारगतिसे जुगुप्सा——बीभत्सा अर्थात् घृणा करनी चाहिये कि इस प्रकारके घोर संसार-महासागरमें हमारा पतन न हो । उसी अर्थमें पञ्चाग्निविद्याकी स्तुतिके लिये यह मन्त्र है ॥ ८ ॥

पाँच पतित

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति ॥९॥

सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्रह्महत्यारा ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी ॥ ९ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता । सुरां पिबन्ब्राह्मणः सन् । गुरोश्च तल्पं दारानावसन् । ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता चेत्येते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्च तैः सहाचरन्निति ॥ ९ ॥

सुवर्णका चोर अर्थात् ब्राह्मणका सोना चुरानेवाला, ब्राह्मण होकर मदिरा पीनेवाला, गुरुके तल्प यानी पत्नीसे सहवास करनेवाला और ब्रह्महा—ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला——ये चार पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ आचरण (व्यवहार) करनेवाला ॥ ९ ॥

* * *

पञ्चाग्निविद्याका महत्त्व

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

किंतु जो इस प्रकार इन पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उनके साथ आचरण (संसर्ग) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता । वह शुद्ध पवित्र और पुण्यलोकका भागी होता है, जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है ॥ १० ॥

अथ ह पुनर्यो यथोक्तान्पञ्चाग्नीन्वेद, स तैरप्याचरन्महापातकिभिः सह न पाप्मना लिप्यते, शुद्ध एव । तेन पञ्चाग्निदर्शनेन पावितो यस्मात्पूतः, पुण्यो लोकः प्राजापत्यादिर्यस्य सोऽयं पुण्यलोको भवति; य एवं वेद यथोक्तं समस्तं पञ्चभिः प्रश्नैः पृष्टमर्थजातं वेद । द्विरुक्तिः समस्तप्रश्ननिर्णयप्रदर्शनार्था ॥ १० ॥

किंतु जो उपर्युक्त पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उन महापापियोंके साथ आचरण (व्यवहार) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता, शुद्ध ही रहता है; क्योंकि उस पञ्चाग्निविद्यासे वह पवित्र हो जाता है इसलिये पुण्यलोक--जिसे ब्रह्मलोक आदि पवित्र लोककी प्राप्ति होती है ऐसा पुण्यलोक हो जाता है; जो कि इस प्रकार जानता है अर्थात् पाँच प्रश्नोंद्वारा पूछे हुए उपर्युक्त समस्त विषयको जानता है । द्विरुक्ति समस्त प्रश्नोंका निर्णय प्रदर्शित करनेके लिये है ॥१०॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१०॥

एकादश खण्ड

दक्षिणेन पथा गच्छतामन्नभाव उक्तः—'तद्देवानामन्नम्' 'तं देवा भक्षयन्ति' इति; क्षुद्रजन्तुलक्षणा च कष्टा संसारगतिरुक्ता । तदुभयदोषपरिजिहीर्षया वैश्वानरात्तृभावप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते, 'अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्' इत्यादिलिङ्गात् । आख्यायिका तु सुखावबोधार्था विद्यासंप्रदानन्यायप्रदर्शनार्था च ।

'वह देवताओंका अन्न है' 'देवगण उसका भक्षण करते हैं'——ऐसा कहकर दक्षिणमार्गसे जानेवालोंके अन्नभावका प्रतिपादन किया गया तथा क्षुद्रजन्तुरूप संसारकी कष्टमयी गति भी बतलायी गयी । उन दोनों दोषोंको त्यागनेकी इच्छासे वैश्वानरसंज्ञक भोक्तृत्वकी प्राप्तिके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—जैसा कि 'तू अन्न भक्षण करता है, प्रियको देखता है' इत्यादि लिङ्गोंसे जाना जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है वह सरलतासे समझानेके लिये और विद्याप्रदानकी उचित विधि प्रदर्शित करनेके लिये है ।

औपमन्यव आदिका आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र

बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

प्राचीनशाल इति नामत उपमन्योरपत्यमौपमन्यवः । सत्ययज्ञो नामतः पुलुषस्यापत्यं पौलुषिः । तथेन्द्रद्युम्नो नामतो भल्लवेरपत्यं भाल्लविस्तस्यापत्यं भाल्लवेयः । जन इति नामतः शर्कराक्षस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः । बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विः । पञ्चापि ते हैते महाशाला महागृहस्था विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः संपन्ना इत्यर्थः । महाश्रोत्रियाः श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्ना इत्यर्थः । त एवंभूताः सन्तः समेत्य संभूय क्वचिन्मीमांसां विचारणां चक्रुः कृतवन्त इत्यर्थः ।

जो नामसे प्राचीनशाल था वह उपमन्युका पुत्र औपमन्यव, पुलुषका पुत्र पौलुषि जो नामसे सत्ययज्ञ था, भल्लविके पुत्रको भाल्लवि कहते हैं, उसका पुत्र भाल्लवेय जो नामसे इन्द्रद्युम्न था, जन ऐसे नामवाला शर्कराक्षका पुत्र शार्कराक्ष्य तथा बुडिल नामक अश्वतराश्वका पुत्र आश्वतराश्वि—ये पाँचों ही महाशाल—बड़े कुटुम्बी अर्थात् विस्तृत शालाओंसे युक्त, तथा महाश्रोत्रिय अर्थात् श्रुत यानी शास्त्राध्ययन और सदाचारसे सम्पन्न थे । इस प्रकारके वे सब किसी समय आपसमें मिलकर मीमांसा अर्थात् विचार करने लगे ।

कथम् ? को नोऽस्माकमात्मा ? किं ब्रह्म ? इत्यात्मब्रह्मशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वम् । ब्रह्मेत्यध्यात्मपरिच्छिन्नमात्मानं निवर्तयत्यात्मेति चात्मव्यतिरिक्तस्यादित्यादिब्रह्मण उपास्यत्वं निवर्तयति । अभेदेनात्मैव ब्रह्म

किस प्रकार विचार करने लगे ?——'हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या है ?' यहाँ 'आत्मा' और 'ब्रह्म' शब्दोंका परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है । 'ब्रह्म' इस शब्दसे श्रुति देह-परिच्छिन्न आत्माके ग्रहणका निवारण करती है तथा 'आत्मा' इस शब्दसे आत्मासे भिन्न आदित्यादि ब्रह्मके उपास्यत्वकी निवृत्ति करती है । अतः दोनोंका अभेद होनेके

ब्रह्मैवात्मेत्येवं सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति । "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५ । १२ । २) "अन्धोऽभविष्यः" (५ । १३ । २) इत्यादिलिङ्गात् ॥ १ ॥

कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है; अतः सर्वात्मा वैश्वानर ब्रह्म है और वही आत्मा है—यह सिद्ध होता है । यह बात [खण्ड १२ से १७ तक आये हुए] "तेरा मस्तक गिर जाता" "तू अन्धा हो जाता" इत्यादि लिङ्गोंसे जानी जाती है* ॥ १ ॥

* * *

औपमन्यवादिका उद्दालकके पास आना

ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

---

* आगे यह दिखलाया गया है कि आरुणिके सहित औपमन्यवादि पाँचों मुनि राजा अश्वपतिके पास गये और उससे वैश्वानर आत्माका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की । तब अश्वपतिने उनमेंसे प्रत्येकसे अलग-अलग यह प्रश्न किया कि तुम किसे वैश्वानर (विराट् पुरुष) समझकर उपासना करते हो ? इसपर औपमन्यवने कहा कि मैं द्युलोकको वैश्वानर समझता हूँ । तब अश्वपति बोला—'यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है । इसकी तुम समस्त वैश्वानर-बुद्धिसे उपासना करते हो, इसलिये यद्यपि तुम्हारे यज्ञ-यागादि-सम्बन्धी सामग्रीकी बहुलता है तथापि यदि मेरे पास न आते तो इस अन्यथाग्रहणके दोषसे तुम्हारा मस्तक गिर जाता ।' इसके पश्चात् उसने सत्ययज्ञसे पूछा तो वह बोला—'मैं आदित्यको वैश्वानर समझकर उपासना करता हूँ ।' इसपर अश्वपतिने कहा—'यह उसका केवल नेत्र है; इसकी समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके कारण यद्यपि तुम्हारे पास अनेक प्रकारकी सम्पत्ति दिखायी देती है तथापि यदि तुम मेरे पास न आते तो अन्धे हो जाते ।' इसी प्रकार अन्य मुनियोंसे भी पूछा गया और यह देखकर कि उनमेंसे प्रत्येक ही वैश्वानर आत्माके किसी-न-किसी अङ्गकी ही उपासना करता है उसने उनकी व्यस्तोपासनाके परिणाममें उनके उन्हीं-उन्हीं अङ्गोंके भंग होनेका भय दिखलाते हुए अन्तमें अठारहवें खण्डमें वैश्वानरके स्वरूपका उपदेश किया है । यहाँ दो श्रुतियोंके प्रतीक देकर यह दिखलाया है कि भेदोपासनामें श्रुति भय प्रदर्शित करती है; इसलिये उसे आत्मा और ब्रह्मका अभेद ही अभिमत है ।

उन पूजनीयोंने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है; अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आये ॥ २ ॥

ते ह मीमांसन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः संपादयाञ्चक्रुः संपादितवन्त आत्मन उपदेष्टारम्। उद्दालको वै प्रसिद्धो नामतो भगवन्तः पूजावन्तोऽयमारुणिररुणस्यापत्यं संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमस्मदभिप्रेतमध्येति स्मरति। तं हन्तेदानीमभ्यागच्छामेत्येवं निश्चित्य तं हाभ्याजग्मुर्गतवन्तस्तमारुणिम् २

विचार करनेपर भी कोई निश्चय न होनेपर उन पूजावानोंने सम्पादन किया---अपना उपदेशक स्थिर किया। [वे बोले--] 'इस समय उद्दालक नामसे प्रसिद्ध यह अरुणका पुत्र आरुणि इस हमारे अभिप्रेत वैश्वानर आत्माको 'अध्येति'—स्मरण रखता यानी जानता है। अच्छा तो, अब उसके पास चलें।' इस प्रकार निश्चयकर वे उस आरुणिके पास आये ॥ २ ॥

उद्दालकका औपमन्यवादिके सहित अश्वपतिके पास आना

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

उसने निश्चय किया कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे, किंतु मैं इन्हें पूरी तरहसे नहीं बतला सकूँगा, अतः मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ ॥ ३ ॥

स ह तान्दृष्ट्वैव तेषामागमनप्रयोजनं बुद्ध्वा संपादयाञ्चकार; कथम् ? प्रक्ष्यन्ति मां वैश्वानरमिमे महाशाला महा-

उन्हें देखते ही उसने उनके आनेका प्रयोजन समझकर [चित्तमें] स्थिर किया। किस प्रकार स्थिर किया ? ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय मुझसे वैश्वानरके विषयमें पूछेंगे।

श्रोत्रियास्तेभ्योऽहं न सर्वमिव पृष्टं प्रतिपत्स्ये वक्तुं नोत्सहे। अतो हन्ताहमिदानीमन्यमेषामभ्यनुशासानि वक्ष्याम्युपदेष्टारमिति ॥ ३ ॥

किंतु मैं इन्हें इनकी पूछी हुई बात पूरी तरह नहीं बतला सकूँगा। अतः मैं इस समय इन्हें एक दूसरे उपदेष्टाके लिये अनुशासन करता हूँ अर्थात् इन्हें दूसरा उपदेशक बतलाये देता हूँ ॥ ३ ॥

एवं संपाद्य—

ऐसा निश्चय कर—

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

उसने उनसे कहा—'हे पूजनीयगण ! इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानरसंज्ञक आत्माको अच्छी तरह जानता है । आइये, हम उसीके पास चलें ।' ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये ॥ ४ ॥

तान्होवाच—अश्वपतिर्वै नामतो भगवन्तोऽयं केकयस्यापत्यं कैकेयः संप्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमध्येतीत्यादि समानम् ॥ ४ ॥

उसने उनसे कहा—'हे भगवन् ! इस समय केकयका पुत्र अश्वपति नामवाला कैकेय इस वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह समझता है' इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

अश्वपतिद्वारा मुनियोंका स्वागत

तेभ्यो ह प्रातेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा

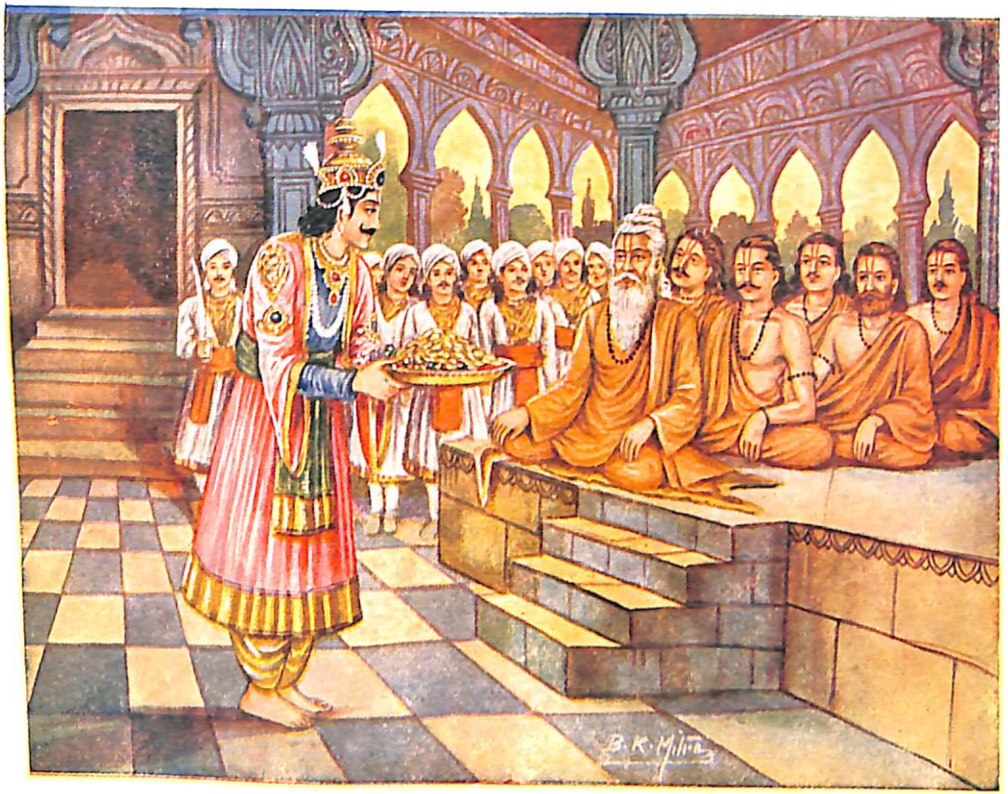

राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक

[पृष्ठ ५४०

ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने अलग-अलग सत्कार कराया । [दूसरे दिन] सबेरे उठते ही उसने कहा—'मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न परस्त्रीगामी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँसे ? हे पूज्यगण ! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ । मैं एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा उतना ही आपको भी दूँगा; अतः आपलोग यहीं ठहरिये' ॥५॥

तेभ्यो ह राजा प्राप्तेभ्यः पृथक्पृथगर्हाण्यर्हणानि पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारयाञ्चकार कारितवान् । स हान्येद्यू राजा प्रातः संजिहान उवाच विनयेनोपगम्यैतद्धनं मत्त उपादध्वमिति । तैः प्रत्याख्यातो मयि दोषं पश्यन्ति नूनं यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनमिति मन्वान आत्मनः सद्वृत्ततां प्रतिपिपादयिषन्नाह—न मे मम जनपदे स्तेनः परस्वहर्ता विद्यते । न कदर्योऽदाता सति विभवे । न मद्यपो द्विजोत्तमः सन् । नानाहिताग्निः शतगुः । नाविद्वानधि-

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने पुरोहित और सेवकोंसे अलग-अलग सत्कार कराया । दूसरे दिन राजाने प्रातःकाल उठते ही उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहा—आपलोग मुझसे यह धन ग्रहण कीजिये । तब उनके निषेध करनेपर यह सोचकर कि निश्चय ही ये मुझमें दोष देखते हैं, क्योंकि मुझसे धन नहीं लेते, अपने सदाचारका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उसने कहा—'मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदर्य—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई द्विजश्रेष्ठ मद्यपान करनेवाला है, न सौ गौओंवाला होकर अनाहिताग्नि है, न अपने अधिकारके अनुरूप कोई

कारानुरूपम् । न स्वैरी परदारेषु गन्ता । अत एव स्वैरिणी कुतो दुष्टचारिणी न संभवतीत्यर्थः ।

तैश्च न वयं धनेनार्थिन इत्युक्त आहाल्पं मत्वैते धनं न गृह्णन्तीति । यक्ष्यमाणो वै कतिभिरहोभिरहं हे भगवन्तोऽस्मि, तदर्थं क्लृप्तं धनं मया यावदेकैकस्मै यथोक्तमृत्विजे धनं दास्यामि तावत्प्रत्येकं भगवद्भ्योऽपि दास्यामि । वसन्तु भगवन्तः पश्यन्तु च मम यागम् ॥ ५ ॥

अविद्वान् है और न कोई स्वैरी—परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला है; अतः स्वैरिणी भी कैसे हो सकती है ? अर्थात् कोई दुराचारिणी स्त्री होनी भी सम्भव नहीं है ।'

फिर उनके यह कहनेपर कि 'हम धनके अर्थी नहीं हैं' यह समझकर कि ये लोग थोड़ा मानकर धन नहीं लेते उसने कहा—'हे पूज्यगण ! कुछ दिनमें मैं यज्ञानुष्ठान करनेवाला हूँ, उसके लिये मैंने धनका संकल्प कर दिया है । उस समय शास्त्राज्ञानुसार मैं जितना-जितना धन एक-एक ऋत्विक्को दूँगा उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको भी दूँगा । अतः आपलोग यहीं ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये' ॥ ५ ॥

अश्वपतिके प्रति मुनियोंकी प्रार्थना

इत्युक्ताः—

इस प्रकार कहे जानेपर—

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसंप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

वे बोले—'जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये कि अपने उसी प्रयोजनको कहे । इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये' ॥ ६ ॥

ते होचुः—येन हैवार्थेन प्रयोजनेन यं प्रति चरेद्गच्छेत्पुरुषस्तं हैवार्थं वदेत्, इदमेव प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः सताम् । वयं च वैश्वानरज्ञानार्थिनः । आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि सम्यग्जानासि । अतस्तमेव नोऽस्मभ्यं ब्रूहि ॥ ६ ॥

वे बोले——जिस अर्थ यानी प्रयोजनसे कोई पुरुष किसीके पास जाय उसे अपना वह प्रयोजन बतला देना चाहिये कि 'मेरे आनेका केवल यही प्रयोजन है ।' सत्पुरुषोंका ऐसा ही नियम है । हमलोग भी वैश्वानरको जाननेकी इच्छावाले हैं । इस समय आप इस वैश्वानर आत्माको अच्छी तरह जानते हैं; अतः हमारे प्रति उसीका वर्णन कीजिये ॥ ६ ॥

राजाके प्रति मुनियोंकी उपसत्ति

इत्युक्तः—

इस प्रकार कहे जानेपर——

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

वह उनसे बोला——'अच्छा, मैं प्रातःकाल आपलोगोंको इसका उत्तर दूँगा ।' तब दूसरे दिन वे पूर्वाह्णमें हाथमें समिधाएँ लेकर राजाके पास गये । उनका उपनयन न करके ही राजाने उस विद्याका उपदेश किया ॥ ७ ॥

तान्होवाच—प्रातर्वो युष्मभ्यं प्रतिवक्तास्मि प्रतिवाक्यं दातास्मीत्युक्तास्ते ह राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समित्पाणयः समिद्भारहस्ता अपरेद्युः पूर्वाह्णे राजानं प्रतिचक्रमिरे गतवन्तः ।

वह उनसे बोला——'मैं आप लोगोंको इसका उत्तर प्रातःकाल दूँगा ।' इस प्रकार कहे जानेपर राजाके अभिप्रायको जाननेवाले वे मुनिगण दूसरे दिन पूर्वाह्णमें समित्पाणि——हाथोंमें समिधाएँ लिये राजाके पास आये ।

यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः, तथान्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवितव्यम् । तेभ्यश्चादाद्विद्यामनुपनीयैवोपनयनमकृत्वैव । तान्यथा योग्येभ्यो विद्यामदात्तथान्येनापि विद्या दातव्येत्याख्यायिकार्थः । एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ ७ ॥

क्योंकि इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर हाथोंमें समिधाएँ ले विद्यार्थी बन अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे इसलिये विद्योपार्जनकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये । तब राजाने उनका उपनयन न करके ही उन्हें विद्या दे दी । अतः इस आख्यायिकाका यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार उन योग्य विद्यार्थियोंको राजाने विद्या दी थी उसी प्रकार दूसरोंको भी विद्यादान करना चाहिये । [मूलके 'एतत्' शब्दका] 'एतद् वैश्वानरविज्ञानम् उवाच' इस प्रकार आगे कहे जानेवाले वैश्वानरविज्ञानसे सम्बन्ध है ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

अश्वपति और औपमन्यवका संवाद

स कथमुवाच ? इत्याह—	उसने किस प्रकार उपदेश दिया ? सो बतलाते हैं—

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति । दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

[राजा—] 'हे उपमन्युकुमार ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' 'हे पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया । [राजा—] 'तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही, 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दिखायी देते हैं' ॥ १ ॥

औपमन्यव हे कमात्मानं वैश्वानरं त्वमुपास्स इति पप्रच्छ ।	'हे औपमन्यव ! तुम किस वैश्वानर आत्माकी उपासना करते हो ?' ऐसा राजाने पूछा ।
नन्वयमन्याय आचार्यः सञ्छिष्यं पृच्छतीति ।	*शङ्का*–किंतु आचार्य होकर भी शिष्यसे पूछता है—यह तो अनुचित है ।
नैष दोषः; 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि'	*समाधान*–यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'जो कुछ तू जानता है उसे बतलाकर तू मेरे प्रति उपसन्न हो; तब उससे आगे मैं

इति न्यायदर्शनात् । अन्यत्राप्याचार्यस्याप्रतिभानवति शिष्ये प्रतिभोत्पादनार्थः प्रश्नो दृष्टोऽजातशत्रोः, 'क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' इति ।

दिवमेव द्युलोकमेव वैश्वानरमुपासे भगवो राजन्निति होवाच । एष वै सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य सोऽयं सुतेजा इति प्रसिद्धो वैश्वानर आत्मा, आत्मनोऽवयवभूतत्वात् । यं त्वमात्मानमात्मैकदेशमुपास्से तस्मात्सुतेजसो वैश्वानरस्योपासनात्तव सुतमभिषुतं सोमरूपं कर्मणि प्रसुतं प्रकर्षेण च सुतमासुतं चाहर्गणादिषु तव

तुझे बतलाऊँगा' ऐसा न्याय देखा जाता है* । इसके सिवा अन्यत्र भी आचार्य अजातशत्रुका अपने प्रतिभाशून्य शिष्यमें प्रतिभा उत्पन्न करनेके लिये 'तो फिर यह कहाँ उत्पन्न हुआ, और कहाँसे आया ?' ऐसा प्रश्न करना देखा जाता है ।

'हे पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी ही अर्थात् द्युलोकरूप वैश्वानरकी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया । [तब राजाने कहा—] 'यह निश्चय ही 'सुतेजा'— जिसका तेज शोभन है ऐसा यह 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है । क्योंकि आत्माका अवयवभूत है; जिस आत्मा अर्थात् आत्माके एक देशकी तुम उपासना करते हो उसी सुतेजा वैश्वानरकी उपासना करनेसे यहाँ—तुम्हारे कुलमें अहर्गण (एकाहादिरूप ज्योतिष्टोम) आदिमें 'सुत'—अभिषुत (निकाला हुआ) सोमरूप लताद्रव्य, [अहीन] कर्ममें प्रसुत—विशेषरूपसे निकाला हुआ द्रव्य तथा [सत्रमें] 'आसुत'

---

* यह न्याय छा० ७ । १ । ७ में सनत्कुमारकी उक्तिसे जाना जाता है ।

कुले दृश्यतेऽतीव कर्मिणस्त्वत्कुलीना इत्यर्थः ॥ १ ॥

(सर्वतोभावेन निकाला हुआ) सोमरस अधिक देखा जाता है । तात्पर्य यह है कि तुम्हारे कुटुम्बी बड़े ही कर्मनिष्ठ हैं' ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है ।' ऐसा राजाने कहा, और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता' ॥ २ ॥

अत्स्यन्नं दीप्ताग्निः सन्पश्यसि च पुत्रपौत्रादि प्रियमिष्टम् । अन्योऽप्यत्त्यन्नं पश्यति च प्रियं भवत्यस्य सुतं प्रसुतमासुतमित्यादि कर्मित्वं ब्रह्मवर्चसं कुले यः कश्चिदेतं यथोक्तमेवं वैश्वानरमुपास्ते । मूर्धा त्वात्मनो वैश्वानरस्यैष न समस्तो वैश्वानरः ।

'तुम दीप्ताग्नि होकर अन्न भक्षण करते हो । तथा पुत्र-पौत्रादिरूप प्रिय—इष्टका दर्शन करते हो । और भी जो कोई इस उपर्युक्त वैश्वानरकी इस प्रकार उपासना करता है वह भी अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें सुत, प्रसुत एवं आसुत इत्यादि कर्मित्वरूप ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह वैश्वानर आत्माका मस्तक ही है, सम्पूर्ण वैश्वानर नहीं है; अतः इस-

अतः समस्तबुद्ध्या वैश्वानरस्योपासनान्मूर्धा शिरस्ते विपरीतग्राहिणो व्यपतिष्यद्विपतितमभविष्यत्, यद्यदि मां नागमिष्यो नागतोऽभविष्यः । साध्वकार्षीर्यन्मामागतोऽसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

की समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके कारण विपरीत ग्रहण करनेवाले तुम्हारा मस्तक गिर जाता, यदि तुम मेरे पास न आते अर्थात् मेरे पास आगमन न करते । तात्पर्य यह है कि तुम मेरे पास चले आये यह अच्छा ही किया' ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश खण्ड

अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

फिर उसने पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञसे कहा—'हे प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'हे पूज्य राजन् ! मैं आदित्यकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजाने कहा—] 'यह निश्चय ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो; इसीसे तुम्हारे कुलमें बहुत-सा विश्वरूप साधन दिखायी देता है' ॥ १ ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं हे प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्से ? इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच । शुक्लनीलादिरूपत्वाद्विश्वरूपत्वमादित्यस्य, सर्वरूपत्वाद्वा, सर्वाणि रूपाणि हि त्वाष्ट्राणि यतोऽतो वा विश्वरूप आदित्यः;

फिर उसने पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञसे कहा—'हे प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' तब उसने 'हे पूज्य राजन् ! मैं आदित्यकी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उत्तर दिया । शुक्लनीलादिरूप होनेके कारण आदित्यकी विश्वरूपता है, अथवा सर्वरूप होनेके कारण; या सारे रूप त्वष्टाके ही हैं, इसलिये आदित्य विश्वरूप है । उसकी

तदुपासनात्तव बहु विश्वरूपमिहामुत्रार्थमुपकरणं दृश्यते कुले ॥ १ ॥

उपासनाके कारण तुम्हारे कुलमें बहुत-सा विश्वरूप ऐहिक और पारलौकिक साधन दिखायी देता है ॥ १ ॥

* * *

किं च त्वामनु—

तथा तुम्हारे पीछे—

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और दासियोंके सहित हार प्रवृत्त है। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका नेत्र ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा—'यदि तुम मेरे पास न आते तो अंधे हो जाते' ॥ २ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीभ्यां युक्तो रथोऽश्वतरीरथो दासीनिष्को दासीभिर्युक्तो निष्को हारो दासीनिष्कः। अत्स्यन्नमित्यादि समानम्। चक्षुर्वैश्वानरस्य तु सविता। तस्य समस्तबुद्ध्योपासनादन्धोऽभविष्यश्चक्षुर्हीनोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति पूर्ववत् ॥ २ ॥

'अश्वतरीरथ—दो खच्चरियोंसे युक्त रथ और दासीनिष्क—दासियोंसे युक्त निष्क यानी हार प्रवृत्त है। 'अत्स्यन्नम्' इत्यादिका तात्पर्य पूर्ववत् है। किंतु सूर्य वैश्वानरका नेत्र ही है। उसकी समस्त बुद्धिसे उपासना करनेके कारण, यदि तुम मेरे पास न आते तो अंधे हो जाते'—ऐसा पूर्ववत् जानना चाहिये ॥ २ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्नसे कहा—'हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'हे पूज्य राजन् ! मैं वायुकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजाने कहा—] 'जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम्हारे प्रति पृथक्-पृथक् उपहार आते हैं और तुम्हारे पीछे पृथक्-पृथक् रथकी पङ्क्तियाँ चलती हैं' ॥ १ ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्से ? इत्यादि समानम् । पृथग्वर्त्मा [नाना वर्त्मानि यस्य वायोरावहोद्वहादिभिर्भेदैर्वर्तमानस्य सोऽयं पृथग्वर्त्मा वायुः । तस्मात्पृथग्वर्त्मात्मनो वैश्वानरस्योपासनात्पृ-

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्नसे कहा—'हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये । पृथग्वर्त्मा—आवह, उद्वह आदि भेदोंसे विद्यमान जिस वायुके अनेकों मार्ग हैं वह वायु पृथग्वर्त्मा है । 'अतः पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्माकी उपासना करनेके कारण तुम्हारे पास पृथक्

थङ्नानादिक्कास्त्वां बलयो वस्त्रान्नादिलक्षणा बलय आयन्त्यागच्छन्ति । पृथग्रथश्रेणयो रथपङ्क्तयोऽपि त्वामनुयन्ति ॥१॥

—नाना दिशाओंसे वस्त्र एवं अन्नादिरूप उपहार आते हैं; तथा पृथक्-पृथक् रथश्रेणियाँ—रथकी पङ्क्तियाँ भी तुम्हारे पीछे चलती हैं'१

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो कोई इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, यह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किंतु यह आत्माका प्राण ही है'—ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता' ॥२॥

अत्स्यन्नमित्यादि समानम् । प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्ते तत्रोदक्रमिष्यदुत्क्रान्तोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'अत्स्यन्नम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है । 'किंतु यह आत्माका प्राण ही है' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता अर्थात् उत्क्रान्त हो जाता' ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश खण्ड

अश्वपति और जनका संवाद

अथ होवाच जनꣳशार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

तदनन्तर राजाने जनसे कहा—'हे शार्कराक्ष्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'हे पूज्य राजन् ! मैं आकाशकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजा बोला—] 'यह निश्चय ही बहुलसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है जिसकी कि तुम उपासना करते हो । इसीसे तुम प्रजा और धनके कारण बहुल हो' ॥ १ ॥

अथ होवाच जनमित्यादि समानम् । एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरः । बहुलत्वमाकाशस्य सर्वगतत्वाद्बहुलगुणोपासनाच्च । त्वं बहुलोऽसि प्रजया च पुत्रपौत्रादिलक्षणया धनेन च हिरण्यादिना ॥ १ ॥

'फिर उसने जनसे कहा' इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है । यह निश्चय ही बहुलसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है । सर्वगत होनेके कारण तथा बहुलगुणरूपसे उपासित होनेके कारण आकाशका बहुलत्व (पूर्णत्व) है । इसीसे तुम पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा और सुवर्णादि धनसे बहुल (परिपूर्ण) हो ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-

मुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किंतु यह आत्माका संदेह (शरीरका मध्यभाग) ही है ।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा संदेह (शरीरका मध्यभाग) नष्ट हो जाता' ॥ २ ॥

संदेहस्त्वेष संदेहो मध्यमं शरीरं वैश्वानरस्य । दिहेरुपचयार्थत्वान्मांसरुधिरास्थ्यादिभिश्च बहुलं शरीरं तत्संदेहः, ते तव शरीरं व्यशीर्यच्छीर्णमभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

किंतु यह वैश्वानरका संदेह ही है । शरीरके मध्यभागको संदेह कहते हैं । क्योंकि 'दिह्' धातु उपचय (वृद्धि) अर्थवाला है और शरीर मांस, रुधिर एवं अस्थि आदिसे बहुल (उपचित) है इसलिये वह संदेह है, तुम्हारा वह संदेह अर्थात् शरीर नष्ट हो जाता, यदि तुम मेरे पास न आते ॥ २ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

षोडश खण्ड

अश्वपति और बुडिलका संवाद

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

फिर उसने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा—'हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'हे पूज्य राजन् ! मैं तो जलकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम रयिमान् (धनवान्) और पुष्टिमान् हो' ॥ १ ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विमित्यादि समानम् । एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो धनरूपः, अद्भ्योऽन्नं ततो धनमिति । तस्माद्रयिमान् धनवांस्त्वं पुष्टिमांश्च शरीरेण, पुष्टेश्चान्ननिमित्तत्वात् ॥ १ ॥

'तदनन्तर राजाने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा'—इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है । यह निश्चय ही धनरूप रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है; क्योंकि जलसे अन्न होता है और अन्नसे धन । इसीसे तुम रयिमान् यानी धनवान् हो तथा शरीरसे पुष्टिमान् हो, क्योंकि पुष्टि अन्नके कारण हुआ करती है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-

मुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो पुरुष इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किंतु यह आत्माका बस्ति ही है'––ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा बस्तिस्थान फट जाता' ॥ २ ॥

बस्तिस्त्वेष आत्मनो वैश्वानरस्य बस्तिर्मूत्रसंग्रहस्थानं बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्भिन्नोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'यह वैश्वानर आत्माका बस्ति है; बस्ति मूत्रसंग्रहके स्थानको कहते हैं । यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा बस्ति भिन्न—विदीर्ण हो जाता'—ऐसा राजाने कहा ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥

सप्तदश खण्ड

अश्वपति और उद्दालकका संवाद

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

तत्पश्चात् राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे कहा—'हे गौतम ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'हे पूज्य राजन् ! मैं तो पृथिवीकी ही उपासना करता हूँ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो यह निश्चय ही प्रतिष्ठासंज्ञक वैश्वानर आत्मा है। इसीसे तुम प्रजा और पशुओंके कारण प्रतिष्ठित हो' ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

'तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माके चरण ही हैं' ऐसा उसने कहा और यह भी कहा कि 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण शिथिल हो जाते' ॥ २ ॥

अथ होवाचोद्दालकमित्यादि समानम् । पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वै प्रतिष्ठा पादौ वैश्वानरस्य । पादौ ते व्यम्लास्येतां विम्लानावभविष्यतां श्लथीभूतौ यन्मां नागमिष्य इति ॥ १-२ ॥

'फिर उद्दालकसे कहा' इत्यादि] अर्थ पूर्ववत् है । [उद्दालकने कहा—] 'हे पूज्य राजन् ! मैं पृथिवीकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजा बोला—] 'यह निश्चय ही वैश्वानर आत्माकी प्रतिष्ठा यानी उसके चरण हैं । यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण विशेषरूपसे म्लान अर्थात् शिथिल हो जाते' ॥१-२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १७ ॥

अष्टादश खण्ड

अश्वपतिका उपदेश—वैश्वानरकी समस्तोपासनाका फल

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

राजाने उनसे कहा—'तुम ये सब लोग इस वैश्वानर आत्माको अलग-सा जानकर अन्न भक्षण करते हो। जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है' ॥ १ ॥

तान्यथोक्तवैश्वानरदर्शनवतो होवाच—एते यूयम्, वै खल्वित्यनर्थकौ, यूयं पृथगिवापृथक्सन्तमिममेकं वैश्वानरमात्मानं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ, परिच्छिन्नात्मबुद्ध्येत्येतत्—हस्तिदर्शन इव जात्यन्धाः।

यहाँ 'वै' और 'खलु' ये दो निपात अर्थशून्य हैं। उन उपर्युक्त वैश्वानर-दृष्टिवालोंसे राजाने कहा—ये तुमलोग अपनेसे अभिन्न होनेपर भी इस वैश्वानर आत्माको पृथक्-सा जानकर अन्न भक्षण करते हो। तात्पर्य यह है कि जन्मान्ध पुरुषोंके हस्तिदर्शनके समान*तुम परिच्छिन्न आत्मबुद्धिसे उसे जानते हो।

---

* अर्थात् जिस प्रकार कुछ जन्मान्ध, जिन्होंने हाथीको कभी नहीं देखा, उसके आकारका अनुमान करने लगें तो उनमेंसे जो पुरुष हाथीके सूँड, शिर, कान अथवा टाँग आदि जिस अवयवका स्पर्श करता है वह उसे ही हाथीका समग्र रूप समझने लगता है; उसी प्रकार तुम सबकी भी वैश्वानरके अवयवोंमें समग्र वैश्वानरबुद्धि हो रही है।

यस्त्वेतमेवं यथोक्तावयवैर्द्युमूर्धादिभिः पृथिवीपादान्तैर्विशिष्टमेकं प्रादेशमात्रम्, प्रादेशैर्द्युमूर्धादिभिः पृथिवीपादान्तैरध्यात्मं मीयते ज्ञायत इति प्रादेशमात्रम्। मुखादिषु वा करणेष्वत्तृत्वेन मीयत इति प्रादेशमात्रः। द्युलोकादिपृथिव्यन्तप्रदेशपरिमाणो वा प्रादेशमात्रः। प्रकर्षेण शास्त्रेणादिश्यन्त इति प्रादेशा द्युलोकादय एव तावत्परिमाणः प्रादेशमात्रः।

किंतु जो कोई द्युलोकरूप मस्तकसे लेकर पृथिवीरूप पादपर्यन्त इन पूर्वोक्त अवयवोंसे युक्त एक प्रादेशमात्र--- जो प्रत्यगात्मामें ही द्युमूर्धासे लेकर पृथिवीपादपर्यन्त प्रादेशोंद्वारा मित होता है अर्थात् जाना जाता है उस प्रादेशमात्र आत्माकी [उपासना करता है] । अथवा मुख आदि करणोंमें भोक्तारूपसे मित होता है इसलिये प्रादेशमात्र है। या द्युलोकसे लेकर पृथिवीपर्यन्त प्रदेश ही उसका परिमाण है इसलिये प्रादेशमात्र है। अथवा शास्त्रद्वारा प्रकर्षसे आदिष्ट होते हैं इसलिये द्युलोक आदि प्रादेश हैं उतने ही परिमाणवाला होनेसे प्रादेशमात्र है।

शाखान्तरे तु मूर्धादिश्चिबुकप्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं कल्पयन्ति, इह तु न तथाभिप्रेतः, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनः' इत्याद्युपसंहारात्।

अन्य शाखामें तो मूर्धासे लेकर चिबुकपर्यन्त प्रतिष्ठित है इसलिये उसे प्रादेशमात्र कल्पित करते हैं, किंतु यहाँ वह इस प्रकार अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि 'उस इस आत्माका [द्युलोक ही मूर्धा है]' इत्यादि [सार्वात्म्य-] रूपसे उपसंहार किया गया है।

प्रत्यगात्मतयाभिविमीयतेऽहमिति ज्ञायत इत्यभिविमानस्तमेत-

वह प्रत्यगात्मरूपसे अभिविमान किया जाता है अर्थात् 'मैं' इस प्रकार जाना जाता है; इसलिये अभिविमान है, उस इस वैश्वानर

मात्मानं वैश्वानरम्—विश्वान्नरान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिं सर्वात्मैष ईश्वरो वैश्वानरो विश्वो नर एव वा सर्वात्मत्वात्, विश्वैर्वा नरैः प्रत्यगात्मतया प्रविभज्य नीयत इति वैश्वानरस्तमेवमुपास्ते यः, सोऽदन्नन्नादी; सर्वेषु लोकेषु द्युलोकादिषु सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्वात्मसु शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु तेषु ह्यात्मकल्पनाव्यपदेशः प्राणिनाम्, अन्नमत्ति, वैश्वानरवित्सर्वात्मा सन्नन्नमत्ति, न यथाज्ञः पिण्डमात्राभिमानः सन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

आत्माकी—यह सर्वात्मा ईश्वर सम्पूर्ण नरोंको पुण्य-पापानुरूप गतिको ले जाता है इसलिये, अथवा सर्वात्मा होनेके कारण विश्व (सर्व) नरस्वरूप है इसलिये 'वैश्वानर' है, या समस्त नरोंद्वारा अपने प्रत्यगात्मरूपसे विभक्त करके ले जाया जाता है इसलिये 'वैश्वानर' है—उसकी जो इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता हुआ अन्नादी (अन्न खानेवाला) होता है, द्युलोकादि समस्त लोकोंमें, सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप समस्त आत्माओंमें——क्योंकि इन्हींमें प्राणियोंकी आत्मकल्पनाका निर्देश किया जाता है——अन्न भक्षग करता है । तात्पर्य यह है कि वैश्वानरवेत्ता सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता है, अज्ञानियोंके समान पिण्डमात्रमें अभिमान करके अन्न नहीं खाता।१।

वैश्वानरका साङ्गोपाङ्ग स्वरूप

कस्मादेवम् ? यस्मात्—

ऐसा क्यों है ? क्योंकि—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देहका मध्यभाग बहुल (आकाश) है, बस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण हैं, वक्ष:स्थल वेदी है, लोम दर्भ हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है और मुख आहवनीय है ॥ २ ॥

तस्य ह वै प्रकृतस्यैतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ । अथवा विध्यर्थमेतद्वचनमेवमुपास्य इति ।

अथेदानीं वैश्वानरविदो भोजनेऽग्निहोत्रं संपिपादयिषन्नाह—एतस्य वैश्वानरस्य भोक्तुरुर एव वेदिराकारसामान्यात् । लोमानि बर्हिर्वेद्यामिवोरसि लोमान्यास्तीर्णानि दृश्यन्ते । हृदयं गार्हपत्यो हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिवानन्तरीभवत्यतोऽन्वाहार्यपचनोऽग्निर्मनः । आस्यं मुखमाहवनीय इवाहवनीयो हूयतेऽस्मिन्नन्नमिति ॥ २ ॥

उस इस प्रकृत वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मारूप वायु है, शरीरका मध्यभाग बहुल है, बस्ति ही रयि है और पृथिवी ही चरण हैं। अथवा यह वाक्य विधिके लिये है; अर्थात् इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये।

अब इससे आगे वैश्वानरवेत्ताके भोजनमें अग्निहोत्रका निश्चय करनेकी इच्छासे राजा कहता है—इस वैश्वानर यानी भोक्ताका वक्ष:स्थल ही आकारमें समान होनेके कारण वेदी है, लोम कुशाएँ हैं क्योंकि वेदीमें बिछे हुए कुशोंके समान वे वक्ष:स्थलपर बिछे हुए दिखायी देते हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है क्योंकि मन हृदयसे ही उत्पन्न-सा होकर उसका अन्तर्वर्ती होता है, इसीलिये मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा आस्य—मुख आहवनीयाग्निके समान आहवनीय है क्योंकि इसमें अन्नका हवन होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
अष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१८॥

एकोनविंश खण्ड

भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये 'प्राणाय स्वाहा' इस पहली आहुतिका वर्णन

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

अतः जो अन्न पहले आवे उसका हवन करना चाहिये, उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे। इस प्रकार प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥

तत्तत्रैवं सति यद्भक्तं भोजनकाल आगच्छेद्भोजनार्थम्, तद्धोमीयं तद्धोतव्यम्, अग्निहोत्रसंपन्मात्रस्य विवक्षितत्वान्नाग्निहोत्राङ्गेतिकर्तव्यताप्राप्तिरिह; स भोक्ता यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां कथं जुहुयात्? इत्याह—प्राणाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेणाहुतिशब्दादवदानप्रमाणमन्नं प्रक्षिपेदित्यर्थः। तेन प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

अतः ऐसा होनेके कारण भोजनके समय जो भात (अन्न) आवे उससे हवन करना चाहिये। यहाँ अग्निहोत्रकी कल्पनामात्र विवक्षित है इसलिये अग्निहोत्रकी अङ्गभूत इतिकर्त्तव्यता (सहकारी साधनों) की प्राप्ति नहीं है। वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे किस प्रकार दे? सो श्रुति बतलाती है—'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्रसे, यहाँ 'आहुति' शब्द होनेके कारण अवदानप्रमाण (जितना कि आहुतिमें विहित है उतना) अन्न [मुखमें] डाले—ऐसा इसका तात्पर्य है। उससे प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किं च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, नेत्रेन्द्रियके तृप्त होनेपर सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेपर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोकके तृप्त होनेपर जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभावसे) अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है और उसकी तृप्ति होनेपर स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति, चक्षुरादित्यो द्यौश्चेत्यादि तृप्यति, यच्चान्यद्द्यौश्चादित्यश्च स्वामित्वेनाधितिष्ठतस्तच्च तृप्यति, तस्य तृप्तिमनु स्वयं भुञ्जानस्तृप्यत्येवं प्रत्यक्षम् । किञ्च प्रजादिभिश्च । तेजः शरीरस्था दीप्तिः, उज्ज्वलत्वं प्रागल्भ्यं वा; ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजः ॥ २ ॥

प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, इस प्रकार नेत्रेन्द्रिय, आदित्य, द्युलोक इत्यादि तृप्त होते हैं तथा और भी जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य स्वामिभावसे अधिष्ठित हैं वह सब तृप्त होता है । तथा उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं भोजन करनेवाला भी तृप्त होता है—यह तो प्रत्यक्ष ही है । यही नहीं, भोक्ता प्रजादिके द्वारा भी तृप्त होता है । शरीरस्थ दीप्ति, उज्ज्वलता अथवा प्रगल्भताका नाम 'तेज' है तथा सदाचार और स्वाध्यायके कारण होनेवाला तेज 'ब्रह्मतेज' है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
एकोनविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१९॥

विंश खण्ड

'व्यानाय स्वाहा' इस दूसरी आहुतिका वर्णन

अथ यां द्वितीयां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥ व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किं च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

तत्पश्चात् जो दूसरी आहुति दे उसे 'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये । इससे व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥ व्यानके तृप्त होनेपर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्रके तृप्त होनेपर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमाके तृप्त होनेपर दिशाएँ तृप्त होती हैं तथा दिशाओंके तृप्त होनेपर जिस किसीपर चन्द्रमा और दिशाएँ [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है । उसकी तृप्तिके पश्चात् वह भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
विंशखण्डः सम्पूर्णः ॥ २० ॥

एकविंश खण्ड

'अपानाय स्वाहा' इस तीसरी आहुतिका वर्णन

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥ अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किं च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

फिर जो तीसरी आहुति दे उसे 'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये; इससे अपान तृप्त होता है ॥ १ ॥ अपानके तृप्त होनेपर वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाक्के तृप्त होनेपर अग्नि तृप्त होता है, अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है तथा पृथिवीके तृप्त होनेपर जिस किसीपर पृथिवी और अग्नि [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, एवं उसकी तृप्तिके पश्चात् भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
एकविंशखण्डः सम्पूर्णः ॥२१॥

द्वाविंश खण्ड

'समानाय स्वाहा' इस चौथी आहुतिका वर्णन

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥ समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किं च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

तदनन्तर जो चौथी आहुति दे उसे 'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये, इससे समान तृप्त होता है ॥ १ ॥ समानके तृप्त होनेपर मन तृप्त होता है, मनके तृप्त होनेपर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्यके तृप्त होनेपर विद्युत् तृप्त होती है तथा विद्युत्के तृप्त होनेपर जिस किसीके ऊपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, एवं उसकी तृप्तिके अनन्तर भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
द्वाविंशखण्डः सम्पूर्णः ॥ २२ ॥

त्रयोविंश खण्ड

‘उदानाय स्वाहा’ इस पाँचवीं आहुतिका वर्णन

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥ उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किं च वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

फिर जो पाँचवीं आहुति दे उसे ‘उदानाय स्वाहा’ ऐसा कहकर देना चाहिये, इससे उदान तृप्त होता है ॥ १ ॥ उदानके तृप्त होनेपर त्वचा तृप्त होती है, त्वचाके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है, वायुके तृप्त होनेपर आकाश तृप्त होता है तथा आकाशके तृप्त होनेपर जिस किसीपर वायु और आकाश [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, और उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यां द्वितीयां तृतीयां चतुर्थीं पञ्चमीमिति समानम् ॥ ५ । २०—५ । २३ ॥

‘अथ यां द्वितीयां तृतीयां चतुर्थीं पञ्चमीम्’ इत्यादि श्रुतियोंका अर्थ समान है ॥ ५ । २०—५ । २३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२३॥

चतुर्विंश खण्ड

अविद्वान्के हवनका स्वरूप

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ॥ १ ॥

वह जो कि इस वैश्वानरविद्याको न जानकर हवन करता है उसका वह हवन ऐसा है, जैसे अङ्गारोंको हटाकर भस्ममें हवन करे ॥ १ ॥

स यः कश्चिदिदं वैश्वानरदर्शनं यथोक्तमविद्वान्सन्नग्निहोत्रं प्रसिद्धं जुहोति, यथाङ्गारानाहुतियोग्यानपोह्यानाहुतिस्थाने भस्मनि जुहुयात्, तादृक् तत्तुल्यं तस्य तदग्निहोत्रहवनं स्याद्वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रमपेक्ष्येति प्रसिद्धाग्निहोत्रनिन्दया वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रं स्तूयते ॥ १ ॥

वह, जो कोई कि इस उपर्युक्त वैश्वानर-विद्याको न जाननेवाला होकर ही लोकप्रसिद्ध अग्निहोत्र करता है उसका वह हवन वैश्वानरोपासकके अग्निहोत्रकी अपेक्षा ऐसा है अर्थात् इसके सदृश है जैसे कि आहुतियोग्य अङ्गारोंको हटाकर कोई आहुति न देनेयोग्य स्थान—भस्ममें आहुति दे । इस प्रकार प्रसिद्ध अग्निहोत्रकी निन्दाद्वारा वैश्वानरोपासकके अग्निहोत्रकी स्तुति की जाती है ॥ १ ॥

विद्वान्के हवनका फल

अतश्चैतद्विशिष्टमग्निहोत्रम् । कथम् ?

इसलिये भी यह विशिष्ट अग्निहोत्र है; किसलिये——

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

क्योंकि जो इस (वैश्वानर) को इस प्रकार जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता है उसका समस्त लोक, सारे भूत और सम्पूर्ण आत्माओंमें हवन हो जाता है ॥ २ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य यथोक्तवैश्वानरविज्ञानवतः सर्वेषु लोकेष्वित्याद्युक्तार्थम् । हुतमन्नमत्तीत्यनयोरेकार्थत्वात् ॥ २ ॥

क्योंकि जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता है उस उपर्युक्त वैश्वानर विद्यावान्‌का 'सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि शब्दोंका अर्थ पहले (छा० ५ । १८ । १के भाष्यमें) कहा जा चुका है, क्योंकि यहाँके 'हुतम्' और वहाँके 'अन्नम् अत्ति' इन दोनों पदोंका एक ही अर्थ है ॥ २ ॥

* * *

किं च—

तथा—

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें घुसा देनेसे तत्काल जल जाता है उसी प्रकार जो इस प्रकार जाननेवाला होकर अग्निहोत्र करता है उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं ॥ ३ ॥

तद्यथेषीकायास्तूलमग्रमग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूयेत प्रदह्येत

इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार सींकका तूल—अग्रभाग अग्नि-

क्षिप्रमेवं हास्य विदुषः सर्वात्मभूतस्य सर्वान्नानामत्तुः सर्वे निरवशिष्टाः पाप्मानो धर्माधर्माख्या अनेकजन्मसञ्चिता इह च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेर्ज्ञानसहभाविनश्च प्रदूयन्ते प्रदह्येरन्वर्तमानशरीरारम्भकपाप्मवर्जम्; लक्ष्यं प्रति मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तस्य न दाहः । य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति भुङ्क्ते ॥ ३ ॥

में डालनेपर तुरंत ही जल जाता है उसी प्रकार सबके अन्तरात्मभूत और समस्त अन्नोंके भोक्ता इस विद्वान्के अनेकों जन्मोंमें संचित हुए तथा इस जन्ममें ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व और ज्ञानके साथ-साथ होनेवाले धर्माधर्मसंज्ञक समस्त—निःशेष पाप दग्ध हो जाते हैं; केवल वर्तमान शरीरका आरम्भ करनेवाले पाप रह जाते हैं, क्योंकि लक्ष्यके प्रति छोड़े हुए बाणके समान फल देनेमें प्रवृत्त हो जानेके कारण उनका दाह नहीं हो सकता । जो इस (वैश्वानरदर्शन) को इस प्रकार जाननेवाला होकर हवन करता यानी भोजन करता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है] ॥ ३ ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ४

अतः वह इस प्रकार जाननेवाला यदि चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे तो भी उसका वह अन्न वैश्वानर आत्मामें ही हुत होगा । इस विषयमें यह मन्त्र है ॥ ४ ॥

स यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टानर्हायोच्छिष्टं प्रयच्छेदुच्छिष्टं दद्यात्प्रतिषिद्धमुच्छिष्टदानं यद्यपि

वह यद्यपि उच्छिष्टदानके अयोग्य चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे अर्थात् प्रतिषिद्ध उच्छिष्टदान भी

कुर्यादात्मनि हैवास्य चण्डालदेहस्थे वैश्वानरे तद्धुतं स्यान्नाधर्मनिमित्तमिति विद्यामेव स्तौति । तदेतस्मिन्स्तुत्यर्थे श्लोको मन्त्रोऽप्येष भवति ॥ ४ ॥

करे तो भी वह चाण्डालके देहमें स्थित वैश्वानर आत्मामें ही हुत होगा, अधर्मका हेतु नहीं होगा—ऐसा कहकर श्रुति विद्याकी ही स्तुति करती है । उस इस स्तुतिके विषयमें यह श्लोक यानी मन्त्र भी है ॥४॥

* * *

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी इस ज्ञानीके भोजनरूप अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं, अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं ॥ ५ ॥

यथेह लोके क्षुधिता बुभुक्षिता बाला मातरं पर्युपासते कदा नो मातान्नं प्रयच्छतीति, एवं सर्वाणि भूतान्यन्नादान्येवंविदोऽग्निहोत्रं भोजनमुपासते कदा न्वसौ भोक्ष्यत इति; जगत्सर्वं विद्वद्भोजनेन तृप्तं भवतीत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥५॥

जिस प्रकार इस लोकमें क्षुधित—भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना (प्रतीक्षा) करते हैं कि माता हमें कब अन्न देगी ? उसी प्रकार अन्न भक्षण करनेवाले समस्त प्राणी इस प्रकार जाननेवालेके अग्निहोत्र अर्थात् भोजनकी उपासना करते हैं कि यह कब भोजन करेगा, क्योंकि विद्वान्‌के भोजन करनेसे सारा जगत् तृप्त होता है—यह इसका तात्पर्य है । यहाँ जो द्विरुक्ति है वह अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमाध्याये
चतुर्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२४॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उपदेश

पूर्वतः संबन्ध-प्रदर्शनम्

श्वेतकेतुर्हारुणेय आसेत्याद्यध्यायसंबन्धः—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इत्युक्तम्, कथं तस्माज्जगदिदं जायते तस्मिन्नेव च लीयतेऽनिति च तेनैवेत्येतद्वक्तव्यम्। अनन्तरं चैकस्मिन्भुक्ते विदुषि सर्वं जगत्तृप्तं भवतीत्युक्तम्, तदेकत्वे सत्यात्मनः सर्वभूतस्थस्य उपपद्यते नात्मभेदे। कथं च तदेकत्वमिति तदर्थोऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते। पितापुत्राख्यायिका विद्यायाः सारिष्ठत्वप्रदर्शनार्था।

'श्वेतकेतुर्हारुणेय आस' इत्यादि मन्त्रसे आरम्भ होनेवाले अध्यायका सम्बन्ध इस प्रकार है—ऊपर यह कहा जा चुका है कि 'यह सब निश्चय ब्रह्म ही है तथा उसीसे उत्पन्न हुआ है, उसीमें लीन होनेवाला है और उसीमें चेष्टा कर रहा है'। अब यह बतलाना है कि यह जगत् किस प्रकार उससे उत्पन्न होता है, कैसे उसीमें लीन होता है और किस तरह उसीके द्वारा चेष्टा कर रहा है? अभी-अभी यह बतलाया गया है कि एक विद्वान्के भोजन करनेपर सारा संसार तृप्त हो जाता है। ऐसा सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित आत्माका एकत्व होनेपर ही हो सकता है, आत्माका भेद होनेपर नहीं हो सकता। उसका एकत्व किस प्रकार है? इसीके लिये यह छठा अध्याय आरम्भ किया जाता है। यहाँ जो पिता और पुत्रकी आख्यायिका है वह इस विद्याका सारतमत्व प्रदर्शित करनेके लिये है।

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था; उससे पिताने कहा--'हे श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्यवास कर; क्योंकि हे सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं होता' ॥ १ ॥

श्वेतकेतुरिति नामतो हेत्यैतिह्यार्थः । आरुणेयोऽरुणस्य पौत्र आस बभूव । तं पुत्रं हारुणिः पिता योग्यं विद्याभाजनं मन्वानस्तस्योपनयनकालात्ययं च पश्यन्नुवाच—हे श्वेतकेतोऽनुरूपं गुरुं कुलस्य नो गत्वा वस ब्रह्मचर्यम् । न चैतद्युक्तं यदस्मत्कुलीनो हे सोम्याननूच्यानधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्मणान् बन्धून्व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति ॥ १ ॥

'श्वेतकेतु' ऐसे नामवाला, 'ह' यह निपात ऐतिह्यका द्योतक है, आरुणेय—अरुणका पौत्र था । उस पुत्रसे पिता आरुणिने, उसे योग्य—विद्याका पात्र जानकर और उसके उपनयनसंस्कारके समयका अतिक्रम होता देखकर, कहा—'हे श्वेतकेतो ! तू हमारे कुलके अनुरूप गुरुके पास जाकर ब्रह्मचर्यवास कर । हे सोम्य ! यह उचित नहीं है कि हमारे कुलमें उत्पन्न होकर कोई अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा हो जाय ।' जो ब्राह्मणोंको अपना बन्धु बतलाता है किंतु स्वयं ब्राह्मणोंका आचरण नहीं करता उसे ब्रह्मबन्धु कहते हैं ॥ १ ॥

तस्मात्‌ः प्रवासोऽनुमीयते पितुः। येन स्वयं गुणवान्सन्पुत्रं नोपनेष्यति।

इस प्रसंगसे ऐसा अनुमान होता है कि उसका पिता घरसे बाहर जानेवाला है, इसीसे गुणवान् होनेपर भी वह स्वयं पुत्रका उपनयन नहीं करेगा।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तंह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥ २॥

वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें उपनयन कराकर चौबीस वर्षका होनेपर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्या करनेवाला मानते हुए उद्दण्डभावसे घर लौटा। उससे पिताने कहा—'हे सोम्य! तू जो ऐसा महामना, पण्डितम्मन्य और अविनीत है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है?'॥ २॥

स पित्रोक्तः श्वेतकेतुर्ह द्वादशवर्षः सन्नुपेत्याचार्यं यावच्चतुर्विंशतिवर्षो बभूव, तावत्सर्वान्वेदांश्चतुरोऽप्यधीत्य तदर्थं च बुद्‌ध्वा महामना महद्गम्भीरं मनो यस्यासमसात्मानमन्यैर्मन्यमानं मनो यस्य सोऽयं महामना अनूचानमान्यनूचानमात्मानं मन्यत इत्येवंशीलो यः सोऽनूचानमानी स्तब्धोऽप्रणतस्वभाव एयाय गृहम्।

पिताके कहनेपर वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके समीप जाकर जबतक कि चौबीस वर्षका हुआ तबतक सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर और उनका अर्थ समझकर महामना—जिसका मन महान् अर्थात् गम्भीर हो यानी जिसका मन अपनेको दूसरोंके समान न समझनेवाला हो उसे महामना कहते हैं, अनूचानमानी—अपनेको बड़ा प्रवक्ता माननेवाला अर्थात् जो ऐसे स्वभाववाला हो उसे अनूचानमानी कहते हैं, और स्तब्ध—अविनीतस्वभाव होकर घर लौटा।

तमेवंभूतं ह्यात्मनोऽननुरूपशीलं स्तब्धं मानिनं पुत्रं दृष्ट्वा पितोवाच सद्धर्मावतारचिकीर्षया । श्वेतकेतो यन्न्विदं महामना अनूचानमानी स्तब्धश्चासि कस्तेऽतिशयः प्राप्त उपाध्यायात् ? उतापि तमादेशमादिश्यत इत्यादेशः केवलशास्त्राचार्योपदेशगम्यमित्येतत्, येन वा परं ब्रह्मादिश्यते स आदेशस्तमप्राक्ष्यः पृष्टवानस्याचार्यम् ॥ २ ॥

उस अपने पुत्रको इस प्रकारका अर्थात् अपनेसे विपरीत स्वभाववाला, उद्दण्ड और अभिमानी हुआ देखकर उसमें सद्धर्मकी प्रवृत्ति करनेकी इच्छासे पिताने कहा—'हे श्वेतकेतो ! तू जो ऐसा महामना, अनूचानमानी और स्तब्ध हो रहा है सो तुझे अपने उपाध्यायसे ऐसी क्या विशेषता प्राप्त हो गयी है ? क्या तूने वह आदेश पूछा है—जिसका उपदेश किया जाता है उसे आदेश कहते हैं; इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म केवल शास्त्र और गुरुके उपदेशसे ही ज्ञेय है । अथवा जिसके द्वारा परब्रह्मका उपदेश किया जाय उसे आदेश कहते हैं—सो क्या तूने वह आचार्यसे पूछा है—॥ २ ॥

तमादेशं विशिनष्टि—

उस आदेशके लिये श्रुति विशेषण देती है—

येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

'जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है ।' [यह सुनकर श्वेतकेतुने पूछा—] 'भगवन् ! वह आदेश कैसा है ?' ॥ ३ ॥

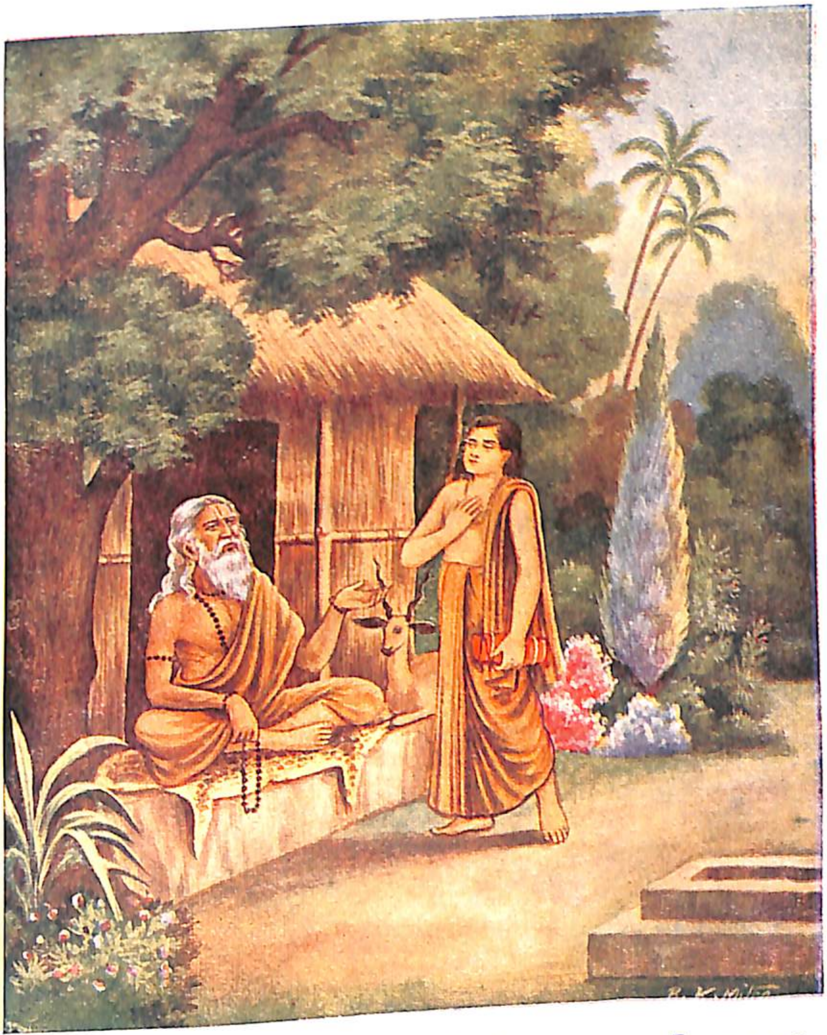

आरुणि और श्वेतकेतु [पृष्ठ ५७६

येनादेशेन श्रुतेनाश्रुतमप्यन्यच्छ्रुतं भवत्यमतं मतमतर्कितं तर्कितं भवत्यविज्ञातं विज्ञातमनिश्चितं निश्चितं भवतीति । सर्वानपि वेदानधीत्य सर्वं चान्यद्वेद्यमधिगम्याप्यकृतार्थ एव भवति यावदात्मतत्त्वं न जानातीत्याख्यायिकातोऽवगम्यते । तदेतदद्भुतं श्रुत्वाह कथं न्वेतदप्रसिद्धमन्यविज्ञानेनान्यद्विज्ञातं भवतीत्येवं मन्वानः पृच्छति कथं नु केन प्रकारेण हे भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

'जिस आदेशके द्वारा अन्य बिना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, अमत अर्थात् बिना विचार किया हुआ मत—विचारा हुआ हो जाता है और अविज्ञात—अनिश्चित विज्ञात—निश्चित हो जाता है ।' इस आख्यायिकासे यह जाना जाता है कि समस्त वेदोंका अध्ययन और अन्य सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेपर भी जबतक पुरुष आत्मतत्त्वको नहीं जानता, तबतक अकृतार्थ ही रहता है । इस विचित्र प्रश्नको सुनकर श्वेतकेतुने, यह सोचते हुए कि यह अप्रसिद्ध बात कैसे हो सकती है कि अन्य वस्तुके ज्ञानसे अन्य समस्त पदार्थोंका भी ज्ञान हो जाय, कहा—'हे भगवन् ! वह आदेश कैसा—किस प्रकारका है ?' ॥ ३ ॥

यथा स आदेशो भवति तच्छृणु—

पिता—वह आदेश जिस प्रकार है सो सुन—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है ॥ ४ ॥

हे सोम्य यथा लोक एकेन मृत्पिण्डेन करककुम्भादिकारणभूतेन विज्ञातेन सर्वमन्यत्तद्विकारजातं मृन्मयं मृद्विकारजातं विज्ञातं स्यात् ।

कथं मृत्पिण्डे कारणे विज्ञाते कार्यमन्यद्विज्ञातं स्यात् ?

नैष दोषः; कारणेनानन्यत्वात्कार्यस्य । यन्मन्यसेऽन्यस्मिन्विज्ञातेऽन्यन्न ज्ञायत इति, सत्यमेवं स्यात्, यद्यन्यत्कारणात्कार्यं स्यान्न त्वेवमन्यत्कारणात्कार्यम् ।

कथं तर्हीदं लोक इदं कारणमयमस्य विकार इति ?

शृणु; वाचारम्भणं वागा-

हे सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार कमण्डलु और घट आदिके कारणभूत एक मृत्पिण्डके जान लिये जानेपर ही उसका विकारजात सम्पूर्ण मृन्मय अर्थात् मृत्तिकाका कार्यसमूह जान लिया जाता है ।

शङ्का—मृत्तिकाके पिण्डरूप कारणका ज्ञान होनेपर अन्य कार्यवर्गका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य अपने कारणसे अभिन्न होता है । तुम जो ऐसा मानते हो कि अन्यका ज्ञान होनेपर अन्य नहीं जाना जा सकता, सो यह बात उस समय तो ठीक होती जब कि कारणसे कार्य भिन्न होता, किंतु इस प्रकार कार्य अपने कारणसे भिन्न है नहीं ।

शङ्का—तो फिर लोकमें ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह कारण है और यह इसका विकार है ?

समाधान—सुनो, यह वाचारम्भण—वागारम्भण अर्थात् वाणी-

रम्भणं वागालम्बनमित्येतत् । कोऽसौ ? विकारो नामधेयं स्वार्थे धेयप्रत्ययः । वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति ॥४॥

पर ही अवलम्बित है । कौन ? नामधेय विकार—'नामधेय' पदमें नाम शब्दसे स्वार्थमें 'धेय' प्रत्यय हुआ है । वस्तुतः विकार नामकी कोई वस्तु नहीं है, यह तो केवल वाणीपर अवलम्बित नाममात्र ही है । सत्य वस्तु तो एकमात्र मृत्तिका ही है ॥४॥

* * *

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणिका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सुवर्णपिण्डेन सर्वमन्यद्विकारजातं कटकमुकुटकेयूरादि विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणमित्यादि समानम् ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणि—सुवर्णपिण्डके द्वारा अन्य कटक, मुकुट एवं केयूरादि सारा विकारजात जान लिया जाता है । 'वाचारम्भणम्' इत्यादि शब्दोंका अर्थ पूर्ववत् है ॥ ५ ॥

* * *

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳसोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

'हे सोम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तन (नहन्ना) के ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश भी है' ॥ ६ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेनोपलक्षितेन कृष्णायसपिण्डेनेत्यर्थः, सर्वं कार्ष्णायसं कृष्णायसविकारजातं विज्ञातं स्यात्; समानमन्यत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं दार्ष्टान्तिकानेकभेदानुगमार्थं दृढप्रतीत्यर्थं च, एवं सोम्य स आदेशो यो मयोक्तो भवति ॥ ६ ॥

'हे सोम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तनसे अर्थात् उससे उपलक्षित लोहपिण्डसे सम्पूर्ण कार्ष्णायस--लोहेका विकारसमूह जान लिया जाता है । शेष सब पूर्ववत् है । यहाँ जो अनेक दृष्टान्त लिये गये हैं वे दार्ष्टान्तके अनेक भेदोंका बोध और दृढ़ प्रतीति करानेके लिये हैं—हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है जो कि मैंने कहा है' ॥ ६ ॥

इत्युक्तवति पितर्याहेतरः—

पिताके इस प्रकार कहनेपर दूसरा (श्वेतकेतु) बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे । यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते । अब आप ही मुझे वह बतलाइये ।' तब पिताने कहा—'अच्छा, सोम्य ! बतलाता हूँ' ॥ ७ ॥

न वै नूनं भगवन्तः पूजावन्तो गुरवो मम ये त एतद्यद्भवदुक्तं वस्तु नावेदिषुर्न विज्ञातवन्तो नूनम्। यद्यदि ह्यवेदिष्यन्विदितवन्त एतद्वस्तु कथं मे गुणवते भक्तायानुगताय नावक्ष्यन्नोक्तवन्तस्तेनाहं मन्ये न विदितवन्त इति। अवाच्यमपि गुरोर्न्यग्भावमवादीत्पुनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयात्। अतो भगवांस्त्वेव मे मह्यं तद्वस्तु येन सर्वज्ञत्वं ज्ञातेन मे स्यात्तद्ब्रवीतु कथयत्वित्युक्तः पितोवाच तथास्तु सोम्येति ॥ ७ ॥

निश्चय ही, मेरे जो पूज्य गुरुदेव थे, वे आपकी कही हुई इस बातको नहीं जानते थे। यदि वे जानते अर्थात् उन्हें इस बातका पता होता तो मुझ गुणवान् भक्त एवं अपने अनुगत शिष्यके प्रति क्यों न कहते। इससे मैं समझता हूँ उन्हें इसका पता नहीं था। कहने योग्य न होनेपर भी उसने फिर गुरुकुलको भेजे जानेके भयसे गुरुका लघुत्व कह डाला। अतः अब आप ही मेरे प्रति उस वस्तुका वर्णन कीजिये जिसका ज्ञान होनेपर मुझे सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाय। इस प्रकार कहे जानेपर पिताने कहा—'सोम्य! अच्छा, ऐसा ही हो' ॥७॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

अन्य पक्षके खण्डनपूर्वक जगत्की सद्रूपताका समर्थन

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥ १ ॥

हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था । उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा है कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था । उस असत्से सत्की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

सदेव सदित्यस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतमेकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानं यदवगम्यते सर्ववेदान्तेभ्यः । एवशब्दोऽवधारणार्थः । किं तदवध्रियत इत्याह—इदं जगन्नामरूपक्रियावद्विकृतमुपलभ्यते यत्तत्सदेवासीदित्यासीच्छब्देन संबध्यते ।

कदा सदेवेदमासीदित्युच्यते?

'सदेव'—'सत्' यह अस्तित्वमात्र वस्तुका बोधक है, जो कि सम्पूर्ण वेदान्तोंसे सूक्ष्म, निर्विशेष, सर्वगत, एक, निरञ्जन, निरवयव और विज्ञानस्वरूप जानी जाती है । 'एव' शब्द निश्चयार्थक है । इससे किस वस्तुका निश्चय किया जाता है—यह [आरुणि] बतलाता है—यह जो नामरूप एवं क्रियावान् विकारी जगत् दिखायी देता है 'सत्' ही था—इस प्रकार 'आसीत्' (था) शब्दसे 'सत्' शब्दका सम्बन्ध है ।

शङ्का—यह किस समय सत् ही था—ऐसा कहा जाता है ?

अग्रे जगतः प्रागुत्पत्तेः ।

किं नेदानीमिदं सद्येनाग्र आसीदिति विशेष्यते ?

न ।

कथं तर्हि विशेषणम् ?

जगतः सदैव सन्मात्रत्वे सहेतु-दृष्टान्तप्रदर्शनम्

इदानीमपीदं सदेव किं तु नामरूपविशेषणवदिदंशब्दबुद्धिविषयं चेतीदं च भवति । प्रागुत्पत्तेस्त्वग्रे केवलसच्छब्दबुद्धिमात्रगम्यमेवेति सदेवेदमग्र आसीदित्यवधार्यते । न हि प्रागुत्पत्तेर्नामवद्रूपवद्वेदमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्तकाल इव । यथा सुषुप्तादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छति सुषुप्ते सन्मात्रमेव केवलं वस्त्विति तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः ।

समाधान—आगे अर्थात् जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्व ।

शङ्का—तो क्या इस समय यह सत् नहीं है जो 'आरम्भमें था' इस प्रकार विशेषण दिया गया है ?

समाधान—नहीं, ऐसी बात नहीं है।

शङ्का—तो फिर यह विशेषण क्यों दिया गया है ?

समाधान—इस समय भी यह सत् ही है; किंतु नामरूप विशेषणयुक्त तथा इदं शब्द और इदं बुद्धिका विषय होनेके कारण 'इदम्' (यह) इस प्रकार भी निर्देश किया जाता है । किंतु उत्पत्तिके पूर्व आरम्भमें केवल सत्शब्द और सद्बुद्धिका ही विषय होनेके कारण 'यह पहले सत् ही था' इस प्रकार निश्चय किया जाता है । सुषुप्तकालके समान उत्पत्तिसे पूर्व यह नामयुक्त अथवा रूपयुक्त है इस प्रकार वस्तुका ग्रहण नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार सोनेसे उठा हुआ पुरुष वस्तुकी सत्तामात्रका अनुभव करता है अर्थात् केवल इतना जानता है कि सुषुप्तिमें केवल सन्मात्र वस्तु थी, उसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व जगत् था—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

यथेदमुच्यते लोके पूर्वाह्णे घटादि सिसृक्षुणा कुलालेन मृत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागतोऽपराह्णे तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेदभिन्नं कार्यमुपलभ्य मृदेवेदं घटशरावादि केवलं पूर्वाह्ण आसीदिति तथेहाप्युच्यते सदेवेदमग्र आसीदिति । एकमेवेति, स्वकार्यपतितमन्यन्नास्तीत्येकमेवेत्युच्यते । अद्वितीयमिति, मृद्व्यतिरेकेण; मृदो यथान्यद्घटाद्याकारेण परिणमयितृकुलालादिनिमित्तकारणं दृष्टं तथा सद्व्यतिरेकेण सतः सहकारिकारणं द्वितीयं वस्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यतेऽद्वितीयमिति, नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यत इत्यद्वितीयम् ।

जिस प्रकार लोकमें घटादि बनानेकी इच्छावाले कुम्हारद्वारा पूर्वाह्णमें मृत्तिकाके पिण्डको फैलाया हुआ देखकर कोई पुरुष किसी अन्य ग्राममें जाकर मध्याह्नोत्तरकालमें लौटनेपर उसी स्थानमें घट-शराव आदि अनेकों भेदोंवाले मृत्तिकाके कार्यको देखकर यह कहता है कि पूर्वाह्णमें ये घट-शरावादि केवल मृत्तिका ही थे उसी प्रकार यहाँ भी 'यह आरम्भमें केवल सत् ही था' ऐसा कहा जाता है । यह एक ही था; अर्थात् अपने कार्यवर्गमें पतित कोई दूसरा नहीं था, इसलिये 'एक ही था' ऐसा कहा जाता है । और अद्वितीय था; मृत्तिकासे अतिरिक्त [दूसरी वस्तु नहीं थी] जिस प्रकार मृत्तिकाको घटादि आकारमें परिणत करनेवाला कुलाल आदि निमित्तकारण देखा जाता है उसी प्रकार सत्से भिन्न सत्का सहकारी कारणरूप कोई अन्य पदार्थ प्राप्त होता है, उसका 'अद्वितीय था' ऐसा कहकर प्रतिषेध किया जाता है । अर्थात् इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं थी, इसलिये यह अद्वितीय था ।

ननु वैशेषिकपक्षेऽपि सत्सामानाधिकरण्यं सर्वस्योपपद्यते, द्रव्यगुणादिषु सच्छब्दबुद्ध्यनुवृत्तेः; सद्द्रव्यं सन्गुणः सत्कर्मेत्यादिदर्शनात् ।

शङ्का—किंतु सत्के साथ सबका सामानाधिकरण्य तो वैशेषिक मतमें भी सम्भव है; क्योंकि द्रव्य एवं गुण आदिमें सत्-शब्द और सद्-बुद्धिकी अनुवृत्ति होती है; जैसा कि 'सद् द्रव्यम्' 'सन् गुणः' एवं 'सत् कर्म' इत्यादि प्रयोगोंमें देखा जाता है ।

वैशेषिककल्पितात् सतोऽत्र भेदप्रदर्शनम्

सत्यमेवं स्यादिदानीम्, प्रागुत्पत्तेस्तु नैवेदं कार्यं सदेवासीदित्यभ्युपगम्यते वैशेषिकैः; प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वाभ्युपगमात् । न चैकमेवं सदद्वितीयं प्रागुत्पत्तेरिच्छन्ति । तस्माद्वैशेषिकपरिकल्पितात्सतोऽन्यत्कारणमिदं सदुच्यते मृदादिदृष्टान्तेभ्यः ।

समाधान—ठीक है, वर्तमान कालमें तो ऐसा ही है, किंतु उत्पत्तिसे पूर्व यह कार्य सत् ही था—ऐसा वैशेषिक मतावलम्बियोंको मान्य नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व वे कार्यका असत्त्व स्वीकार करते हैं । उत्पत्तिसे पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् ही था—ऐसा मानना उन्हें अभीष्ट नहीं है । अतः मृत्तिका आदिके दृष्टान्तोंसे यह वैशेषिकोंद्वारा परिकल्पित सत्की अपेक्षा अन्य सत् कारण बतलाया जाता है ।

वैनाशिकमतम्

तत्र हैतस्मिन्प्रागुत्पत्तेर्वस्तुनिरूपण एके वैनाशिका आहुर्वस्तु निरूपयन्तोऽसत्सदभावमात्रं प्रागुत्पत्तेरिदं जगदेकमेवाग्रेऽद्वितीयमासीदिति । सदभावमात्रं हि प्रागुत्पत्तेस्तत्त्वं कल्पयन्ति

इस विषयमें अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व वस्तुका निरूपण करनेमें एक यानी वैनाशिक (बौद्ध) वस्तुका निरूपण करते हुए कहते हैं—'उत्पत्तिसे पूर्व आरम्भमें यह जगत् एक अद्वितीय असत् अर्थात् सत्का अभावमात्र ही था ।' बौद्धलोग उत्पत्तिसे पूर्व सत्के अभावमात्रको

बौद्धाः। न तु सत्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्वन्तरमिच्छन्ति; यथा सच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतं तद्विपरीतं तत्त्वं भवतीति नैयायिकाः।

वैनाशिकमत-समीक्षणम्

ननु सदभावमात्रं प्रागुत्पत्तेश्चेदभिप्रेतं वैनाशिकैः, कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदसदेकमेवाद्वितीयं चेति कालसंबन्धः संख्यासंबन्धोऽद्वितीयत्वं चोच्यते तैः।

बाढं न युक्तं तेषां भावाभावमात्रमभ्युपगच्छताम्। असत्त्वमात्राभ्युपगमोऽप्ययुक्त एव, अभ्युपगन्तुरनभ्युपगमानुपपत्तेः। इदानीमभ्युपगन्ताभ्युपगम्यते न प्रागुत्पत्तेरिति चेत्? न; प्रागुत्पत्तेः सदभावस्य प्रमाणाभावात्। प्रागुत्पत्तेरसदेवेतिकल्पनानुपपत्तिः।

ही तत्त्व मानते हैं। वे सत्‌की विरोधिनी कोई अन्य वस्तु नहीं मानते; जैसा कि नैयायिकोंका मत है कि गृहीत होनेवाली यथाभूत वस्तु और उससे विपरीत तत्त्व ये क्रमशः 'सत्' और 'असत्' हैं।

शङ्का—यदि वैनाशिक उत्पत्तिसे पूर्व सत्‌का अभावमात्र ही मानते हैं तो 'उत्पत्तिसे पूर्व यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था' ऐसा कहकर वे उसका कालसम्बन्ध, संख्यासम्बन्ध और अद्वितीयत्व कैसे निरूपण करते हैं?

समाधान—ठीक है, सत्‌की असत्तामात्र माननेवाले उन लोगोंका ऐसा कहना उचित नहीं है। इसके सिवा उनका असत्तामात्र मानना भी अनुचित ही है; क्योंकि जो [ऐसा] माननेवाला है उसका न मानना सम्भव नहीं है। यदि कहो कि इस समय तो माननेवाला माना ही जाता है उत्पत्तिसे पूर्व ही नहीं माना जाता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व सत्‌के अभावको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं रहता, और फिर 'उत्पत्तिसे पूर्व असत् ही था' ऐसी कल्पनाका होना सम्भव नहीं होता।

ननु कथं वस्त्वाकृतेः शब्दार्थत्वेऽसदेकमेवाद्वितीयमितिपदार्थवाक्यार्थोपपत्तिः, तदनुपपत्तौ चेदं वाक्यमप्रमाणं प्रसज्येतेति चेत् ?

मीमांसकोद्भावितदोषनिराकरणम्

नैष दोषः, सद्ग्रहणनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य । सदित्ययं तावच्छब्दः सदाकृतिवाचकः । एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्देन समानाधिकरणौ; तथेदमासीदिति च । तत्र नञ् सद्वाक्ये प्रयुक्तः सद्वाक्यमेवावलम्ब्य सद्वाक्यार्थविषयां बुद्धिं सदेकमेवाद्वितीयमिदमासीदित्येवंलक्षणां ततः सद्वाक्यार्थान्निवर्तयत्यश्वारूढ इवाश्वालम्बनोऽश्वं तदभिमुखविषयान्निवर्तयति तद्वत् । न तु पुनः सद-

मीमांसक—किंतु शब्दका अर्थ तो वस्तुकी आकृति ही होती है, ऐसी अवस्थामें 'एकमात्र अद्वितीय असत् ही था' इन पदोंका अथवा इस वाक्यका अर्थ कैसे ठीक हो सकता है ? और ठीक न हो सकनेपर तो यह [श्रुतिका] वाक्य ही अप्रामाणिक सिद्ध होगा ।

सिद्धान्ती—यहाँ यह दोष नहीं आता, क्योंकि यह वाक्य केवल सत्को ग्रहण करनेकी निवृत्ति करनेमात्रमें ही तात्पर्य रखता है । 'सत्' यह शब्द तो सत्की आकृतिका वाचक है ही । 'एकमात्र अद्वितीय' ये दोनों शब्द 'सत्' शब्दके साथ समानाधिकरणरूपसे प्रयुक्त हैं । इसी प्रकार 'इदम्' और 'आसीत्' शब्द भी समानाधिकरण हैं । ऐसी अवस्थामें सद्-वाक्यमें प्रयोग किया हुआ 'नञ्'[1] सद्-वाक्यको ही आलम्बन करके 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही था' ऐसी सद्-वाक्यार्थसम्बन्धिनी बुद्धिको, जिस प्रकार कि घोड़ेपर चढ़ा हुआ पुरुष घोड़ेका ही आश्रय लेकर उसे उसके अभिमुख विषयोंसे फेर देता है उसी प्रकार, सद्-वाक्यके अर्थसे निवृत्त कर देता है । वह

---

[1] १. 'असत्' शब्दमें जो 'अ' है उसीको 'नञ्' कहा गया है ।

भावमेवाभिधत्ते । अतः पुरुषस्य विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थपरमिदमसदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते । दर्शयित्वा हि विपरीतग्रहणं ततो निवर्तयितुं शक्यत इत्यर्थवत्त्वादसदादिवाक्यस्य श्रौतत्वं प्रामाण्यं च सिद्धमित्यदोषः । तस्मादसतः सर्वाभावरूपात्सद्विद्यमानं जायत समुत्पन्नम् । अडभावश्छान्दसः ॥ १ ॥

सत्के अभावका ही निरूपण नहीं करता । अतः पुरुषके विपरीतग्रहणकी निवृत्तिके लिये ही 'यह असत् ही था' इत्यादि वाक्यका प्रयोग किया गया है । विपरीतग्रहणको दिखलाकर ही उससे निवृत्त करना सम्भव है । इस प्रकार असत् आदि वाक्य सार्थक होनेके कारण उसका श्रौतत्व और प्रामाण्य सिद्ध ही है । अतः इसमें कोई दोष नहीं है । उस सर्वाभावरूप असत्से सत् अर्थात् विद्यमान कार्यजात उत्पन्न हुआ । [मूलमें 'सज्जायत' के स्थानमें 'सत् अजायत' ऐसा होना चाहिये था, सो 'जायत' इस क्रियापदमें] अट्का अभाव वैदिक है ॥ १ ॥

◆

तदेतद्विपरीतग्रहणं महावैनाशिकपक्षं दर्शयित्वा प्रतिषेधति—

इस प्रकार यह विपरीतग्रहणरूप महावैनाशिकका पक्ष दिखलाकर अब [आरुणि] उसका प्रतिषेध करता है—

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳस्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

'किंतु हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था' ऐसा [आरुणिने] कहा ॥ २ ॥

वैनाशिकमत-खण्डनम्

कुतस्तु प्रमाणात्खलु हे सोम्यैवं स्यात्, असतः सज्जायेतेत्येवं कुतो भवेत् ? न कुतश्चित्प्रमाणादेवं संभवतीत्यर्थः । यदपि बीजोपमर्देऽङ्कुरो जायमानो दृष्टोऽभावादेवेति, तदप्यभ्युपगमविरुद्धं तेषाम् । कथम् ? ये तावद्बीजावयवा बीजसंस्थानविशिष्टास्तेऽङ्कुरेऽप्यनुवर्तन्त एव, न तेषामुपमर्दोऽङ्कुरजन्मनि । यत्पुनर्बीजाकारसंस्थानम्, तद्बीजावयवव्यतिरेकेण वस्तुभूतं न वैनाशिकैरभ्युपगम्यते, यदङ्कुरजन्मन्युपमृद्येत । अथ तदस्त्यवयवव्यतिरिक्तं वस्तुभूतम्, तथा च सत्यभ्युपगमविरोधः ।

अथ संवृत्याभ्युपगतं बीजसंस्थानरूपमुपमृद्यत इति चेत् ?

किंतु हे सोम्य ! ऐसा किस प्रमाणसे हो सकता है ? अर्थात् असत्से सत् उत्पन्न हो—ऐसा कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा होना किसी भी प्रमाणसे सम्भव नहीं है । तथा वे लोग जो यह मानते हैं कि बीजका नाश होनेपर अभावहीसे अङ्कुर उत्पन्न होता देखा गया है वह भी उनके ही सिद्धान्तके विरुद्ध है । किस प्रकार विरुद्ध है ? बीजके आकारसे युक्त जो बीजके अवयव हैं उनकी अनुवृत्ति अङ्कुरमें भी होती ही है; अङ्कुरके उत्पन्न होनेपर उनका नाश नहीं हो जाता । तथा जो बीजाकारका संस्थान है उसे तो वैनाशिक भी बीजके अवयवोंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं मानते; जिसका कि अङ्कुरकी उत्पत्ति होनेपर नाश हो । यदि कहो कि बीजावयवोंसे व्यतिरिक्त वह वास्तविक स्वरूपसे है तो यह उनकी ही मान्यताके विरुद्ध होगा ।

यदि कहो कि संवृति (लौकिक व्यवहार) द्वारा माना गया बीजसंस्थानका रूप नष्ट होता है तो यह बतलाओ कि यह संवृति क्या

केयं संवृतिर्नाम—किमसावभाव उत भाव इति ? यद्यभावः, दृष्टान्ताभावः । अथ भावः, तथापि नाभावादङ्कुरोत्पत्तिः, बीजावयवेभ्यो ह्यङ्कुरोत्पत्तिः ।

अवयवा अप्युपमृद्यन्त इति चेत् ? न; तदवयवेषु तुल्यत्वात् । यथा वैनाशिकानां बीजसंस्थारूपोऽवयवी नास्ति, तथावयवा अपीति तेषामप्युपमर्दानुपपत्तिः । बीजावयवानामपि सूक्ष्मावयवास्तदवयवानामप्यन्ये सूक्ष्मतरावयवा इत्येवं प्रसङ्गस्यानिवृत्तेः सर्वत्रोपमर्दानुपपत्तिः । सद्बुद्ध्यनुवृत्तेः सत्त्वानिवृत्तिश्चेति सद्वादिनां सत

चीज है ? यह भाव है या अभाव ? यदि अभाव है तो [अभावसे भावकी उत्पत्ति होनेमें] कोई दृष्टान्त नहीं है । [अतः अभावरूपा संवृति बीजकी सत्ताकी साधिका नहीं हो सकती] और यदि भाव है तो भी अभावसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अङ्कुरकी उत्पत्ति तो बीजके अवयवोंसे ही होती है ।

और यदि ऐसा मानें कि अवयवोंका भी नाश हो जाता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह दोष अवयवीके समान ही उसके अवयवोंमें भी है । जिस प्रकार वैनाशिकोंके मतमें बीजसंस्थानरूप अवयवी नहीं है उसी प्रकार अवयव भी नहीं हैं, अतः उनका नाश होना सम्भव नहीं है । बीजावयवोंके भी सूक्ष्म अवयव होने चाहिये और उन अवयवोंके भी दूसरे सूक्ष्मतर अवयव होने चाहिये—इस प्रकार प्रसङ्गकी अनिवृत्ति (अनवस्था दोष) होनेके कारण सर्वत्र नाश होना सम्भव नहीं है । तथा सर्वत्र सद्बुद्धिकी अनुवृत्ति होनेके कारण सत्त्वकी निवृत्ति नहीं होगी । इस प्रकार सद्वादियोंकी मानी हुई सत्से सत्की उत्पत्ति

एव सदुत्पत्तिः सेत्स्यति । न त्वसद्वादिनां दृष्टान्तोऽस्त्यसतः सदुत्पत्तेः । मृत्पिण्डाद्घटोत्पत्तिर्दृश्यते सद्वादिनां तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् ।

यद्यभावादेव घट उत्पद्येत घटार्थिना मृत्पिण्डो नोपादीयेत । अभावशब्दबुद्ध्यनुवृत्तिश्च घटादौ प्रसज्येत न त्वेतदस्त्यतो नासतः सदुत्पत्तिः ।

यदप्याहुर्मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेर्निमित्तमिति मृद्बुद्धिर्घटबुद्धेः कारणमुच्यते, न तु परमार्थत एव मृद्घटो वास्तीति; तदपि मृद्बुद्धिर्विद्यमाना विद्यमानाया एव घटबुद्धेः कारणमिति नासतः सदुत्पत्तिः ।

ही सिद्ध होगी । असत्से सत्की उत्पत्ति होनेमें असद्वादियोंके पास कोई दृष्टान्त भी नहीं है । सद्वादियोंके मतमें मृत्तिकाके पिण्डसे घटकी उत्पत्ति होती देखी गयी है; क्योंकि उसकी सत्ताके रहते हुए घटकी भी सत्ता है और उसका अभाव होनेपर घटका भी अभाव हो जाता है ।

यदि अभावसे ही घटकी उत्पत्ति होती तो घट बनानेकी इच्छावालेको मृत्तिकाका पिण्ड लेनेकी आवश्यकता न होती तथा घटादिमें 'अभाव' शब्द और अभाव-बुद्धिकी अनुवृत्तिका भी प्रसंग उपस्थित होता । किंतु ऐसा है नहीं । इसलिये असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

इसके सिवा वे लोग जो ऐसा कहते हैं कि 'मृत्तिकाबुद्धि घटबुद्धिका निमित्त है; अतः मृद्बुद्धि ही घटबुद्धिका कारण कही जाती है, वस्तुतः मृत्तिका अथवा घट कुछ भी नहीं है' इसके अनुसार भी विद्यमान मृद्बुद्धि ही विद्यमान घटबुद्धिका कारण है; अतः असत्से सत्की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती ।

मृद्घटबुद्ध्योर्निमित्तनैमित्तिकतयानन्तर्यमात्रं न तु कार्यकारणत्वमिति चेत् ? न; बुद्धीनां नैरन्तर्ये गम्यमाने वैनाशिकानां बहिर्दृष्टान्ताभावात् ।

अतः कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथं केन प्रकारेणासतः सज्जायेतेति । असतः सदुत्पत्तौ न कश्चिदपि दृष्टान्तप्रकारोऽस्तीत्यभिप्रायः । एवमसद्वादिपक्षमुन्मथ्योपसंहरति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदिति स्वपक्षसिद्धिम् ।

ननु सद्वादिनोऽपि सतः सदुत्पद्यत इति नैव दृष्टान्तोऽस्ति । घटाद्घटान्तरोत्पत्त्यदर्शनात् ।

यदि कहो कि मृद्बुद्धि तथा घटबुद्धिका निमित्त और नैमित्तिकरूपसे आनन्तर्यमात्र[1] है, कार्य-कारणभाव नहीं है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि इन बुद्धियोंकी निरन्तरताका ज्ञान करानेमें वैनाशिकोंके पास कोई बाह्य दृष्टान्त नहीं है ।*

'अतः हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है ?' ऐसा आरुणिने कहा । अर्थात् असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे—किस प्रकार हो सकती है । तात्पर्य यह है कि असत्से सत्की उत्पत्ति होनेमें कोई भी दृष्टान्तका प्रकार नहीं है । इस तरह असद्वादीके पक्षका उन्मन्थन (निरसन) कर आरुणि 'हे सोम्य ! आरम्भमें यह सत् ही था' इस प्रकार अपने पक्षकी सिद्धिका उपसंहार करता है ।

शङ्का—किंतु सद्वादीके मतानुसार सत्से सत्की उत्पत्ति होती है इसमें भी तो कोई दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि एक घटसे दूसरे घटकी उत्पत्ति होती नहीं देखी जाती ।

---

[1] अर्थात् पहले मृद्बुद्धि होती है उसके बाद घटबुद्धि—यही सूचित करना है ।

* बौद्धमतावलम्बी बाह्य पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते; अतः उनके सिद्धान्तानुसार मृद्बुद्धि, घटबुद्धि आदि भी असत् ही है । इसलिये इनका नैरन्तर्य अथवा निमित्त-नैमित्तिकत्व बतलाना भी असंगत ही है ।

सत्यमेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते। किं तर्हि ? सदेव संस्थानान्तरेणावतिष्ठते । यथा सर्पः कुण्डलीभवति । यथा च मृच्चूर्णपिण्डघटकपालादिप्रभेदैः ।

यद्येवं सदेव सर्वप्रकारावस्थं कथं प्रागुत्पत्तेरिदमासीदित्युच्यते ।

ननु न श्रुतं त्वया सदेवेत्यवधारणमिदंशब्दवाच्यस्य ?

प्राप्तं तर्हि प्रागुत्पत्तेरसदेवासीन्नेदंशब्दवाच्यमिदानीमिदं जातमिति ।

न; सत एवेदंशब्दबुद्धिविषयतयावस्थानाद्यथा मृदेव पिण्डघटादिशब्दबुद्धिविषयत्वेनावतिष्ठते तद्वत् ।

ननु यथा मृद्वस्त्वेवं पिण्ड-

समाधान—यह ठीक है, एक सत्से दूसरे सत्की उत्पत्ति नहीं होती । तो फिर क्या होता है ?—सत् ही एक दूसरे आकारमें स्थित हो जाता है, जिस प्रकार कि सर्प ही कुण्डली हो जाता है और जैसे मृत्तिका ही चूर्ण, पिण्ड, घट, कपालादि भेदोंसे स्थित हो जाती है ।

शङ्का—यदि ऐसी बात है तो सम्पूर्ण प्रकारोंमें स्थित सत् ही है फिर यह क्यों कहा जाता है कि यह उत्पत्तिसे पूर्व था ?

समाधान—अरे ! क्या तूने नहीं सुना कि 'सदेव' यह पद इदंशब्दवाच्यका निश्चय करानेके लिये है ।

शङ्का—तब तो यह सिद्ध होता है कि उत्पत्तिसे पूर्व असत् ही था, इदंशब्दवाच्य नहीं था, यह अभी उत्पन्न हुआ है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मृत्तिका ही पिण्ड एवं घटादि शब्द और बुद्धिका विषय होकर स्थित होती है उसी प्रकार सत् ही इदंशब्द और इदंबुद्धिके विषयरूपसे स्थित होता है ।

शङ्का—किंतु जिस प्रकार

घटाद्यपि तद्वत्सद्बुद्धेरन्यबुद्धिविषयत्वात्कार्यस्य सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं स्यात्कार्यजातं यथाश्वाद्गौः ।

न; पिण्डघटादीनामितरेतरव्यभिचारेऽपि मृत्त्वाव्यभिचारात् । यद्यपि घटः पिण्डं व्यभिचरति पिण्डश्च घटं तथापि पिण्डघटौ मृत्त्वं न व्यभिचरतस्तस्मान्मृन्मात्रं पिण्डघटौ । व्यभिचरति त्वश्वं गौरश्वो वा गाम् । तस्मान्मृदादिसंस्थानमात्रं घटादयः । एवं सत्संस्थानमात्रमिदं सर्वमिति युक्तं प्रागुत्पत्तेः सदेवेति; वाचारम्भणमात्रत्वाद्विकारसंस्थानस्य ।

ननु निरवयवं सत्, "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेता० उ० ६ । १९)

मृत्तिका वस्तु है उसी प्रकार पिण्ड और घटादि भी हैं । उन्हींके समान सत्का कार्य सद्बुद्धिसे अन्य बुद्धिका विषय होनेके कारण वह सत्की अपेक्षा कोई अन्य वस्तु होना चाहिये, जिस प्रकार कि अश्वसे गौ ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पिण्ड और घटादिका परस्पर व्यभिचार होनेपर भी उनमें मृत्तिकात्वका व्यभिचार नहीं है । यद्यपि घट पिण्डसे पृथक् रहता है और पिण्ड घटसे, तो भी पिण्ड और घट दोनों ही मृत्तिकात्वसे कभी पृथक् नहीं होते । अतः पिण्ड और घट आदि तो मृत्तिकामात्र ही हैं । किंतु अश्व गौको और गौ अश्वको पृथक् करते हैं; इसलिये घटादि केवल मृत्तिकादिके संस्थान (आकार) मात्र हैं । इस प्रकार यह सारा जगत् सत्का संस्थानमात्र है । अतः उत्पत्तिसे पूर्व सत् ही था—यह कथन ठीक ही है, क्योंकि विकारसंस्थान तो केवल वाणीके ही आश्रित है ।

शङ्का—किंतु "पुरुष निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निर्लेप है" तथा "दिव्य, अमूर्त्त, बाहर-भीतर वर्त-

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यो निरवयवस्य सतः कथं विकारसंस्थानमुपपद्यते।

नैष दोषः, रज्ज्वाद्यवयवेभ्यः सर्पादिसंस्थानवद्बुद्धिपरिकल्पितेभ्यः सदवयवेभ्यो विकारसंस्थानोपपत्तेः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) एवम् 'सदेव सत्यम्' इति श्रुतेः। एकमेवाद्वितीयं परमार्थत इदंबुद्धिकालेऽपि ॥ २ ॥

मान और अजन्मा है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार सत् निरवयव है। उस निरवयव सत्का विकारसंस्थान होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि रज्जु आदिके अवयवोंसे सर्पादि आकारकी प्रतीतिके समान बुद्धिसे कल्पना किये हुए सत्के अवयवोंसे विकारसंस्थानका प्रतीत होना सम्भव है; जैसा कि कहा है—"विकार वाणीके आश्रित केवल नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है"। इसी प्रकार 'सत् ही सत्य है' इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है। वस्तुतः इदंबुद्धिके समय भी वह एकमात्र अद्वितीय ही है ॥ २ ॥

* * *

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। इस प्रकार [ईक्षण कर] उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेजने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। इस प्रकार [ईक्षण कर] उसने जलकी रचना की। इसीसे जहाँ कहीं पुरुष शोक (संताप) करता है उसे पसीने आ जाते हैं। उस समय वह तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

तत्सदैक्षतेक्षां दर्शनं कृतवत् । अतश्च न प्रधानं सांख्यपरिकल्पितं जगत्कारणम्; प्रधानस्याचेतनत्वाभ्युपगमात्, इदं तु सच्चेतनमीक्षितृत्वात् । तत्कथमैक्षत ? इत्याह—बहु प्रभूतं स्यां भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्येय । यथा मृद्घटाद्याकारेण, यथा वा रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन ।

असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण ।

न; सत एव द्वैतभेदेनान्यथागृह्यमाणत्वान्नासत्त्वं कस्यचित्क्वचिदिति ब्रूमः । यथा सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं परिकल्प्य पुनस्तस्यैव प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमसत्त्वं ब्रुवते तार्किका न तथा-

उस सत्‌ने ईक्षण किया, ईक्षण अर्थात् दर्शन किया । इससे सिद्ध होता है कि सांख्यका कल्पना किया हुआ प्रधान जगत्‌का कारण नहीं है, क्योंकि प्रधान अचेतन माना गया है और यह सत् ईक्षण करनेके कारण चेतन है । उसने किस प्रकार ईक्षण किया सो श्रुति बतलाती है—मैं बहु—अधिक हो जाऊँ, 'प्रजायेय'–प्रकर्षसे उत्पन्न होऊँ, जिस प्रकार कि घटादि आकारसे मृत्तिका अथवा बुद्धिसे कल्पना किये हुए सर्पादि आकारसे रज्जु उत्पन्न होती है ।

शङ्का–तब तो रज्जु जिस प्रकार सर्पादि आकारसे ग्रहण की जाती है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह असत् ही है ।

समाधान–नहीं, हमारा तो यह कथन है कि द्वैतभेदसे सत् ही अन्यथारूपसे गृहीत होनेके कारण कभी किसी पदार्थकी असत्ता नहीं है । [अब इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं–] जिस प्रकार तार्किक लोग सत्‌से भिन्न किसी अन्य पदार्थकी कल्पना कर फिर उत्पत्तिसे पूर्व और नाशके पश्चात् उसकी असत्ता बतलाते हैं

स्माभिः कदाचित्क्वचिदपि सतोऽन्यदभिधानमभिधेयं वा वस्तु परिकल्प्यते । सदेव तु सर्वमभिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्ध्या । यथा रज्जुरेव सर्पबुद्ध्या सर्प इत्यभिधीयते यथा वा पिण्डघटादि मृदोऽन्यबुद्ध्या पिण्डघटादिशब्देन अभिधीयते लोके । रज्जुविवेकदर्शिनां तु सर्पाभिधानबुद्धी निवर्तेते यथा च मृद्विवेकदर्शिनां घटादिशब्दबुद्धी तद्वत्सद्विवेकदर्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धी निवर्तेते । “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” (तै० उ० २ । ४) इति । “अनिरुक्तेऽनिलयने” (तै० उ० २ । ६ । १) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

उसी प्रकार हमारेद्वारा कभी कहीं भी सत्‌से भिन्न किसी नाम अथवा नामकी विषयभूत वस्तुकी कल्पना नहीं की जाती । सारे नाम और जो अन्यबुद्धिसे कहे जाते हैं वे सारे पदार्थ सत् ही हैं, जिस प्रकार कि लोकमें रज्जु ही सर्पबुद्धिसे ‘सर्प’ इस प्रकार कही जाती है अथवा जिस प्रकार मृत्तिकासे अन्यबुद्धिके कारण पिण्ड और घटादिको पिण्ड एवं घट आदि शब्दोंसे पुकारा जाता है । जिस प्रकार रज्जुका विवेक करके देखनेवालोंकी दृष्टिमें ‘सर्प’ शब्द और सर्पबुद्धि निवृत्त हो जाते हैं तथा मृत्तिकाका विवेक करके देखनेवालोंकी दृष्टिमें घटादि शब्द और तत्सम्बन्धिनी बुद्धिका निरास हो जाता है, उसी प्रकार सत्‌का विवेक करके देखनेवालोंके लिये अन्य विकारसम्बन्धी शब्द और बुद्धि निवृत्त हो जाते हैं, जैसा कि “जहाँसे मनके सहित वाणी न पहुँचकर लौट आती है” “जो वाणीका अविषय और अनाश्रय है उसमें” इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

एवमीक्षित्वा तत्तेजोऽसृजत तेजः सृष्टवत् ।

ननु “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” (तै० उ० १) इति श्रुतमिह कथं प्राथम्येन तस्मादेव तेजः सृज्यते तत एव चाकाशमिति विरुद्धम् ।

नैष दोषः; आकाशवायुसर्गानन्तरं तत्सत्तेजोऽसृजतेतिकल्पनोपपत्तेः । अथ वाविवक्षित इह सृष्टिक्रमः । सत्कार्यमिदं सर्वमतः सदेकमेवाद्वितीयमित्येतद्विवक्षितम्, मृदादिदृष्टान्तात् । अथवा त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात्तेजोऽबन्नानामेव सृष्टिमाचष्टे । तेज इति प्रसिद्धं लोके दग्धृ पक्तृ प्रकाशकं रोहितं चेति ।

इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेजकी रचना की ।

शङ्का—किंतु “उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ [तथा आकाशसे वायु और वायुसे तेज हुआ]” ऐसी भी श्रुति है । फिर उसीसे सबसे पहले तेज रचा गया और उसीसे आकाश—यह विरुद्ध कथन क्यों किया जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ ऐसी कल्पना भी की जा सकती है कि आकाश और वायुकी रचनाके अनन्तर उस सत्‌ने तेजकी रचना की । अथवा यह भी सम्भव है कि यहाँ सृष्टिक्रम बतलाना इष्ट न हो । यह सारा जगत् सत्‌का कार्य है, इसलिये एकमात्र अद्वितीय सत् ही है—यही बतलाना इष्ट हो, क्योंकि यहाँ मृत्तिका आदिका दृष्टान्त दिया गया है । अथवा त्रिवृत्करण विवक्षित होनेके कारण श्रुति तेज, अप् और अन्नकी ही सृष्टिका निरूपण करती है । तेज—यह दग्ध करनेवाला, पकानेवाला, प्रकाशक और कुछ लाल रंगका लोकमें प्रसिद्ध है ।

तत्सत्सृष्टं तेज ऐक्षत तेजोरूपसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बहु स्यां प्रजायेयेति पूर्ववत् । तदपोऽसृजत । आपो द्रवाः स्निग्धाः स्यन्दिन्यः शुक्लाश्चेति प्रसिद्धा लोके । यस्मात्तेजसः कार्यभूता आपस्तस्माद्यत्र क्व च देशे काले वा शोचति संतप्यते स्वेदते प्रस्विद्यते वा पुरुषस्तेजस एव तत्तदापोऽधिजायन्ते ॥ ३ ॥

सत्के रचे हुए उस तेजने ईक्षण किया; अर्थात् तेजके रूपमें स्थित सत्ने 'मैं बहुत हो जाऊँ——अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार पूर्ववत् ईक्षण किया । उसने जलकी रचना की । जल द्रवरूप, स्निग्ध, बहनेवाला और शुक्ल वर्ण इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध है । क्योंकि जल तेजका कार्यभूत है, इसलिये जब कहीं किसी देश या कालमें पुरुष शोक—संताप करता है तो पसीनेसे युक्त हो जाता है । उस समय तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

उस जलने ईक्षण किया 'हम बहुत हो जायँ——अनेकरूपसे उत्पन्न हों ।' उसने अन्नकी रचना की । इसीसे जहाँ कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत-सा अन्न होता है । वह अन्नाद्य जलसे ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

ता आप ऐक्षन्त पूर्ववदेवाबाकारसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बह्व्यः प्रभूताः स्याम भवेम प्रजायेमह्युत्पद्येमहीति । ता अन्न-

उस जलने ईक्षण किया, अर्थात् पहलेहीके समान जलरूपमें स्थित सत्ने ईक्षण किया । 'हम बहुत—अधिक हो जायँ, प्रकर्षसे उत्पन्न हों ।' उसने पृथिवीरूप अन्नकी रचना की ।

मसृजन्त पृथिवीलक्षणम् । पार्थिवं ह्यन्नं तस्माद्यत्र क्व च वर्षति देशे तत्तत्रैव भूयिष्ठं प्रभूतमन्नं भवति । अतोऽद्भ्य एव तदन्नाद्यमधिजायते । ता अन्नमसृजन्तेति पृथिव्युक्ता पूर्वमिह तु दृष्टान्तेऽन्नं च तदाद्यं चेति विशेषणाद्व्रीहियवाद्या उच्यन्ते । अन्नं च गुरु स्थिरं धारणं कृष्णं च रूपतः प्रसिद्धम् ।

ननु तेजःप्रभृतिष्वीक्षणं न गम्यते हिंसादिप्रतिषेधाभावात्त्रासादिकार्यानुपलम्भाच्च । तत्र कथं तत्तेज ऐक्षतेत्यादि ।

नैष दोषः, ईक्षितृकारणपरिणामत्वात्तेजःप्रभृतीनां सत एवेक्षितुर्नियतक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच्च तेजःप्रभृतीक्षत इवेक्षत इत्युच्यते भूतम् ।

अन्न पृथिवीका विकार है, इसलिये जहाँ कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत-सा अन्न हो जाता है । अतः वह अन्नाद्य जलसे ही उत्पन्न होता है । 'उसने अन्नकी रचना की' ऐसा कहकर पहले तो श्रुतिने 'अन्न' शब्दसे पृथिवी कही है और अब दृष्टान्तमें 'वह अन्न और आद्य' ऐसा विशेषण देनेके कारण [आद्य शब्दसे] धान, जौ आदि कहे हैं । अन्न भारी, स्थिर, धारण करनेवाला और रूपसे कृष्णवर्ण होता है—ऐसा प्रसिद्ध है ।

शङ्का—किंतु तेज आदिमें तो ईक्षण होना समझमें नहीं आता, क्योंकि उनमें हिंसादिके प्रतिषेधका अभाव है और त्रास आदि कार्य भी नहीं देखे जाते । फिर श्रुतिने 'तेजने ईक्षण किया' इत्यादि कथन कैसे किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तेज आदि भूत ईक्षण करनेवाले कारणके परिणाम हैं । ईक्षण करनेवाला सत् ही नियतक्रमविशिष्ट होकर कार्यका उत्पन्न करनेवाला होनेसे तेज आदि भूतोंने 'मानो ईक्षण किया' ऐसे अर्थमें 'ईक्षण किया' ऐसा कहा जाता है ।

ननु सतोऽप्युपचरितमेवेक्षितृत्वम् ।

न; सदीक्षणस्य केवलशब्दगम्यत्वान्न शक्यमुपचरितं कल्पयितुम् । तेजःप्रभृतीनां त्वनुमीयते मुख्येक्षणाभाव इति युक्तमुपचरितं कल्पयितुम् ।

ननु सतोऽपि मृद्वत्कारणत्वादचेतनत्वं शक्यमनुमातुम् । अतः प्रधानस्यैवाचेतनस्य सतश्चेतनार्थत्वान्नियतकालक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच्चैक्षतेवैक्षतेति शक्यमनुमातुमुपचरितमेवेक्षणम् । दृष्टश्च लोकेऽचेतने चेतनवदुपचारः । यथा कूलं पिपतिषतीति तद्वत्सतोऽपि स्यात् ।

न; तत्सत्यं स आत्मेति तस्मिन्नात्मोपदेशात् ।

शङ्का—किंतु सत्का ईक्षण भी तो उपचारसे ही है ।

समाधान—नहीं, सत्का ईक्षण केवल शब्दगम्य है; इसलिये वह उपचारसे है—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । तेज आदिके मुख्य ईक्षणका अभाव तो अनुमानसे सिद्ध है; इसलिये उसे उपचरित मानना ठीक ही है ।

शङ्का—परंतु मृत्तिकाके समान कारण होनेसे सत्के अचेतनत्वका भी अनुमान किया जा सकता है । अतः अचेतन प्रधानरूप जो सत् है वह चेतनके प्रयोजनके लिये है और नियतकालक्रमसे विशिष्ट कार्यका उत्पादक है, इस कारण उसीने ईक्षण करनेके समान ईक्षण किया—इस प्रकार उसका ईक्षण उपचरित ही है, ऐसा अनुमान किया ही जा सकता है । लोकमें अचेतनमें चेतनके समान उपचार होता देखा ही जाता है, जिस प्रकार 'किनारा गिरना चाहता है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार सत्का ईक्षण भी औपचारिक हो सकता है ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'वह सत्य है, वह आत्मा है' ऐसा कहकर उसीमें आत्माका उपदेश किया गया है ।

आत्मोपदेशोऽप्युपचरित इति चेद्यथा ममात्मा भद्रसेन इति सर्वार्थकारिण्यनात्मन्यात्मोपचारस्तद्वत् ।

न; तदसीति सत्सत्याभिसंधस्य 'तस्य तावदेव चिरम्' इति मोक्षोपदेशात् ।

सोऽप्युपचार इति चेत्, प्रधानात्माभिसंधस्य मोक्षसामीप्यं वर्तत इति मोक्षोपदेशोऽप्युपचरित एव; यथा लोके ग्रामं गन्तुं प्रस्थितः प्राप्तवानहं ग्राममिति ब्रूयात्त्वरापेक्षया तद्वत् ।

न; येन विज्ञातेनाविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्युपक्रमात् । सत्येकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तदनन्यत्वात्सर्वस्याद्वितीयवचनाच्च । न चान्यद्विज्ञा-

शङ्का—यदि 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' इस वाक्यमें जिस प्रकार आत्माके सम्पूर्ण कार्य करनेवाले अनात्मामें आत्माका उपचार किया गया है उसी प्रकार यह आत्मोपदेश भी उपचारसे ही है ऐसा मानें तो ?

समाधान-ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'वह सत् मैं हूँ' इस प्रकार सत्‌में दृढ अभिनिवेश करनेवालेके लिये 'उसके मोक्षमें तभीतक देरी है [जबतक कि शरीरपात नहीं होता]' इस प्रकार मोक्षका उपदेश किया गया है ।

शङ्का—यदि यह भी उपचार ही हो तो ? जिस प्रकार लोकमें गाँवकी ओर जानेवाला पुरुष अपनी शीघ्रताकी अपेक्षासे कह देता है कि 'मैं तो गाँवमें पहुँच गया' उसी प्रकार प्रधानमें आत्मबुद्धि करनेवालेके लिये मोक्षकी समीपता होनेके कारण यह मोक्षका उपदेश भी उपचारसे ही हो तो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसे जान लेनेपर बिना जाना हुआ भी जान लिया जाता है——ऐसा उपक्रम किया गया है । एक सत्के जान लेनेपर ही सब कुछ जान लिया जाता है, क्योंकि सब उससे अभिन्न है और उसे अद्वितीय भी बतलाया

तव्यमवशिष्टं श्रावितं श्रुत्यानुमेयं वा लिङ्गतोऽस्ति येन मोक्षोपदेश उपचरितः स्यात् । सर्वस्य च प्रपाठकार्थस्योपचरितत्वपरिकल्पनायां वृथा श्रमः परिकल्पयितुः स्यात्पुरुषार्थसाधनविज्ञानस्य तर्केणैवाधिगतत्वात्तस्य । तस्माद्वेदप्रामाण्यान्न युक्तः श्रुतार्थपरित्यागः । अतश्चेतनावत् कारणं जगत इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

गया है । उसके सिवा कोई और विज्ञातव्य न तो श्रुतिसे सुना गया है और न किसी लिंगसे ही अनुमान किया जा सकता है, जिसके कारण इस मोक्षोपदेशको उपचरित माना जाय । तथा सारे प्रपाठकका उपचरितत्व माननेमें तो इस प्रकारकी कल्पना करनेवालेका श्रम व्यर्थ ही होगा, क्योंकि उसके सिद्धान्तानुसार पुरुषार्थका साधनभूत विज्ञान तो तर्कसे ही सिद्ध हो जाता है । अतः वेदकी प्रमाणता होनेके कारण इस श्रुत (प्रसिद्ध)अर्थका त्याग करना उचित नहीं है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि संसारका चेतन कारण है ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

सृष्टिका क्रम

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

उन इन [पक्षी आदि] प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होते हैं—-आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ॥ १ ॥

तेषां जीवाविष्टानां खल्वेषां पक्ष्यादीनां भूतानाम्, एषामिति प्रत्यक्षनिर्देशान्न तु तेजःप्रभृतीनां तेषां त्रिवृत्करणस्य वक्ष्यमाणत्वादसति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशानुपपत्तिः । देवताशब्दप्रयोगाच्च तेजःप्रभृतिष्विमास्तिस्रो देवता इति । तस्मात्तेषां खल्वेषां भूतानां पक्षिपशुस्थावरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि भवन्ति ।

जीवोंद्वारा आविष्ट उन इन पक्षी आदि प्राणियोंके—यहाँ 'एषाम्' ऐसा प्रत्यक्ष निर्देश होनेके कारण ['इन पक्षी आदि भूतोंके' ऐसा अर्थ करना चाहिये] 'उन तेजःप्रभृति भूतोंके' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि आगे त्रिवृत्करणका वर्णन किया जानेवाला है और त्रिवृत्करणके हुए बिना ही प्रत्यक्ष निर्देश बन नहीं सकता । इसके सिवा तेजःप्रभृतिके लिये 'इमाः तिस्रो देवताः' इस प्रकार 'देवता' शब्दका प्रयोग होनेसे भी [यहाँ 'भूत' शब्दसे पक्षी आदि ही विवक्षित हैं]—अतः उन इन पक्षी, पशु एवं स्थावर आदि प्रसिद्ध भूतोंके तीन ही बीज हैं, इससे अधिक बीज—कारण नहीं हैं ।

कानि तानि ? इत्युच्यन्ते, आण्डजमण्डाज्जातमण्डजम्, अण्डजमेवाण्डजं पक्ष्यादि। पक्षिसर्पादिभ्यो हि पक्षिसर्पादयो जायमाना दृश्यन्ते। तेन पक्षी पक्षिणां बीजं सर्पः सर्पाणां तथान्यदप्यण्डाज्जातं तज्जातीयानां बीजमित्यर्थः।

नन्वण्डाज्जातमण्डजमुच्यतेऽतोऽण्डमेव बीजमिति युक्तं कथमण्डजं बीजमुच्यते।

सत्यमेवं स्यात्, यदि त्वदिच्छातन्त्रा श्रुतिः स्यात्; स्वतन्त्रा तु श्रुतिः, यत आहाण्डजाद्येव बीजं नाण्डादीति। दृश्यते चाण्डजाद्यभावे तज्जातीयसन्तत्यभावो नाण्डाद्यभावे। अतोऽण्डजादीन्येव बीजान्यण्डजादीनाम्।

वे कौन-से हैं ? सो बतलाये जाते हैं—आण्डज—अण्डसे उत्पन्न हुएको अण्डज कहते हैं, अण्डज ही आण्डज हैं, अर्थात् पक्षी आदि; क्योंकि पक्षी एवं सर्पादिसे पक्षी और सर्पादि उत्पन्न होते देखे गये हैं; अतः पक्षियोंके बीज पक्षी हैं और सर्पोंके सर्प। इसी प्रकार अण्डेसे उत्पन्न हुए अन्य जीव भी अपनी-अपनी जातिके बीज हैं——ऐसा इसका तात्पर्य है।

शङ्का—किंतु अण्डेसे उत्पन्न हुएको अण्डज कहते हैं; इसलिये अण्डा ही बीज है—ऐसा कहना उचित है; फिर अण्डजको बीज क्यों कहा जाता है ?

समाधान—यदि श्रुति तुम्हारी इच्छाके अधीन होती तो सचमुच ऐसा ही होता; किंतु श्रुति स्वतन्त्र है, क्योंकि उसने अण्डज आदिको बीज बतलाया है, अण्डे आदिको नहीं बतलाया। यही बात देखी भी जाती है कि अण्डज आदिका अभाव होनेपर ही उस जातिकी संततिका अभाव होता है, अण्डे आदिका अभाव होनेपर नहीं। अतः अण्डजादिके बीज अण्डजादि ही हैं।

तथा जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि । उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजमित्यर्थः । स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासंभवमन्तर्भावः । एवं ह्यवधारणं त्रीण्येव बीजानीत्युपपन्नं भवति ॥१॥

इसी प्रकार जीवसे उत्पन्न हुआ जीवज यानी जरायुज पुरुष एवं पशु आदि तथा उद्भिज्ज—जो पृथिवीको ऊपरकी ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं, उससे उत्पन्न हुएका नाम उद्भिज्ज है; अथवा धाना (बीज) उद्भिद् है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज स्थावरबीज अर्थात् स्थावरोंका बीज है । स्वेदज और संशोकज (ऊष्मासे उत्पन्न होनेवाले) जीवोंका यथासम्भव अण्डज और उद्भिज्जोंमें ही अन्तर्भाव होगा, क्योंकि ऐसा माननेपर ही 'तीन ही बीज हैं' यह निश्चय उत्पन्न हो सकता है ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

उस इस ['सत्' नामक] देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ' ॥ २ ॥

सेयं प्रकृता सदाख्या तेजोऽबन्नयोनिर्देवतोक्तैक्षतेक्षितवती यथापूर्वं बहु स्यामिति । तदेव

उस इस सत् नामक तेज, जल और अन्नके योनिभूत उपर्युक्त देवताने, जैसा कि पहले ईक्षण किया था कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' उसी प्रकार, ईक्षण किया । वह

बहुभवनं प्रयोजनं नाद्यापि निर्वृत्तमित्यत ईक्षां पुनः कृतवती बहुभवनमेव प्रयोजनमुररीकृत्य ।

कथम् ? हन्तेदानीमहमिमा यथोक्तास्तेजआद्यास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनेति स्वबुद्धिस्थं पूर्वसृष्ट्यनुभूतप्राणधारणमात्मानमेव स्मरन्त्याहानेन जीवेनात्मनेति । प्राणधारणकर्त्रात्मनेति वचनात्स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तेन चैतन्यस्वरूपतयाविशिष्टेनेत्येतद्दर्शयति । अनुप्रविश्य तेजोऽबन्नभूतमात्रासंसर्गेण लब्धविशेषविज्ञाना सती नाम च रूपं च नामरूपे व्याकरवाणि विस्पष्टमाकरवाण्यसौ नामायमिदंरूप इति व्याकुर्यामित्यर्थः ।

ननु न युक्तमिदमसंसारिण्याः सर्वज्ञाया देवताया बुद्धिपूर्वकमनेकशतसहस्रानर्थाश्रयं

बहुत होनारूप प्रयोजन अभीतक समाप्त नहीं हुआ था; इसलिये बहुत होनारूप प्रयोजनको ही मनमें रखकर उसने फिर ईक्षण किया ।

किस प्रकार ईक्षण किया ?——'अब मैं इन उपर्युक्त तेज आदि तीन देवताओंमें इस जीवरूपसे——ऐसा कहकर श्रुति पूर्वसृष्टिमें अनुभूत प्राणधारी आत्माका स्मरण करती हुई ही कहती है कि इस जीवात्मरूपसे——प्राण धारण करनेवाले आत्माके द्वारा——इस कथनसे श्रुति यह दिखलाती है कि अपने आत्मासे अभिन्न अर्थात् चैतन्यस्वरूपतया आत्मासे अविशिष्ट जीवरूपसे अनुप्रवेश कर अर्थात् तेज, अप् और अन्न इन भूतमात्राओंके संसर्गसे, जिसने विशेष विज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा होकर मैं नामरूप—नाम और रूपोंका व्याकरण—व्यक्तीकरण करूँ; अर्थात् यह इस नामवाला है और इस रूपका है—ऐसा अभिव्यक्त करूँ ।'

शङ्का—किंतु स्वतन्त्रता रहते हुए भी असंसारी सर्वज्ञ देवताका बुद्धिपूर्वक ऐसा संकल्प करना कि, सैकड़ों-हजारों अनर्थोंके

देहमनुप्रविश्य दुःखमनुभविष्यामीति संकल्पनमनुप्रवेशश्च स्वातन्त्र्ये सति ।

सत्यमेवं न युक्तं स्याद्यदि स्वेनैवाविकृतेन रूपेणानुप्रविशेयं दुःखमनुभवेयमिति च संकल्पितवती, न त्वेवम्; कथं तर्हि ? अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येति वचनात् ।

जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम् । बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम् । अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्या देवताया बुद्ध्यादिसंबन्धश्चैतन्याभासो देवतास्वरूपविवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकल्पप्रत्ययहेतुः ।

आश्रयभूत शरीरमें अनुप्रवेश करके दुःखका अनुभव करूँ, और फिर उसमें अनुप्रवेश करना सम्भव नहीं है ।

समाधान—ठीक है, यदि वह ऐसा संकल्प करता कि अपने अविकृतरूपसे ही अनुप्रवेश करूँ और दुःखका अनुभव करूँ तब तो ऐसा करना ठीक नहीं था, किंतु ऐसी बात है नहीं । तो फिर क्या है ?—'इस जीवात्मरूपसे अनुप्रवेश करूँ' ऐसा वचन होनेके कारण [उसका साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं होता] ।

जीव तो उस देवताका आभासमात्र है, जो दर्पणमें प्रविष्ट हुए पुरुषके प्रतिबिम्बके समान तथा जल आदिमें प्रविष्ट हुए सूर्यके आभासके समान बुद्धि आदि भूतमात्राओंके संसर्गसे उत्पन्न हुआ है। अचिन्त्य एवं अनन्त शक्तिसे युक्त उस देवताका बुद्धि आदिसे सम्बन्धरूप जो चैतन्याभास है वही उस देवताके स्वरूपका विवेक ग्रहण न करनेके कारण सुखी, दुःखी, मूढ इत्यादि अनेकों विकल्पोंकी प्रतीतिका कारण होता है ।

छायामात्रेण जीवरूपेणानुप्रविष्टत्वाद्देवता न दैहिकैः स्वतः सुखदुःखादिभिः संबध्यते । यथा पुरुषादित्यादय आदर्शोदकादिषुच्छायामात्रेणानुप्रविष्टा आदर्शोदकादिदोषैर्न संबध्यन्ते तद्वद्देवतापि । “सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः” (क० उ० २ । २ । १२) । “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इति हि काठके । “ध्यायतीव लेलायतीव” (बृह० उ० ४ । ३ । ७) इति च वाजसनेयके ।

ननुच्छायामात्रश्चेज्जीवो मृषैव प्राप्तस्तथा परलोकेहलोकादि च तस्य ।

नैष दोषः; सदात्मना सत्यत्वाभ्युपगमात् । सर्वं च नाम-

छायामात्र जीवरूपसे अनुप्रविष्ट होनेके कारण वह देवता स्वयं देहके सुख-दुःखादिसे सम्बद्ध नहीं होता । जिस प्रकार दर्पण और जल आदिमें छायामात्रसे अनुप्रविष्ट हुए मनुष्य और सूर्य आदि दर्पण और जल आदिके दोषोंसे लिप्त नहीं होते उसी प्रकार वह देवता भी निर्लिप्त रहता है । “जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका चक्षुरूप सूर्य चक्षुसम्बन्धी बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका एक ही अन्तरात्मा लौकिक दुःखोंसे लिप्त नहीं होता बल्कि उनसे बाहर रहता है” “तथा वह आकाशके समान सर्वत्र व्याप्त एवं नित्य है” इस प्रकार कठोपनिषद्में तथा “मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है” इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है ।

शङ्का—यदि जीव छायामात्र ही है तो वह मिथ्या ही सिद्ध होता है तथा उसके परलोक, इहलोक आदि भी मिथ्या ही ठहरते हैं ?

समाधान—ऐसा दोष नहीं है, क्योंकि सत्स्वरूपसे उसका सत्यत्व स्वीकार किया गया है । सारा

रूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं स्वतस्त्वनृतमेव । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्युक्तत्वात् । तथा जीवोऽपीति । यक्षानुरूपो हि बलिरिति न्यायप्रसिद्धिः । अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं सतोऽन्यत्वे चानृतत्वमिति न कश्चिद्दोषस्तार्किकैरिहानुषङ्क्तुं शक्यः । यथेतरेतरविरुद्धद्वैतवादाः स्वबुद्धिविकल्पमात्रा अतत्त्वनिष्ठा इति शक्यं वक्तुम् ॥ २ ॥

नामरूपादि विकारजात सत्स्वरूपसे ही सत्य है, स्वयं तो वह मिथ्या ही है, क्योंकि 'विकार तो केवल कहनेके लिये नाममात्र है' ऐसा कहा जा चुका है । ऐसा ही जीव भी है । 'जैसा यक्ष वैसी ही बलि' यह न्याय प्रसिद्ध ही है । अतः सत्स्वरूपसे सम्पूर्ण व्यवहार और सारे विकारोंकी सत्यता है तथा सत्से पृथक् माननेपर उनका मिथ्यात्व है—इस प्रकार तार्किकोंद्वारा इस विषयमें किसी दोषका प्रसङ्ग नहीं उपस्थित किया जा सकता, जैसा कि हम कह सकते हैं कि एक दूसरेसे विरुद्ध द्वैतवाद अपनी ही बुद्धिके विकल्पमात्र और अतत्त्वनिष्ठ हैं ॥ २ ॥

* * *

सैवं तिस्रो देवता अनुप्रविश्य स्वात्मावस्थे बीजभूते अव्याकृते नामरूपे व्याकरवाणीतीक्षित्वा—

इस प्रकार उसने उन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर और इस प्रकार ईक्षण कर कि 'मैं अपने स्वरूपमें स्थित अव्याकृत नामरूपोंका व्याकरण करूँ'——

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

'और उनमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ' ऐसा विचारकर उस इस देवताने इस जीवात्मरूपसे ही उन तीन देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम-रूपका व्याकरण किया ॥ ३ ॥

तासां च तिसृणां देवतानामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि । एकैकस्याः प्राधान्यं द्वयोर्द्वयोर्गुणभावोऽन्यथा हि रज्ज्वा इवैकमेव त्रिवृत्करणं स्यात्, न तु तिसृणां पृथक्पृथक्त्रिवृत्करणमिति । एवं हि तेजोऽबन्नानां पृथङ्नामप्रत्ययलाभः स्यात्तेज इदमिमा आपोऽन्नमिदमिति च; सति च पृथङ्नामप्रत्ययलाभे देवतानां सम्यग्व्यवहारस्य प्रसिद्धिः प्रयोजनं स्यात् ।

एवमीक्षित्वा सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव यथोक्तेनैव जीवेन सूर्यबिम्बवदन्तः प्रविश्य वैराजं पिण्डं प्रथमं देवादीनां च पिण्डाननुप्रविश्य

'और उन तीनों देवताओंमेंसे एक-एकको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ ।' एक-एक देवताके त्रिवृत्करणमें एक-एककी प्रधानता और दो-दोकी गौणता रहती है, नहीं तो [तीन लड़वाली] रस्सीके समान एक ही त्रिवृत्करण होता । तीनों देवताओंका पृथक्-पृथक् त्रिवृत्करण नहीं होता । इस प्रकार ही तेज, अप् और अन्नको 'यह तेज है, यह जल है, यह अन्न है' ऐसे पृथक्-पृथक् नाम और प्रतीतिकी प्राप्ति हो सकती है, और पृथक्-पृथक् नाम तथा प्रतीतिकी प्राप्ति होनेपर ही देवताओंके सम्यक् व्यवहारकी सिद्धिरूप प्रयोजनकी पूर्ति हो सकती है ।

इस प्रकार ईक्षण कर उस देवताने इन तीनों देवताओंमें इस उपर्युक्त जीवरूपसे ही सूर्यबिम्बके समान भीतर प्रवेश कर अर्थात् पहले विराट्-पिण्डमें और उसके पश्चात् देवादि-पिण्डोंमें अनुप्रवेश कर अपने संकल्पके अनुसार ही नाम-रूपोंका

यथासंकल्पमेव नामरूपे व्याकरोदसौ नामायमिदंरूप इति ॥ ३ ॥

व्याकरण किया । अर्थात् यह पदार्थ इस नामवाला और इस रूपवाला है—इस प्रकार पदार्थोंका व्यक्तीकरण किया ॥ ३ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

उस देवताने उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया । हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह मेरेद्वारा जान ॥ ४ ॥

तासां च देवतानां गुणप्रधानभावेन त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्कृतवती देवता । तिष्ठतु तावद्देवतादिपिण्डानां नामरूपाभ्यां व्याकृतानां तेजोऽबन्नमयत्वेन त्रिधात्वं यथा तु बहिरिमाः पिण्डेभ्यस्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे मम निगदतो विजानीहि विस्पष्टमवधारयोदाहरणतः ॥ ४ ॥

उस देवताने उन देवताओंमेंसे एक-एकको गुण-प्रधानभावसे त्रिवृत्-त्रिवृत् किया । अभी, नामरूपसे व्यक्त हुए देवता आदि पिण्डोंके तेज, अप् और अन्नरूपसे त्रिविधत्वकी बात अलग रहे, इन पिण्डोंसे बाहर भी ये तीनों देवता एक-एक करके किस प्रकार त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं सो मेरे कथनद्वारा जान अर्थात् उदाहरणद्वारा अच्छी तरह समझ ले ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान

यत्तद्देवतानां त्रिवृत्करणमुक्तं तस्यैवोदाहरणमुच्यते, उदाहरणं नामैकदेशप्रसिद्ध्याशेषप्रसिद्ध्यर्थमुदाह्रियत इति । तदेतदाह—

उन देवताओंका जो त्रिवृत्करण कहा गया है, उसका उदाहरण दिया जाता है । उदाहरण उसे कहते हैं, जो एक देशकी प्रसिद्धिद्वारा सम्पूर्ण देशकी प्रसिद्धिके लिये कहा जाता है । श्रुति वही उदाहरण देती है—

यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

अग्निका जो रोहित (लाल) रूप है वह तेजका ही रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण है वह अन्नका है । इस प्रकार अग्निसे अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [अग्निरूप] विकार वाणीसे कहनेके लिये नाममात्र है; केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है । १ ।

यदग्नेस्त्रिवृत्कृतस्य रोहितं रूपं प्रसिद्धं लोके तदत्रिवृत्कृतस्य तेजसो रूपमिति विद्धि । तथा यच्छुक्लं रूपमग्नेरेव तदपामत्रिवृत्कृतानां यत्कृष्णं तस्यैवाग्ने रूपं तदन्नस्य पृथिव्या अत्रिवृत्कृताया इति विद्धि ।

लोकमें त्रिवृत्कृत (तीन तत्त्वोंसे मिश्रित) अग्निका जो रोहित रूप प्रसिद्ध है वह अत्रिवृत्कृत (केवल) तेजका रूप है—ऐसा जानो । तथा उस अग्निका ही जो शुक्ल रूप है वह तीन तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे रहित केवल जलका है और उसीका जो कृष्ण रूप है वह अन्नका—अत्रिवृत्कृत पृथिवीका रूप है—ऐसा जानो ।

तत्रैवं सति रूपत्रयव्यतिरेकेणाग्निरिति यन्मन्यसे त्वं तस्याग्नेरग्नित्वमिदानीमपागादपगतम् । प्राग्रूपत्रयविवेकविज्ञानाद्याग्निबुद्धिरासीत्ते साग्निबुद्धिरपगताग्निशब्दश्चेत्यर्थः । यथा दृश्यमानरक्तोपधानसंयुक्तः स्फटिको गृह्यमाणः पद्मरागोऽयमितिशब्दबुद्ध्योः प्रयोजको भवति प्रागुपधानस्फटिकयोर्विवेकविज्ञानात्तद्विवेकविज्ञाने तु पद्मरागशब्दबुद्धी निवर्तेते तद्विवेकविज्ञातुस्तद्वत् ।

ननु किमत्र बुद्धिशब्दकल्पनया क्रियते प्राग्रूपत्रयविवेककरणादग्निरेवासीत्तदग्नेरग्नित्वं

ऐसा होनेपर, तू जो समझता था कि अग्नि इन तीनों रूपोंसे अलग भी कोई वस्तु है सो उस अग्निका अग्नित्व अब चला गया । तात्पर्य यह है कि इन तीन रूपोंका विशेष ज्ञान होनेसे पूर्व तेरी जो अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि और 'अग्नि' शब्द अब निवृत्त हो गये । जिस प्रकार दिखायी देते हुए लाल रंगके उपधान (समीपवर्ती पदार्थ) से मिला हुआ स्फटिक प्राप्त होनेपर उपधान और स्फटिकका पार्थक्य ज्ञात होनेसे पूर्व 'यह पद्मराग है' इस प्रकारके शब्द और बुद्धिका प्रयोजक होता है, किंतु उनका पार्थक्य ज्ञात होनेपर उसमें उस पार्थक्यज्ञानीके पद्मराग शब्द और पद्मराग-बुद्धि दोनों निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार [रूपत्रयका विवेक होनेपर अग्निका अग्नित्व निवृत्त हो जाता है] ।

शङ्का—किंतु यहाँ (इस अग्निके सम्बन्धमें) अग्निबुद्धि और अग्निशब्द ऐसी अधिक कल्पना करके क्या लेना है ? रूपत्रयका विवेक करनेसे पूर्व अग्नि ही था । वह

रोहितादिरूपविवेककरणादपागादिति युक्तम्; यथा तन्त्वपकर्षणे पटाभावः ।

नैवं बुद्धिशब्दमात्रमेव ह्यग्निर्यत आह वाचारम्भणमग्निर्नाम विकारो नामधेयं नाममात्रमित्यर्थः । अतोऽग्निबुद्धिरपि मृषैव । किं तर्हि तत्र सत्यम्? त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, नाणुमात्रमपि रूपत्रयव्यतिरेकेण सत्यमस्तीत्यवधारणार्थः ॥ १ ॥

अग्निका अग्नित्व रोहितादि रूपोंका विवेक करनेसे निवृत्त हो गया—इतना ही कहना उचित है, जिस प्रकार कि तन्तुओंको निकाल लेनेपर पटका अभाव हो जाता है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अग्नि तो अग्निबुद्धि और अग्निशब्दमात्र ही है, कारण श्रुति कहती है 'अग्निरूप जो विकार है वह वाणीपर अवलम्बित नामधेय अर्थात् नाममात्र ही है ।' इसलिये अग्निबुद्धि भी मिथ्या ही है । तो फिर उसमें सत्य क्या है ? बस, तीन रूप ही सत्य हैं—यह कथन इस बातको निश्चित करनेके लिये है कि तीन रूपोंके अतिरिक्त और कुछ अणुमात्र भी सत्य नहीं है ॥१॥

* * *

तथा—

इसी प्रकार—

यदादित्यस्य रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥ यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

आदित्यका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है । इस प्रकार आदित्यसे आदित्यत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [आदित्यरूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं——इतना ही सत्य है ॥ २ ॥ चन्द्रमाका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है । इस प्रकार चन्द्रमासे चन्द्रत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [चन्द्रमारूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ ३ ॥ विद्युत्का जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है । इस प्रकार विद्युत्से विद्युत्त्वकी निवृत्ति हो गयी, क्योंकि [विद्युत्रूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ ४ ॥

यदादित्यस्य यच्चन्द्रमसो यद्विद्युत इत्यादि समानम् ।

जो आदित्यका, जो चन्द्रमाका, जो विद्युत्का इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ।

ननु यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीत्युक्त्वा तेजस एव चतुर्भिरप्युदाहरणैरग्न्यादिभिस्त्रिवृत्करणं दर्शितं नाबन्नयोरुदाहरणं दर्शितं त्रिवृत्करणे ।

शङ्का—किंतु 'हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह मेरेद्वारा जान' ऐसा कहकर अग्नि आदि चारों उदाहरणोंसे तेजका ही त्रिवृत्करण दिखलाया गया है, त्रिवृत्करणमें जल और अन्नका तो उदाहरण प्रदर्शित किया ही नहीं गया ।

नैष दोषः; अबन्नविषयाण्यप्युदाहरणान्येवमेव च द्रष्टव्यानीति मन्यते श्रुतिः, तेजस उदाहरणमुपलक्षणार्थम् । रूपवत्त्वात्स्पष्टार्थत्वोपपत्तेश्च । गन्धरसयोरनुदाहरणं त्रयाणामसंभवात्; न हि गन्धरसौ तेजसि स्तः । स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं विभागेन दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

यदि सर्वं जगत्त्रिवृत्कृतमित्यग्न्यादिवत्त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमग्नेरग्नित्ववदपागाज्जगतो जगत्त्वम् । तथान्नस्याप्यप्शुङ्गत्वादाप इत्येव सत्यं वाचारम्भणमात्रमन्नम् । तथापामपि तेजःशुङ्गत्वाद्वाचारम्भणत्वं तेज इत्येव सत्यम् । तेजसोऽपि सच्छुङ्गत्वाद्वाचारम्भणत्वं सदित्येव सत्यमित्येषोऽर्थो विवक्षितः ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । श्रुति ऐसा मानती है कि जल और अन्नविषयक उदाहरणोंको भी इसी प्रकार जानना चाहिये । तेजका उदाहरण उनका उपलक्षण करानेके लिये है । इसके सिवा, रूपवान् होनेके कारण उसके द्वारा स्पष्टार्थता भी सम्भव है । गन्ध और रसका उदाहरण इसलिये नहीं दिया गया कि इन तीनोंमें उनका होना असम्भव है; तेजमें गन्ध और रस हैं ही नहीं । तथा [त्रिविध] स्पर्श और [त्रिविध] शब्दको अलग करके नहीं दिखाया जा सकता, इसलिये उनका भी उदाहरण नहीं दिया ।

यदि सारा ही जगत् त्रिवृत्कृत है और अग्नि आदिके समान केवल तीन ही रूप सत्य हैं तो अग्निके अग्नित्वके समान संसारका संसारत्व भी निवृत्त हो गया । तथा अन्न जलका कार्य है, इसलिये जल ही सत्य है, अन्न केवल वाचारम्भणमात्र है; तथा तेजका कार्य होनेके कारण जल भी वाचारम्भणमात्र ही है, तेज ही सत्य है और तेज भी सत्का कार्य है इसलिये वह भी वाचारम्भण ही है, केवल सत् ही सत्य है । इस प्रकार इससे यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है ।

ननु वाय्वन्तरिक्षे त्वत्रिवृत्कृते तेजःप्रभृतिष्वनन्तर्भूतत्वादवशिष्येते । एवं गन्धरसशब्दस्पर्शाश्चावशिष्टा इति कथं सता विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातं विज्ञातं भवेत् ? तद्विज्ञाने वा प्रकारान्तरं वाच्यम् ।

नैष दोषः; रूपवद्द्रव्ये सर्वस्य दर्शनात् । कथम् ? तेजसि तावद्रूपवति शब्दस्पर्शयोरप्युपलम्भाद्वाय्वन्तरिक्षयोस्तत्र स्पर्शशब्दगुणवतोः सद्भावोऽनुमीयते । तथाबन्नयो रूपवतो रसगन्धान्तर्भाव इति । रूपवतां त्रयाणां तेजोऽबन्नानां त्रिवृत्करणप्रदर्शनेन सर्वं तदन्तर्भूतं सद्विकारत्वात्त्रीण्येव रूपाणि विज्ञातं मन्यते श्रुतिः । न हि

शङ्का—किंतु वायु और अन्तरिक्ष तो तेज आदिके अन्तर्गत न होनेके कारण अत्रिवृत्कृत ही रह जाते हैं। इसी प्रकार गन्ध, रस, शब्द और स्पर्श भी बच रहते हैं; फिर एकमात्र सत्को जान लेनेपर ही और सब अज्ञात पदार्थोंका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है । अथवा उनका ज्ञान होनेके लिये श्रुतिको कोई दूसरा प्रकार बतलाना चाहिये ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि रूपवान् द्रव्यमें सब गुण देखे जा सकते हैं । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] रूपवान् तेजमें शब्द और स्पर्शकी भी उपलब्धि होनेके कारण उसमें स्पर्श और शब्द गुणवाले वायु और आकाशके सद्भावका भी अनुमान किया जाता है । तथा रूपवान् जल और अन्नमें रस एवं गन्धका अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार तेज, जल और अन्न—इन तीन रूपवानोंका त्रिवृत्करण प्रदर्शित करनेसे श्रुति ऐसा मानती है कि उनके अन्तर्गत साराका सारा सत्का ही कार्य होनेके कारण तीन रूप ही सत्य जाने गये हैं;

मूर्तं रूपवद्द्रव्यं प्रत्याख्याय वाय्वाकाशयोस्तद्गुणयोर्गन्धरसयोर्वा ग्रहणमस्ति ।

अथवा रूपवतामपि त्रिवृत्करणं प्रदर्शनार्थमेव मन्यते श्रुतिः । यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, तथा पञ्चीकरणेऽपि समानो न्याय इत्यतः सर्वस्य सद्विकारत्वात्सता विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति सिद्धमेव भवति । तदेकस्मिन्सति विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति सूक्तम् ॥ २–४ ॥

क्योंकि रूपवान् मूर्त्त पदार्थोंको छोड़कर वायु और आकाशका तथा उनके गुण एवं गन्ध और रसका ग्रहण ही नहीं हो सकता ।

अथवा इन रूपवान् पदार्थोंके त्रिवृत्करणको भी श्रुति प्रदर्शनके ही लिये मानती है । जिस प्रकार त्रिवृत्करणमें तीन रूप ही सत्य हैं उसी प्रकार पञ्चीकरणमें भी समान नियम ही समझना चाहिये । इस प्रकार सब कुछ सत्का ही विकार होनेके कारण सत्के ज्ञानसे यह साराका सारा जान लिया जाता है । अतः एकमात्र अद्वितीय सत् ही सत्य है— यह सिद्ध ही है । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि उस एकको जान लेनेपर यह सब जान लिया जाता है ॥२–४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जाननेवाले पूर्ववर्ती महागृहस्थ और महाश्रोत्रियोंने यह कहा था कि इस समय हमारे कुलमें कोई बात अश्रुत, अमत अथवा अविज्ञात है——ऐसा कोई नहीं कह सकेगा, क्योंकि इन अग्नि आदिके दृष्टान्तद्वारा वे सब कुछ जानते थे ॥ ५ ॥

एतद्विद्वांसो विदितवन्तः पूर्वेऽतिक्रान्ता महाशाला महाश्रोत्रिया आहुर्ह स्म वै किल । किमुक्तवन्तः ? इत्याह—न नोऽस्माकं कुलेऽद्येदानीं यथोक्तविज्ञानवतां कश्चन कश्चिदप्यश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यति नोदाहरिष्यति, सर्वं विज्ञातमेवास्मत्कुलीनानां सद्विज्ञानवत्त्वादित्यभिप्रायः ।

ते पुनः कथं सर्वं विज्ञातवन्तः ? इत्याह—एभ्यस्त्रिभ्यो रोहितादिरूपेभ्यस्त्रिवृत्कृतेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमप्यन्यच्छिष्टमेवमेवेति विदाञ्चक्रुर्विज्ञातवन्तो यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञा एव सद्विज्ञानात्त आसुरित्यर्थः । अथवैभ्यो विदाञ्चक्रुरित्यग्न्यादिभ्यो दृष्टान्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्विदाञ्चक्रुरित्येतत् ॥ ५ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जाननेवाले पूर्ववर्ती अर्थात् अतीतकालीन महागृहस्थ और महाश्रोत्रियोंने कहा था । क्या कहा था ? सो बतलाते हैं—'उपर्युक्त विज्ञानको जाननेवाले हमलोगोंके कुलमें आज—इस समय कुछ भी अश्रुत, अमत अथवा अविज्ञात हो, ऐसा कोई भी नहीं बता सकेगा । तात्पर्य यह है कि सत्के विज्ञानसे युक्त होनेके कारण हमारे कुटुम्बियोंको सब कुछ ज्ञात ही है ।'

किंतु उन्होंने किस प्रकार सब कुछ जाना है, सो श्रुति बतलाती है—'क्योंकि इन तीन अर्थात् [इस प्रकार] जाने हुए त्रिवृत्कृत रोहितादि रूपोंद्वारा, अन्य अवशिष्ट पदार्थ भी ऐसे ही हैं—इस प्रकार वे जानते हैं, अतः सत्के विज्ञानके कारण वे सब सर्वज्ञ ही हो गये हैं'—ऐसा इसका तात्पर्य है । अथवा 'एभ्यः विदाञ्चक्रुः' इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि विज्ञात हुए इन अग्नि आदि दृष्टान्तोंद्वारा वे और सबको भी जान गये हैं ॥ ५ ॥

कथम् ?

किस प्रकार जान गये हैं ?

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳरूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥ यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

जो कुछ रोहित-सा है वह तेजका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है; जो शुक्ल-सा है वह जलका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है तथा जो कृष्ण-सा है वह अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है ॥ ६ ॥ तथा जो कुछ विज्ञात-सा है वह इन देवताओंका ही समुदाय है—ऐसा उन्होंने जाना है । हे सोम्य ! अब तू मेरेद्वारा यह जान कि किस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है ॥ ७ ॥

यदन्यद्रूपेण संदिह्यमाने कपोतादिरूपे रोहितमिव यद्गृह्यमाणमभूत्तेषां पूर्वेषां ब्रह्मविदाम्, तत्तेजसो रूपमिति विदाञ्चक्रुः । तथा यच्छुक्लमिवाभूद्गृह्यमाणं तदपां रूपम्, यत्कृष्णमिव गृह्यमाणं तदन्नस्येति विदाञ्चक्रुः । एवमेवा-

[अग्नि आदिकी अपेक्षा] अन्य रूपसे संदेह किये जाते हुए कपोतादिरूपमें जो उन पूर्ववर्ती ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा रोहित-सा ग्रहण किया जाता था वह तेजका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना । तथा जो शुक्ल-सा ग्रहण किया जाता था वह जलका रूप है और जो कृष्ण-सा ग्रहण किया जाता था वह अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना । इसी प्रकार जो अत्यन्त

त्यन्तदुर्लक्ष्यं यदु अप्यविज्ञातमिव विशेषतोऽगृह्यमाणमभूत्तदप्येतासामेव तिसृणां देवतानां समासः समुदाय इति विदाञ्चक्रुः ।

एवं तावद्बाह्यं वस्त्वग्न्यादिवद्विज्ञातम्, तथेदानीं यथा नु खलु हे सोम्येमा यथोक्तास्तिस्रो देवताः पुरुषं शिरःपाण्यादिलक्षणं कार्यकरणसंघातं प्राप्य पुरुषेणोपयुज्यमानास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति, तन्मे विजानीहि निगदत इत्युक्त्वाह ॥ ६–७ ॥

दुर्लक्ष्य और अविज्ञात-सा अर्थात् विशेषरूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता था वह भी इन तीन देवताओंका ही समूह है—ऐसा उन्होंने जाना था ।

इस प्रकार तो बाह्य वस्तुएँ अग्नि आदिके समान जानी गयीं । अब, हे सोम्य ! जिस प्रकार वे उपर्युक्त तीनों देवता मस्तक और हाथ आदि अङ्गोंवाले शरीर एवं इन्द्रियोंके संघातरूप पुरुषको प्राप्त होकर पुरुषसे उपयोग की जाती हुई प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती है वह मेरे द्वारा—मेरे कथन करनेपर तू जान । ऐसा कहकर वह कहने लगा ॥ ६-७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

अन्न आदिके त्रिविध परिणाम

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है । उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह मन हो जाता है ॥ १ ॥

अन्नमशितं भुक्तं त्रेधा विधीयते जाठरेणाग्निना पच्यमानं त्रिधा विभज्यते । कथम् ? तस्यान्नस्य त्रिधा विधीयमानस्य यः स्थविष्ठः स्थूलतमो धातुः स्थूलतमं वस्तु विभक्तस्य स्थूलोंऽशः, तत्पुरीषं भवति; यो मध्यमोंऽशो धातुरन्नस्य, तद्रसादिक्रमेण परिणम्य मांसं भवति; योऽणिष्ठोऽणुतमो धातुः, स ऊर्ध्वं हृदयं प्राप्य सूक्ष्मासु हिताख्यासु नाडीष्वनुप्रविश्य वागादिकरणसंघातस्य

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है अर्थात् जठराग्निद्वारा पचाये जानेपर वह तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है । सो किस प्रकार ?—तीन भागोंमें विभक्त होते हुए उस अन्नका जो स्थविष्ठ—स्थूलतम धातु—सबसे स्थूल वस्तु यानी विभक्त हुए अन्नका जो स्थूल अंश होता है वह मल हो जाता है । तथा जो अन्नका मध्यम अंश यानी मध्यम धातु होता है वह रसादि क्रमसे परिणत होकर मांस हो जाता है और जो अणिष्ठ—अणुतम धातु होता है वह ऊपरकी ओर हृदयमें पहुँचकर हिता नामकी सूक्ष्म नाड़ीमें प्रवेश कर वाक् आदि

स्थितिमुत्पादयन्मनो भवति । मनोरूपेण विपरिणमन्मनस उपचयं करोति ।

ततश्चान्नोपचितत्वान्मनसो भौतिकत्वमेव; न वैशेषिकतन्त्रोक्तलक्षणं नित्यं निरवयवं चेति गृह्यते । यदपि 'मनोऽस्य दैवं चक्षुः' इति वक्ष्यति तदपि न नित्यत्वापेक्षया; किं तर्हि ? सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टादिसर्वेन्द्रियविषयव्यापकत्वापेक्षया । यच्चान्येन्द्रियविषयापेक्षया नित्यत्वम्, तदप्यापेक्षिकमेवेति वक्ष्यामः । "सत्··· एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) इति श्रुतेः ॥ १ ॥

इन्द्रियसमूहकी स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन हो जाता है । वह मनरूपसे विपरिणाम (विकार) को प्राप्त होता हुआ मनका उपचय करता है ।

इस कारण अन्नसे उपचित होनेसे मनका भौतिक होना ही सिद्ध होता है । वह वैशेषिक दर्शनके कहे हुए लक्षणवाला नित्य और निरवयव है—ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता । आगे (छा० ८ । १२ । ५ में) जो कहा जायगा कि 'मन इसका दैव चक्षु है' वह भी मनके नित्यत्वकी अपेक्षासे नहीं है । तो फिर किस दृष्टिसे है ? वह कथन सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती इत्यादि सभी प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक होनेकी अपेक्षासे है । तथा जो अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षासे उसका नित्यत्व है वह भी आपेक्षिक ही है—ऐसा हम आगे चलकर कहेंगे, क्योंकि "सत् एकमात्र और अद्वितीय है" ऐसी श्रुति है [अतः उसके सिवा और कोई परमार्थ सत्य नहीं हो सकता] ।

* * *

तथा—

इसी प्रकार——

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

पीया हुआ जल तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है ॥ २ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुः, तन्मूत्रं भवति। यो मध्यमः, तल्लोहितं भवति। योऽणिष्ठः, स प्राणो भवति। वक्ष्यति हि 'आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यते' इति ॥ २ ॥

पीया हुआ जल तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है। आगे श्रुति यह कहेगी भी कि 'प्राण जलमय है, जलपान करते हुए तेरा प्राण विच्छिन्न नहीं होगा' ॥ २ ॥

* * *

तथा—

ऐसे ही—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

खाया हुआ [घृतादि] तेज तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह हड्डी हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है ॥ ३ ॥

तेजोऽशितं तैलघृतादि भक्षितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तदस्थि भवति।

खाया हुआ तेज अर्थात् भक्षण किया हुआ तैल-घृत आदि तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम अंश होता है वह हड्डी हो

यो मध्यमः, स मज्जास्थ्यन्तर्गतः स्नेहः । योऽणिष्ठः, सा वाक् । तैलघृतादिभक्षणाद्धि वाग्विशदा भाषणे समर्था भवतीति प्रसिद्धं लोके ॥ ३ ॥

जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा—हड्डीके भीतर रहनेवाला स्निग्ध पदार्थ हो जाता है और जो सूक्ष्मतम अंश है वह वाक् हो जाता है । तैल-घृत आदिके भक्षणसे ही वाणी विशद अर्थात् भाषणमें समर्थ होती है—ऐसा लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥ ३ ॥

यत एवम्—

क्योंकि ऐसा है—

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

[इसलिये] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है । ऐसा कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये ।' तब आरुणिने 'अच्छा सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् ।

[इसलिये] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है ।

ननु केवलान्नभक्षिण आखुप्रभृतयो वाग्मिनः प्राणवन्तश्च तथाब्मात्रभक्ष्याः सामुद्रा मीनमकरप्रभृतयो मनस्विनो वाग्मिनश्च, तथास्नेहपानामपि

शङ्का—किंतु केवल अन्न भक्षण करनेवाले चूहे आदि वाक्युक्त और प्राणवान् देखे जाते हैं तथा समुद्रमें रहनेवाले केवल जलमात्र भक्षण करनेवाले मत्स्य एवं मकर आदि मन और वाणीसे युक्त होते हैं; इसी प्रकार घृतादि न खाने-

प्राणवत्त्वं मनस्वित्वं चानुमेयम्; यदि सन्ति, तत्र कथमन्नमयं हि सोम्य मन इत्याद्युच्यते?

नैष दोषः, सर्वस्य त्रिवृत्कृतत्वात्सर्वत्र सर्वोपपत्तेः, न ह्यत्रिवृत्कृतमन्नमश्नाति कश्चित्, आपो वात्रिवृत्कृताः पीयन्ते, तेजो वात्रिवृत्कृतमश्नाति कश्चिदित्यन्नादानामाखुप्रभृतीनां वाग्मित्वं प्राणवत्त्वं चेत्याद्यविरुद्धम्।

इत्येवं प्रत्यायितः श्वेतकेतुराह भूय एव पुनरेव मा मां भगवानन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादि विज्ञापयतु दृष्टान्तेनावगमयतु। नाद्यापि ममास्मिन्नर्थे सम्यङ् निश्चयो जातः। यस्मात्तेजोऽबन्नमयत्वेनाविशिष्टे देह एकस्मिन्नुपयुज्यमानान्यन्नाप्स्नेहजातान्य-

वालोंका भी प्राणवत्त्व और मनस्वित्व अनुमान किया जा सकता है। जब ऐसे भी जीव हैं तो 'हे सोम्य! मन अन्नमय है' इत्यादि कथन कैसे किया जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सब कुछ त्रिवृत्कृत होनेके कारण सबका सब वस्तुओंमें होना सम्भव है। कोई भी जीव अत्रिवृत्कृत अन्न भक्षण नहीं करता, न अत्रिवृत्कृत जल ही पीया जाता है और न कोई अत्रिवृत्कृत तेजहीको खाता है। इसीसे अन्नादि भक्षण करनेवाले चूहे आदिका वाक्युक्त और प्राणयुक्त होना आदि विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार प्रतीति कराये हुए श्वेतकेतुने कहा—'हे भगवन्! 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि कथनको आप मुझे फिर समझाइये—इसे दृष्टान्त देकर मुझे फिर हृदयङ्गम कराइये। इस विषयमें अभीतक मेरा ठीक निश्चय नहीं हुआ।' क्योंकि तेज, जल और अन्नमयरूपसे एक देहमें कोई विशेषता न होनेपर भी एक ही देहमें उपयोग किये हुए अन्न, जल

णिष्ठधातुरूपेण मनःप्राणवाच उपचिन्वन्ति स्वजात्यनतिक्रमेणेति दुर्विज्ञेयमित्यभिप्रायः; अतो भूय एवेत्याद्याह ।

तमेवमुक्तवन्तं तथास्तु सोम्येति होवाच पिता—शृणुत्र दृष्टान्तं यथैतदुपपद्यते यत्पृच्छसि ॥ ४ ॥

और स्नेह आदि अपनी जातिका अतिक्रम न करते हुए सूक्ष्मतमरूपसे मन, प्राण और वाक्‌का पोषण करते हैं—यह जानना बहुत कठिन है—ऐसा उसका अभिप्राय है । इसीसे उसने 'भूय एव' इत्यादि कहा है ।

इस प्रकार कहनेवाले उस (श्वेतकेतु) से पिताने कहा—'हे सोम्य ! अच्छा, जो कुछ तू पूछता है वह जिस प्रकार उपपन्न हो सकता है इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर' ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

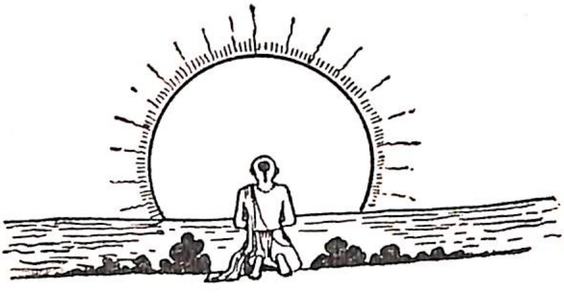

षष्ठ खण्ड

अन्न आदिका सूक्ष्म भाग ही मन आदि होता है

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! मथे जाते हुए दहीका जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है ॥ १ ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमाणुभावः स ऊर्ध्वः समुदीषति संभूयोर्ध्वं नवनीतभावेन गच्छति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! मथे जाते हुए दहीका जो अणिमा--सूक्ष्मांश होता है वह 'ऊर्ध्वः समुदीषति'—इकट्ठा होकर नवनीतरूपसे ऊपर आ जाता है। वह घृत होता है ॥१॥

यथायं दृष्टान्तः--

जैसा कि यह दृष्टान्त है—

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म अंश होता है वह सम्यक् प्रकारसे ऊपर आ जाता है; वह मन होता है ॥ २ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्यौदनादेरश्यमानस्य भुज्यमानस्यौदर्येणाग्निना वायुसहितेन खजेनेव मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति; तन्मनो भवति, मनो-

उसी प्रकार हे सोम्य ! अश्यमान अर्थात् भक्षण किये जाते हुए भात आदि अन्नका जो सूक्ष्म भाग होता है वह मथानीके समान वायुसहित जठराग्निद्वारा मथे जानेपर ऊपर आ जाता है, वह

ऽवयवैः सह संभूय मन उपचिनोतीत्येतत् ॥ २ ॥

मन होता है, अर्थात् मनके अवयवोंके साथ मिलकर मनकी पुष्टि करता है ॥ २ ॥

तथा--

तथा--

अपाꣳसोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! पीये हुए जलका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है; वह प्राण होता है ॥ ३ ॥

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवतीति ॥ ३ ॥

हे सोम्य ! पीये हुए जलका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है; वह प्राण होता है—ऐसा [आरुणिने कहा] ॥ ३ ॥

एवमेव खलु--

ठीक इसी प्रकार—

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और वह वाणी होता है ॥ ४ ॥

सोम्य तेजसोऽश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

हे सोम्य ! भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म अंश होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और वह वाणी होता है ॥ ४ ॥

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

[इस प्रकार] हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है—ऐसा [आरुणिने कहा] । [तब श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये' इसपर आरुणिने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ ५ ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । युक्तमेव मयोक्तमित्यभिप्रायः । अतोऽप्तेजसोरस्त्वेतत्सर्वमेवम्, मनस्त्वन्नमयमित्यत्र नैकान्तेन मम निश्चयो जातः । अतो भूय एव मा भगवान्मनसोऽन्नमयत्वं दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है—इस प्रकार मेरा यह कथन ठीक ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है । [इसपर श्वेतकेतु बोला—] 'आपके कथनानुसार जल और तेजके विषयमें तो भले ही सब कुछ ऐसा ही हो; किंतु अभीतक मुझे इस बातका पूरा निश्चय नहीं हुआ कि मन अन्नमय है । अतः हे भगवन् ! मुझे मनका अन्नमयत्व फिर दृष्टान्तद्वारा समझाइये ।' तब पिताने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ ५ ॥

◆

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

षोडशकलाविशिष्ट पुरुषका उपदेश

अन्नस्य भुक्तस्य योऽणिष्ठो धातुः, स मनसि शक्तिमधात् । सान्नोपचिता मनसः शक्तिः षोडशधा प्रविभज्य पुरुषस्य कलात्वेन निर्दिदिक्षिता । तया मनस्यन्नोपचितया शक्त्या षोडशधा प्रविभक्तया संयुक्तस्तद्वान्कार्यकरणसंघातलक्षणो जीवविशिष्टः पुरुषः षोडशकल उच्यते; यस्यां सत्यां द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञाता सर्वक्रियासमर्थः पुरुषो भवति; हीयमानायां च यस्यां सामर्थ्यहानिः । वक्ष्यति च—"अथान्नस्यायै द्रष्टा" (छा० उ० ७ । ९ । १) इत्यादि । सर्वस्य कार्यकरणस्य सामर्थ्यं मनःकृतमेव । मानसेन हि बलेन

खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मतम अंश था उसने मनमें शक्तिका संचार किया । अन्नद्वारा सम्पन्न हुई उस मनकी शक्तिका सोलह प्रकारसे विभाग कर पुरुषकी कलारूपसे निर्देश करना इष्ट है । मनमें अन्नके द्वारा उपचित तथा सोलह भागोंमें विभक्त हुई उस शक्तिसे संयुक्त उस शक्तिवाला देह और इन्द्रियोंका संघातरूप जीवविशिष्ट पुरुष षोडशकल (सोलह कलाओंवाला) कहा जाता है; जिस शक्तिके रहनेपर ही पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञाता तथा समस्त क्रियाओंमें समर्थ होता है और जिसके क्षीण होनेपर उसकी शक्तिका ह्रास हो जाता है । आगे चलकर श्रुति यह कहेगी भी कि "जिसको अन्नकी प्राप्ति होती है वही पुरुष [शक्ति-सम्पन्न होनेसे] द्रष्टा है" सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंकी शक्ति मनके ही द्वारा है । लोकमें मनोबलसे सम्पन्न

संपन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके ध्यानाहाराश्च केचित्, अन्नस्य सर्वात्मकत्वात्, अतोऽन्नकृतं मानसं वीर्यम् ।

पुरुष बलवान् देखे जाते हैं तथा कोई-कोई केवल ध्यानाहारी भी देखे जाते हैं, क्योंकि अन्न सर्वरूप है; अतः मानसिक बल अन्नसे ही होता है ।

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! पुरुष सोलह कलाओंवाला है । तू पंद्रह दिन भोजन मत कर, केवल यथेच्छ जलपान कर । प्राण जलमय है; इसलिये जल पीते रहनेसे उसका नाश नहीं होगा ॥ १ ॥

षोडश कला यस्य पुरुषस्य सोऽयं षोडशकलः पुरुषः; एतच्चेत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि पञ्चदशसंख्याकान्यहानि माशीरशनं मा कार्षीः, काममिच्छातोऽपः पिब; यस्मान्न पिबतोऽपस्ते प्राणो विच्छेत्स्यते विच्छेदमापत्स्यते यस्मादापोमयोऽब्विकारः प्राण इत्यवोचाम । न हि कार्यं स्वकारणोपष्टम्भमन्तरेणाविभ्रंशमानं स्थातुमुत्सहते ॥ १ ॥

सोलह कलाएँ जिस पुरुषकी हैं वह पुरुष सोलह कलाओंवाला है । यदि तू इस बातको प्रत्यक्ष करना चाहता हो तो पंद्रह दिनतक भोजन मत कर, केवल यथेच्छ जलपान कर, क्योंकि जल पीते रहनेसे तेरा प्राण विच्छिन्न नहीं होगा अर्थात् नाशको प्राप्त नहीं होगा, कारण पहले हम कह चुके हैं कि प्राण जलमय यानी जलका विकार है; और कोई भी कार्य अपने कारणके आश्रय बिना अविनष्टरूपसे स्थित नहीं रह सकता ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

उसने पंद्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् वह उस (आरुणि) के पास आया [और बोला]—‘भगवन् ! क्या बोलूँ ?’ [पिताने कहा—] हे सोम्य ! ऋक्, यजुः और सामका पाठ करो—तब उसने कहा—‘भगवन् ! मुझे उनका प्रतिभान (स्फुरण) नहीं होता’ ॥ २ ॥

स हैवं श्रुत्वा मनसोऽन्नमयत्वं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन्पञ्चदशाहानि नाशाशनं न कृतवान् । अथ षोडशेऽहनि हैनं पितरमुपससादोपगतवानुपगम्य चोवाच—किं ब्रवीमि भो इति । इतर आह—ऋचः सोम्य यजूंषि सामान्यधीष्वेति । एवमुक्तः पित्राह—न वै मा मामृगादीनि प्रतिभान्ति मम मनसि न दृश्यन्त इत्यर्थो हे भो भगवन्निति ॥ २ ॥

उसने ऐसा सुनकर मनकी अन्नमयताको प्रत्यक्ष करनेकी इच्छासे पंद्रह दिन भोजन नहीं किया। फिर सोलहवें दिन वह अपने पिताके पास आया और आकर बोला—‘पिताजी ! क्या बोलूँ ?’ इसपर पिताने कहा—‘हे सोम्य ! ऋक्, यजुः तथा सामवेदके मन्त्रोंका पाठ करो।’ पिताके इस प्रकार कहनेपर वह बोला—‘हे भगवन् ! मुझे ऋगादिका प्रतिभान नहीं होता; तात्पर्य यह है कि मेरे मनमें उनकी प्रतीति नहीं होती’ ॥ २ ॥

* * *

एवमुक्तवन्तं पिताह—शृणु तत्र कारणं येन ते तान्यृगादीनि न प्रतिभान्तीति ।

इस प्रकार कहते हुए उस पुत्रसे पिताने कहा—‘इस सम्बन्धमें तू कारण सुन, जिससे कि तुझे उन ऋगादिका प्रतिभान नहीं होता।’

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳसोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥३॥

वह उससे बोला—'हे सोम्य ! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे प्रज्वलित हुए अग्निका एक जुगनूके बराबर अङ्गारा रह जाय तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे केवल एक कला रह गयी है । उसके द्वारा इस समय तू वेदका अनुभव नहीं कर सकता । अच्छा, अब भोजन कर; तब तू मेरी बात समझ जायगा' ॥ ३ ॥

तं होवाच यथा लोके हे सोम्य महतो महत्परिमाणस्याभ्याहितस्योपचितस्येन्धनैरग्नेरेकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योतपरिमाणः शान्तस्य परिशिष्टोऽवशिष्टः स्याद्भवेत्, तेनाङ्गारेण ततोऽपि तत्परिमाणादीषदपि न बहु दहेत्; एवमेव खलु सोम्य ते तवान्नोपचितानां षोडशानां कलानामेका कलावयवोऽतिशिष्टावशिष्टा स्यात्, तया त्वं खद्योतमात्राङ्गारतुल्ययैतर्हीदानीं वेदान्नानुभवसि न प्रतिपद्यसे श्रुत्वा च मे मम

उससे आरुणिने कहा—'हे सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार ईंधनसे आधान किये हुए—बढ़ाये हुए बहुत बड़े परिमाणवाले अग्निका, उसके शान्त हो जानेपर कोई खद्योतमात्र—खद्योतके बराबर परिमाणवाला अंगारा रह जायगा तो उस अंगारेके द्वारा उससे—उसके परिमाणसे थोड़ा-सा भी अधिक दाह नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी अन्नसे उपचित हुई सोलह कलाओंमेंसे केवल एक कला—एक भाग रह गयी है । उस खद्योतमात्र अंगारके समान एक कलासे तू इस समय वेदोंका अनुभव नहीं कर सकता—इस समय तुझे उनका ज्ञान न हो

वाचमथाशेषं विज्ञास्यस्यशान भुङ्क्ष्व तावत् ॥ ३ ॥

सकेगा । अब पहले तू भोजन कर, तब मेरा वचन सुनकर तू सब जान जायगा ॥ ३ ॥

* * *

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳह यत्किं च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

उसने भोजन किया और फिर उसके (आरुणिके) पास आया । तब उसने जो कुछ पूछा वह सब उसे उपस्थित हो गया ॥ ४ ॥

स ह तथैवाश भुक्तवान् । अथानन्तरं हैनं पितरं शुश्रूषुरुपससाद । तं होपगतं पुत्रं यत्किं चर्गादिषु पप्रच्छ ग्रन्थरूपमर्थजातं वा पिता, स श्वेतकेतुः सर्वं ह तत्प्रतिपेद ऋगाद्यर्थतो ग्रन्थतश्च ॥ ४ ॥

उसने उसी प्रकार (पिताके कथनानुसार) भोजन किया । उसके पश्चात् वह सुननेकी इच्छासे उस अपने पिताके समीप आया । अपने पास आये हुए उस पुत्रसे पिताने ऋगादिमें जो कुछ ग्रन्थरूप अथवा अर्थसमूह पूछा वह सब ऋगादि श्वेतकेतुने ग्रन्थतः तथा अर्थतः जान लिया ॥ ४ ॥

* * *

तꣳहोवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

उससे [आरुणिने] कहा—'हे सोम्य ! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे बढ़े हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अङ्गारा रह जाय और उसे तृणसे सम्पन्न कर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह उसकी (अपने पूर्व परिमाणकी) अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है' ॥ ५ ॥

तं होवाच पुनः पिता यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्येत्यादि समानम्, एकमङ्गारं शान्तस्याग्नेः खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैश्चूर्णैश्चोपसमाधाय प्राज्वलयेद्वर्धयेत् । तेनेद्धेनाङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरिमाणाद्बहु दहेत् ॥ ५ ॥

फिर उससे पिताने कहा—'हे सोम्य ! जिस प्रकार—'महतोऽभ्याहितस्य' इत्यादि पदोंका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये—शान्त हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अंगारा रह जाय और उसे तृण तथा [लकड़ियोंके] चूरेसे सम्पन्न करके प्रज्वलित किया जाय अर्थात् बढ़ाया जाय तो वह उस दीप्त हुए अंगारेसे उस अपने पूर्व परिमाणकी अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है' ॥ ५ ॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

'इसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला अवशिष्ट रह गयी थी । वह अन्नद्वारा वृद्धिको प्राप्त अर्थात् प्रज्वलित कर दी गयी । अब उसीसे तू वेदोंका अनुभव कर रहा है । अतः हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है ।' इस प्रकार [श्वेतकेतु] उसके इस कथनको विशेषरूपसे समझ गया, समझ गया ॥ ६ ॥

एवं सोम्य ते षोडशानामन्नकलानां सामर्थ्यरूपाणामेका

'इसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी सामर्थ्यरूपा अन्नकी सोलह

कलातिशिष्टाभूदतिशिष्टासीत् पञ्चदशाहान्यभुक्तवत एकैकेनाह्नैकैका कला चन्द्रमस इवापरपक्षे क्षीणा, सातिशिष्टा कला तवान्नेन भुक्तेनोपसमाहिता वर्धितोपचिता प्राज्वाली, दैर्घ्यं छान्दसम्, प्रज्वलिता वर्धितेत्यर्थः। प्राज्वालीदिति वा पाठान्तरम्, तदा तेनोपसमाहिता स्वयं प्रज्वलितवतीत्यर्थः। तया वर्धितयैतर्हीदानीं वेदाननुभवस्युपलभसे।

एवं व्यावृत्त्यनुवृत्तिभ्यामन्नमयत्वं मनसः सिद्धमित्युपसंहरति—अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादि। यथैतन्मनसोऽन्नमयत्वं तव सिद्धं तथापोमयः प्राणस्तेजोमयी वागित्येतदपि सिद्धमेवेत्यभिप्रायः। तदेतद्धास्य

कलाओंमेंसे केवल एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। पंद्रह दिन भोजन न करनेसे कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान एक-एक दिनमें तेरी एक-एक कला क्षीण हो गयी थी। वह बची हुई कला तेरे भक्षण किये हुए अन्नद्वारा उपसमाहित—वर्धित, पुष्ट अर्थात् प्रज्वलित कर दी गयी। 'प्राज्वाली' इस पदमें दीर्घ ईकार छान्दस है अथवा 'प्राज्वालीत्' ऐसा पाठान्तर समझना चाहिये। उस अवस्थामें इसका ऐसा अर्थ होगा कि उसके द्वारा आधान हो जानेपर वह स्वयं प्रज्वलित हो गयी। उस वृद्धिको प्राप्त की हुई कलासे ही तू इस समय वेदोंका अनुभव करता है अर्थात् तुझे उनकी उपलब्धि होती है।

इस प्रकार व्यावृत्ति और अनुवृत्ति दोनोंहीके द्वारा मनकी अन्नमयता सिद्ध है। इसीसे 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि वाक्यसे श्रुति इसका उपसंहार करती है। जिस प्रकार तुझे यह मनकी अन्नमयता सिद्ध हुई है उसी प्रकार प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है—यह भी सिद्ध ही है—ऐसा

पितुरुक्तं मनआदीनामन्नादिमयत्वं विजज्ञौ विज्ञातवाञ्श्वेतकेतुः । द्विरभ्यासस्त्रिवृत्करणप्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इसका तात्पर्य है । इस प्रकार पिताके कहे हुए इस मन आदिके अन्नादिमयत्वको श्वेतकेतु विशेषरूपसे समझ गया । 'विजज्ञौ इति' इन पदोंकी द्विरुक्ति त्रिवृत्करणके प्रकरणकी समाप्तिके लिये है ॥ ६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

सुषुप्तिकालमें जीवकी स्थितिका उपदेश

यस्मिन्मनसि जीवेनात्मनानुप्रविष्टा परा देवता—आदर्श इव पुरुषः प्रतिविम्बेन जलादिष्विव च सूर्यादयः प्रतिविम्बैः, तन्मनोऽन्नमयं तेजोऽम्मयाभ्यां वाक्प्राणाभ्यां संगतमधिगतम् । यन्मयो यत्स्थश्च जीवो मननदर्शनश्रवणादिव्यवहाराय कल्पते तदुपरमे च स्वं देवतारूपमेव प्रतिपद्यते ।

तदुक्तं श्रुत्यन्तरे—“ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति” (बृ० उ० ४ । ३ । ७) “स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः” (बृ० उ० ४ । ४ । ५) इत्यादि “स्वप्नेन शारीरम्” (बृ० उ० ४ । ३ । ११)

दर्पणमें प्रतिविम्बरूपसे प्रविष्ट हुए पुरुष और जलादिकमें आभासरूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिकके समान जिस मनमें परदेवता जीवात्मरूपसे अनुप्रविष्ट हुआ है और जिसमें स्थित हुआ तथा जिससे तादात्म्यको प्राप्त हुआ जीव मनन, दर्शन एवं श्रवणादि व्यापारमें समर्थ होता है तथा जिसके निवृत्त होनेपर वह अपने परदेवतारूपको ही प्राप्त हो जाता है वह मन अन्नमय है और तेजोमयी वाक् एवं जलमय प्राणके साथ सम्बद्ध है—ऐसा ज्ञात हुआ ।

इस विषयमें अन्य (वाजसनेय) श्रुतिमें भी ऐसा कहा है—“[मन और प्राणसे सम्बद्ध हुआ यह आत्मा] मानो ध्यान-सा करता है, चेष्टा-सी करता है, वह वासनायुक्त हुआ स्वप्नरूप होकर इस लोकका अतिक्रमण कर जाता है” “वह यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय और मनोमय है” इत्यादि, तथा “स्वप्नसे शरीरको [निश्चेष्ट कर]” इत्यादि

इत्यादि "प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादि च ।

तस्यास्य मनःस्थस्य मनआख्यां गतस्य मनउपशमद्वारेणेन्द्रियविषयेभ्यो निवृत्तस्य यस्यां परस्यां देवतायां स्वात्मभूतायां यदवस्थानं तत्पुत्रायाचिख्यासुः—

एवं "वह आत्मा प्राणनक्रिया करनेसे प्राण नामवाला हो जाता है" इत्यादि भी कहा है ।

उस इस मनःस्थित—मनसंज्ञाको प्राप्त हुए तथा मनकी निवृत्तिके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त हुए जीवका जो अपने स्वरूपभूत परदेवतामें स्थित होना है, उसका अपने पुत्रके प्रति वर्णन करनेकी इच्छावाले—

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—'हे सोम्य ! तू मेरेद्वारा स्वप्नान्त (सुषुप्ति अथवा स्वप्नके स्वरूप) को विशेषरूपसे समझ ले; जिस अवस्थामें यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जाता है, उस समय हे सोम्य ! यह सत्से सम्पन्न हो जाता है—यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । इसीसे इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं; क्योंकि उस समय यह स्व—अपनेको ही अपीत—प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥

उद्दालको ह किलारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाचोक्तवान्—स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यम्, स्वप्न इति दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्या, तस्य

उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—स्वप्नान्त—स्वप्नका मध्य, 'स्वप्न' यह दर्शनवृत्ति [अर्थात् जिसमें वासनारूप विषयोंके दर्शनकी वृत्ति

मध्यं स्वप्नान्तं सुषुप्तमित्येतत् । अथवा स्वप्नान्तं स्वप्नसतत्त्वमित्यर्थः । तत्राप्यर्थात्सुषुप्तमेव भवति; स्वमपीतो भवतीति वचनात् । न ह्यन्यत्र सुषुप्तात्स्वमपीतिं जीवस्येच्छन्ति ब्रह्मविदः ।

तत्र ह्यादर्शापनयने पुरुषप्रतिबिम्ब आदर्शगतो यथा स्वमेव पुरुषमपीतो भवत्येवं मनआद्युपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बरूपेण जीवेनात्मना मनसि प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मनआख्यां हित्वा । अतः सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते ।

यत्र तु सुप्तः स्वप्नान्पश्यति तत्स्वाप्नं दर्शनं सुखदुःखसंयुक्त-

रहती है उस] स्वप्नका नाम है; उसके मध्यको स्वप्नान्त अर्थात् सुषुप्त कहते हैं । अथवा 'स्वप्नान्त' इस शब्दका तात्पर्य 'स्वप्नका तत्त्व' ऐसा भी हो सकता है । ऐसा माननेपर भी अर्थतः सुषुप्त ही सिद्ध होता है; क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' (अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है) ऐसा श्रुतिका वाक्य है; ब्रह्मवेत्तालोग सुषुप्तावस्थाको छोड़कर और किसी दशामें जीवकी स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते ।

जिस प्रकार दर्पणको हटा लेनेपर दर्पणमें स्थित पुरुषका प्रतिबिम्ब स्वयं पुरुषको ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार उस सुषुप्तावस्थामें ही मन आदिकी निवृत्ति हो जानेपर चैतन्यके प्रतिबिम्बरूपसे जीवात्मभावसे नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये मनमें प्रविष्ट हुआ वह परदेवता मनसंज्ञक जीवरूपताको त्यागकर स्वयं अपने स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है । अतः इससे यह विदित होता है कि 'स्वप्नान्त' शब्दका वाच्य 'सुषुप्त' ही है ।

किंतु जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष स्वप्न देखता है वह स्वाप्नदर्शन सुख-दुःखसे युक्त होता

मिति पुण्यापुण्यकार्यम् । पुण्यापुण्ययोर्हि सुखदुःखारम्भकत्वं प्रसिद्धम् । पुण्यापुण्ययोश्चाविद्याकामोपष्टम्भेनैव सुखदुःखतद्दर्शनकार्यारम्भकत्वमुपपद्यते नान्यथेत्यविद्याकामकर्मभिः संसारहेतुभिः संयुक्त एव स्वप्न इति न स्वमपीतो भवति "अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति" (बृ० उ० ४ । ३ । २२) "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दाः" (बृ० उ० ४ । ३ । २१) "एष परम आनन्दः" (बृ० उ० ४ । ३ । ३३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सुषुप्त एव स्वं देवतारूपं जीवत्वविनिर्मुक्तं दर्शयिष्यामीत्याह— स्वप्नान्तं मे मम निगदतो हे सोम्य विजानीहि विस्पष्टमवधारयेत्यर्थः ।

है; इसलिये वह पुण्य-पापका कार्य है, क्योंकि पुण्य-पाप ही क्रमशः सुख-दुःखके आरम्भक रूपमें प्रसिद्ध हैं । किंतु पुण्य-पापका जो सुख, दुःख और उनके दर्शनरूप कार्यका आरम्भकत्व है वह अविद्या और कामनाके आश्रयसे ही सम्भव है, और किसी प्रकार नहीं, इसलिये स्वप्न संसारके हेतुभूत अविद्या, कामना और कर्म इनसे संयुक्त ही है; अतः उस अवस्थामें जीव अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता; जैसा कि "[उस अवस्थामें] वह पुण्यसे असम्बद्ध, पापसे असम्बद्ध तथा हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार किये होता है" "इसका वह यह रूप अतिच्छन्दा (काम,धर्माधर्म तथा अविद्यासे रहित) है" "यह परम आनन्द है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । अतः 'मैं सुषुप्तिमें ही जीवभावसे रहित अपने देवतारूपको दिखलाऊँगा' ऐसा आरुणिने कहा । हे सोम्य ! मेरे कथन करनेसे तू स्वप्नान्त (सुषुप्तावस्था) को विशेषरूपसे जान ले अर्थात् स्पष्टतया समझ ले ।

कदा स्वप्नान्तो भवति ? इत्युच्यते—यत्र यस्मिन्काल एतन्नाम भवति पुरुषस्य स्वप्स्यतः प्रसिद्धं हि लोके स्वपितीति । गौणं चेदं नामेत्याह—यदा स्वपितीत्युच्यते पुरुषः, तदा तस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्यया प्रकृतया देवतया सम्पन्नो भवति सङ्गत एकीभूतो भवति । मनसि प्रविष्टं मनआदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यमपीतोऽपिगतो भवति । अतस्तस्मात्स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिकाः । स्वमात्मानं हि यस्मादपीतो भवति । गुणनामप्रसिद्धितोऽपि स्वात्मप्राप्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायः ।

कथं पुनर्लौकिकानां प्रसिद्धा स्वात्मसम्पत्तिः ? जाग्रच्छ्रमनिमित्तोद्भवत्वात्स्वापस्येत्याहुः । जागरिते हि पुण्यापुण्यनिमित्तसुख-

स्वप्नान्त होता कब है ? सो बतलाते हैं—जिस समय सोनेवाले पुरुषका 'स्वपिति' ऐसा नाम होता है । लोकमें स्वपिति (सोता है) ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है । तथा यह नाम गौण (गुणसम्बन्धी) है—इस आशयसे कहते हैं—जिस समय यह पुरुष 'स्वपिति' ऐसा कहा जाता है उस समय यह सत्से—प्रकरण-प्राप्त 'सत्' शब्दवाच्य देवतासे सम्पन्न—संगत अर्थात् एकीभूत हो जाता है । यह मनमें प्रविष्ट हुआ मन आदिके संसर्गसे प्राप्त हुए जीवरूपको त्यागकर अपने सद्रूपको, जो कि परमार्थ सत्य है, प्राप्त हो जाता है । इसीसे लौकिक पुरुष इसे 'स्वपिति' ऐसा कहकर पुकारते हैं; क्योंकि यह 'स्वम्'—आत्माको 'अपीतः'—प्राप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि इस गौण नामकी प्रसिद्धिसे भी अपने आत्माकी प्राप्ति ज्ञात होती है ।

किंतु लौकिक पुरुषोंको स्वात्माकी प्राप्ति कैसे प्रसिद्ध हुई ? [ऐसा प्रश्न होनेपर] आचार्योंने कहा है—'क्योंकि सुषुप्ति जाग्रत् अवस्थाके श्रमके कारण होती है [इसलिये उसे लोकमें स्वात्मप्राप्ति कहते हैं] । जाग्रत् अवस्थामें पुरुष पुण्य-पापके

दुःखाद्यनेकायासानुभवाच्छ्रान्तो भवति; ततश्चायस्तानां करणानामनेकव्यापारनिमित्तग्लानानां स्वव्यापारेभ्य उपरमो भवति। श्रुतेश्च "श्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः" (बृ० उ० १ । ५ । २१) इत्येवमादि । तथा च "गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः" (बृ० उ० २ । १ । १७) इत्येवमादीनि करणानि प्राणग्रस्तानि; प्राण एकोऽश्रान्तो देहे कुलाये यो जागर्ति, तदा जीवः श्रमापनुत्तये स्वं देवतारूपमात्मानं प्रतिपद्यते। नान्यत्र स्वरूपावस्थानाच्छ्रमापनोदः स्यादिति युक्ता प्रसिद्धिर्लौकिकानां स्वं ह्यपीतो भवतीति।

कारण होनेवाले सुख-दुःख आदि अनेक प्रकारका श्रम अनुभव करनेसे थक जाता है । उसके कारण पीडित अर्थात् अनेक प्रकारके व्यापाररूप निमित्तसे शिथिल हुई इन्द्रियोंकी अपने व्यापारोंसे निवृत्ति हो जाती है । "वाक् भी थक जाती है और चक्षु भी थक जाती है" इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । इसी प्रकार "[सुषुप्तिमें विज्ञानमय आत्माद्वारा] वाक् गृहीत हो जाती है, चक्षु गृहीत हो जाती है, श्रोत्र गृहीत हो जाते हैं और मन गृहीत हो जाता है" इस प्रकार ये सब इन्द्रियाँ प्राणसे गृहीत हो जाती हैं; एक प्राण ही अश्रान्त रहता है जो कि देहरूप घरमें जागता रहता है । उस समय जीव श्रमकी निवृत्तिके लिये अपने स्वाभाविक देवतारूपको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि स्वरूपमें स्थित होनेके सिवा और कहीं श्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती—इसलिये उस समय वह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, ऐसी लौकिक पुरुषोंकी प्रसिद्धि ठीक ही है ।

दृश्यते हि लोके ज्वरादिरोगग्रस्तानां तद्विनिर्मोके स्वास्थ्यानां विश्रमणं तद्वदिहापि स्यादिति युक्तम् । "तद्यथा श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः" (बृ० उ० ४ । ३ । १९) इत्यादिश्रुतेश्च ॥ १ ॥

लोकमें ज्वरादि रोगोंसे ग्रस्त हुए पुरुषोंको उनसे छुटकारा मिलनेपर स्वस्थ होकर विश्राम करते देखा भी जाता ही है; उसी प्रकार यहाँ भी हो सकता है, अतः यह प्रसिद्धि ठीक ही है। यही बात "जिस प्रकार बाज अथवा कोई दूसरा पक्षी सब ओर उड़कर थक जानेपर" इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध होती है॥१॥

* * *

तत्रायं दृष्टान्तो यथोक्तेऽर्थे—

उस उपर्युक्त अर्थमें यह दृष्टान्त है—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति ॥२॥

जिस प्रकार डोरीमें बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने बन्धनस्थानका ही आश्रय लेता है इसी प्रकार निश्चय ही हे सोम्य ! यह मन दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेसे प्राणका ही आश्रय लेता है, क्योंकि हे सोम्य ! मन प्राणरूप बन्धनवाला ही है ॥ २ ॥

स यथा शकुनिः पक्षी शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रबद्धः पाशितो दिशं दिशं

जिस प्रकार चिड़ीमारके हाथमें पकड़ी हुई डोरीसे बँधा हुआ—उसमें फँसाया हुआ पक्षी उस बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छासे

बन्धनमोक्षार्थी सन्प्रतिदिशं पतित्वान्यत्र बन्धनादायतनमाश्रयं विश्रमणायालब्ध्वाप्राप्य बन्धनमेवोपश्रयते । एवमेव यथायं दृष्टान्तः—खलु हे सोम्य तन्मनस्तत्प्रकृतं षोडशकलमन्नोपचितं मनो निर्धारितम्, तत्प्रविष्टस्तत्स्थस्तदुपलक्षितो जीवस्तन्मन इति निर्दिश्यते । मञ्चाक्रोशनवत्स मनआख्योपाधिर्जीवोऽविद्याकामकर्मोपदिष्टां दिशं दिशं सुखदुःखादिलक्षणां जाग्रत्स्वप्नयोः पतित्वा गत्वानुभूयेत्यर्थः, अन्यत्र सदाख्यात्स्वात्मन आयतनं विश्रमणस्थानमलब्ध्वा प्राणमेव, प्राणेन सर्वकार्यकरणाश्रयेणोपलक्षिता प्राण इत्युच्यते सदाख्या परा देवता,

दिशा-विदिशाओंमें उड़कर विश्राम करनेके लिये बन्धनके सिवा कोई और आयतन—आश्रय न पानेपर बन्धनस्थानका ही अवलम्ब लेता है; उसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है, हे सोम्य ! निश्चय ही वह मन—वह सोलह कलाओंवाला प्रकृत मन जो कि अन्नसे उपचित हुआ निश्चय किया गया है, उसमें प्रविष्ट होकर उसीमें स्थित हो, उसके ही द्वारा उपलक्षित होनेवाले जीवका ही वहाँ 'तन्मनः' (वह मन) इस कथनके द्वारा निर्देश किया गया है । मञ्चके आक्रोश (बोलने)* की भाँति वह मनसंज्ञक उपाधिवाला जीव जाग्रत् और स्वप्नके समय अविद्या, कामना और कर्मद्वारा उपदिष्ट सुख-दुःखादिरूप दिशा-विदिशामें उड़कर—जाकर अर्थात् उन्हें अनुभव कर अपने सत्-संज्ञक स्वात्मासे अतिरिक्त और कहीं आश्रय—विश्रामस्थान न पाकर प्राणको ही-सम्पूर्ण कार्य और करणके आश्रयभूत प्राणद्वारा उपलक्षित हुआ सत्-संज्ञक परादेवता यहाँ

---

* जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (मञ्च बोलते हैं) इस वाक्यमें 'मञ्च' शब्दसे उसपर बैठे हुए लोगोंका ग्रहण होता है उसी प्रकार यहाँ 'मन' शब्दसे मनमें स्थित—मनरूप उपाधिवाला जीव उपलक्षित होता है ।

"प्राणस्य प्राणम्" (बृ० उ० ४। ४। १८) "प्राणशरीरो भारूपः" (छा० उ० ३। १४। २) इत्यादिश्रुतेः। अतस्तां देवतां प्राणं प्राणाख्यामेवोपश्रयते। प्राणो बन्धनं यस्य मनसस्तत्प्राणबन्धनं हि यस्मात्सोम्य मनः प्राणोपलक्षितदेवताश्रयम्, मन इति तदुपलक्षितो जीव इति ॥ २ ॥

'प्राण' कहा गया है, जैसा कि "उस प्राणके प्राणको [जो जानते हैं]" "वह प्राणशरीर और प्रकाशस्वरूप है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है; अतः उस प्राण अर्थात् प्राणाख्य देवताको ही आश्रय करता है; क्योंकि हे सोम्य ! प्राण जिसका बन्धन है वह मन प्राणबन्धन है; तात्पर्य यह है कि मन यानी उससे उपलक्षित होनेवाला जीव प्राणोपलक्षित देवताके ही आश्रित है॥२॥

* * *

एवं स्वपितिनामप्रसिद्धिद्वारेण यज्जीवस्य सत्यस्वरूपं जगतो मूलम्,तत्पुत्रस्य दर्शयित्वाहान्नादिकार्यकारणपरम्परयापि जगतो मूलं सद्दिदर्शयिषुः—

इस प्रकार 'स्वपिति' इस नामकी प्रसिद्धिद्वारा जीवका जो सत्यस्वरूप जगत्का मूल है उसे पुत्रको दिखलाकर अन्नादि कार्य-कारण-परम्परासे भी जगत्के मूलभूत सत्को दिखानेकी इच्छासे आरुणिने कहा—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

‘हे सोम्य ! तू मेरेद्वारा अशना (भूख) और पिपासा (प्यास) को जान । जिस समय यह पुरुष ‘अशिशिषति’ (खाना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है उस समय जल ही इसके भक्षण किये हुए अन्नको ले जाता है । जिस प्रकार लोकमें [गौ ले जानेवालेको] गोनाय, [अश्व ले जानेवालेको] अश्वनाय और [पुरुषोंको ले जानेवाले राजा या सेनापतिको] पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार जलको ‘अशनाय’ ऐसा कहकर पुकारते हैं । हे सोम्य ! उस जलसे ही तू इस [शरीररूप] शुङ्ग (अङ्कुर) को उत्पन्न हुआ समझ, क्योंकि यह निर्मूल (कारण-रहित) नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अशनापिपासे अशितुमिच्छाशना, यालोपेन; पातुमिच्छा पिपासा ते अशनापिपासे अशनापिपासयोः सतत्त्वं विजानीहीत्येतत् । यत्र यस्मिन्काल एतन्नाम पुरुषो भवति, किं तत् ? अशिशिषत्यशितुमिच्छतीति। तदा तस्य पुरुषस्य किंनिमित्तं नाम भवति ? इत्याह—यत्तत्पुरुषेणाशितमन्नं कठिनं पीता आपो नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणमयन्ते, तदा भुक्तमन्नं

अशनापिपासे—अशन (भक्षण) की इच्छाको ‘अशना’ कहते हैं, ‘या’ का लोप करनेसे अशना शब्द बनता है [वस्तुतः यह ‘अशनाया’ शब्द है] और पीनेकी इच्छा ‘पिपासा’ कहलाती है । ये ही अशना-पिपासा हैं; इन अशना-पिपासाका तत्त्व तू जान ले—ऐसा इसका तात्पर्य है । जब अर्थात् जिस समय यह पुरुष इस नामवाला होता है, किस नामवाला ?—‘अशिशिषति’ अर्थात् खाना चाहता है; उस समय पुरुषका यह नाम किस कारणसे होता है ? सो बतलाते हैं—उस पुरुषद्वारा खाया हुआ जो कठिन अन्न होता है उसे उसका पीया हुआ जल द्रवीभूत करके ले जाता है अर्थात् रसादिरूपसे परिणत कर देता है । तभी

जीर्यति । अथ च भवत्यस्य नामाशिशिषतीति गौणम् । जीर्णे ह्यन्नेऽशितुमिच्छति सर्वो हि जन्तुः ।

तत्रापामशितनेतृत्वादशनाया इति नाम प्रसिद्धमित्येतस्मिन्नर्थे । यथा गोनायो गां नयतीति गोनाय इत्युच्यते गोपालः, तथाश्वान्नयतीत्यश्वनायोऽश्वपाल इत्युच्यते, पुरुषनायः पुरुषान्नयतीति राजा सेनापतिर्वा, एवं तत्तदाप आचक्षते लौकिका अशनायेति विसर्जनीयलोपेन ।

तत्रैवं सत्यद्भी रसादिभावेन नीतेनाशितेनान्नेन निष्पादितमिदं शरीरं वटकणिकायामिव

उसका भक्षण किया हुआ अन्न पचता है । तत्पश्चात् उसका 'अशिशिषति' ऐसा गौण नाम होता है, क्योंकि सभी जीव अन्नके जीर्ण हो जानेपर ही भोजन करनेकी इच्छा करते हैं ।

अशित (भक्षित अन्न) का नेता (ले जानेवाला) होनेके कारण जलका 'अशनाया' ऐसा नाम प्रसिद्ध है । [इस विषयमें यह दृष्टान्त है—] जिस प्रकार 'गोनायः' गौको ले जाता है इसलिये ग्वाला 'गोनायः' कहा जाता है, तथा अश्वोंको ले जाता है इसलिये अश्वपाल 'अश्वनायः' ऐसा कहा जाता है और पुरुषोंको ले जाता है इसलिये राजा या सेनापति 'पुरुषनायः' कहलाता है । इसी प्रकार उस समय [अशितको ले जानेके कारण] लौकिक पुरुष जलको 'अशनाय' ऐसा विसर्गका लोप करके कहते हैं [अर्थात् 'अशनायः' इस पदके विसर्गका लोप करके 'अशनाय' ऐसा कहते हैं] ।

ऐसा होनेपर ही जलद्वारा रसादिभावको प्राप्त हुए अन्नद्वारा निष्पन्न हुआ यह शरीररूप अङ्कुर वटके बीजसे उत्पन्न होनेवाले अङ्कुर-

शुङ्गोऽङ्कुर उत्पतित उद्गतः; तमिमं शुङ्गं कार्यं शरीराख्यं वटादिशुङ्गवदुत्पतितं हे सोम्य विजानीहि। किं तत्र विज्ञेयम्? इत्युच्यते—शृण्विदं शुङ्गवत्कार्यत्वाच्छरीरं नामूलं मूलरहितं भविष्यति ॥ ३ ॥

के समान उत्पन्न हुआ है। हे सोम्य! वटादिके अङ्कुरके समान उत्पन्न हुए उस इस शरीरसंज्ञक शुंग--कार्यको तू जान। उसमें क्या विज्ञेय है? सो बतलाया जाता है—सुन, अङ्कुरके समान कार्यरूप होनेके कारण यह शरीर अमूल——कारणरहित नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

इत्युक्त आह श्वेतकेतुः—यद्येवं समूलमिदं शरीरं वटादिशुङ्गवत्तस्यास्य शरीरस्य क्व मूलं स्याद्भवेदित्येवं पृष्ट आह पिता—

[आरुणिद्वारा] इस प्रकार कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला – 'यदि इस प्रकार वटादिके अङ्कुरके समान यह शरीर समूल है तो इसका मूल कहाँ हो सकता है? इस प्रकार पूछे जानेपर पिताने कहा—

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है? इसी प्रकार हे सोम्य! तू अन्नरूप शुंगके द्वारा जलरूप मूलको खोज और हे सोम्य! जलरूप शुंगके द्वारा तेजोरूप मूलको खोज तथा तेजोरूप शुंगके द्वारा सद्रूप मूलका अनुसंधान कर। हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है ॥ ४ ॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादन्नं मूलमित्यभिप्रायः। कथम्? अशितं ह्यन्नमद्भिर्द्रवीकृतं जाठरेणाग्निना पच्यमानं रसभावेन परिणमते । रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जायाः शुक्रम् । तथा योषिद्भुक्तं चान्नं रसादिक्रमेणैवं परिणतं लोहितं भवति। ताभ्यां शुक्रशोणिताभ्यामन्नकार्याभ्यां संयुक्ताभ्यामन्नेनैवं प्रत्यहं भुज्यमानेनापूर्यमाणाभ्यां कुड्यमिव मृत्पिण्डैः प्रत्यहमुपचीयमानोऽन्नमूलो देहशुङ्गः परिनिष्पन्न इत्यर्थः ।

यत्तु देहशुङ्गस्य मूलमन्नं निर्दिष्टं तदपि देहवद्विनाशोत्पत्तिमत्त्वात्कस्माच्चिन्मूलादुत्पतितं शुङ्ग एवेति कृत्वाह—यथा

अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है? तात्पर्य यह है कि अन्न ही इसका मूल है। किस प्रकार?—क्योंकि खाया हुआ अन्न ही जलके द्वारा द्रवीभूत होकर जठराग्निद्वारा पचाया जानेपर रसरूपमें परिणत हो जाता है। वह रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्यरूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार स्त्रीद्वारा खाया हुआ अन्न रसादिके क्रमसे परिणत होकर रज बनता है। उस परस्पर मिले हुए अन्नके कार्य तथा प्रतिदिन खाये जानेवाले अन्नसे पुष्ट हुए वीर्य और रजसे मृत्तिकाके पिण्डसे भीतके समान प्रतिदिन पुष्ट होनेवाला यह अन्नमूलक देहरूप अङ्कुर निष्पन्न हुआ है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार जो देहरूप अङ्कुरका मूल अन्न बतलाया गया है वह भी देहके समान उत्पत्ति-नाशवाला होनेके कारण किसी मूलसे उत्पन्न हुआ अङ्कुर ही है—ऐसा मानकर आरुणि कहता है—'हे सोम्य!

देहशुङ्गोऽन्नमूल एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेन कार्यभूतेनापो मूलमन्नस्य शुङ्गस्यान्विच्छ प्रतिपद्यस्व । अपामपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुङ्गत्वमेवेति, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन कार्येण कारणं तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसोऽपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुङ्गत्वमिति, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमेकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम् ।

जिस प्रकार देहरूप अङ्कुर अन्नमूलक है उसी प्रकार कार्यभूत अन्नरूप अङ्कुरके द्वारा तू अन्नरूप अङ्कुरके मूल जलको खोज—प्राप्त कर । जल भी उत्पत्ति-नाशवान् होनेके कारण अङ्कुररूप ही है; अतः हे सोम्य ! जलरूप शुंग यानी कार्यके द्वारा तू उसके मूल कारण तेजको खोज । नाशोत्पत्तिमान् होनेके कारण तेजका भी शुंगत्व ही है; अतः हे सोम्य ! तेजरूप शुंगके द्वारा तू एकमात्र अद्वितीय परमार्थ सत्य सद्रूप मूलकी शोध कर ।

यस्मिन्सर्वमिदं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्तमविद्यया तदस्य जगतो मूलमतः सन्मूलाः सत्कारणा हे सोम्येमाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजा न केवलं सन्मूला एवेदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव । न हि मृदमनाश्रित्य घटादेः सत्त्वं स्थितिर्वास्ति । अतो मृद्वत्सन्मूलत्वात्प्रजानां सदाय-

जिस सद्रूप मूलमें यह वाणीरूप आश्रयवाला नाममात्र विकार रज्जुमें सर्पके समान अविद्यासे अध्यस्त है वही इस जगत्का मूल है । अतः हे सोम्य ! यह स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक तथा सद्रूप कारणवाली है । यह सन्मूलक ही नहीं, इस समय स्थितिकालमें भी सदायतना अर्थात् सद्रूप आश्रयवाली ही है, क्योंकि मृत्तिकाको आश्रय किये बिना घटादिकी सत्ता अथवा स्थिति है ही नहीं । अतः मृत्तिकाके समान सन्मूलक होनेके कारण

तनं यासां ताः सदायतनाः प्रजाः, अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिरवसानं परिशेषो यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

जिस प्रजाका सत् ही आयतन (आश्रय) है वह प्रजा सदायतना है तथा अन्तमें सत्प्रतिष्ठा है—सत् ही जिसकी प्रतिष्ठा—लयस्थान—समाप्ति—अवसान अर्थात् परिशेष है ऐसी वह प्रजा सत्प्रतिष्ठा है ॥४॥

* * *

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

अब, जिस समय यह पुरुष 'पिपासति' (पीना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है तो उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है। अतः जिस प्रकार गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय कहलाते हैं उसी प्रकार उस तेजको 'उदन्या' ऐसा कहकर पुकारते हैं । हे सोम्य ! उस (जलरूप मूल) से यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ है—ऐसा जान, क्योंकि यह मूलरहित नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

अथेदानीमप्शुङ्गद्वारेण सतो मूलस्यानुगमः कार्य इत्याह—यत्र यस्मिन्काल एतन्नाम पिपासति पातुमिच्छतीति पुरुषो भवति । अशिशिषतीतिवदिदमपि गौणमेव नाम भवति । द्रवीकृतस्याशितस्यान्नस्य नेत्र्य आपो-

अब—इस समय जलरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलका ज्ञान कराना है, इस अभिप्रायसे आरुणि कहता है—'जिस समय यह पुरुष 'पिपासति'—पीना चाहता है-ऐसे नामवाला होता है । 'अशिशिषति' इस नामके समान यह भी उसका गौण नाम ही है । भक्षण किये हुए द्रवीकृत अन्नको ले जानेवाला

ऽन्नशुङ्गं देहं क्लेदयन्त्यः शिथिलीकुर्युरब्बाहुल्याद्यदि तेजसा न शोष्यन्ते । नितरां च तेजसा शोष्यमाणास्वप्सु देहभावेन परिणममानासु पातुमिच्छा पुरुषस्य जायते । तदा पुरुषः पिपासति नाम ।

तदेतदाह—तेज एव तत्तदा पीतमबादि शोषयद्देहगतलोहितप्राणभावेन नयते परिणमयति । तद्यथा गोनाय इत्यादि समानमेवं तत्तेज आचष्टे लोक उदन्येत्युदकं नयतीत्युदन्यम् । उदन्येतिच्छान्दसं तत्रापि पूर्ववत् । अपामप्येतदेव शरीराख्यं शुङ्गं नान्यदित्येवमादि समानमन्यत् ॥ ५ ॥

जल, यदि उसे तेजके द्वारा शोषित न किया जाता तो, अपनी बहुलताके कारण अन्नके अङ्कुरभूत देहको आर्द्र करके शिथिल कर देता । देहभावमें परिणत होते हुए जलके तेजद्वारा सर्वथा शोषित किये जानेपर ही पुरुषको जल पीनेकी इच्छा होती है । उसी समय पुरुष 'पिपासति' इस नामवाला होता है ।

उसी बातको श्रुति इस प्रकार कहती है—'उस समय पीये हुए जल आदिको तेज ही सुखाकर देहगत रक्त एवं प्राणभावको ले जाता है अर्थात् उसे रक्त एवं प्राणरूपमें परिणत कर देता है । उसे जिस प्रकार कि 'गोनाय' आदि शब्द हैं उसी प्रकार लोक उस तेजको 'उदन्या' उदकको ले जानेके कारण 'उदन्य' कहते हैं । तेजके अर्थमें भी 'उदन्या' यह प्रयोग पूर्ववत् (जलके अर्थमें 'अशनाया'के समान) छान्दस है । जलका भी यह शरीर नामक अङ्कुर ही है—उससे भिन्न नहीं है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ५ ॥

तस्य क्व मूलꣳस्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ ६ ॥

हे सोम्य ! उस (जलके परिणामभूत शरीर) का जलके सिवा और कहाँ मूल हो सकता है ? हे प्रियदर्शन ! जलरूप अङ्कुरके द्वारा तू तेजोरूप मूलकी खोज कर और हे सोम्य ! तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलकी शोध कर । हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक तथा सद्रूप आयतन और सद्रूप प्रतिष्ठा (लयस्थान) वाली है । हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है वह मैंने पहले ही कह दिया । हे सोम्य ! मरणको प्राप्त होते हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है ॥ ६ ॥

सामर्थ्यात्तेजसोऽप्येतदेव शरीराख्यं शुङ्गम् । अतोऽप्शुङ्गेन देहेनापो मूलं गम्यते । अद्भिः शुङ्गेन तेजो मूलं गम्यते । तेजसा शुङ्गेन सन्मूलं गम्यते पूर्ववत् । एवं हि तेजोऽबन्नमयस्य

त्रिवृत्करणके सामर्थ्यसे यह ज्ञात होता है कि तेजका भी यही शरीरसंज्ञक शुङ्ग (कार्य) है । अतः जलके कार्यभूत देहद्वारा उसके मूल जलका ज्ञान होता है, जलरूप कार्यसे उसके मूल तेजका पता लगता है तथा तेजोरूप कार्यसे उसके मूल सत्का ज्ञान होता है—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये । इस प्रकार तेज, जल और अन्नके

देहशुङ्गस्य वाचारम्भणमात्रस्यान्नादिपरम्परया परमार्थसत्यं सन्मूलमभयमसंत्रासं निरायासं सन्मूलमन्विच्छेति पुत्रं गमयित्वाशिशिषति पिपासतीति नामप्रसिद्धिद्वारेण यदन्यदिहास्मिन्प्रकरणे तेजोऽबन्नानां पुरुषेणोपयुज्यमानानां कार्यकरणसंघातस्य देहशुङ्गस्य स्वजात्यसाङ्कर्येणोपचयकरत्वं वक्तव्यं प्राप्तं तदिहोक्तमेव द्रष्टव्यमिति पूर्वोक्तं व्यपदिशति ।

विकार वाचारम्भणमात्र देहरूप कार्यके परमार्थ सत्य निर्भय निस्त्रास और निरायास सद्रूप मूलको अन्नादि परम्परासे जान—ऐसा पुत्रको समझाकर और इसके सिवा 'अशिशिषति' और 'पिपासति' इन नामोंकी प्रसिद्धिके द्वारा इस प्रकरणमें जो पुरुषद्वारा उपयोगमें लाये जानेवाले तेज, जल और अन्नका अपनी जातिका सांकर्य न करते हुए भूत और इन्द्रियोंके संघातभूत इस शरीरका पोषकत्व बतलाना प्राप्त होता था वह भी ऊपर बतला ही दिया गया है—ऐसा जानना चाहिये—यह बतलानेके लिये आरुणि पहले कहे हुए प्रसंगका ही निर्देश करता है ।

यथा नु खलु येन प्रकारेणेमास्तेजोऽबन्नाख्यास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यन्नमशितं त्रेधा विधीयत इत्यादि तत्रैवोक्तम् । अन्नादीनामशितानां ये मध्यमा धातवस्ते साप्तधातुकं

हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तेज, जल और अन्नसंज्ञक तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर इनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाता है वह पहले ही कहा जा चुका है । 'खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है' यह बात वहीं कही गयी है । वहीं यह भी बतलाया गया है कि भक्षण किये हुए अन्नादिका जो

शरीरमुपचिन्वन्तीत्युक्तम् । मांसं भवति लोहितं भवति मज्जा भवत्यस्थि भवतीति । ये त्वणिष्ठा धातवो मनः प्राणं वाचं देहस्यान्तःकरणसंघातमुपचिन्वन्तीति चोक्तम्—तन्मनो भवति स प्राणो भवति सा वाग्भवतीति ।

सोऽयं प्राणकरणसंघातो देहे विशीर्णे देहान्तरं जीवाधिष्ठितो येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रच्युतो गच्छति तदाहास्य हे सोम्य पुरुषस्य प्रयतो म्रियमाणस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनस्युपसंहियते । अथ तदाहुर्ज्ञातयो न वदतीति । मनःपूर्वको हि वाग्व्यापारः, "यद्वै मनसा ध्यायति

मध्यम भाग होता है वह सात धातुओंवाले* शरीरका पोषण करता है; यथा—'मांस होता है', 'लोहित होता है', 'मज्जा होता है', 'अस्थि होता है' इत्यादि । तथा यह भी बतलाया गया है कि उनका जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह मन, प्राण और वाक् इस देहके अन्तःकरणसंघातका पोषण करता है; यथा—'वह मन होता है', 'वह प्राण होता है', 'वह वाक् होती है' इत्यादि ।

वह यह प्राण और इन्द्रियोंका संघात देहके नष्ट होनेपर जीवसे अधिष्ठित हुआ जिस क्रमसे पूर्व देहसे च्युत होकर अन्य देहको प्राप्त होता है उसका वर्णन आरुणि करता है—'हे सोम्य ! इस पुरुषके मरते समय वाणी मनको प्राप्त हो जाती है अर्थात् वाणीका मनमें उपसंहार हो जाता है । उस समय जातिवाले कहा करते हैं कि 'यह नहीं बोलता' क्योंकि वाणीका व्यापार तो मनःपूर्वक ही होता है; जैसा कि "जो बात मनसे सोचता

---

* शरीरके आधारभूत सात धातु ये हैं—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य ।

तद्वाचा वदति" (नृ० पू० ता० उ० १ । १) इति श्रुतेः ।

वाच्युपसंहृतायां मनसि मनो मननव्यापारेण केवलेन वर्तते । मनोऽपि यदोपसंह्रियते तदा मनः प्राणे सम्पन्नं भवति—सुषुप्तकाल इव; तदा पार्श्वस्था ज्ञातयो न विजानातीत्याहुः । प्राणश्च तदोर्ध्वोच्छ्वासी स्वात्मन्युपसंहृतबाह्यकरणः संवर्गविद्यायां दर्शनाद्धस्तपादादीन्विक्षिपन्मर्मस्थानानि निकृन्तन्निव उत्सृजन्क्रमेणोपसंहृतस्तेजसि सम्पद्यते । तदाहुर्ज्ञातयो न चलतीति । मृतो नेति वा विचिकित्सन्तो देहमालभमाना उष्णं चोपलभमाना देह उष्णो जीवतीति । यदा

है वही वाणीसे बोलता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

वाणीका मनमें उपसंहार हो जानेपर मन केवल मननव्यापार करता हुआ वर्तमान रहता है । जिस समय मनका भी उपसंहार होता है उस समय मन प्राणमें लीन हो जाता है । तब आस-पास बैठे हुए जातिवाले कहते हैं—'अब यह पहचानता नहीं है' । उस समय, जिसने बाह्य इन्द्रियोंका अपनेमें उपसंहार कर लिया है वह प्राण ऊर्ध्वोच्छ्वासी होकर—क्योंकि संवर्गविद्यामें[*] [प्राण, वागादिको अपनेमें लीन कर लेता है—ऐसा] दिखलाया गया है—हाथ-पाँव पटकता हुआ मानो मर्मस्थानोंका छेदन करता बहिर्गत होनेके लिये क्रमशः उपसंहृत होकर तेजमें लीन हो जाता है । तब जातिवाले कहते हैं—'अब हिल-डुल नहीं सकता' । फिर यह शङ्का करते हुए कि अभी मरा है या नहीं वे देहका स्पर्श करते हैं और देहमें उष्णता देखकर कहते हैं 'अभी शरीर उष्ण है, अतः जीता है' । जिस समय

---

[*] देखिये छान्दोग्य० ४ । ३ । ३ ।

तदग्न्यौष्ण्यलिङ्गं तेज उपसंह्रियते तदा तत्तेजः परस्यां देवतायां प्रशाम्यति ।

तदैवं क्रमेणोपसंहृते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि तत्स्थो जीवोऽपि सुषुप्तकालवन्निमित्तोपसंहारादुपसंह्रियमाणः सन्सत्याभिसन्धिपूर्वकं चेदुपसंह्रियते सदेव सम्पद्यते न पुनर्देहान्तराय सुषुप्तादिवोत्तिष्ठति । यथा लोके सभये देशे वर्तमानः कथञ्चिदिवाभयं देशं प्राप्तस्तद्वत् । इतरस्त्वनात्मज्ञस्तस्मादेव मूलात्सुषुप्तादिवोत्थाय मृत्वा पुनर्देहजालमाविशति यस्मान्मूलादुत्थाय देहमाविशति जीवः ॥ ६ ॥

उष्णता ही जिसका लिंग है वह तेज भी उपसंहृत हो जाता है तब वह तेज परदेवतामें प्रशान्त होता है ।

तब इस प्रकार क्रमशः उपसंहृत होकर मनके अपने मूलभूत परदेवताको प्राप्त होनेपर उसमें स्थित जीव भी सुषुप्तकालके समान अपने निमित्त [मन] का उपसंहार हो जानेके कारण उपसंहृत होता हुआ यदि सत्यानुसंधानपूर्वक उपसंहृत होता है तो सत्को ही प्राप्त हो जाता है; सोनेसे जगे हुए पुरुषके समान फिर देहान्तरको प्राप्त नहीं होता; जिस प्रकार कि लोकमें भयपूर्ण देशमें रहनेवाला कोई प्राणी किसी प्रकार अभय देशमें पहुँच जानेपर [फिर उससे नहीं लौटता] उसी प्रकार [यह भी नहीं लौटता] । किंतु अन्य जो अनात्मज्ञ है वह सोनेसे जगे हुए पुरुषके समान मरनेके अनन्तर उस अपने मूलसे, जिस मूलसे कि जीव उठकर देहमें प्रवेश करता है, उठकर फिर देहपाशमें प्रवेश करता है ॥ ६ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ७ ॥

स यः सदाख्य एष उक्तोऽणिमाणुभावो जगतो मूलमैतदात्म्यमेतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव ऐतदात्म्यम् । एतेन सदाख्येनात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत् । नान्योऽस्त्यस्यात्मा संसारी, "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।

येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत् । अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम् । आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगा-

यह जो सत्संज्ञक अणिमा—अणुता जगत्‌का मूल बतलायी गयी है 'ऐतदात्म्य' यह सब है—जिस सबकी एतत् (यह) सत् आत्मा है उसे 'एतदात्म' कहते हैं उसका भाव 'ऐतदात्म्य' है; अर्थात् इस सत्संज्ञक आत्मासे यह सारा जगत् आत्मवान् है । इसका आत्मा कोई और संसारी नहीं है; जैसा कि "इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य कोई श्रोता नहीं है" इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

जिस आत्मासे यह सारा जगत् आत्मवान् है वही सत्संज्ञक कारण सत्य अर्थात् परमार्थ सत् है । अतः वह आत्मा ही जगत्‌का प्रत्यक्स्वरूप—सतत्त्व अर्थात् याथात्म्य है, क्योंकि जिस प्रकार गो आदि शब्द बैल, गाय आदि अर्थमें रूढ

त्मनि गवादिशब्दवन्निरूढत्वात्। अतस्तत्सत्त्वमसीति हे श्वेतकेतो ।

इत्येवं प्रत्यायितः पुत्र आह भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु यद्भवदुक्तं तत्संदिग्धं ममाहन्यहनि सर्वाः प्रजाः सुषुप्ते सत्संपद्यन्त इत्येतद्येन सत्सम्पद्य न विदुः सत्सम्पन्ना वयमिति। अतो दृष्टान्तेन मां प्रत्यायत्वित्यर्थः। एवमुक्तस्तथास्तु सोम्येति होवाच पिता ॥ ७ ॥

हैं उसी प्रकार उपपदरहित 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मामें रूढ है । अतः हे श्वेतकेतो ! वह सत् तू है ।

इस प्रकार प्रतीति कराये हुए पुत्रने फिर कहा—'भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये । आपने जो कहा है उसमें अभी मुझे संदेह ही है—सम्पूर्ण प्रजा रोज-रोज सुषुप्तिमें सत्को प्राप्त होती है; अतः इस विषयमें मुझे संदेह ही है कि वह यह कैसे नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं । इसलिये तात्पर्य यह है कि आप मुझे दृष्टान्त देकर समझाइये' इस प्रकार कहे जानेपर पिताने 'सोम्य ! अच्छा' ऐसा कहा ॥ ७ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
अष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

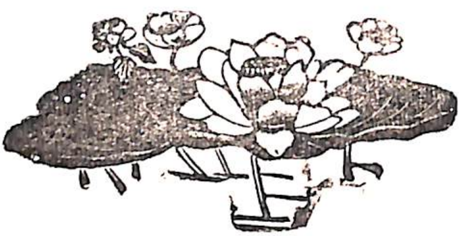

नवम खण्ड

सुषुप्तिमें 'सत्'की प्राप्तिका ज्ञान न होनेमें मधुमक्खियोंका दृष्टान्त

यत्पृच्छस्यहन्यहनि सत्सम्पद्य न विदुः सत्सम्पन्नाः स्म इति तत्कस्मादित्यत्र शृणु दृष्टान्तम्—

तू जो पूछता है कि प्रजा जो प्रतिदिन सत्को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं, सो उसका यह अज्ञान किस कारणसे है?—इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳरसान्समवहारमेकताꣳरसं गमयन्ति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न (तैयार) करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं ॥ १ ॥

यथा लोके हे सोम्य मधुकृतो मधुकुर्वन्तीति मधुकृतो मधुकरमक्षिका मधु निस्तिष्ठन्ति मधु निष्पादयन्ति तत्पराः सन्तः । कथम् ? नानात्ययानां नानागतीनां नानादिक्कानां वृक्षाणां रसान्समवहारं समाहृत्यैकतामेकभावं मधुत्वेन रसान्गमयन्ति मधुत्वमापादयन्ति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार लोकमें मधुकृत—मधु करती हैं इसलिये जो मधुकृत कही जाती हैं वे मधुमक्खियाँ तत्पर होकर मधु तैयार करती हैं । किस प्रकार तैयार करती हैं ? नानात्यय नाना गतियोंवाले (नाना प्रकारके) विविध दिशाओंमें स्थित वृक्षोंके रस लाकर उन रसोंको मधुरूपसे एकताको प्राप्त करा देती हैं अर्थात् मधुत्वको प्राप्त करा देती हैं ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥ २॥

वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ' हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्‌को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्‌को प्राप्त हो गये ॥ २ ॥

ते रसा यथा मधुत्वेनैकतां गतास्तत्र मधुनि विवेकं न लभन्ते । कथममुष्याहमाम्रस्य पनसस्य वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति । यथा हि लोके बहूनां चेतनावतां समेतानां प्राणिनां विवेकलाभो भवत्यमुष्याहं पुत्रोऽमुष्याहं नप्तास्मीति । ते च लब्धविवेकाः सन्तो न संकीर्तयन्ते न तथेहानेकप्रकारवृक्षरसानामपि मधुराम्लतिक्तकटुकादीनां मधुत्वेनैकतां गतानां मधुरादिभावेन विवेको गृह्यत इत्यभिप्रायः ।

यथायं दृष्टान्त इत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा

मधुरूपसे एकताको प्राप्त हुए वे रस जिस प्रकार उस मधुमें [इस प्रकारका] विवेक प्राप्त नहीं करते—किस प्रकारका ?—कि मैं इस आम अथवा कटहलके वृक्षका रस हूँ, जिस प्रकार कि लोकमें बहुत-से चेतन प्राणियोंके एकत्रित होनेपर इस प्रकारका विवेक हुआ करता है कि 'मैं इसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ' इत्यादि और इस प्रकार विवेक रखनेके कारण वे आपसमें नहीं मिलते, उसी प्रकार यहाँ मधुरूपसे एकताको प्राप्त हुए अनेकों वृक्षोंके मीठे, खट्टे, तीखे अथवा कड़वे रसोंका मधुर आदि रूपसे विवेक ग्रहण नहीं किया जाता—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

जैसा कि यह दृष्टान्त है ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा नित्य

अहन्यहनि सति सम्पद्य सुषुप्तिकाले मरणप्रलययोश्च न विदुर्न विजानीयुः—सति सम्पद्यामह इति सम्पन्ना इति वा ॥ २ ॥

प्रति सुषुप्ति, मृत्यु तथा प्रलयकालमें सत्‌को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्‌को प्राप्त हो रहे हैं अथवा हो गये हैं ॥ २ ॥

यस्माच्चैवमात्मनः सद्रूपतामज्ञात्वैव सत्सम्पद्यन्ते, अतः—

क्योंकि इस प्रकार वे अपनी सद्रूपताको बिना जाने ही सत्‌को प्राप्त होते हैं; इसलिये—

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

वे इस लोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी [सुषुप्ति आदिसे पूर्व] होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं ॥ ३ ॥

त इह लोके यत्कर्मनिमित्तां यां यां जातिं प्रतिपन्ना आसुर्व्याघ्रादीनां व्याघ्रोऽहं सिंहोऽहमित्येवं ते तत्कर्मज्ञानवासनाङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा अपि तद्भावेनैव पुनराभवन्ति पुनः सत आगत्य व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा

वे इस लोकमें जिस-जिस कर्मके कारण व्याघ्रादिमेंसे जिस-जिस जातिको 'मैं व्याघ्र हूँ, मैं सिंह हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेशसे प्राप्त हुए थे उस कर्म और ज्ञानकी वासनासे अङ्कित हुए वे सत्‌में प्रविष्ट होनेपर भी उसी भावसे फिर उत्पन्न हो जाते हैं; अर्थात् सत्‌से पुनः लौटकर व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, डाँस अथवा मच्छर जो कुछ वे पहले इस लोकमें

यद्यत्पूर्वमिह लोके भवन्ति बभूवुरित्यर्थः, तदेव पुनरागत्य भवन्ति युगसहस्रकोट्यन्तरितापि संसारिणो जन्तोर्या पुरा भाविता वासना सा न नश्यतीत्यर्थः । "यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ३ ॥

थे वही फिर लौटकर हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि सहस्रों कोटि युगोंका अन्तर पड़ जानेपर भी संसारी जीवोंकी जो पूर्वभावित वासना होती है वह नष्ट नहीं होती । "जन्म पूर्व वासनाके अनुसार ही होते हैं" ऐसी एक दूसरी श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

ताः प्रजा यस्मिन्प्रविश्य पुनराविर्भवन्ति, ये त्वितोऽन्ये सत्सत्यात्माभिसन्धा यमणुभावं सदात्मानं प्रविश्य नावर्तन्ते

जिसमें प्रवेश करके वह प्रजा पुनः आविर्भूत होती है, तथा उनसे अन्य जो सद्रूप सत्यात्मामें अभिनिवेश रखनेवाले हैं वे जिस अणुभाव अर्थात् सत्यात्मामें प्रवेश करके फिर नहीं लौटते—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

स य एषोऽणिमेत्यादि व्याख्यातम् । यथा लोके स्वकीये गृहे सुप्त उत्थाय ग्रामान्तरं गतो

'स य एषोऽणिमा' इत्यादि मन्त्रकी व्याख्या पहले की जा चुकी है । [श्वेतकेतु बोला—] जिस प्रकार लोकमें अपने घरमें सोया हुआ पुरुष उठकर ग्रामान्तरमें

जानाति स्वगृहादागतोऽस्मीत्येवं सत आगतोऽस्मीति च जन्तूनां कस्माद्विज्ञानं न भवतीति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्वित्युक्तस्तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ ४ ॥

जानेपर यह जानता है कि मैं अपने घरसे आया हूँ, इसी प्रकार जीवोंको ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता कि मैं सत्के पाससे आया हूँ, अतः हे भगवन् ! मुझे फिर समझाइये । इस प्रकार कहे जानेपर पिताने कहा—‘सोम्य ! अच्छा’ ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥९॥

दशम खण्ड

नदीके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृण तत्र दृष्टान्तं यथा—

इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर । जिस प्रकार——

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर । वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है । वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' ॥ १ ॥

सोम्येमा नद्यो गङ्गाद्याः पुरस्तात्पूर्वां दिशं प्रति प्राच्यः प्रागञ्चनाः स्यन्दन्ते स्रवन्ति । पश्चात्प्रतीचीं दिशं प्रति सिन्ध्वाद्याः प्रतीचीमञ्चन्ति गच्छन्तीति प्रतीच्यस्ताः समुद्रादम्भोनिधेर्जलधरैराक्षिप्ताः पुनर्वृष्टिरूपेण पतिता गङ्गादिनदीरूपिण्यः पुनः समुद्रमम्भोनिधिमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति । ता नद्यो यथा तत्र समुद्रे समुद्रात्मनैकतां

हे सोम्य ! ये गङ्गा आदि नदियाँ प्राच्य पूर्ववाहिनी होकर पुरस्तात् पूर्व दिशाकी ही ओर बहती हैं तथा सिन्धु आदि, जो पश्चिमकी ओर जाती हैं अतः प्रतीच्य (पश्चिमवाहिनी) हैं, पश्चिम दिशाके प्रति बहती हैं । वे समुद्र—जलनिधिसे मेघोंद्वारा आकृष्ट होकर वृष्टिरूपसे बरसकर गङ्गादिरूपमें फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है । जिस प्रकार समुद्रमें समुद्ररूपसे एकताको प्राप्त हुई वे

गता न विदुर्न जानन्तीयं गङ्गाहमस्मीयं यमुनाहमस्मीति च ॥ १ ॥

नदियाँ यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं गङ्गा हूँ, यह मैं यमुना हूँ' इत्यादि ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्‌से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्‌के पाससे आयी हैं । इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं ॥२॥ वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला--] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा यस्मात्सति सम्पद्य न विदुस्तस्मात्सत आगम्य न विदुः सत

ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ क्योंकि सत्‌में लीन होकर [अपना पार्थक्यज्ञान नहीं रहता, इसलिये] उस सत्‌से

आगच्छामह आगता इति वा । त इह व्याघ्र इत्यादि समानमन्यत् । दृष्टं लोके जले वीचितरङ्गफेनबुद्बुदादय उत्थिताः पुनस्तद्भावं गता विनष्टा इति । जीवास्तु तत्कारणभावं प्रत्यहं गच्छन्तोऽपि सुषुप्ते मरणप्रलययोश्च न विनश्यन्तीत्येतत् । भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु दृष्टान्तेन । तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ २-३ ॥

लौटनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्के पाससे आयी हैं । 'ते इह व्याघ्रः' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है । [श्वेतकेतु बोला—] लोकमें यह देखा गया है कि जलमें उठे हुए भँवर, तरंग, फेन एवं बुद्बुद आदि पुनः जलरूप हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं; किंतु जीव तो प्रतिदिन सुषुप्तावस्थामें तथा मरण और प्रलयके समय अपने कारणभावको प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होते—सो हे भगवन् ! इस बातको मुझे दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये । तब पिताने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ २-३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१०॥

एकादश खण्ड

वृक्षके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृणु दृष्टान्तमस्य—

[इस विषयमें] एक दृष्टान्त सुनो—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए ही केवल रस-स्राव करेगा, यदि मध्यमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए केवल रसस्राव करेगा और यदि इसके अग्रभागमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसस्राव करेगा । यह वृक्ष जीव—आत्मासे ओतप्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है ॥ १ ॥

हे सोम्य महतोऽनेकशाखादियुक्तस्य वृक्षस्यास्येत्यग्रतः स्थितं वृक्षं दर्शयन्नाह—यदि यः कश्चिदस्य मूलेऽभ्याहन्यात्परश्वादिना सकृद्घातमात्रेण न शुष्यतीति जीवन्नेव भवति तदा तस्य रसः स्रवेत् । तथा यो

हे सोम्य ! [इस प्रकार सम्बोधित करके] सामने स्थित वृक्षको दिखलाते हुए कहते हैं—इस महान्—अनेक शाखादिसे युक्त वृक्षके मूलमें यदि कोई कुल्हाड़ी आदिसे आघात करे तो एक ही आघातसे यह सूख नहीं जाता, बल्कि जीवित ही रहता है; उस समय केवल इसका कुछ रस निकल जाता है । तथा यदि कोई मध्यमें आघात करे तो भी यह

मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्तथा योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष वृक्ष इदानीं जीवेनात्मनानुप्रभूतोऽनुव्याप्तः पेपीयमानोऽत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान्मूलैर्गृह्णन्मोदमानो हर्षं प्राप्नुवंस्तिष्ठति ॥ १ ॥

जीवित रहते हुए ही रसस्राव कर देता है और यदि अग्रभागमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसस्राव करता है। इस समय यह वृक्ष जीव—आत्मासे अनुप्रभूत—पूर्णतः व्याप्त है और अत्यन्त जलपान करता हुआ तथा अपनी जड़द्वारा पृथिवीके रसोंको ग्रहण करता हुआ—मोदमान होता—हर्ष पाता हुआ स्थित है ॥ १ ॥

***

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥

यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है; यदि दूसरीको छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और तीसरीको छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ २ ॥

तस्यास्य यदेकां शाखां रोगग्रस्तामाहतां वा जीवो जहात्युपसंहरति शाखायां विप्रसृतमात्मांशम्, अथ सा शुष्यति। वाङ्मनःप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो

उस इस वृक्षकी यदि एक रोगग्रस्त अथवा आहत शाखाको जीव छोड़ देता है—उस शाखामें व्याप्त जीवांश उपसंहृत हो जाता है तो वह सूख जाती है; क्योंकि वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रिय-ग्राममें जीव अनुप्रविष्ट है इसलिये

हि जीव इति तदुपसंहार उपसंह्रियते। जीवेन च प्राणयुक्तेनाशितं पीतं च रसतां गतं जीववच्छरीरं वृक्षं च वर्धयद्रसरूपेण जीवस्य सद्भावे लिङ्गं भवति। अशितपीताभ्यां हि देहे जीवस्तिष्ठति ते चाशितपीते जीवकर्मानुसारिणी इति। तस्यैकाङ्गवैकल्यनिमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति तदा जीव एकां शाखां जहाति शाखाया आत्मानमुपसंहरति। अथ तदा सा शाखा शुष्यति।

जीवस्थितिनिमित्तो रसो जीवकर्माक्षिप्तो जीवोपसंहारे न तिष्ठति। रसापगमे च शाखा शोषमुपैति। तथा सर्वं वृक्षमेव यदायं जहाति तदा सर्वोऽपि वृक्षः शुष्यति। वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टा-

उनका उपसंहार होनेपर वह भी उपसंहृत हो जाता है। प्राणयुक्त जीवके द्वारा ही भक्षण तथा पान किया हुआ अन्न-जल रसभावको प्राप्त होता है; वह रसरूपसे जीवयुक्त शरीर तथा सजीव वृक्षकी वृद्धि करता हुआ जीवके सद्भावमें लिंग है। खाये-पीये हुए अन्न-जलसे ही जीव देहमें रहता है। वे खान-पान जीवके कर्मानुसार होते हैं। जिस समय उसके एक अङ्गकी विकलताका निमित्तभूत कर्म उपस्थित होता है उस समय जीव एक शाखाको छोड़ देता है——उस एक शाखासे अपना उपसंहार कर लेता है। इसके पश्चात् तब वह शाखा सूख जाती है।

जीवके कर्मानुसार प्राप्त हुआ तथा जीवकी स्थितिके कारण रहनेवाला रस जीवका उपसंहार होनेपर नहीं रहता; और रसके निकल जानेपर शाखा सूख जाती है। इसी प्रकार जब यह सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा ही वृक्ष सूख जाता है। वृक्षके रसस्राव एवं शोषण आदि लिंगसे उसकी सजीवता सिद्ध होती है तथा ['स एष वृक्षः जीवेन आत्मना अनु-

न्तश्श्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति बौद्धकाणादमतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति ॥ २ ॥

प्रभूतः'] इस दृष्टान्तश्रुतिसे यह निश्चित होता है कि स्थावर चेतनायुक्त होते हैं और इससे यह भी प्रदर्शित हो जाता है कि 'स्थावर चेतनाशून्य होते हैं' ऐसा बौद्ध और काणादमत सारहीन है ॥२॥

यथास्मिन्वृक्षदृष्टान्ते दर्शितं जीवेन युक्तो वृक्षोऽशुष्को रसपानादियुक्तो जीवतीत्युच्यते तदपेतश्च म्रियत इत्युच्यते—

जिस प्रकार कि इस वृक्षके दृष्टान्तमें यह दिखलाया गया है कि जीवसे युक्त वृक्ष अशुष्क और रसपानादिसे युक्त रहता है; इसलिये 'वह जीवित है'—ऐसा कहा जाता है तथा उस (जीव) से रहित हो जानेपर 'मर जाता है' ऐसा कहा जाता है—

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता'—ऐसा [आरुणिने] कहा, 'वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है ।' [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच। जीवापेतं जीववियुक्तं वाव किलेदं शरीरं म्रियते न जीवो म्रियत इति। कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य ममेदं कार्यशेषमपरिसमाप्तमिति स्मृत्वा समापनदर्शनात्। जातमात्राणां च जन्तूनां स्तन्याभिलाषभयादिदर्शनाच्चातीतजन्मान्तरानुभूतस्तनपानदुःखानुभवस्मृतिर्गम्यते। अग्निहोत्रादीनां च वैदिकानां कर्मणामर्थवत्त्वान्न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमेत्यादि समानम्।

कथं पुनरिदमत्यन्तस्थूलं पृथिव्यादि नामरूपवज्जगदत्यन्तसूक्ष्मात्सद्रूपान्नामरूपरहितात् सतो जायत इत्येतद्दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच पिता॥ ३॥

'हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीवापेत—जीवसे वियुक्त हुआ यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता' ऐसा [आरुणिने] कहा, 'क्योंकि कार्य शेष रहनेपर ही सोकर उठे हुए पुरुषको 'मेरा यह काम शेष रह गया था' ऐसा स्मरण करके उसे समाप्त करते देखा जाता है। तथा तत्काल उत्पन्न हुए जीवोंको स्तनपानकी अभिलाषा और भय आदि होते देखे जानेसे पूर्वजन्मोंमें अनुभव किये हुए स्तनपान तथा दुःखानुभवकी स्मृतिका ज्ञान होता है। इसके सिवा अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मोंकी सार्थकता होनेके कारण भी जीव नहीं मरता।' 'स य एषोऽणिमा' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है।

'किंतु यह अत्यन्त स्थूल 'पृथिवी' आदि नाम और रूपोंवाला संसार अत्यन्त सूक्ष्म, सद्रूप, नामरूपरहित सत्से किस प्रकार उत्पन्न होता है? इस बातको हे भगवन्! मुझे दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये'—ऐसा श्वेतकेतुने कहा। तब पिताने कहा—'सोम्य! अच्छा'॥ ३॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ ११॥

द्वादश खण्ड

न्यग्रोधफलके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

यद्येतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि–

यदि तू इस बातको प्रत्यक्ष करना चाहता है तो—

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥ १ ॥

इस (सामनेवाले वटवृक्ष) से एक बड़का फल ले आ । [श्वेतकेतु–] 'भगवन् ! यह ले आया ।' [आरुणि—] 'इसे फोड़' [श्वेत०—] 'भगवन् ! फोड़ दिया ।' [आरुणि–] 'इसमें क्या देखता है ?' [श्वेत०—] 'भगवन् ! इसमें ये अणुके समान दाने हैं ।' [आरुणि–] 'अच्छा वत्स ! इनमेंसे एकको फोड़ ।' [श्वेत०—] 'फोड़ दिया भगवन् !' [आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है ?' [श्वेत०—] 'कुछ नहीं भगवन् !' ॥ १ ॥

अतोऽस्मान्महतो न्यग्रोधात् फलमेकमाहरेत्युक्तस्तथा चकार स इदं भगव उपहृतं फलमिति दर्शितवन्तं प्रत्याह फलं भिन्द्धीति भिन्नमित्याहेतरः । तमाह पिता किमत्र पश्यसीत्युक्त आ-

इस महान् वटवृक्षसे एक फल ले आ । ऐसा कहे जानेपर उसने वैसा ही किया [और बोला—] 'भगवन् ! मैं यह फल ले आया' इस प्रकार फल दिखलानेवाले उससे [आरुणिने] कहा—'इस फलको फोड़ ।' इसपर श्वेतकेतु बोला—'फोड़ दिया ।' उससे पिताने कहा—'इसमें तू क्या देखता है?' इस प्रकार कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—

हाण्व्योऽणुतरा इवेमा धाना बीजानि पश्यामि भगव इति। आसां धानानामेकां धानामङ्ग हे वत्स भिन्द्धीत्युक्त आह भिन्ना भगव इति। यदि भिन्ना धाना तस्यां भिन्नायां किं पश्यसीत्युक्त आह न किञ्चन पश्यामि भगव इति ॥ १ ॥

'भगवन्! मैं इसमें ये अणु—अणुतर अत्यन्त छोटे दाने—बीज देखता हूँ।' [आरुणि—] 'हे वत्स! इन धानोंमेंसे तू एक धानेको फोड़।' इस प्रकार कहे जानेपर वह बोला—'भगवन् ! फोड़ दिया।' [आरुणि—] 'अच्छा, यदि तूने धाना फोड़ दिया तो उस फूटे हुए धानेमें तू क्या देखता है ?' ऐसा कहे जानेपर वह बोला—'भगवन् ! मैं कुछ नहीं देखता' ॥ १ ॥

* * *

तꣳहोवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

तब उससे [आरुणिने] कहा—'हे सोम्य ! इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता हे सोम्य ! उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। हे सोम्य ! तू [इस कथनमें] श्रद्धा कर' ।२।

तं पुत्रं होवाच वटधानायां भिन्नायां यं वटबीजाणिमानं हे सोम्यैतं न निभालयसे न पश्यसि। तथाप्येतस्य वै किल सोम्यैष महान्न्यग्रोधो बीजस्या-

उस पुत्रसे [आरुणिने] कहा—'हे सोम्य ! वटके दानेके टूटनेपर जिस वटबीजकी अणिमाको तू नहीं देखता, तथापि हे सोम्य ! देख, निश्चय उसी बीजकी दिखायी न देनेवाली सूक्ष्म अणिमाका कार्यभूत यह

णिम्नः सूक्ष्मस्यादृश्यमानस्य कार्यभूतः स्थूलशाखास्कन्धफलपलाशवांस्तिष्ठत्युत्पन्नः सन्नुत्तिष्ठतीति वोच्छब्दोऽध्याहार्यः। अतः श्रद्धत्स्व सोम्य सत एवाणिम्नः स्थूलं नामरूपादिमत्कार्यं जगदुत्पन्नमिति।

यद्यपि न्यायागमाभ्यां निर्धारितोऽर्थस्तथैवेत्यवगम्यते तथाप्यत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु बाह्यविषयासक्तमनसः स्वभावप्रवृत्तस्यासत्यां गुरुतरायां श्रद्धायां दुरवगमत्वं स्यादित्याह—श्रद्धत्स्वेति। श्रद्धायां तु सत्यां मनसः समाधानं बुभुत्सितेऽर्थे भवेत्ततश्च तदर्थावगतिः। "अन्यत्रमना अभूवम्" (बृ० उ० १।५।३)इत्यादिश्रुतेः॥२॥

मोटी-मोटी शाखा, स्कन्ध, फल और पत्तोंवाला महान् वटवृक्ष स्थित है—उत्पन्न होकर खड़ा हुआ है इस प्रकार यहाँ 'तिष्ठति' क्रियाके पूर्व 'उत्' शब्दका अध्याहार करना चाहिये। इसलिये हे सोम्य! विश्वास कर कि नाम-रूपादिमान् स्थूल जगत् अत्यन्त सूक्ष्म सत्से ही उत्पन्न हुआ है।'

यद्यपि युक्ति और शास्त्र—इन दोनोंसे निश्चित हुआ अर्थ ऐसा ही है; तथापि गुरुतर श्रद्धाके न होनेपर बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त स्वभावसे ही प्रवृत्तिशील पुरुषका [ऐसे] अत्यन्त सूक्ष्म विषयोंमें प्रवेश होना बड़ा ही कठिन है—ऐसा समझकर आरुणिने कहा—'श्रद्धा कर।' क्योंकि श्रद्धाके होनेपर ही जिज्ञासित विषयमें मनका समाधान हो सकता है और तभी उस विषयका ज्ञान होना सम्भव है; जैसा कि 'मेरा मन दूसरी ओर था [इसलिये मैं नहीं देख सका]' इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है।२।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला——] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । यदि तत्सज्जगतो मूलं कस्मान्नोपलभ्यत इत्येतद्दृष्टान्तेन मा भगवान्भूय एव विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पहले कहा जा चुका है । 'यदि वह सत् जगत्का कारण है तो उपलब्ध क्यों नहीं होता ? हे भगवन् ! इस बातको आप दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर समझाइये' ऐसा [श्वेतकेतुने कहा] । तब पिताने 'सोम्य ! अच्छा' ऐसा उत्तर दिया ॥ ३ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

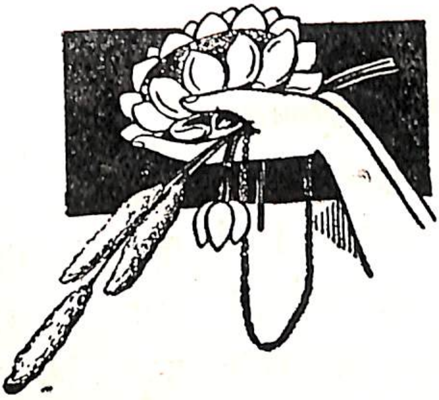

त्रयोदश खण्ड

लवणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

विद्यमानमपि वस्तु नोपलभ्यते प्रकारान्तरेण तूपलभ्यत इति शृण्वत्र दृष्टान्तम् । यदि चेममर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि—

विद्यमान होनेपर भी [कोई-कोई] वस्तु उपलब्ध नहीं होती । हाँ, प्रकारान्तरसे उसकी उपलब्धि हो सकती है । इस विषयमें दृष्टान्त श्रवण कर, यदि तू इस बातको प्रत्यक्ष करना चाहता हो तो—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना । आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतुने वैसा ही किया । तब आरुणिने उससे कहा—'वत्स ! रात तुमने जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ ।' किंतु उसने ढूँढ़नेपर उसे उसमें न पाया ॥ १ ॥

पिण्डरूपं लवणमेतद्घटादावुदकेऽवधाय प्रक्षिप्याथ मा मां श्वः प्रातरुपसीदथा उपगच्छेथा इति । स ह पित्रोक्तमर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छंस्तथा चकार । तं होवाच परेद्युः प्रातर्यल्लवणं दोषा रात्रावुदकेऽवाधा निक्षिप्तवानस्यङ्ग हे वत्स तदाहरेत्युक्तस्त-

इस पिण्डरूप नमकको घड़े आदिमें जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना । श्वेतकेतुने पिताकी कही हुई बातको प्रत्यक्ष करनेकी इच्छासे वैसा ही किया । दूसरे दिन सबेरे ही आरुणिने उससे कहा—'हे वत्स ! रात तुमने जो नमक पानीमें डाला था उसे ले आओ ।' इस प्रकार कहे जानेपर

ल्लवणमाजिहीर्षुर्ह किलावमृश्योदके न विवेद न विज्ञातवान्; यथा तल्लवणं विद्यमानमेव सदप्सु लीनं संश्लिष्टमभूत् ॥ १ ॥

उसने उस नमकको ले आनेकी इच्छासे जलमें टटोला, किंतु उसे न पाया, क्योंकि वह नमक वहाँ मौजूद होनेपर भी जलमें लीन हो गया था अर्थात् जलमें ही मिल गया था ॥ १ ॥

* * *

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

[आरुणि —] 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है [इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो] इस जलको ऊपरसे आचमन कर ।' [उसके आचमन करनेपर आरुणिने पूछा—] 'कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है ।' [आरुणि—] 'बीचमेंसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है ।' [आरुणि—] 'नीचेसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत० —] 'नमकीन है ।' [आरुणि—] 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ ।' उसने वैसा ही किया, [और बोला—] 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था ।' तब उससे पिताने कहा—'हे सोम्य ! [इसी प्रकार] वह सत् भी निश्चय यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है परंतु वह निश्चय यहीं विद्यमान है' ॥ २ ॥

यथा विलीनं लवणं न वेत्थ तथापि तच्चक्षुषा स्पर्शनेन च पिण्डरूपं लवणमगृह्यमाणं विद्यत

जिस प्रकार वह नमक विलीन हो गया है इसलिये तू उसे नहीं जान सकता । तथापि वह पिण्डरूप लवण दिखायी न देनेपर भी है जलमें ही,

एवाप्सु, उपलभ्यते चोपायान्तरेण-इत्येतत्पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छन्नाहाङ्गास्योदकस्यान्तादुपरि गृहीत्वाचामेत्युक्त्वा पुत्रं तथा कृतवन्तमुवाच—कथमिति; इतर आह लवणं स्वादुत इति। तथा मध्यादुदकस्य गृहीत्वाचामेति, कथमिति, लवणमिति । तथान्तादधोदेशाद्गृहीत्वाचामेति, कथमिति, लवणमिति ।

और एक दूसरे उपायसे उसकी उपलब्धि भी हो सकती है—इस बातकी पुत्रको प्रतीति करानेकी इच्छासे आरुणिने कहा--'हे वत्स ! इस जलके अन्त—ऊपरी भागसे लेकर आचमन कर।' ऐसा कहकर पुत्रके उसी प्रकार करनेपर वह बोला--'कैसा है ?' [पुत्र—] 'स्वादमें नमकीन है ।' [पिता—] 'और जलके मध्यभागसे भी लेकर आचमन कर' 'कैसा है ?' [पुत्र-] 'नमकीन है ।' [पिता—] 'अच्छा, अन्त—नीचेके भागसे भी लेकर आचमन कर' 'कैसा है ?' [पुत्र--] 'नमकीन है ।'

यद्येवम्, अभिप्रास्य परित्यज्यैतदुदकमाचम्याथ मोपसीदथा इति। तद्ध तथा चकार। लवणं परित्यज्य पितृसमीपमाजगामेत्यर्थः, इदं वचनं ब्रुवन्—तल्लवणं तस्मिन्नेवोदके यन्मया रात्रौ क्षिप्तं शश्वन्नित्यं संवर्तते विद्यमानमेव सत्सम्यग्वर्तते ।

[पिता--] 'यदि ऐसा है तो इस जलको फेंककर आचमन करनेके अनन्तर मेरे पास आ ।' उसने वैसा ही किया, अर्थात् उस नमकीन जलको फेंककर वह इस प्रकार कहता हुआ पिताके पास आया कि रात मैंने जो नमक उस जलमें डाला था वह उसमें शश्वत्—नित्य वर्तमान है अर्थात् उसमें विद्यमान हुआ ही सम्यक्प्रकारसे वर्तमान है ।

इत्येवमुक्तवन्तं तं होवाच

इस प्रकार कहते हुए उस पुत्रसे

पिता—यथेदं लवणं दर्शनस्पर्शनाभ्यां पूर्वं गृहीतं पुनरुदके विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि विद्यत एवोपायान्तरेण जिह्वयोपलभ्यमानत्वात् । एवमेवात्रैवास्मिन्नेव तेजोऽबन्नादिकार्ये शुङ्गे देहे, वाव किलेत्याचार्योपदेशस्मरणप्रदर्शनार्थौ, सत्तेजोऽबन्नादिशुङ्गकारणं वटबीजाणिमवद्विद्यमानमेवेन्द्रियैर्नोपलभसे न निभालयसे । यथात्रैवोदके दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानं लवणं विद्यमानमेव जिह्वयोपलब्धवानसि, एवमेवात्रैव किल विद्यमानं सज्जगन्मूलमुपायान्तरेण लवणाणिमवदुपलप्स्यस इति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

पिताने कहा—'जिस प्रकार यह नमक पहले दर्शन और स्पर्शनसे गृहीत होता हुआ भी फिर जलमें विलीन होनेपर उनसे गृहीत न होनेपर भी उसमें विद्यमान है ही, क्योंकि उपायान्तरसे अर्थात् जिह्वाद्वारा उसकी उपलब्धि होती है; इसी प्रकार यहाँ—तेज, अप् और अन्नके कार्यभूत इस शरीररूप शुंगमें—यहाँ 'वाव' और 'किल' ये दो निपात आचार्योपदेशका स्मरण प्रदर्शित करनेके लिये हैं—तेज, जल और अन्नादि शुंगके कारणभूत सत्को तू वटबीजकी अणिमाके समान विद्यमान रहते हुए भी इन्द्रियोंसे उपलब्ध नहीं करता—तुझे वह दिखायी नहीं देता । जिस प्रकार कि यहाँ जलमें दर्शन और स्पर्शनसे उपलब्ध न होनेवाले विद्यमान नमकको तूने जिह्वासे उपलब्ध किया है उसी प्रकार निश्चय यहीं विद्यमान जगत्के मूलभूत सत्को तू लवणकी अणिमाके समान अन्य उपायसे उपलब्ध कर सकता है—यह वाक्यशेष है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्यादि समानम्। यद्येवं लवणाणिमवदिन्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि जगन्मूलं सदुपायान्तरेणोपलब्धुं शक्यते यदुपलम्भात्कृतार्थः स्यामनुपलम्भाच्चाकृतार्थः स्यामहम्, तस्यैवोपलब्धौ क उपाय इत्येतद्भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु दृष्टान्तेन तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है। 'यदि इस प्रकार लवणकी अणिमाके समान इन्द्रियोंसे उपलब्ध होनेवाला न होनेपर भी वह जगत्का मूलभूत सत् किसी दूसरे उपायसे उपलब्ध हो सकता है, जिसकी उपलब्धिसे कि मैं कृतार्थ हो सकता हूँ और जिसे उपलब्ध न करनेसे अकृतार्थ ही रहूँगा, तो उसकी उपलब्धिके लिये क्या उपाय है—इस बातको हे भगवन्! आप दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर भी समझाइये।' [तब आरुणिने] 'सोम्य! अच्छा' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

अन्यत्रसे लाये हुए पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

हे सोम्य ! जिस प्रकार [कोई चोर] जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि 'मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है' ॥ १ ॥

यथा लोके हे सोम्य पुरुषं यं कश्चिद्गन्धारेभ्यो जनपदेभ्योऽभिनद्धाक्षं बद्धचक्षुषमानीय द्रव्यहर्ता तस्करस्तमभिनद्धाक्षमेव बद्धहस्तमरण्ये ततोऽप्यतिजनेऽतिगतजनेऽत्यन्तविगतजने देशे विसृजेत्स तत्र दिग्भ्रमोपेतो यथा प्राङ्वा प्रागञ्चनः प्राङ्मुखो वेत्यर्थः । तथोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीत शब्दं कुर्या-

हे सोम्य ! लोकमें जिस प्रकार कोई द्रव्य हरण करनेवाला चोर किसी पुरुषको जो अभिनद्धाक्ष हो अर्थात् जिसकी आँखें बाँध दी गयी हों, गान्धार देशसे लाकर वनमें और उसमें भी जो अतिजन—अतिगतजन अर्थात् अत्यन्त जनशून्य हो ऐसे देशमें आँखें और हाथ बँधे हुए ही छोड़ दे तो उस जगह वह दिग्भ्रमसे युक्त हुआ 'प्राङ्वा'—पूर्वकी ओर जाता हुआ अर्थात् पूर्वाभिमुख हुआ तथा उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख

द्विक्रोशेत्, अभिनद्धाक्षोऽहं गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽभिनद्धाक्ष एव विसृष्ट इति ॥ १ ॥

करके इस प्रकार शब्द कहे अर्थात् चिल्लावे कि 'मुझे गान्धार देशसे आँखें बाँधकर यहाँ चोर ले आया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया है' ॥ १ ॥

एवं विक्रोशतः—

इस प्रकार चिल्लानेवाले——

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥२॥

उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा,' तो वह बुद्धिमान् और समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धारमें ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही [सत्को] जानता है; उसके लिये [मोक्ष होनेमें] उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह [देहबन्धनसे] मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है ॥ २ ॥

तस्य यथाभिनहनं यथा बन्धनं प्रमुच्य मुक्त्वा कारुणिकः कश्चिदेतां दिशमुत्तरतो गन्धारा एतां दिशं व्रजेति प्रब्रूयात्स एवं कारुणिकेन बन्धनान्मोक्षितो ग्रामाद्ग्रामान्तरं पृच्छन्पण्डित

उस पुरुषके अभिनहन—बन्धनको खोलकर जिस प्रकार कोई कृपालु पुरुष कहे कि इस दिशामें उत्तरकी ओर गान्धार देश है; अतः इस दिशाकी ओर जा तो इस प्रकार उस कृपालु पुरुषद्वारा बन्धनसे छुड़ाया हुआ

उपदेशवान्मेधावी परोपदिष्टग्रामप्रवेशमार्गावधारणसमर्थः सन्गन्धारानेवोपसम्पद्येत, नेतरो मूढमतिर्देशान्तरदर्शनतृड्वा ।

यथायं दृष्टान्तो वर्णितः, स्वविषयेभ्यो गन्धारेभ्यः पुरुषस्तस्करैरभिनद्धाक्षोऽविवेको दिङ्मूढोऽशनायापिपासादिमान्व्याघ्रतस्कराद्यनेकभयानर्थव्रातयुतमरण्यं प्रवेशितो दुःखार्तो विक्रोशन्बन्धनेभ्यो मुमुक्षुस्तिष्ठति स कथञ्चिदेव कारुणिकेन केनचिन्मोक्षितः स्वदेशान्गन्धारानेवापन्नो निर्वृतः सुख्यभूत्—

एवमेव सतो जगदात्मस्वरूपात्तेजोऽबन्नादिमयं देहारण्यं वातपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थि-

वह पण्डित—उपदेशवान् और मेधावी—दूसरोंके बतलाये हुए ग्राममें प्रवेश करनेके मार्गको ठीक-ठीक समझनेमें समर्थ पुरुष एक गाँवसे दूसरे गाँवको पूछता हुआ गान्धार देशमें ही पहुँच जाता है—दूसरा मूढमति अथवा देशान्तर देखनेकी तृष्णावाला नहीं पहुँच पाता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त वर्णन किया गया है अर्थात् अपने देश गान्धारसे चोरोंद्वारा आँखें बाँधकर लाया जानेके कारण विवेकशून्य, दिङ्मूढ तथा भूख-प्याससे युक्त होकर व्याघ्र-तस्कर आदि अनेकों भय और अनर्थसमूहसे सम्पन्न वनमें प्रवेशित किया हुआ पुरुष दुःखार्त होकर चिल्लाता हुआ बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये उत्सुक था और वह किसी कृपालुद्वारा उन बन्धनोंसे छुड़ा दिये जानेपर किसी प्रकार अपने देश गान्धारमें पहुँचकर ही कृतार्थ यानी सुखी हुआ ।

ठीक इसी प्रकार संसारके आत्मस्वरूप सत्से तेज, जल और अन्नादिमय देहरूप वनमें, जो कि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि

मज्जाशुक्रकृमिमूत्रपुरीषवच्छीतोष्णाद्यनेकद्वन्द्वसुखदुःखवच्चेदं मोहपटाभिनद्धाक्षो भार्यापुत्रमित्रपशुबन्ध्वादिदृष्टानेकविषयतृष्णापाशितः पुण्यापुण्यादितस्करैः प्रवेशितः 'अहममुष्य पुत्रो ममैते बान्धवाः सुख्यहं दुःखी मूढः पण्डितो धार्मिको बन्धुमाञ्जातो मृतो जीर्णः पापी पुत्रो मे मृतो धनं मे नष्टं हा हतोऽस्मि कथं जीविष्यामि का मे गतिः किं मे त्राणम् ?' इत्येवमनेकशतसहस्रानर्थजालवान्विक्रोशन्कथञ्चिदेव पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं कञ्चित्सद्ब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदासादयति । तेन च ब्रह्मविदा कारुण्याद्दर्शितसंसारविषयदोषदर्शनमार्गो विरक्तः संसारविषयेभ्यः 'नासि त्वं संसार्यमुष्य पुत्रत्वादिधर्मवान्' किं तर्हि ? 'सद् यत्तत्त्वमसि' इत्यविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षितो गन्धारपुरुष-

और मल-मूत्रसे पूर्ण तथा शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व और सुख-दुःखसे युक्त है, यह जीव मोहरूप वस्त्रसे बँधे हुए नेत्रवाला होकर, तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट अनेकों विषयतृष्णाओंसे जकड़ा जाकर पुण्य-पापरूप चोरोंद्वारा प्रवेशित कर दिये जानेपर 'मैं इसका पुत्र हूँ, ये मेरे बान्धव हैं, मैं सुखी, दुःखी, मूढ, पण्डित, धार्मिक अथवा बन्धुमान् हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मरता हूँ, जराग्रस्त हूँ, पापी हूँ, मेरा पुत्र मर गया है, धन नष्ट हो गया है, हा ! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित रहूँगा ? मेरी क्या गति होगी ? अब मेरा रक्षक कौन है ?' इसी प्रकारके अनेकों सैकड़ों अनर्थजालोंसे युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्यकी अधिकता होनेसे किसी प्रकार किसी परम कृपालु सद्ब्रह्मात्मज्ञ बन्धनमुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषको प्राप्त होता है और उस ब्रह्मवेत्ताद्वारा दयावश सांसारिक विषयोंके दोषदर्शनका मार्ग दिखाये जानेपर सांसारिक विषयोंसे विरक्त हो जाता है तथा 'तू संसारी नहीं है और न इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है; तो कौन है ?——जो सत् तत्त्व है वही तू है' इस प्रकारके उपदेशसे अविद्यामय मोहरूप वस्त्रके बन्धनसे छुड़ाया जाकर गान्धारदेशीय पुरुष-

वच्च स्वं सदात्मानमुपसंपद्य सुखी निर्वृतः स्यादित्येतमेवार्थमाहाचार्यवान् पुरुषो वेदेति ।

तस्यास्यैवमाचार्यवतो मुक्ताविद्याभिनहनस्य तावदेव तावानेव कालश्चिरं क्षेपः सदात्मस्वरूपसम्पत्तेरिति वाक्यशेषः । कियान्कालश्चिरम् ? इत्युच्यते—यावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यत इत्येतत् पुरुषव्यत्ययेन, सामर्थ्यात्; येन कर्मणा शरीरमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयाद्देहपातो यावदित्यर्थः । अथ तदैव सत्सम्पत्स्ये सम्पत्स्यत इति पूर्ववत् । न हि देहमोक्षस्य सत्सम्पत्तेश्च कालभेदोऽस्ति, येनाथशब्द आनन्तर्यार्थः स्यात् ।

के समान अपने सदात्माको प्राप्त होकर सुखी और शान्त हो जाता है—इसी बातको [आरुणिने] 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इस वाक्यसे कहा है ।

इस प्रकार आचार्यवान् तथा अविद्यारूप बन्धनसे मुक्त हुए उस पुरुषके लिये सदात्मस्वरूपकी प्राप्तिमें—इतना वाक्यशेष जोड़ना चाहिये—उतने ही समयतक देर अर्थात् कालक्षेप करना है—कितने समयतक देर है ? सो बतलाया जाता है—जबतक कि वह [देहबन्धनसे] मुक्त न हो जाय । यहाँ प्रसंगके सामर्थ्यसे 'विमोक्ष्ये' को 'विमोक्ष्यते' इस प्रकार प्रथम पुरुषमें बदलकर अर्थ करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जिस कर्मसे उसके देहका आरम्भ हुआ था उसका उपभोगद्वारा क्षय होकर जबतक देहपात होगा [तभीतक देर है] । देहपात होनेपर तो वह उसी समय सत्को प्राप्त हो जायगा । 'सम्पत्स्ये' के स्थानमें 'सम्पत्स्यते' ऐसा पूर्ववत् पुरुषपरिवर्तन कर लेना चाहिये । देहपात और सत्की प्राप्तिमें कालका अन्तर नहीं है, जिससे कि 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थवाची हो * ।

---

* अथ शब्दका मुख्य अर्थ 'अनन्तर' है, इसलिये 'अथ सम्पत्स्ये' का यह अर्थ हो सकता है कि देहपात होनेके अनन्तर (बाद) वह 'सत्' को प्राप्त होगा । परंतु भाष्यकार यह कहते हैं कि यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ 'उसी समय'

ज्ञानानर्थक्योद्भावनम्

ननु यथा सद्विज्ञानानन्तरमेव देहपातः सत्सम्पत्तिश्च न भवति कर्मशेषवशात्, यथाप्रवृत्तफलानि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेर्जन्मान्तरसञ्चितान्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलोपभोगार्थं पतितेऽस्मिञ्शरीरान्तरमारब्धव्यम्। उत्पन्ने च ज्ञाने यावज्जीवं विहितानि प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि करोत्येवेति तत्फलोपभोगार्थं चावश्यं शरीरान्तरमारब्धव्यम्; ततश्च कर्माणि ततः शरीरान्तरमिति ज्ञानानर्थक्यं कर्मणां फलवत्त्वात्।

ज्ञानात्कर्मक्षयाङ्गीकारेऽनुपपत्तिप्रदर्शनम्

अथ ज्ञानवतः क्षीयन्ते कर्माणि तदा ज्ञानप्राप्तिसमकालमेव ज्ञानस्य सत्सम्पत्तिहेतुत्वान्मोक्षः स्यादिति शरीरपातः स्यात्। तथा चाचार्याभाव इत्याचार्यवान्पुरुषो

पूर्व०—किंतु जिस प्रकार प्रारब्धकर्म अवशिष्ट रहनेके कारण सत्का ज्ञान होनेके बाद ही देहपात और सत्की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व तथा जन्मान्तरोंमें किये हुए और भी ऐसे संचित कर्म हैं ही जो अभी फल देनेमें प्रवृत्त नहीं हुए। अतः उनका फल भोगनेके लिये इस शरीरका पतन होनेपर दूसरे शरीरका प्राप्त होना आवश्यक है। ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर भी पुरुष जीवनपर्यन्त विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्म करता ही है, अतः उनका फल भोगनेके लिये भी देहान्तरकी प्राप्ति अवश्य होनी चाहिये, उस समय फिर कर्म होंगे और उनसे फिर देहान्तरकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार कर्मोंके फलयुक्त होनेके कारण ज्ञानकी व्यर्थता सिद्ध होती है।

और यदि यह मानो कि ज्ञानीके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो ज्ञान सत्सम्पत्तिका हेतु होनेके कारण ज्ञानप्राप्तिके समय ही मोक्ष हो जायगा, अतः उसी समय देहपात हो जाना चाहिये। ऐसा होनेपर आचार्यका अभाव हो जायगा; अतः 'आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है' यह वाक्य अनुपपन्न होगा तथा

है अर्थात् देहपात होनेके ही समय वह सत्को प्राप्त हो जायगा। यदि देहपात और सत्की प्राप्तिमें कुछ कालका अन्तर होता तो 'अथ' का अनन्तर अर्थ किया जाता, पर ऐसा है नहीं अतः यहाँ 'अनन्तर' अर्थ ठीक नहीं है।

वेदेत्यनुपपत्तिर्ज्ञानान्मोक्षाभावप्रसङ्गश्च । देशान्तरप्राप्त्युपायज्ञानवदनैकान्तिकफलत्वं वा ज्ञानस्य ।

पूर्वोक्तदोष-परिहारः

न; कर्मणां प्रवृत्ताप्रवृत्तफलत्वविशेषोपपत्तेः । यदुक्तमप्रवृत्तफलानां कर्मणां ध्रुवफलवत्त्वाद्ब्रह्मविदः शरीरे पतिते शरीरान्तरमारब्धव्यमप्रवृत्तकर्मफलोपभोगार्थमिति, एतदसत्; विदुषः "तस्य तावदेव चिरम्" इति श्रुतेः प्रामाण्यात् ।

ननु "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति" (बृ० उ० ३।२।१३) इत्यादि श्रुतेरपि प्रामाण्यमेव ।

सत्यमेवम्, तथापि प्रवृत्तफलानामप्रवृत्तफलानां च कर्मणां

ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अथवा देशान्तरकी प्राप्तिके साधनोंके ज्ञानके समान ज्ञानका व्यभिचारिफलयुक्त होना सिद्ध होगा ।*

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कर्मोंमें प्रवृत्तफलत्व और अप्रवृत्तफलत्व यह विशेषता होनी सम्भव है । अतः तुमने जो कहा कि अप्रवृत्तफलकर्म भी निश्चय फल देनेवाले हैं, इसलिये देहपात होनेके पश्चात् उन अप्रवृत्तफल कर्मोंका फल भोगनेके लिये देहान्तरका प्राप्त होना अवश्यम्भावी है—सो ठीक नहीं; क्योंकि "उस विद्वान्के मोक्षमें तो उतना (देहपात होनेतकका) ही विलम्ब है"—यह श्रुति प्रमाण है ।

पूर्व०—किंतु "पुण्यकर्मसे पुरुष पुण्यवान् होता है" यह श्रुति भी तो प्रामाणिक ही है ।

सिद्धान्ती—सचमुच ऐसा ही है । तो भी प्रवृत्तफल और अप्रवृत्त-

---

* अर्थात् जिस प्रकार देशान्तरकी प्राप्तिके साधन घोड़े आदि कोई विशेष विघ्न न होनेपर ही अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचते हैं उसी प्रकार जिनके कर्म क्षीण हो गये हैं उन्हीं ज्ञानियोंका मोक्ष हो सकेगा—सबका नहीं ।

विशेषोऽस्ति । कथम् ? यानि प्रवृत्तफलानि कर्माणि यैर्विद्वच्छरीरमारब्धम्, तेषामुपभोगेनैव क्षयः । यथारब्धवेगस्य लक्ष्यमुक्तेष्वादेर्वेगक्षयादेव स्थितिर्न तु लक्ष्यवेधसमकालमेव प्रयोजनं नास्तीति तद्वत् । अन्यानि त्वप्रवृत्तफलानीह प्राग्ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च कृतानि वा क्रियमाणानि वातीतजन्मान्तरकृतानि वाप्रवृत्तफलानि ज्ञानेन दह्यन्ते प्रायश्चित्तेनेव । “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा” (गीता ४ । ३७) इति स्मृतेश्च । “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” इति चाथर्वणे ।

अतो ब्रह्मविदो जीवनादिप्रयोजनाभावेऽपि प्रवृत्तफलानां

फलकर्मोंमें कुछ विशेषता है । किस प्रकार ?—जो प्रवृत्तफलकर्म हैं, जिनसे कि विद्वान्‌के शरीरका आरम्भ हुआ है उनका क्षय फलोपभोगके द्वारा ही हो सकता है; जिस प्रकार जिसका वेग आरम्भ हो गया है उस लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बाणकी स्थिति उसके वेगका क्षय होनेपर ही हो सकती है, लक्ष्यवेध करते ही उसे [आगे जानेका] कोई प्रयोजन नहीं रहता—ऐसी बात नहीं है; उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये । ज्ञानीके जो अन्य अप्रवृत्तफलकर्म ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व किये हुए अथवा उसके पश्चात् किये जानेवाले होते हैं अथवा जो पूर्व जन्मोंमें किये हुए अप्रवृत्तफलकर्म होते हैं वे प्रायश्चित्तसे पापोंके समान ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं । “तथा ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मीभूत कर देता है” इस स्मृतिसे यही प्रमाणित होता है, और “इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं” ऐसा अथर्वण-श्रुतिमें भी कहा है ।

अतः ब्रह्मवेत्ताको जीवनादिका प्रयोजन न होनेपर भी प्रवृत्तफल-

कर्मणामवश्यमेव फलोपभोगः स्यादिति मुक्तेषुवत् 'तस्य तावदेव चिरम्' इति युक्तमेवोक्तमिति यथोक्तदोषचोदनानुपपत्तिः । ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं च ब्रह्मविदः कर्माभावमवोचाम 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यत्र तच्च स्मर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

कर्मोंका फलोपभोग अवश्य होना है इसलिये छोड़े हुए बाणके समान 'उसे [सत्की प्राप्तिमें] तभीतक विलम्ब है जबतक कि वह देहबन्धनसे नहीं छूटता' ऐसा ठीक ही कहा है; अतः उपर्युक्त दोषकी शङ्का करना ठीक नहीं । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस वाक्यकी व्याख्याके समय ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् तो हमने ब्रह्मवेत्ताके कर्मका अभाव प्रतिपादन किया है, उसे इस समय स्मरण करना चाहिये ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ३ ॥

स य इत्याद्युक्तार्थम् । आचार्यवान्विद्वान्येन क्रमेण सत्सम्पद्यते तं क्रमं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है । 'हे भगवन् ! आचार्यवान् विद्वान् जिस क्रमसे सत्को प्राप्त होता है वह क्रम मुझे दृष्टान्तद्वारा फिर समझाइये' ऐसा श्वेतकेतुने कहा । तब आरुणिने कहा 'सोम्य ! अच्छा'॥ ३॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश खण्ड

मुमूर्षु पुरुषके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! [ज्वरादिसे] संतप्त [मुमूर्षु] पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—'क्या तू मुझे जानता है ? क्या तू मुझे पहचानता है ?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है ॥ १ ॥

पुरुषं हे सोम्योतोपतापिनं ज्वराद्युपतापवन्तं ज्ञातयो बान्धवाः परिवार्योपासते मुमूर्षुम्—जानासि मां तव पितरं पुत्रं भ्रातरं वा—इति पृच्छन्तः । तस्य मुमूर्षोर्यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामित्येतदुक्तार्थम् ॥ १ ॥

हे सोम्य ! उपतापी—ज्वरादिसे अत्यन्त संतप्त हुए पुरुषको ज्ञातिजन—बान्धवगण घेरकर उस मुमूर्षु पुरुषसे 'क्या तू मुझ अपने पिता, पुत्र अथवा भाईको पहचानता है ?' इस प्रकार पूछते हुए उसके चारों ओर बैठ जाते हैं । उस मुमूर्षुकी जबतक वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले कहा जा चुका है ॥ १ ॥

* * *

संसारिणो यो मरणक्रमः स एवायं विदुषोऽपि सत्सम्पत्तिक्रम इत्येतदाह——

संसारी जीवका जो मरणक्रम है वही विद्वान्‌की सत्सम्पत्तिका क्रम है——इसी बातको आरुणि बतलाता है——

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है तब वह नहीं पहचानता ॥ २ ॥

सत्सम्पत्तिक्रमः

परस्यां देवतायां तेजसि सम्पन्नेऽथ न जानाति । अविद्वांस्तु सत उत्थाय प्राग्भावितं व्याघ्रादिभावं देवमनुष्यादिभावं वा विशति । विद्वांस्तु शास्त्राचार्योपदेशजनितज्ञानदीपप्रकाशितं सद्ब्रह्मात्मानं प्रविश्य नावर्तत इत्येष सत्सम्पत्तिक्रमः ।

परदेवतामें तेजके लीन हो जानेपर फिर यह नहीं पहचानता । किंतु जो अविद्वान् होता है वह तो सत्‌से उत्थित होकर पहले भावना किये हुए व्याघ्रादि भाव और देव-मनुष्यादि भावमें प्रवेश करता है; किंतु विद्वान् शास्त्र और आचार्यके उपदेशजनित ज्ञान-दीपकसे प्रकाशित सद्ब्रह्मरूप आत्मामें प्रवेशकर फिर नहीं लौटता——यही सत्प्राप्तिका क्रम है ।

मतान्तरनिरासः

अन्ये तु मूर्धन्यया नाड्योत्क्रम्यादित्यादिद्वारेण सद्गच्छन्तीत्याहुः, तदसत्; देशकाल-

कुछ अन्य मतावलम्बियोंने जो कहा है कि 'मूर्धन्य नाडीसे उत्क्रमण कर आदित्यादिद्वारा सत्‌को प्राप्त होता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकारका गमन तो देश, काल, निमित्त और फलके अभिनिवेश-

निमित्तफलाभिसंधानेन गमनदर्शनात् । न हि सदात्मैकत्वदर्शिनः सत्याभिसन्धस्य देशकालनिमित्तफलाद्यनृताभिसन्धिरुपपद्यते, विरोधात् । अविद्याकामकर्मणां च गमननिमित्तानां सद्विज्ञानहुताशनविप्लुष्टत्वाद्गमनानुपपत्तिरेव, “पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः” इत्याद्याथर्वणे । नदीसमुद्रदृष्टान्तश्रुतेश्च ॥ २ ॥

पूर्वक देखा जाता है और सदात्माका एकत्व देखनेवाले सत्यनिष्ठ विद्वान्‌को देश, काल, निमित्त और फल आदि असद्वस्तुओंका अभिनिवेश होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसका उस (सत्यनिष्ठा) से विरोध है । गमनके निमित्तभूत अविद्या, कामना और कर्मोंके सद्विज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जानेके कारण उसके गमनकी अनुपपत्ति ही है । “पूर्णकाम कृतकृत्य पुरुषकी सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं” ऐसा अथर्वण श्रुतिमें कहा है; और इसके सिवा नदी-समुद्र-दृष्टान्तकी श्रुति भी है* ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] ‘भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।’ [तब आरुणिने] ‘अच्छा, सोम्य !’ ऐसा कहा ॥ ३ ॥

---

* देखिये मुण्डक० ३ । २ । ८

स य इत्यादि समानम् । यदि मरिष्यतो मुमुक्षतश्च तुल्या सत्सम्पत्तिस्तत्र विद्वान्सत्सम्पन्नो नावर्तत आवर्तते त्वविद्वानित्यत्र कारणं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

'स यः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ पूर्ववत् है । 'यदि मरनेवाले और मुमुक्षुकी सत्सम्पत्ति एक-जैसी है तो विद्वान् तो सत्को प्राप्त होकर नहीं लौटता और अविद्वान् लौटता है——इसमें जो कारण है उसे हे भगवन् ! दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर समझाइये' [——ऐसा श्वेतकेतुने कहा] । तब आरुणिने कहा——'सोम्य ! अच्छा' ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

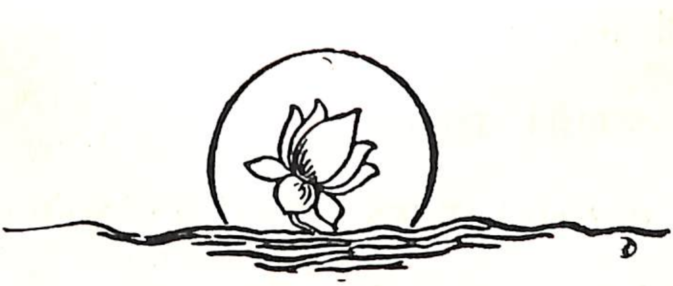

षोडश खण्ड

चोरके तप्त परशुग्रहणके दृष्टान्तद्वारा उपदेश

शृणु यथा— | सुन, जिस प्रकार—

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

हे सोम्य ! [राजकर्मचारी] किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं [और कहते हैं—] 'इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है इसके लिये परशु तपाओ ।' वह यदि उसका (चोरीका) करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है । वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है ॥ १ ॥

सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं निग्रहाय परीक्षणाय वोतापि हस्तगृहीतं बद्धहस्तमानयन्ति राजपुरुषाः । किं कृतवानयमिति पृष्टाश्चाहुरपहार्षीद्धनमस्यायम् । ते चाहुः किमपहरणमात्रेण बन्धनमर्हति ?

हे सोम्य ! जिस पुरुषके विषयमें चोरी करनेका संदेह होता है उसे राजकर्मचारी दण्ड देने अथवा उसकी परीक्षा करनेके लिये 'हस्तगृहीत'—हाथ बाँधकर लाते हैं । 'इसने क्या किया है ?' इस प्रकार पूछे जानेपर वे कहते हैं कि 'इसने इस पुरुषका धन लिया है ।' तब वे (न्यायाधीश) कहते हैं 'क्या धन लेनेमात्रसे यह बन्धनके योग्य हो गया; तब तो अन्य किसी प्रकार

अन्यथा दत्तेऽपि धने बन्धनप्रसङ्गात्; इत्युक्ताः पुनराहुः—स्तेयमकार्षीच्चौर्येण धनमपहार्षीदिति ।

तेष्वेवं वदत्स्वितरोऽपह्नुते नाहं तत्कर्तेति ।

ते चाहुः संदिह्यमानं स्तेयमकार्षीस्त्वमस्य धनस्येति । तस्मिंश्चापह्नुवान आहुः परशुमस्मै तपतेति शोधयत्वात्मानमिति । स यदि तस्य स्तैन्यस्य कर्ता भवति बहिश्चापह्नुते स एवं भूतस्तत एवानृतमन्यथाभूतं सन्तमन्यथात्मानं कुरुते । स तथानृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय व्यवहितं कृत्वा परशुं तप्तं मोहात्प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते राजपुरुषैः स्वकृतेनानृताभिसन्धिदोषेण ॥ १ ॥

धन देनेपर भी उसे लेनेवालेको बन्धनका प्रसंग उपस्थित होता है ।' इस प्रकार कहे जानेपर वे फिर कहते हैं--'इसने चोरी की है अर्थात चोरीसे धन लिया है ।' उनके इस प्रकार कहनेपर वह पुरुष 'मैं चोरी करनेवाला नहीं हूँ' ऐसा कहकर अपने कर्मको छिपाता है ।

तब वे संदेह किये जानेवाले पुरुषसे कहते हैं—'तूने इसके धनकी चोरी अवश्य की है ।' फिर भी उसके छिपानेपर वे कहते हैं--'इसके लिये परशु तपाओ—इस प्रकार यह अपनेको निर्दोष सिद्ध करे ।' यदि वह उस चोरीका करनेवाला होता है और ऊपरसे छिपाता है तो ऐसा होनेपर वह अपनेको अनृत अर्थात् अन्यथा (चोर) होनेपर अपनेको अन्यथा (साह) प्रदर्शित करता है । इस प्रकार मिथ्याभिनिवेशवाला होकर वह अपनेको मिथ्यासे अन्तर्हित करता--छिपाता हुआ मोहवश तपे हुए परशुको ग्रहण करता और जल जाता है । तब अपने किये हुए मिथ्याभिनिवेशरूप दोषसे वह राजपुरुषोंद्वारा मारा जाता है ॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

और यदि वह उस (चोरी) का करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है । वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है । वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है ॥ २ ॥

अथ यदि तस्य कर्मणोऽकर्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्येन तया स्तैन्याकर्तृतयात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति । स सत्याभिसन्धः सन्न दह्यते सत्यव्यवधानात्, अथ मुच्यते च मृषाभियोक्तृभ्यः । तप्तपरशुहस्ततलसंयोगस्य तुल्यत्वेऽपि स्तेयकर्त्रकर्त्रोरनृताभिसन्धो दह्यते न तु सत्याभिसन्धः ॥ २ ॥

और यदि वह उस कर्मका करनेवाला नहीं होता तो उस (चोरीके अकर्तृत्व) के ही द्वारा वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है । वह उस चोरीकी अकर्तृतारूप सत्यसे अपनेको अन्तर्हित कर उस तपे हुए परशुको ग्रहण करता है और सत्याभिसन्ध होनेके कारण सत्यका व्यवधान हो जानेसे वह उससे नहीं जलता । तब मिथ्या अभियोग लगानेवाले उसे तत्काल छोड़ देते हैं । इस प्रकार तप्त परशु और हथेलीके संयोगमें समानता होनेपर भी चोरी करने और न करनेवालोंमें मिथ्याभिसन्धि करनेवाला जल जाता है और सत्याभिसन्ध नहीं जलता ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

वह जिस प्रकार उस [परीक्षाके] समय नहीं जलता [उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है] । यह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया——उसे जान गया ॥३॥

स यथा सत्याभिसन्धस्तप्तपरशुग्रहणकर्मणि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वान्नादाह्येत न दह्येतेत्येतदेवं सद्ब्रह्मसत्याभिसन्धीतरयोः शरीरपातकाले च तुल्यायां सत्सम्पत्तौ विद्वान्सत्सम्पद्य न पुनर्व्याघ्रदेवादिदेहग्रहणायावर्तते । अविद्वांस्तु विकारानृताभिसन्धः पुनर्व्याघ्रादिभावं देवतादिभावं वा यथाकर्म यथाश्रुतं प्रतिपद्यते ।

वह सत्याभिसन्ध पुरुष जिस प्रकार उस तप्त परशुको ग्रहण करनेके कर्ममें हथेलीके सत्यसे व्यवहित रहनेके कारण नहीं जलता उसी प्रकार देहपातके समय सद्ब्रह्मरूप सत्यमें निष्ठा रखनेवाले और उससे भिन्न असन्निविष्ट पुरुषकी सत्सम्पत्तिमें समानता होनेपर भी जो विद्वान् है वह व्याघ्र अथवा देवादि शरीरोंको ग्रहण करनेके लिये नहीं लौटता, किंतु अविद्वान् विकाररूप अनृतमें अभिनिविष्ट होनेके कारण अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार पुनः व्याघ्रादिभाव अथवा देवादिभावको प्राप्त हो जाता है ।

यदात्माभिसन्ध्यनभिसन्धिकृते मोक्षबन्धने यच्च मूलं जगतो

जिस आत्माकी अभिसन्धि और अनभिसन्धिके कारण मोक्ष और बन्धन होते हैं, जो संसारका मूल

यदायतना यत्प्रतिष्ठाश्च सर्वाः प्रजा यदात्मकं च सर्वं यच्चाजममृतमभयं शिवमद्वितीयं तत्सत्यं स आत्मा तवातस्तत्त्वमसि हे श्वेतकेतो इत्युक्तार्थमसकृद्वाक्यम् ।

कः पुनरसौ श्वेतकेतुस्त्वं शब्दार्थः । योऽहं श्वेतकेतुरुद्दालकस्य पुत्र इति वेदात्मानमादेशं श्रुत्वा मत्वा विज्ञाय चाश्रुतममतमविज्ञातं विज्ञातुं पितरं पप्रच्छ कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति । स एषोऽधिकृतः श्रोता मन्ता विज्ञाता तेजोऽबन्नमयं कार्यकरणसङ्घातं प्रविष्टा परैव देवता नामरूपव्याकरणायादर्श इव पुरुषः सूर्यादिरिव जलादौ प्रतिबिम्बरूपेण स आत्मानं कार्यकरणेभ्यः प्रविभक्तं सद्रूपं सर्वात्मानं प्राक् पितुः

है, सम्पूर्ण प्रजा जिसके आश्रित और जिसमें प्रतिष्ठित है, सारा संसार जिस स्वरूपवाला है तथा जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीय है वही सत्य है और वही तेरा आत्मा है; अतः हे श्वेतकेतो ! तू वह है । इस प्रकार इस वाक्यका अर्थ कई बार कहा जा चुका है ।

[अब यहाँ प्रश्न होता है कि] त्वं शब्दका वाच्य यह श्वेतकेतु कौन है ? [उत्तर—] जो 'मैं श्वेतकेतु उद्दालकका पुत्र हूँ' ऐसा अपनेको जानता था तथा जिसने [अपने पिताके] उस आदेशका श्रवण, मनन और ज्ञान प्राप्त करके अश्रुत, अमत और अविज्ञातको जाननेके लिये पितासे पूछा था कि 'भगवन् ! वह आदेश किस प्रकार है ?' वह यह अधिकारी श्रोता, मन्ता और विज्ञाता दर्पणमें प्रतिफलित हुए पुरुष और जलादिमें प्रतिबिम्बरूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिके समान तेज-जल-अन्नमय देहेन्द्रियसंघातमें नाम-रूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये प्रविष्ट हुई परदेवता ही है । वह पूर्व पिताका उपदेश सुननेसे

श्रवणान्न विजज्ञौ । अथेदानीं पित्रा प्रतिबोधितस्तत्त्वमसीतिदृष्टान्तैर्हेतुभिश्च तत्पितुरस्य ह किलोक्तं सदेवाहमस्मीति विजज्ञौ विज्ञातवान् । द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ।

अपनेको देह और इन्द्रियोंसे भिन्न सद्रूप सर्वात्मा नहीं जानता था । अब 'तू वह है' इस प्रकार दृष्टान्त और हेतुपूर्वक पिताद्वारा समझाये जानेपर वह पिताके इस कथनको कि 'मैं सत् ही हूँ' समझ गया है । 'विजज्ञौ इति' इस पदकी द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

किं पुनरत्र षष्ठे वाक्यप्रमाणेन जनितं फलमात्मनि ?

पूर्व०—किंतु इस छठे अध्यायमें वाक्यप्रमाणसे आत्मामें क्या फल हुआ ?

षष्ठाध्यायवाक्यप्रमाणजन्यफलदर्शनम्

कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतत्वविज्ञाननिवृत्तिस्तस्य फलं यमवोचाम त्वंशब्दवाच्यमर्थं श्रोतुं मन्तुं चाधिकृतत्वमविज्ञातविज्ञानफलार्थम् । प्राक्चैतस्माद्विज्ञानादहमेवं करिष्याम्यग्निहोत्रादीनि कर्माण्यहमत्राधिकृतः, एषां च कर्मणां फलमिहामुत्र च भोक्ष्ये कृतेषु वा कर्मसु कृतकर्तव्यः स्यामित्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृ-

सिद्धान्ती—हमने अविज्ञातके विज्ञानरूप फलके लिये श्रवण और मनन करनेमें अधिकृत जिस 'त्वम्' शब्दवाच्य अर्थका वर्णन किया है उसके अपनेमें [आरोपित] कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अधिकृतत्व-विज्ञानकी निवृत्ति ही इसका फल है । इस विज्ञानसे पूर्व 'मैं इस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म करूँगा, मैं इसका अधिकारी हूँ, तथा इन कर्मोंका फल मैं इस लोक और परलोकमें भोगूँगा और इन कर्मोंके करनेपर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा' इस प्रकार मैं कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अधिकारी हूँ—ऐसा जो उसे आत्मामें विज्ञान

तोऽस्मीत्यात्मनि यद्विज्ञानमभूत्तस्य, यत्सज्जगतो मूलमेकमेवाद्वितीयं तत्त्वमसीत्यनेन वाक्येन प्रतिबुद्धस्य निवर्तते, विरोधात् । न ह्येकस्मिन्नद्वितीय आत्मन्ययमहमस्मीति विज्ञाते ममेदमन्यदनेन कर्तव्यमिदं कृत्वास्य फलं भोक्ष्य इति वा भेदविज्ञानमुपपद्यते । तस्मात्सत्सत्याद्वितीयात्मविज्ञाने विकारानृतजीवात्मविज्ञानं निवर्तत इति युक्तम् ।

सद्बुद्धेरारोप्यमाणत्वशङ्कनम्

ननु तत्त्वमसीत्यत्र त्वंशब्दवाच्येऽर्थे सद्बुद्धिरादिश्यते यथादित्यमनआदिषु ब्रह्मादिबुद्धिः । यथा च लोके प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्धिस्तद्वन्न तु सदेव त्वमिति । यदि सदेव श्वेतकेतुः स्यात्कथमात्मानं न विजानीयाद्येन तस्मै तत्त्वमसीत्युपदिश्यते ।

था, वह—जो एकमात्र अद्वितीय सत् जगत्का मूल है वही तू है—इस वाक्यद्वारा जग उठनेपर निवृत्त हो जाता है, क्योंकि [पूर्व मिथ्या ज्ञानसे] इसका विरोध है । कारण, एकमात्र अद्वितीय आत्माके विषयमें 'यह मैं हूँ'—ऐसा ज्ञान हो जानेपर 'मुझे अपना यह अन्य कर्तव्य इस साधनसे करना चाहिये, इसे करनेपर मैं इसका फल भोगूँगा ।' इस प्रकारकी भेदबुद्धि होनी सम्भव नहीं है । अतः सद्रूप सत्य और अद्वितीय आत्माका ज्ञान होनेपर विकाररूप मिथ्या जीवात्मबुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है—यह कथन ठीक ही है ।

पूर्व०—किंतु जिस प्रकार आदित्य और मन आदिमें ब्रह्मादिबुद्धिका तथा लोकमें प्रतिमा आदिमें विष्णुबुद्धिका आरोप किया जाता है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके द्वारा 'त्वम्' शब्दके वाच्यार्थमें तो सद्बुद्धिका आरोप ही किया जाता है । वस्तुतः त्वमर्थ सत् ही नहीं है । यदि श्वेतकेतु सत् ही होता तो अपनेको क्यों न जानता, जिससे कि उसे 'तू वह है' इस प्रकार उपदेश किया गया ।

न; आदित्यादिवाक्यवैलक्षण्यात् । तत्परिहारः आदित्यो ब्रह्मेत्यादाविति शब्दव्यवधानान्न साक्षाद्ब्रह्मत्वं गम्यते । रूपादिमत्त्वाच्चादित्यादीनामाकाशमनसोश्चेतिशब्दव्यवधानादेवाब्रह्मत्वम् । इह तु सत एवेह प्रवेशं दर्शयित्वा तत्त्वमसीति निरङ्कुशं सदात्मभावमुपदिशति ।

ननु पराक्रमादिगुणः सिंहोऽसि त्वमितिवत्तत्त्वमसीति स्यात् ।

न; मृदादिवत्सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमित्युपदेशात् । न चोपचारविज्ञानात्तस्य तावदेव चिरमिति सत्सम्पत्तिरुपदिश्येत ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि वाक्योंसे इस वाक्यमें विलक्षणता है । 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' आदि वाक्योंमें 'इति' शब्दका व्यवधान रहनेके कारण उनका साक्षात् ब्रह्मत्व ज्ञात नहीं होता । इसके सिवा आदित्यादि रूपवान् होनेके कारण तथा आकाश और मनके 'इति' शब्दसे व्यवधान होनेके कारण वे ब्रह्म नहीं हो सकते । किंतु इस प्रसङ्गमें तो [आरुणि] सत्का ही इस (तेजोऽबन्नमयसंघात) में प्रवेश दिखलाकर 'तू वह है' इस प्रकार निरंकुश सदात्मभावका उपदेश करता है ।

पूर्व०—जिस प्रकार पराक्रमादि गुणवाला 'तू सिंह है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार 'तू वह है' यह वाक्य भी तो हो सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि 'मृत्तिकादिके समान एकमात्र अद्वितीय सत् ही सत्य है' ऐसा उपदेश किया गया है । औपचारिक विज्ञानके द्वारा 'उसे तभीतक विलम्ब है' इस प्रकार सत्की प्राप्तिका उपदेश नहीं किया जा

मृषात्वादुपचारविज्ञानस्य त्वमिन्द्रो यम इतिवत् ।

उपदेशस्य स्तुत्यर्थत्वनिरासः

नापि स्तुतिरनुपास्यत्वाच्छ्वेतकेतोः । नापि सच्छ्वेतकेतुत्वोपदेशेन स्तूयेत । न हि राजा दासस्त्वमिति स्तुत्यः स्यात् । नापि सतः सर्वात्मन एकदेशनिरोधो युक्तस्तत्त्वमसीति देशाधिपतेरिव ग्रामाध्यक्षस्त्वमिति । न चान्या गतिरिह सदात्मत्वोपदेशादर्थान्तरभूता सम्भवति ।

बुद्धिमात्रकर्तव्यतानिरासः

ननु सदस्मीति बुद्धिमात्रमिह कर्तव्यतया चोद्यते न त्वज्ञातं सदसीति ज्ञाप्यत इति चेत् ।

नन्वस्मिन्पक्षेऽप्यश्रुतं श्रुतं भवतीत्याद्यनुपपन्नम् ।

सकता था, क्योंकि 'तू इन्द्र है' 'तू यम है' इत्यादि विज्ञानोंके समान औपचारिक विज्ञान तो मिथ्या ही हुआ करता है ।

इसके सिवा यह स्तुति भी नहीं हो सकती, क्योंकि श्वेतकेतु उपास्य नहीं है । न श्वेतकेतुरूपसे उपदेश देकर सत्की ही स्तुति की जा सकती है, क्योंकि 'तू दास है' ऐसा कहकर राजाकी स्तुति नहीं की जाती । इसके सिवा देशाधिपतिको 'तू ग्रामाध्यक्ष है' ऐसा कहनेके समान सर्वात्मक सत्को 'तू वह है' ऐसा कहकर [श्वेतकेतुरूप] एक देशमें निरुद्ध करना भी उचित नहीं है । इनसे अतिरिक्त सत्के आत्मत्वोपदेशसे अर्थान्तरभूत कोई और गति इस वाक्यमें सम्भव ही नहीं है ।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि यहाँ 'मैं सत् हूँ' ऐसी बुद्धिका ही कर्त्तव्यरूपसे उपदेश किया गया है 'तू सत् है' ऐसा कहकर अज्ञातका ज्ञान नहीं कराया गया—तो ?

सिद्धान्ती—किंतु इस पक्षको माननेपर भी 'अश्रुत श्रुत हो जाता है' इत्यादि कथन तो अनुपपन्न ही रहेगा ।

न; सदसीतिबुद्धिविधेः स्तुत्यर्थत्वात् ।

न; आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरमित्युपदेशात् । यदि हि सदसीति बुद्धिमात्रं कर्तव्यतया विधीयते न तु त्वंशब्दवाच्यस्य सद्रूपत्वमेव तदा नाचार्यवान्वेदेति ज्ञानोपायोपदेशो वाच्यः स्यात् । यथाग्निहोत्रं जुहुयादित्येवमादिष्वर्थप्राप्तमेवाचार्यवत्त्वमिति तद्वत् । तस्य तावदेव चिरमिति च क्षेपकरणं न युक्तं स्यात् । सदात्मतत्त्वेऽविज्ञातेऽपि सकृद्बुद्धिमात्रकरणे मोक्षप्रसङ्गात् ।

न च तत्त्वमसीत्युक्ते नाहं सदितिप्रमाणवाक्यजनिता बुद्धि-

पूर्व०—नहीं; यह कथन 'मैं सत् हूँ' इस प्रकारकी बुद्धिरूप विधिकी स्तुतिके लिये हो सकता है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि यहाँ 'आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है; उसे तभीतक विलम्ब है' इत्यादि उपदेश किया गया है । यदि यहाँ 'मैं सत् हूँ' इस प्रकारकी बुद्धिमात्रका ही कर्त्तव्यरूपसे विधान किया गया होता 'त्वम्' शब्दवाच्य जीवकी सद्रूपताका उपदेश न होता तो 'आचार्यवान् पुरुषको ज्ञान होता है' इस प्रकार ज्ञानके उपायका उपदेश न किया जाता । जिस प्रकार 'अग्निहोत्र करे' इत्यादि विधियोंमें आचार्यवत्त्व अर्थतः प्राप्त है उसी प्रकार यहाँ भी समझ लिया जाता । और न 'उसे तभीतक विलम्ब है' ऐसा कहकर कालक्षेप करना ही उचित हो सकता है क्योंकि सदात्मतत्त्वका ज्ञान न होनेपर भी एक बार सद्बुद्धि करनेसे ही उसके मोक्षका प्रसंग उपस्थित हो जाता ।

इसके सिवा जिस प्रकार अग्निहोत्रादि-विधिजनित अग्निहो-

निवर्तयितुं शक्या नोत्पन्नेति वा शक्यं वक्तुम्, सर्वोपनिषद्वाक्यानां तत्परतयैवोपक्षयात् । यथाग्निहोत्रादिविधिजनिताग्निहोत्रादिकर्तव्यताबुद्धीनामतथार्थत्वमनुत्पन्नत्वं वा न शक्यते वक्तुं तद्वत् ।

देहादिष्वात्मबुद्धित्वान्न सदात्मविज्ञानम्

यत्तूक्तं सदात्मा सन्नात्मानं कथं न जानीयादिति, नासौ दोषः, कार्यकरणसङ्घातव्यतिरिक्तोऽहं जीवः कर्ता भोक्तेत्यपि स्वभावतः प्राणिनां विज्ञानादर्शनात्किमु तस्य सदात्मविज्ञानम् । कथमेवं सदात्मविज्ञानम् ? कथमेवं व्यतिरिक्तविज्ञानेऽसति तेषां कर्तृत्वादिविज्ञानं सम्भवति ? दृश्यते

त्रादिकर्त्तव्यता बुद्धिका अतथार्थत्व (अग्निहोत्रपरक न होना) अथवा अनुत्पन्नत्व (उत्पन्न ही न होना) नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार 'तू वह है' इस प्रकार कहे जानेपर 'मैं सत् हूँ' ऐसी प्रमाणवाक्यजनित बुद्धि निवृत्त नहीं की जा सकती और न यही कहा जा सकता है कि वह उत्पन्न ही नहीं हुई, क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्योंका पर्यवसान इसी अर्थमें हुआ है ।

और ऐसा जो कहा कि 'सत्स्वरूप होनेपर भी वह अपनेको [सद्रूप] क्यों न जानता' सो यह दोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि स्वभावतः तो प्राणियोंकी ऐसी बुद्धि भी नहीं देखी जाती कि मैं देह और इन्द्रियोंके संघातसे भिन्न कर्ता-भोक्ता जीव हूँ, फिर उन्हें सदात्मबुद्धि न हो तो आश्चर्य ही क्या है ? ऐसी अवस्थामें उन्हें सदात्मबुद्धि होगी भी कैसे ? इस प्रकार जबतक उन्हें देहेन्द्रियादिसे व्यतिरिक्त बुद्धि न हो तबतक कर्तृत्वादिबुद्धिका होना भी कैसे

च । तद्वत्तस्यापि देहादिष्वात्मबुद्धित्वान्न स्यात्सदात्मविज्ञानम् । तस्माद्विकारानृताधिकृतजीवात्मविज्ञाननिवर्तकमेवेदं वाक्यं तत्त्वमसीति सिद्धमिति ॥३॥

सम्भव हो सकता है और यही बात देखी भी जाती है । इसी प्रकार उसे देहादिमें आत्मबुद्धि होनेके कारण सदात्मबुद्धि नहीं होती । अतः यह सिद्ध हुआ कि 'तत्त्वमसि' यह वाक्य विकाररूप मिथ्या देहादिमें अधिकृत जीवात्मभावकी निवृत्ति करनेवाला ही है ॥३॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि　षष्ठाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशंकरभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
षष्ठोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

नारदके प्रति सनत्कुमारका उपदेश

वक्ष्यमाणग्रन्थारम्भप्रयोजनम्

परमार्थतत्त्वोपदेशप्रधानपरः षष्ठोऽध्यायः सदात्मैकत्वनिर्णयपरतयैवोपयुक्तः, न सतोऽर्वाग्विकारलक्षणानि तत्त्वानि निर्दिष्टानीत्यतस्तानि नामादीनि क्रमेण निर्दिश्य तद्द्वारेणापि भूमाख्यं निरतिशयं तत्त्वं निर्देक्ष्यामीति शाखाचन्द्रदर्शनवदितीमं सप्तमं प्रपाठकमारभते । अनिर्दिष्टेषु हि सतोऽर्वाक्तत्त्वेषु सन्मात्रे च निर्दिष्टेऽन्यदप्यविज्ञातं स्यादित्याशङ्का कस्यचित्स्यात्सा मा भूदिति वा तानि निर्दिदिक्षति ।

प्रधानतया परमार्थतत्त्वका उपदेश करनेवाला छठा अध्याय सत् (ब्रह्म) और आत्माका एकत्व निर्णय करनेके कारण ही उपयोगी है । उसमें सत्से निम्नतर विकाररूप तत्त्वोंका निर्देश नहीं किया गया । अतः उन नामादि तत्त्वोंका क्रमशः निरूपण कर उनके द्वारा भी शाखाचन्द्रदर्शनके समान भूमासंज्ञक निरतिशय तत्त्वका निर्देश करूँगी—इस अभिप्रायसे श्रुति यह सातवाँ प्रपाठक आरम्भ करती है । अथवा सत्से निम्नतर तत्त्वोंका निर्देश न होनेपर और केवल सन्मात्रका ही निरूपण किया जानेपर किसीको ऐसी आशङ्का हो सकती है कि अभी कुछ और भी अविज्ञात है, वह आशङ्का न हो—इस आशयसे श्रुति उनका निर्देश करना चाहती है ।

अथवा सोपानारोहणवत्स्थूलादारभ्य सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च बुद्धिविषयं ज्ञापयित्वा तदतिरिक्ते स्वाराज्येऽभिषेक्ष्यामीति नामादीनि निर्दिदिक्षति ।

अथवा नामाद्युत्तरोत्तरविशिष्टानि तत्त्वान्यतितरां च तेषामुत्कृष्टतमं भूमाख्यं तत्त्वमिति तत्स्तुत्यर्थं नामादीनां क्रमेणोपन्यासः ।

आख्यायिका-प्रयोजनम्

आख्यायिका तु परविद्यास्तुत्यर्था । कथम् ? नारदो देवर्षिः कृतकर्तव्यसर्वविद्योऽपि सन्ननात्मज्ञत्वाच्छुशोचैव किमु वक्तव्यमन्योऽल्पविज्जन्तुरकृतपुण्यातिशयोऽकृतार्थ इति ।

अथवा नान्यदात्मज्ञानान्निरतिशयश्रेयःसाधनमस्तीत्येतत्प्रदर्शनार्थं सनत्कुमारनारदाख्या-

अथवा सीढ़ियोंपर चढ़नेके समान स्थूलसे आरम्भ करके बुद्धिके सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विषयका ज्ञान कराकर अधिकारीको उससे अतिरिक्त स्वाराज्यपर अभिषिक्त करूँगी—इस अभिप्रायसे वह नामादिका निर्देश करना चाहती है ।

अथवा नामादि उत्तरोत्तर विशिष्ट तत्त्व हैं; उन सबकी अपेक्षा भूमासंज्ञक तत्त्व अत्यन्त उत्कृष्ट है—इस प्रकार उसकी स्तुतिके लिये नामादिका क्रमशः उल्लेख किया गया है ।

यहाँ जो आख्यायिका है वह तो परा विद्याकी स्तुतिके लिये है । किस प्रकार ? जो अपने सारे कर्तव्य पूर्ण कर चुके थे और सर्वविद्यासम्पन्न थे उन देवर्षि नारदको भी अनात्मज्ञ होनेके कारण शोक हुआ ही, फिर जिसने अत्यन्त पुण्यसम्पादन नहीं किया और जो अकृतार्थ है ऐसे किसी अन्य अल्पज्ञ जीवकी तो बात ही क्या है ?

अथवा आत्मज्ञानसे बढ़कर और कोई कल्याणका साधन नहीं है—यह प्रदर्शित करनेके लिये सनत्कुमार-नारद-आख्यायिकाका

यिकारभ्यते, येन सर्वविज्ञानसाधनशक्तिसम्पन्नस्यापि नारदस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव येनोत्तमाभिजनविद्यावृत्तसाधनशक्तिसम्पत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा प्राकृतपुरुषवत्सनत्कुमारमुपससाद श्रेयःसाधनप्राप्तयेऽतः प्रख्यापितं भवति निरतिशयप्राप्तिसाधनत्वमात्मविद्याया इति ।

आरम्भ किया जाता है, जिससे कि सम्पूर्ण विज्ञानरूप साधनोंकी शक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी देवर्षि नारदका कल्याण नहीं हुआ, इसीसे वे उत्तम कुल, विद्या, आचार और नाना प्रकारके साधनोंकी सामर्थ्यरूप सम्पत्तिसे होनेवाले अभिमानको त्यागकर श्रेयःसाधनकी प्राप्तिके लिये एक साधारण पुरुषके समान सनत्कुमारजीके समीप गये । इससे श्रेयःप्राप्तिमें आत्मविद्याका निरतिशय साधनत्व सूचित होता है ।

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥ १ ॥

'हे भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये' ऐसा कहते हुए नारदजी सनत्कुमारजीके पास गये । उनसे सनत्कुमारजीने कहा—'तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे पास उपदेश लेनेके लिये आओ; तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा' तब नारदने कहा—॥ १ ॥

अधीह्यधीष्व भगवो भगवन्निति ह किलोपससाद । अधीहि भगव इति मन्त्रः । सनत्कुमारं योगीश्वरं ब्रह्मिष्ठं नारद उपसन्नवान् । तं न्यायत उपसन्नं

'हे भगवन् ! मुझे अध्ययन कराइये' ऐसा कहते हुए नारदजी ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर सनत्कुमारके प्रति उपसन्न हुए अर्थात् [शिष्यरूपसे] उनके समीप गये । 'अधीहि भगवः' यह उपसत्तिका मन्त्र है । अपने प्रति नियमानुसार उपसन्न हुए उन

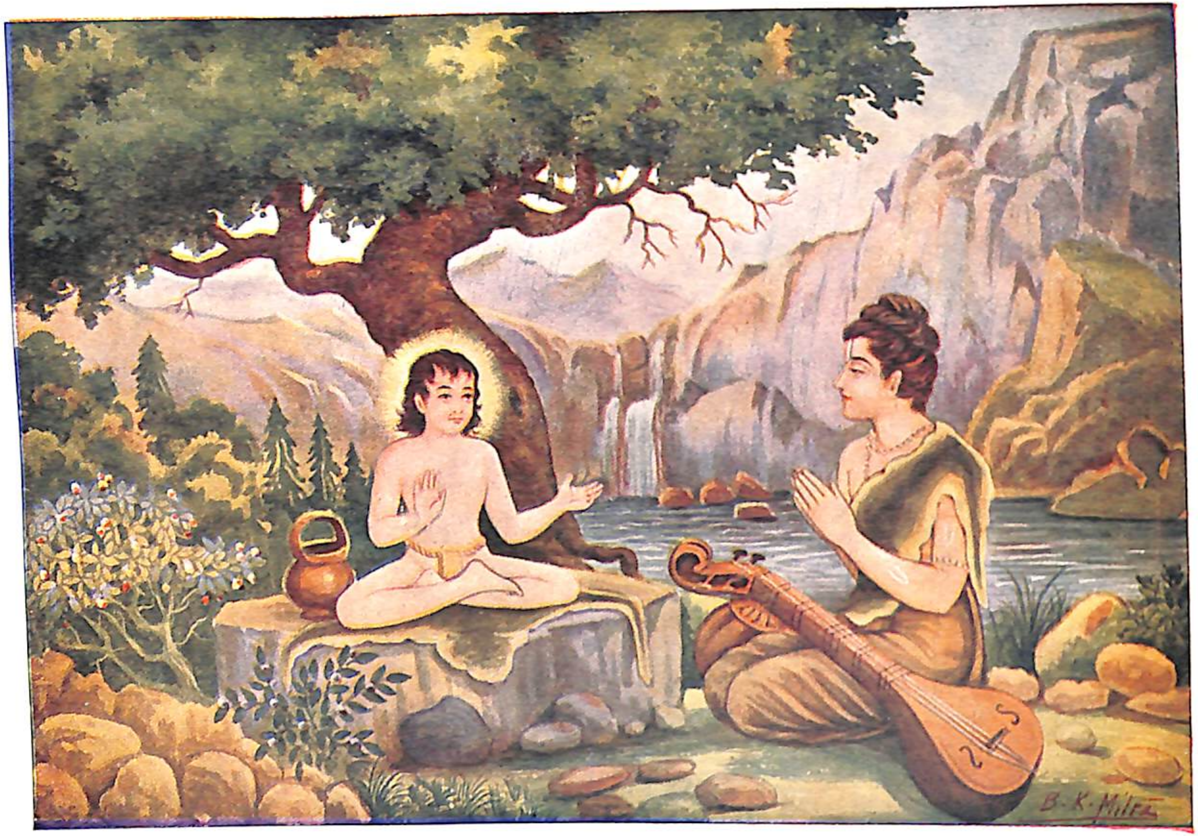

सनत्कुमार-नारद-संवाद

[पृष्ठ ७१२

होवाच यदात्मविषये किञ्चिद्वेत्थ तेन तत्प्रख्यापनेन मामुपसीदेदमहं जान इति, ततोऽहं भवतो विज्ञानात्ते तुभ्यमूर्ध्वं वक्ष्यामि, इत्युक्तवति स होवाच नारदः ।१।

नारदजीसे सनत्कुमारजीने कहा—'तुम आत्माके विषयमें जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए अर्थात् ऐसा प्रकट करते हुए मेरे पास उपदेश लेनेके लिये आओ; 'मैं यह जानता हूँ' तब मैं तुम्हें तुम्हारे ज्ञानसे आगे उपदेश करूँगा ।' सनत्कुमारजीके ऐसा कहनेपर नारदजी बोले ॥१॥

* * *

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि २

'भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद हैं, [इनके सिवा] इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुड मन्त्र) और देवजनविद्या—नृत्य-संगीत आदि—हे भगवन् ! यह सब मैं जानता हूँ' ॥ २ ॥

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि स्मरामि यद्वेत्थेति विज्ञानस्य पृष्टत्वात् । तथा यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थं वेदं वेदशब्दस्य प्रकृतत्वा-

हे भगवन् ! मैं ऋग्वेदका अध्ययन कर चुका हूँ अर्थात् मुझे ऋग्वेद स्मरण है [यहाँ अध्ययनवाचक पदका स्मरण अर्थ क्यों किया गया ? उत्तर—] क्योंकि 'यद्वेत्थ' ऐसा कहकर विज्ञानके विषयमें प्रश्न किया गया है । तथा यजुर्वेद,

दितिहासपुराणं पञ्चमं वेदं वेदानां भारतपञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः । व्याकरणेन हि पदादिविभागश ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते; पित्र्यं श्राद्धकल्पम्; राशिं गणितम्; दैवमुत्पातज्ञानम्; निधिं महाकालादिनिधिशास्त्रम्; वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्; एकायनं नीतिशास्त्रम्; देवविद्यां निरुक्तम्; ब्रह्मण ऋग्यजुःसामाख्यस्य विद्यां ब्रह्मविद्यां शिक्षाकल्पच्छन्दश्चितयः; भूतविद्यां भूततन्त्रम्; क्षत्रविद्यां धनुर्वेदम्; नक्षत्रविद्यां ज्यौतिषम्; सर्पदेवजनविद्यां सर्पविद्यां गारुडं देवजनविद्यां गन्धयुक्तिनृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि । एतत्सर्वं हे भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

सामवेद और चौथा आथर्वण वेद जानता हूँ, 'वेद' शब्द प्रसंगतः प्राप्त होनेके कारण इतिहासपुराणरूप पाँचवाँ वेद, महाभारतसहित पाँचों वेदोंका वेद अर्थात् व्याकरण—क्योंकि व्याकरणके द्वारा ही पदादिके विभागपूर्वक ऋग्वेदादिका ज्ञान होता है, पित्र्य—श्राद्धकल्प, राशि—गणित, दैव—उत्पातज्ञान, निधि—महाकालादि निधिशास्त्र, वाकोवाक्य—तर्कशास्त्र, एकायन—नीतिशास्त्र, देवविद्या—निरुक्त, ब्रह्मविद्या—ब्रह्म अर्थात् ऋग्यजुःसामसंज्ञक वेदोंकी विद्या यानी शिक्षा, कल्प, छन्द और चिति, भूतविद्या—भूतशास्त्र, क्षत्रविद्या—धनुर्वेद, नक्षत्रविद्या—ज्यौतिष, सर्पदेवजनविद्या अर्थात् सर्पविद्या—गारुड और देवजनविद्या—गन्धयुक्ति तथा नृत्य, गान, वाद्य और शिल्पादिविज्ञान—ये सब हे भगवन्! मैं जानता हूँ ॥ २ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं

भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳहोवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप-जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, और हे भगवन् ! मैं शोक करता हूँ; ऐसे मुझको हे भगवन् ! शोकसे पार कर दीजिये। तब सनत्कुमारने उनसे कहा—'तुम यह जो कुछ जानते हो वह नाम ही है' ॥ ३ ॥

सोऽहं भगव एतत्सर्वं जानन्नपि मन्त्रविदेवास्मि शब्दार्थमात्रविज्ञानवानेवास्मीत्यर्थः । सर्वो हि शब्दोऽभिधानमात्रमभिधानं च सर्वं मन्त्रेष्वन्तर्भवति । मन्त्रविदेवास्मि मन्त्रवित्कर्मविदित्यर्थः । 'मन्त्रेषु कर्माणि' इति हि वक्ष्यति; नात्मानं वेद्मि ।

नन्वात्मापि मन्त्रैः प्रकाश्यत एवेति कथं मन्त्रविच्चेन्नात्मवित् ।

नः अभिधानाभिधेयभेदस्य विकारत्वात् । न च विकार आ-

हे भगवन् ! वह मैं यह सब जानते हुए भी केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ अर्थात् केवल शब्दार्थमात्र जाननेवाला हूँ, क्योंकि सारे शब्द अभिधानमात्र हैं और सम्पूर्ण अभिधान मन्त्रोंके अन्तर्गत है। मैं मन्त्रवित् ही हूँ, मन्त्रवित् अर्थात् कर्मवित्, क्योंकि 'मन्त्रोंमें कर्म [एकरूप होते हैं]' ऐसा आगे (खं० ४ मं० १ में) कहेंगे। मैं आत्माको नहीं जानता।

शङ्का—किंतु आत्मा भी तो मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित होता ही है; फिर नारदजी मन्त्रवित् होनेपर भी आत्मवेत्ता क्यों नहीं हैं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि नाम-नामीरूप जो भेद है वह तो विकार है और विकार

त्मेष्यते । नन्वात्माप्यात्मशब्देनाभिधीयते; न, "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) । "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा० उ० ७ । २४ । १) इत्यादिश्रुतेः ।

कथं तर्ह्यात्मैवाधस्तात्स आत्मेत्यादिशब्दा आत्मानं प्रत्याययन्ति ।

अनात्मबाधात् सदात्मप्रत्ययः

नैष दोषः; देहवति प्रत्यगात्मनि भेदविषये प्रयुज्यमानः शब्दो देहादीनामात्मत्वे प्रत्याख्यायमाने यत्परिशिष्टं सदवाच्यमपि प्रत्याययति । यथा सराजिकायां दृश्यमानायां सेनायां छत्रध्वजपताकादिव्यवहितेऽदृश्यमानेऽपि राजन्येष राजा दृश्यत इति भवति शब्दप्रयोगस्तत्र कोऽसौ राजेति

आत्मा माना नहीं जाता । यदि कहो कि आत्मा भी तो 'आत्मा' शब्दसे कहा ही जाता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि "जहाँसे वाणी लौट आती है" "जहाँ कोई और नहीं देखता" इत्यादि श्रुतिसे [उसका शब्दवाच्य न होना ही सिद्ध होता है] ।

शङ्का—तो फिर "आत्मा ही नीचे है" "वह आत्मा है" इत्यादि शब्द किस प्रकार आत्माकी प्रतीति कराते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । भेदके विषयभूत देहधारी प्रत्यगात्मामें प्रयोग किया हुआ ['आत्मा'—यह] शब्द, देहादिका आत्मत्व निरस्त हो जानेपर जो सन्मात्र अवशिष्ट रहता है उसे—यद्यपि वह [मुख्यवृत्तिसे किसी शब्दका] वाच्य नहीं है तो भी—[लक्षणासे] उसकी प्रतीति करा देता है, जिस प्रकार कि राजाके सहित दिखायी देती हुई सेनामें छत्र, ध्वजा और पताका आदिकी ओटमें राजाके दिखायी न देनेपर भी 'ये राजा दिखायी देते हैं' ऐसा प्रयोग होता है, फिर ऐसा प्रश्न होनेपर कि 'इनमें राजा कौन है ?' राजा

राजविशेषनिरूपणायां दृश्यमानेतरप्रत्याख्यातेऽन्यस्मिन्नदृश्यमानेऽपि राजनि राजप्रतीतिर्भवेत्तद्वत् ।

तस्मात्सोऽहं मन्त्रवित्कर्मविदेवास्मि कर्मकार्यं च सर्वं विकार इति विकारज्ञ एवास्मि नात्मविन्नात्मप्रकृतिस्वरूपज्ञ इत्यर्थः । अत एवोक्तम् "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६ । १४ । २) इति । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

श्रुतमागमज्ञानमस्त्येव हि यस्मान्मे मम भगवद्दृशेभ्यो युष्मत्सदृशेभ्यस्तरत्यतिक्रामति शोकं मनस्तापमकृतार्थबुद्धितामात्मविदित्यतः सोऽहमनात्मवित्त्वाद्धे भगवः शोचाम्यकृतार्थ-

कहलानेवाले विशेष व्यक्तिका निरूपण करनेपर अन्य दृश्यमान पुरुषोंका प्रत्याख्यान करके उनसे भिन्न राजाके साक्षात् दिखलायी न देनेपर भी राजाकी प्रतीति हो जाती है उसी प्रकार [अनात्माका बाध करके आत्माकी प्रतीति होती है] ।

अतः [नारदजी कहते हैं—] वह मैं मन्त्रवेत्ता अर्थात् कर्मवेत्ता ही हूँ, कर्मका कार्य ही सारा विकार है; अतः मैं विकारज्ञ ही हूँ—आत्मज्ञ अर्थात् आत्मारूप प्रकृति (कारण) के स्वरूपको जाननेवाला नहीं हूँ । इसीसे कहा है कि "आचार्यवान् पुरुष [आत्माको] जानता है" और यही बात "जहाँसे वाणी लौट आती है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी प्रमाणित होती है ।

क्योंकि मैंने आप-जैसोंसे सुना है—मुझे ऐसा शास्त्रीय ज्ञान है कि 'आत्मवेत्ता शोक—मानसिक ताप अर्थात् अकृतार्थताबुद्धिको तर जाता है—पार कर लेता है' और हे भगवन् ! मैं अनात्मज्ञ होनेके कारण शोक करता हूँ अर्थात् अकृतार्थ-

बुद्ध्या संतप्ये सर्वदा तं मा मां शोकसागरस्य पारमन्तं भगवांस्तारयत्वात्मज्ञानोडुपेन कृतार्थबुद्धिमापादयत्वभयं गमयत्वित्यर्थः ।

तमेवमुक्तवन्तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा अधीतवानसि, अध्ययनेन तदर्थज्ञानमुपलक्ष्यते, ज्ञानवानसीत्येतन्नामैवैतत् । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः ॥ ३ ॥

बुद्धिसे सर्वदा संतप्त रहता हूँ । उस मुझको हे भगवन् ! आत्मज्ञानरूपी नौकाके द्वारा शोकसागरके पार--परे पहुँचा दो--मुझे कृतार्थबुद्धि प्राप्त करा दो अर्थात् अभयको प्राप्त करा दो ।

इस प्रकार कहते हुए उन (नारदजी) से सनत्कुमारजीने कहा—'तुमने यह जो कुछ अध्ययन किया है—अध्ययनसे उसके अर्थका ज्ञान भी उपलक्षित होता है– [अतः तात्पर्य यह है कि] तुम जो कुछ जानते हो वह सब नाम ही है; क्योंकि "विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है" ऐसी श्रुति है' ॥ ३ ॥

* * *

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

ऋग्वेद नाम है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या,

भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतादिकला और शिल्पविद्या—ये सब भी नाम ही हैं । तुम नामकी उपासना करो ॥ ४ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि नामैवैतत् । नामोपास्स्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या । यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्योपास्ते तद्वत् ॥ ४ ॥

ऋग्वेद नाम ही है, तथा यजुर्वेद इत्यादि ये सब भी नाम ही हैं । अतः जिस प्रकार विष्णु-बुद्धिसे प्रतिमाकी उपासना करते हैं उसी प्रकार तुम नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करो ॥ ४ ॥

* * *

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

वह जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी जहाँतक नामकी गति होती है वहाँतक यथेच्छ गति हो जाती है, जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद——] 'भगवन् ! क्या नामसे भी अधिक कुछ है ?' [सनत्कुमार——] 'नामसे भी अधिक है ।' [नारद—] 'तो भगवन् ! मुझे वही बतलावें' ॥ ५ ॥

स यस्तु नाम ब्रह्मेत्युपास्ते तस्य यत्फलं भवति तच्छृणु—या-

वह जो कि 'नाम ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे जो फल मिलता है वह सुनो——जहाँतक

यन्नाम्नो गतं नाम्नो गोचरं तत्र तस्मिन्नामविषयेऽस्य यथाकामचारः कामचरणं राज्ञ इव स्वविषये भवति । यो नाम ब्रह्मेत्युपास्त इत्युपसंहारः । किमस्ति भगवो नाम्नो भूयोऽधिकतरं यद्ब्रह्मदृष्ट्यर्हमन्यदित्यभिप्रायः । सनत्कुमार आह नाम्नो वाव भूयोऽस्त्येवेत्युक्त आह यद्यस्ति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

नामकी गति अर्थात् नामका विषय होता है वहाँतक उस नामके विषयमें इसका कामचार--स्वेच्छाचरण हो जाता है, जैसा कि राजाके अपने विषय (अधिकृत देश) में, जो 'नाम ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है--यह उपसंहार है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या नामसे बढ़कर भी कुछ है ? अर्थात् जो ब्रह्मदृष्टिके योग्य हो ऐसी कोई और वस्तु भी है—ऐसा इसका अभिप्राय है ?' सनत्कुमारने कहा—'नामसे बढ़कर भी है ही ।' इस प्रकार कहे जानेपर नारदने कहा—'यदि है तो भगवन् ! मुझे वही बतलावें' ॥ ५ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१॥

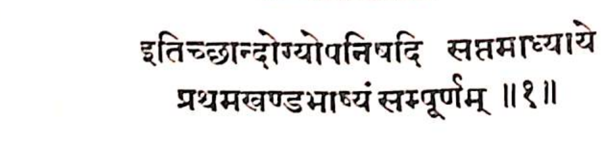

द्वितीय खण्ड

नामकी अपेक्षा वाक्‌की महत्ता

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

वाक् ही नामसे बढ़कर है; वाक् ही ऋग्वेदको विज्ञापित करती है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण वेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, वेदोंके वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (हिंस्र जन्तु), कीट-पतंग, पिपीलिकापर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो कुछ भी है [उसे वाक् ही विज्ञापित करती है] । यदि वाणी न होती तो न धर्मका और न अधर्मका ही ज्ञान होता; तथा न सत्य, न असत्य, न साधु, न असाधु, न मनोज्ञ

और न अमनोज्ञका ही ज्ञान हो सकता । वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है; अतः तुम वाक्की उपासना करो ॥ १ ॥

वाग्वाव । वागितीन्द्रियं जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु स्थितं वर्णानामभिव्यञ्जकम् । वर्णाश्च नामेति नाम्नो वाग्भूयसीत्युच्यते । कार्याद्धि कारणं दृष्टं लोके यथा पुत्रात्पिता तद्वत् ।

कथं च वाङ्नाम्नो भूयसी ? इत्याह—वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयत्ययमृग्वेद इति । तथा यजुर्वेदमित्यादि समानम् । हृदयज्ञं हृदयप्रियम् । तद्विपरीतमहृदयज्ञम् । यद्यदि वाङ्नाभविष्यद्धर्मादि न व्यज्ञापयिष्यद्वागभावेऽध्ययनाभावोऽध्ययनाभावे तदर्थश्रवणाभावस्तच्छ्रवणाभावे धर्मादि

'वाग्वाव'—वाक् यह जिह्वामूल आदि* आठ स्थानोंमें स्थित वर्णोंको अभिव्यक्त करनेवाली इन्द्रिय है । वर्ण ही नाम हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि नामसे वाक् उत्कृष्ट है । जिस प्रकार पुत्रसे पिता उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार लोकमें कार्यसे ही कारणकी उत्कृष्टता देखी जाती है ।

नामकी अपेक्षा वाक् क्यों उत्कृष्ट है सो बतलाते हैं—वाक् ही ऋग्वेदको 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार विज्ञापित करती है । इसी प्रकार यजुर्वेद इत्यादिको भी—ये सब पूर्ववत् समझने चाहिये । तथा हृदयज्ञ—हृदयको प्रिय और उससे विपरीत अहृदयज्ञको भी [वाक् ही विज्ञापित करती है] । यदि वाक् न होती तो धर्मादि विज्ञापित न होते । वाक्के अभावमें अध्ययनका अभाव हो जाता, अध्ययनके अभावमें उसके अर्थश्रवणका अभाव होता और उसके श्रवणके अभावमें धर्मादिका विज्ञान न

---

* आदि शब्दसे यहाँ वक्षःस्थल, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और तालु—इन सात स्थानोंका ग्रहण होता है ।

न व्यज्ञापयिष्यन्न विज्ञातमभविष्यदित्यर्थः । तस्माद्वागेवैतच्छब्दोच्चारणेन सर्वं विज्ञापयत्यतो भूयसी वाङ्नाम्नस्तस्माद्वाचं ब्रह्मेत्युपास्स्व ॥ १ ॥

होता अर्थात् धर्मादि विज्ञात न होते । अतः शब्दोच्चारणके द्वारा वाक् ही इन सबको विज्ञापित करती है । अतः वाक् नामसे उत्कृष्ट है, अतः तुम वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करो ॥ १ ॥

◆

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँतक वाणीकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या वाणीसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'वाणीसे भी बढ़कर है ही ।' [नारद—] 'भगवन् ! वह मुझे बतलाइये' ॥ २ ॥

समानमन्यत् ॥ २ ॥

शेष व्याख्या पूर्ववत् है ॥ २ ॥

◆

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
द्वितीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

वाक्की अपेक्षा मनकी श्रेष्ठता

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

मन ही वाणीसे उत्कृष्ट है । जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठीमें आ जाते हैं उसी प्रकार वाक् और नामका मनमें अन्तर्भाव हो जाता है । यह पुरुष जिस समय मनसे विचार करता है कि 'मन्त्रोंका पाठ करूँ' तभी पाठ करता है, जिस समय सोचता है 'काम करूँ' तभी काम करता है, जब विचारता है 'पुत्र और पशुओंकी इच्छा करूँ' तभी उनकी इच्छा करता है और जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोकको कामना करूँ' तभी उनकी कामना करता है । मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है; तुम मनकी उपासना करो ॥ १ ॥

मनो मनस्यनविशिष्टमन्तःकरणं वाचो भूयः । तद्धि मनस्यनव्यापारवद्वाचं वक्तव्ये प्रेरयति । तेन वाङ्मनस्यन्तर्भवति । यच्च यस्मिन्नन्तर्भवति तत्तस्य

मन—मननशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण वाणीसे उत्कृष्ट है । वह मननव्यापारयुक्त मन ही वाणीको वक्तव्य विषयमें प्रेरित करता है । अतः वाक् मनके अन्तर्गत है, और जो जिसके अन्तर्गत होता है,

व्यापकत्वात्ततो भूयो भवति । यथा वै लोके द्वे वामलके फले द्वे वा कोले बदरफले द्वौ वाक्षौ विभीतकफले मुष्टिरनुभवति मुष्टिस्ते फले व्याप्नोति मुष्टौ हि ते अन्तर्भवतः । एवं वाचं च नाम चामलकादिवन्मनोऽनुभवति ।

स यदा पुरुषो यस्मिन्काले मनसान्तःकरणेन मनस्यति मनस्यनं विवक्षाबुद्धिः कथम् ? मन्त्रानधीयीयोच्चारयेयमित्येवं विवक्षां कृत्वाथाधीते तथा कर्माणि कुर्वीयेति चिकीर्षाबुद्धिं कृत्वाथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेति प्राप्तीच्छां कृत्वा तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेनाथेच्छते पुत्रादीन्प्राप्नोतीत्यर्थः । तथेमं च लोकममुं चोपायेनेच्छेयेति

उसकी अपेक्षा वह व्यापक होनेके कारण, बड़ा होता है । लोकमें जिस प्रकार दो आँवलों, दो कोलों—बेरों अथवा दो अक्षों—बहेड़ेके फलोंको मुट्ठी अनुभव करती है—उन फलोंको मुट्ठी व्याप्त कर लेती है अर्थात् वे मुट्ठीके अन्तर्गत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन आँवले आदिके समान वाणी और नाम—इन दोनोंको मन अनुभव करता है ।

वह (यह) पुरुष जब—जिस समय मन—अन्तःकरणसे मनस्यन (कुछ कहनेकी इच्छा) करता है, मनस्यनका अर्थ है विवक्षा-बुद्धि (कुछ कहनेकी इच्छा या विचार) किस प्रकार ? यह बताते हैं—'मैं मन्त्रोंका पाठ—उच्चारण करूँ;' इस प्रकार बोलनेकी इच्छा करके वह पाठ करता है; 'मैं कर्म करूँ' ऐसी चिकीर्षाबुद्धि करके कर्म करता है; तथा 'मैं पुत्र और पशुओंकी इच्छा करूँ' इस प्रकार उनकी प्राप्तिकी इच्छा करके उनकी प्राप्तिके उपायका अनुष्ठान कर उनकी इच्छा करता है अर्थात् उन पुत्रादिको प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार 'मैं इस लोक और परलोकको उपायद्वारा [प्राप्त करना]

तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेनार्थेच्छते प्राप्नोति ।

मनो ह्यात्मात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सति मनसि नान्यथेति मनो ह्यात्मेत्युच्यते । मनो हि लोकः सत्येव हि मनसि लोको भवति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानं चेति मनो हि लोको यस्मात्तस्मान्मनो हि ब्रह्म । यत एवं तस्मान्मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

चाहूँ'' ऐसे संकल्पपूर्वक उनकी प्राप्तिके उपायद्वारा उन्हें चाहता अर्थात् प्राप्त कर लेता है ।

मन ही आत्मा है; क्योंकि मनके रहनेपर ही आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं; इसीसे 'मन ही आत्मा है' ऐसा कहा जाता है । मन ही लोक है; क्योंकि मनके रहनेपर ही लोक और उसकी प्राप्तिके उपायका अनुष्ठान होता है । इस प्रकार क्योंकि मन ही लोक है, इसलिये मन ही ब्रह्म है । क्योंकि ऐसा है इसलिये मनकी उपासना करो ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँतक मनकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या मनसे भी बढ़कर कोई है ?' [सनत्कुमार—] 'मनसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवन् ! मेरे प्रति उसीका वर्णन करें' ॥ २ ॥

स यो मन इत्यादि समानम् ॥ २ ॥

'स यो मनः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

मनसे संकल्पकी श्रेष्ठता

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

संकल्प ही मनसे बढ़कर है । जिस समय पुरुष संकल्प करता है तभी वह मनस्यन (बोलनेकी इच्छा) करता है और फिर वाणीको प्रेरित करता है । वह उसे नामके प्रति प्रवृत्त करता है; नाममें सब मन्त्र एकरूप हो जाते हैं और मन्त्रोंमें कर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है ॥ १ ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान् । संकल्पोऽपि मनस्यनवदन्तःकरणवृत्तिः, कर्तव्याकर्तव्यविषयविभागेन समर्थनम् । विभागेन हि समर्थिते विषये चिकीर्षाबुद्धिर्मनस्यनं भवति । कथम् ? यदा वै संकल्पयते कर्तव्यादिविषयान् विभजत इदं कर्तुं युक्तमिति । अथ मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यादि । अथानन्तरं वाचमीरयति

संकल्प ही मनसे बढ़कर है । मनस्यनके समान संकल्प भी अन्तःकरणकी वृत्ति ही है, यानी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य विषयोंका विभागपूर्वक समर्थन ही संकल्प है । इस प्रकार विषयका विभागपूर्वक समर्थन होनेपर ही चिकीर्षाबुद्धि यानी मनस्यन होता है । सो किस प्रकार ?—जिस समय पुरुष संकल्प करता है अर्थात् 'यह करना चाहिये' इस प्रकार कर्त्तव्यादि विषयोंका विभाग करता है तभी वह सोचता है 'मैं मन्त्रोंका पाठ करूँ' इत्यादि । इसके पश्चात् वह मन्त्रादिका उच्चारण करनेमें

मन्त्राद्युच्चारणे । तां च वाचमु नाम्नि नामोच्चारणनिमित्तं विवक्षां कृत्वेरयति नाम्नि नामसामान्ये मन्त्राः शब्दविशेषाः सन्त एकं भवन्त्यन्तर्भवन्तीत्यर्थः । सामान्ये हि विशेषोऽन्तर्भवति ।

मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्ति, मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते नामन्त्रकमस्ति कर्म । यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं सत्कर्म ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यमस्मै फलायेति विधीयते । याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणां दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्धसत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम् । न हि मन्त्राप्रकाशितं कर्म किञ्चिद्ब्राह्मणे उत्पन्नं दृश्यते । त्रयीविहितं कर्मेति

वाणीको प्रेरित करता है । और उस वाणीको नाममें अर्थात् नामोच्चारणनिमित्तक विवक्षा करके नाममें प्रेरित करता है तथा नामरूप सामान्यमें मन्त्र, जो शब्दविशेष ही हैं, एक होते हैं अर्थात् उसके अन्तर्भूत होते हैं; क्योंकि सामान्यमें विशेषका अन्तर्भाव होता है ।

मन्त्रोंमें कर्म एकरूप हो जाते हैं। मन्त्रोंसे प्रकाशित कर्म ही किये जाते हैं, मन्त्रहीन कोई भी कर्म नहीं है । [यदि कहो कि कर्मोंका विधान तो ब्राह्मणभागमें भी है, फिर ऐसा कैसे माना जा सकता है कि कर्म मन्त्रप्रकाशित ही हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि] जिस सत्कर्मको मन्त्रोंके प्रकाशित करनेसे सत्ता प्राप्त हुई है ब्राह्मणोंने उसीका 'इसे अमुक फलके लिये करना चाहिये' इस प्रकार विधान किया है । इसके सिवा ब्राह्मणोंमें जो कर्मोंकी उत्पत्ति देखी जाती है वह भी मन्त्रोंमें सत्ता प्राप्त किये हुए कर्मोंका ही स्पष्टीकरण है; मन्त्रोंसे अप्रकाशित कोई भी कर्म ब्राह्मणभागमें उत्पन्न हुआ नहीं देखा

प्रसिद्धं लोके । त्रयीशब्दश्च ऋग्यजुःसामसमाख्या । "मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्" (मु० उ० १ । २ । १) इति चाथर्वणे । तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्तीति ॥ १ ॥

जाता । लोकमें यह बात प्रसिद्ध ही है कि 'कर्म त्रयीविहित है' और 'त्रयी' शब्द ऋक्-यजुः-सामका ही नाम है । "विद्वानोंने जिन कर्मोंको मन्त्रोंमें देखा" ऐसा आथर्वणोपनिषद्में कहा भी है । अतः यह कहना कि 'मन्त्रोंमें सब कर्म एकरूप हो जाते हैं' ठीक ही है।१।

* * *

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषाꣳसंक्लृप्त्यै वर्षꣳसंकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाꣳसंक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाꣳसंक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳसंकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

वे ये (मन आदि) एकमात्र संकल्परूप लयस्थानवाले, संकल्पमय और संकल्पमें ही प्रतिष्ठित हैं । द्युलोक और पृथिवीने मानो संकल्प किया है । वायु और आकाशने संकल्प किया है, जल और तेजने संकल्प किया । उनके संकल्पके लिये वृष्टि समर्थ होती है [अर्थात् उन द्युलोकादिके संकल्पसे वृष्टि होती है], वृष्टिके संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता है, अन्नके संकल्पके लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणोंके संकल्पके लिये मन्त्र समर्थ

होते हैं, मन्त्रोंके संकल्पके लिये कर्म समर्थ होते हैं, कर्मोंके संकल्पके लिये लोक (फल) समर्थ होता है और लोकोंके संकल्पके लिये सब समर्थ होते हैं। वह (ऐसा) यह संकल्प है; तुम संकल्पकी उपासना करो ॥ २ ॥

तानि ह वा एतानि मनआदीनि संकल्पैकायनानि संकल्प एकोऽयनं गमनं प्रलयो येषां तानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकान्युत्पत्तौ संकल्पे प्रतिष्ठितानि स्थितौ। समक्लृपतां संकल्पं कृतवत्याविव हि द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ निश्चले लक्ष्येते। तथा समकल्पेतां वायुश्चाकाशं चैतावपि संकल्पं कृतवन्ताविव। तथा समकल्पन्तापश्च तेजश्च स्वेन रूपेण निश्चलानि लक्ष्यन्ते यतः।

तेषां द्यावापृथिव्यादीनां संक्लृप्त्यै संकल्पनिमित्तं वर्षं संकल्पते समर्थीभवति। तथा वर्षस्य संक्लृप्त्यै संकल्पनिमित्तमन्नं संकल्पते। वृष्टेर्ह्यन्नं भवत्यन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते।

वे ये मन आदि संकल्पैकायन हैं—संकल्प ही है एक अयन—गमन अर्थात् प्रलयस्थान जिनका ऐसे संकल्पैकायन हैं। वे उत्पत्तिके समय संकल्पमय हैं तथा स्थितिके समय संकल्पमें प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक और पृथिवीने मानो संकल्प किया है, क्योंकि ये द्यावापृथिवी—द्यौ और पृथिवी निश्चल दिखायी देते हैं। तथा वायु और आकाश इन दोनोंने भी मानो संकल्प किया है। इसी प्रकार जल और तेजने भी संकल्प किया है, क्योंकि ये भी अपने स्वरूपसे निश्चल दिखायी देते हैं।

उन द्युलोक और पृथिवी आदिकी संक्लृप्ति यानी संकल्पके लिये वर्षा संकल्पित होती अर्थात् समर्थ होती है। तथा वर्षाकी संक्लृप्ति—संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता है, क्योंकि वृष्टिसे ही अन्न होता है। अन्नकी संक्लृप्तिके लिये प्राण समर्थ होते हैं, क्योंकि प्राण अन्नमय

अन्नमया हि प्राणा अन्नोपष्टम्भकाः। "अन्नं दाम" (बृ० उ० २ । २ । १) इति हि श्रुतिः ।

तेषां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते । प्राणवान् हि मन्त्रानधीते नाबलः । मन्त्राणां हि संक्लृप्त्यै कर्माण्यग्निहोत्रादीनि संकल्पन्तेऽनुष्ठीयमानानि मन्त्रप्रकाशितानि समर्थीभवन्ति फलाय । ततो लोकः फलं संकल्पते कर्मकर्तृसमवायितया समर्थीभवतीत्यर्थः । लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं जगत्संकल्पते स्वरूपावैकल्याय । एतद्धीदं सर्वं जगद्यत्फलावसानं तत्सर्वं संकल्पमूलम् । अतो विशिष्टः स एव संकल्पः । अतः संकल्पमुपास्स्वेत्युक्त्वा फलमाह तदुपासकस्य ॥ २ ॥

हैं और अन्नके ही आश्रय रहनेवाले हैं । श्रुति कहती है "[प्राणरूप शिशुके लिये] अन्न डोरी है" ।

उन प्राणोंके संकल्पके लिये मन्त्र समर्थ होते हैं, क्योंकि प्राणवान् (बलवान्) ही मन्त्रोंको पढ़ सकता है, बलहीन नहीं । मन्त्रोंके संकल्पके लिये अग्निहोत्र आदि कर्म समर्थ होते हैं, क्योंकि मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित कर्म अनुष्ठान किये जानेपर फलप्रदानमें समर्थ होते हैं । उनसे लोक अर्थात् फल संक्लृप्त होता है, अर्थात् कर्म और कर्ताके समवायीरूपसे समर्थ होता है । लोक (फल) के संकल्पके लिये सम्पूर्ण जगत् अपने स्वरूपकी अविकलतामें समर्थ होता है । इस प्रकार फलपर्यन्त जो सारा जगत् है वह सब-का-सब संकल्पमूलक ही है । अतः वह संकल्प ही विशिष्ट है, इसलिये तुम संकल्पकी उपासना करो । ऐसा कहकर सनत्कुमारजी उसके उपासकके लिये फल बतलाते हैं——॥ २ ॥

* * *

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [विधाताके] रचे हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है । जहाँतक संकल्पकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या संकल्पसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'संकल्पसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ ३ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्योपास्ते क्लृप्तान् वै धात्रास्येमे लोकाः फलमिति क्लृप्तान् समर्थितान् संकल्पितान्स विद्वान्ध्रुवान् नित्यानत्यन्ताध्रुवापेक्षया ध्रुवश्च स्वयम् । लोकिनो ह्यध्रुवत्वे लोके ध्रुवक्लृप्तिर्व्यर्थेति ध्रुवः सन् प्रतिष्ठितानुपकरणस-

वह जो कि संकल्पकी 'ब्रह्म' इस प्रकार अर्थात् ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता है, क्लृप्त--विधाताद्वारा 'इसे ये लोक यानी फल प्राप्त हों' इस प्रकार समर्थित--संकल्पित ध्रुव अर्थात् नित्य लोकोंको, जो अन्य अध्रुव लोकोंकी अपेक्षा ध्रुव हैं, स्वयं ध्रुव होकर, क्योंकि लोकवान् भोक्ताके अध्रुव होनेपर लोकोंमें ध्रुवताकी कल्पना करना व्यर्थ है, अतः ध्रुव होकर; प्रतिष्ठित अर्थात् सामग्री-

म्पन्नानित्यर्थः । पशुपुत्रादिभिः प्रतितिष्ठतीति दर्शनात्स्वयं च प्रतिष्ठित आत्मीयोपकरणसम्पन्नोऽव्यथमानानमित्रादित्रासरहितानव्यथमानश्च स्वयमभिसिध्यत्यभिप्राप्नोतीत्यर्थः । यावत्संकल्पस्य गतं संकल्पगोचरस्तत्रास्य यथाकामचारो भवति आत्मनः संकल्पस्य न तु सर्वेषां संकल्पस्येति । उत्तरफलविरोधात् । यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्त इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

सम्पन्न [लोकोंको], क्योंकि वह पशु-पुत्रादिसे प्रतिष्ठित होता है—ऐसा देखा गया है, स्वयं भी प्रतिष्ठित—अपनी सामग्रीसे सम्पन्न होकर तथा अव्यथमान—शत्रु आदिके भयसे रहित लोकोंको स्वयं भी अव्यथमान—व्यथित न होता हुआ 'अभिसिध्यति'—सब प्रकारसे प्राप्त करता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । जहाँतक संकल्पकी गति है अर्थात् संकल्पका विषय है वहाँतक इसकी स्वेच्छागति हो जाती है; जहाँतक उसके संकल्पकी गति होती है वहींतक, न कि सबके संकल्पकी गतितक, क्योंकि [ऐसा न माननेसे] आगे बतलाये हुए फलोंसे विरोध आवेगा । 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादि मन्त्रका अर्थ पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

संकल्पकी अपेक्षा चित्तकी प्रधानता

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

चित्त ही संकल्पसे उत्कृष्ट है । जिस समय पुरुष चेतनावान् होता है तभी वह संकल्प करता है, फिर मनन करता है, तत्पश्चात् वाणीको प्रेरित करता है, उसे नाममें प्रवृत्त करता है । नाममें मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रोंमें कर्म ॥ १ ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयः, चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुरूपबोधवत्त्वमतीतानागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च तत् संकल्पादपि भूयः । कथम् ? यदा वै प्राप्तं वस्त्विदमेवं प्राप्तमिति चेतयते तदादानाय वापोहाय वाथ संकल्पयतेऽथ मनस्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

चित्त ही संकल्पसे उत्कृष्ट है । चित्त यानी चेतयितृत्व—प्राप्त कालके अनुरूप बोधयुक्त होना तथा भूत और भविष्यत् विषयोंके प्रयोजनका निरूपण करनेमें समर्थ होना—यह संकल्पकी अपेक्षा भी बढ़कर है । यह कैसे ? [सो बतलाते हैं—] जिस समय पुरुष प्राप्त हुई वस्तुको 'यह इस प्रकारकी वस्तु प्राप्त हुई है' इस प्रकार चेतित करता है, तभी वह उसे ग्रहण करने अथवा त्यागनेके लिये संकल्प करता है । फिर मननन करता है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १ ॥

* * *

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

वे ये [संकल्पादि] एकमात्र चित्तरूप लयस्थानवाले, चित्तमय तथा चित्तमें ही प्रतिष्ठित हैं । इसीसे यद्यपि कोई मनुष्य बहुज्ञ भी हो तो भी यदि वह अचित्त होता है तो लोग कहने लगते हैं कि 'यह तो कुछ भी नहीं है, यदि यह कुछ जानता अथवा विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त न होता ।' और यदि कोई अल्पज्ञ होनेपर भी चित्तवान् हो तो उसीसे वे सब श्रवण करना चाहते हैं । अतः चित्त ही इनका एकमात्र आश्रय है, चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, तुम चित्तकी उपासना करो ॥ २ ॥

तानि संकल्पादीनि कर्मफलान्तानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्तोत्पत्तीनि चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्तस्थितानीत्यपि पूर्ववत् । किञ्च चित्तस्य माहात्म्यम् । यस्माच्चित्तं संकल्पादिमूलं तस्माद्यद्यपि बहुविद्बहुशास्त्रादिपरिज्ञानवान्सन्नचित्तो

संकल्पसे लेकर कर्मफलपर्यन्त वे सब एकमात्र चित्तरूप लयस्थानवाले, चित्तमय--चित्तसे उत्पन्न होनेवाले और चित्तमें प्रतिष्ठित अर्थात् चित्तमें ही स्थित रहनेवाले हैं—इस प्रकार पूर्ववत् ही समझना चाहिये । इसके सिवा चित्तकी महिमा इस प्रकार है क्योंकि चित्त संकल्पादिका मूल है इसलिये यदि कोई पुरुष बहुज्ञ—बहुत-से शास्त्रादिका परिज्ञान रखनेवाला

भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वसामर्थ्यविरहितो भवति तं निपुणा लौकिका नायमस्ति विद्यमानोऽप्यसत्सम एवेत्येनमाहुः ।

यच्चायं किञ्चिच्छास्त्रादि वेद श्रुतवांस्तदप्यस्य वृथैवेति कथयन्ति । कस्मात् ? यद्ययं विद्वान् स्यादित्थमेवमचित्तो न स्यात्तस्मादस्य श्रुतमप्यश्रुतमेवेत्याहुरित्यर्थः । अथाल्पविदपि यदि चित्तवान्भवति तस्मा एतस्मै तदुक्तार्थग्रहणायैवोतापि शुश्रूषन्ते श्रोतुमिच्छन्ति । तस्माच्च चित्तं ह्येवैषां संकल्पादीनामेकायनमित्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

होकर भी अचित्त अर्थात् प्राप्त विषयादिके यथार्थ स्वरूपको जाननेकी सामर्थ्यसे रहित हो तो निपुण लौकिक पुरुष उसके विषयमें 'यह कुछ नहीं है—विद्यमान होते हुए भी असद्रूप ही है' ऐसा कहने लगते हैं ।

वे यह भी कहते हैं कि 'इसने जो कुछ शास्त्रादि जाने अथवा सुने हैं वे भी इसके लिये व्यर्थ ही हैं । क्यों व्यर्थ हैं ? यदि यह विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त (मूढ) न होता; अतः तात्पर्य यह है कि इसका श्रवण किया हुआ भी अश्रुत ही है' ऐसा वे कहते हैं । और यदि अल्पवित् होनेपर भी वह चित्तवान् होता है तो उससे उसकी कही हुई बातको ग्रहण करनेके लिये ही वे सुननेकी इच्छा करते हैं । अतः चित्त ही इन संकल्पादिका एकायन है इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति-

यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

वह जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [अपने लिये] उपचित हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक चित्तकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या चित्तसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'चित्तसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ ३ ॥

चित्तानुपचितान्बुद्धिमद्गुणैः स चित्तोपासको ध्रुवानित्यादि चोक्तार्थम् ॥ ३ ॥	चित्त अर्थात् बुद्धियुक्त गुणोंसे उपचित ध्रुवलोकोंको वह चित्तोपासक ध्रुव होकर—इत्यादि अर्थ पहले कहे हुएके समान है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

चित्तकी अपेक्षा ध्यानका महत्त्व

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है । पृथिवी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल मानो ध्यान करते हैं, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं । अतः जो लोग यहाँ मनुष्योंमें महत्त्व प्राप्त करते हैं वे मानो ध्यानके लाभका ही अंश पाते हैं; किंतु जो क्षुद्र होते हैं वे कलहप्रिय, चुगलखोर और दूसरोंके मुँहपर ही उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं । तथा जो सामर्थ्यवान् हैं वे भी ध्यानके लाभका ही अंश प्राप्त करनेवाले हैं । अतः तुम ध्यानकी उपासना करो ॥ १ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः । ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवताद्यालम्बनेष्वचलो भिन्नजातीयैरनन्तरितः प्रत्ययसन्तानः, एकाग्रतेति

ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है । देवता आदि शास्त्रोक्त आलम्बनमें विजातीय वृत्तियोंसे अविच्छिन्न एक ही वृत्तिके प्रवाहका नाम 'ध्यान' है, जिसे 'एकाग्रता' ऐसा

यमाहुः । दृश्यते च ध्यानस्य माहात्म्यं फलतः, कथम् ? यथा योगी ध्यायन्निश्चलो भवति ध्यानफललाभे । एवं ध्यायतीव निश्चला दृश्यते पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षमित्यादि समानमन्यत् । देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्या मनुष्या एव वा देवसमा देवमनुष्याः शमादिगुणसम्पन्ना मनुष्या देवस्वरूपं न जहतीत्यर्थः ।

यस्मादेवं विशिष्टं ध्यानं तस्माद्य इह लोके मनुष्याणामेव धनैर्विद्यया गुणैर्वा महत्तां महत्त्वं प्राप्नुवन्ति धनादिमहत्त्वहेतुं लभन्त इत्यर्थः । ध्यानापादांशा इव ध्यानस्यापादनमापादो ध्यानफललाभ इत्येतत्, तस्यांशोऽवयवः कला काचिद्ध्यानफललाभकलावन्त इवैवेत्यर्थः; ते

भी कहते हैं । फलसे भी ध्यानका माहात्म्य देखा ही जाता है । किस प्रकार ?—जिस प्रकार ध्यान करता हुआ योगी ध्यानका फल प्राप्त होनेपर निश्चल हो जाता है इसी प्रकार पृथिवी ध्यान करती हुई-सी निश्चल दिखलायी देती है, तथा अन्तरिक्ष ध्यान करता-सा जान पड़ता है—इत्यादि । शेष अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये । देव और मनुष्य देवमनुष्य कहे गये हैं अथवा देवतुल्य मनुष्य ही देवमनुष्य हैं । तात्पर्य यह है कि शमादि गुणोंसे सम्पन्न पुरुष देवभावका कभी त्याग नहीं करते ।

क्योंकि इस प्रकार ध्यान विशिष्ट हैं, इसलिये मनुष्योंमें भी जो लोग इस लोकमें धन, विद्या अथवा गुणोंके कारण महत्ता—महत्त्व प्राप्त करते हैं अर्थात् महत्त्वके हेतुभूत धनादि प्राप्त करते हैं वे ध्यानापादांशके समान हैं । ध्यानके आपादनका नाम है 'ध्यानापाद' अर्थात् ध्यानके फलकी प्राप्ति उसके एक अंश—अवयव यानी कलासे युक्त होते हैं; तात्पर्य यह है कि वे मानो ध्यानफलके आंशिक लाभसे

भवन्ति । निश्चला इव लक्ष्यन्ते न क्षुद्रा इव ।

अथ ये पुनरल्पाः क्षुद्राः किञ्चिदपि धनादिमहत्त्वैकदेशमप्राप्तास्ते पूर्वोक्तविपरीताः कलहिनः कलहशीलाः पिशुनाः परदोषोद्भासका उपवादिनः परदोषं सामीप्ययुक्तमेव वदितुं शीलं येषां त उपवादिनश्च भवन्ति ।

अथ ये महत्त्वं प्राप्ता धनादिनिमित्तं तेऽन्यान् प्रति प्रभवन्तीति प्रभवो विद्याचार्यराजेश्वरादयो ध्यानापादांशा इवेत्याद्युक्तार्थम् । अतो दृश्यते ध्यानस्य महत्त्वं फलतोऽतो भूयश्चित्तादतस्तदुपास्स्वेत्याद्युक्तार्थम् ॥ १ ॥

सम्पन्न होते हैं । तथा वे निश्चल-से दिखलायी देते हैं—क्षुद्र पुरुषोंके समान नहीं देखे जाते ।

और जो अल्प—क्षुद्र अर्थात् धनादि महत्त्वके एक अंशको भी प्राप्त नहीं हैं वे उपर्युक्त मनुष्योंसे विपरीत कलही—कलह करनेवाले, पिशुन—दूसरोंके दोषोंको प्रकट करनेवाले और उपवादी—जिनका दूसरोंके दोषोंको उनके समीप ही कहनेका स्वभाव होता है—ऐसे होते हैं ।

और जो लोग धनादिके कारण महत्त्वको प्राप्त हुए हैं तथा जो दूसरेके प्रति प्रभु होते हैं; प्रभु अर्थात् विद्याचार्य या राजेश्वरादि होते हैं वे मानो ध्यानफलका अंश प्राप्त करनेवाले हैं—ऐसा [ध्यानापादांशाका] अर्थ पहले कहा जा चुका है । अतः फलसे भी ध्यानका महत्त्व प्रतीत होता है । इसलिये यह चित्तसे बढ़कर है; अतः तुम इसीकी उपासना करो—ऐसा पूर्ववत् अर्थ समझना चाहिये ॥१॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, जहाँतक ध्यानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद--] 'भगवन् ! क्या ध्यानसे भी उत्कृष्ट कुछ है ?' [सनत्कुमार--] 'ध्यानसे भी उत्कृष्ट है ही।' [नारद--] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

ध्यानसे विज्ञानकी महत्ता

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है । विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेद समझता है; तथा विज्ञानसे ही वह यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आथर्वण वेद, वेदोंमें पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड और शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त सम्पूर्ण जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक और परलोकको जानता है । तुम विज्ञानकी उपासना करो ॥ १ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानं तस्य ध्यानकारणत्वाद्ध्यानाद्भूयस्त्वम्। कथं च तस्य भूयस्त्वमित्याह । विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानात्ययमृग्वेद इति प्रमाणतया यस्यार्थज्ञानं ध्यानकारणम्। तथा यजुर्वेदमित्यादि समानम्। किञ्च पश्वादींश्च धर्माधर्मौ शास्त्रसिद्धौ साध्वसाधुनी लोकतः स्मार्ते वादृष्टविषयं च सर्वं विज्ञानेनैव विजानातीत्यर्थः । तस्माद्युक्तं ध्यानाद्विज्ञानस्य भूयस्त्वम् । अतो विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है । विज्ञान शास्त्रार्थविषयक ज्ञानको कहते हैं; ध्यानका कारण होनेके कारण ध्यानकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता है । उसकी श्रेष्ठता किस प्रकार है ? यह बतलाते हैं—विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेदको 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार प्रमाणरूपसे जानता है, जिसका अर्थज्ञान ध्यानका कारण है । तथा यजुर्वेद इत्यादि शेष अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिये । यही नहीं, पशु आदिको, शास्त्रसिद्ध धर्म और अधर्मको, लोकदृष्टिसे अथवा स्मृतियोंद्वारा निर्णीत शुभ और अशुभको एवं सम्पूर्ण अदृष्ट विषयको भी वह विज्ञानसे ही जानता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः ध्यानसे विज्ञानकी श्रेष्ठता ठीक ही है । इसलिये तुम विज्ञानकी उपासना करो ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे विज्ञानवान् एवं ज्ञानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है । जहाँतक विज्ञानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या विज्ञानसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'विज्ञानसे श्रेष्ठ भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वही बतलावें' ॥ २ ॥

शृणूपासनफलं विज्ञानवतो विज्ञानं येषु लोकेषु तान्विज्ञानवतो लोकाञ्ज्ञानवतश्चाभिसिध्यत्यभिप्राप्नोति । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं ज्ञानमन्यविषयं नैपुण्यं तद्वद्भिर्युक्ताँल्लोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः । यावद्विज्ञानस्येत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

इस उपासनाका फल श्रवण करो—विज्ञानवान् अर्थात् जिन लोकोंमें विज्ञान है उन्हें तथा ज्ञानवान् लोकोंको अभिसिद्ध—प्राप्त कर लेता है । विज्ञान शास्त्रार्थविषयक तथा अन्य विषयसम्बन्धी निपुणताका नाम है, उनसे सम्पन्न पुरुषोंसे युक्त लोकोंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'यावद्विज्ञानस्य गतम्' इत्यादि शेष वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
सप्तमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

विज्ञानसे बलकी श्रेष्ठता

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

बल ही विज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । सौ विज्ञानवानोंको भी एक बलवान् हिला देता है । जिस समय यह पुरुष बलवान् होता है तभी उठनेवाला भी होता है, उठकर [अर्थात् उठनेवाला होनेपर] ही परिचर्या करनेवाला होता है तथा परिचर्या करनेवाला होनेपर ही उपसदन (समीप गमन) करनेवाला होता है; और उपसदन करनेपर ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करनेवाला होता है, बोधवान् होता है, कर्ता होता है एवं विज्ञाता होता है । बलसे ही पृथिवी स्थित है; बलसे ही अन्तरिक्ष, बलसे ही द्युलोक, बलसे ही पर्वत, बलसे ही देवता और मनुष्य, बलसे ही पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग एवं पिपीलिकापर्यन्त समस्त प्राणी स्थित हैं तथा बलसे ही लोक स्थित है । तुम बलकी उपासना करो ॥१॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयः । बलमित्यन्नोपयोगजनितं मनसो विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम् । अनशनात् "ऋगादीनि न वै मा प्रतिभान्ति भोः" (छा० उ० ६ । ७ । २) इति श्रुतेः । शरीरेऽपि तदेवोत्थानादिसामर्थ्यं यस्माद्विज्ञानवतां शतमप्येकः प्राणी बलवानाकम्पयते यथा हस्ती मत्तो मनुष्याणां शतं समुदितमपि ।

यस्मादेवमन्नाद्युपयोगनिमित्तं बलं तस्मात्स पुरुषो यदा बली बलेन तद्वान्भवत्यथोत्थातोत्थानस्य कर्तोत्तिष्ठंश्च गुरूणामाचार्यस्य च परिचरिता परिचरणस्य शुश्रूषायाः कर्ता भवति परिचरन्नुपसत्ता तेषां समीपगोऽन्तरङ्गः प्रियो भवतीत्यर्थः ।

बल ही विज्ञानसे उत्कृष्ट है । अन्नके उपयोगसे प्राप्त हुई मनकी विज्ञेय पदार्थके प्रतिभानकी शक्तिका नाम 'बल' है; क्योंकि अनशन करनेके कारण "भगवन् ! मुझे ऋगादिका प्रतिभान नहीं होता" ऐसी [छठे अध्यायमें श्वेतकेतुका वाक्यरूप] श्रुति है । शरीरमें भी वह बल ही उठने आदिका सामर्थ्य है, क्योंकि सौ विज्ञानवानोंको भी एक ही बलवान् प्राणी इस प्रकार कम्पायमान कर देता है जैसे एकत्रित हुए सौ मनुष्योंको एक मत्त हाथी ।

क्योंकि अन्नादिके उपयोगके कारण होनेवाला बल ऐसा है इसलिये यह पुरुष जिस समय बली अर्थात् बलसे बलयुक्त होता है तो वह उत्थाता अर्थात् उत्थान करनेवाला होता है । उत्थान करनेवाला होकर वह गुरुजन और आचार्यका परिचारक—परिचर्या यानी शुश्रूषा करनेवाला होता है । परिचर्या करनेपर उपसत्ति करनेवाला—उनके समीप पहुँचनेवाला—उनका अन्तरङ्ग अर्थात् प्रिय होता है ।

उपसीदंश्च सामीप्यं गच्छन्नेकाग्रतयाचार्यस्यान्यस्य चोपदेष्टुर्गुरोर्द्रष्टा भवति । ततस्तदुक्तस्य श्रोता भवति । तत इदमेभिरुक्तमेवमुपपद्यत इत्युपपत्तितो मन्ता भवति मन्वानश्च बोद्धा भवत्येवमेवेदमिति । तत एवं निश्चित्य तदुक्तार्थस्य कर्तानुष्ठाता भवति विज्ञातानुष्ठानफलस्यानुभविता भवतीत्यर्थः । किञ्च बलस्य माहात्म्यं बलेन वै पृथिवी तिष्ठतीत्याद्यृज्वर्थम् ॥ १ ॥

उपसन्न होने अर्थात् समीप जानेपर वह एकाग्रभावसे आचार्य अथवा किसी अन्य उपदेश करनेवाले गुरुका दर्शन करनेवाला होता है । फिर वह उनके कथनको श्रवण करनेवाला होता है । तत्पश्चात् 'इनका यह कथन इस प्रकार उपपन्न है' इस प्रकार युक्तिपूर्वक मनन करनेवाला होता है । तथा मनन करनेपर 'यह बात ऐसी ही है' इस प्रकार उसे जाननेवाला होता है । फिर इस प्रकार निश्चय कर वह उनकी कही हुई बातका कर्ता—अनुष्ठान करनेवाला होता है, तथा विज्ञाता यानी अनुष्ठानके फलका अनुभव करनेवाला होता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । इसके सिवा बलकी महिमा इस प्रकार है—बलसे पृथिवी स्थित है—इत्यादि शेष अर्थ सरल है ॥ १ ॥

* * *

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी, जहाँतक बलकी गति है, स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या बलसे भी उत्कृष्ट कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'बलसे उत्कृष्ट भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसीका वर्णन करें।' ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये-
ऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

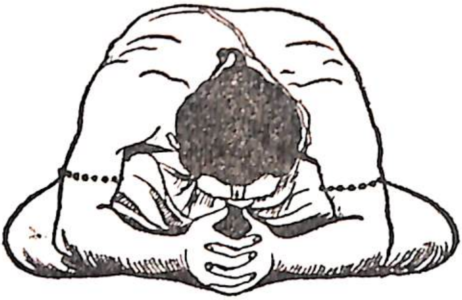

नवम खण्ड

बलकी अपेक्षा अन्नकी प्रधानता

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोतामन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है । इसीसे यदि दश दिन भोजन न करे और जीवित भी रह जाय तो भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता और अविज्ञाता हो ही जाता है । फिर अन्नकी प्राप्ति होनेपर ही वह द्रष्टा होता है, श्रोता होता है, मनन करनेवाला होता है, बोद्धा होता है, कर्ता होता है और विज्ञाता होता है । तुम अन्नकी उपासना करो ॥ १ ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयः, बलहेतुत्वात् । कथमन्नस्य बलहेतुत्वम् ? इत्युच्यते—यस्माद्बलकारणमन्नं तस्माद्यद्यपि कश्चिद्दशरात्रीर्नाश्नीयात्सोऽन्नोपयोगनिमित्तस्य बलस्य हान्या म्रियते न चेन्म्रि-

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है, क्योंकि यह बलका कारण है । अन्न बलका कारण किस प्रकार है ? यह बतलाते हैं---क्योंकि अन्न बलका कारण है इसलिये यदि कोई पुरुष दश राततक भोजन न करे तो वह अन्नके उपयोगसे होनेवाले बलके क्षीण हो जानेके कारण मर जाता है; और यदि न

यते यद्यु ह जीवेत् । दृश्यन्ते हि मासमप्यनश्नन्तो जीवन्तोऽथवा स जीवन्नप्यद्रष्टा भवति गुरोरपि तत एवाश्रोतेत्यादि पूर्वविपरीतं सर्वं भवति ।

अथ यदा बह्वन्यहान्यनशितो दर्शनादिक्रियास्वसमर्थः सन्नन्नस्यायी । आगमनमायोऽन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थः सा यस्य विद्यते सोऽन्नस्यायी । 'आयै' इत्येतद्वर्णव्यत्ययेन । अथान्नस्याया इत्यपि पाठ एवमेवार्थः । द्रष्टेत्यादिकार्यश्रवणात् । दृश्यते ह्यन्नोपयोगे दर्शनादिसामर्थ्यं न तदप्राप्तावतोऽन्नमुपास्स्वेति ॥१॥

मरे—जीवित रह जाय, क्योंकि महीनेभर न खानेवाले भी जीवित रहते देखे जाते हैं, तो [ऐसी अवस्थामें] जीवित रहनेपर वह गुरुका भी दर्शन न करनेवाला हो जाता है तथा उनसे श्रवण करनेवाला भी नहीं रहता—इत्यादि सब बात पहलेसे विपरीत हो जाती है ।

फिर जब बहुत दिन भोजन न करनेपर दर्शनादि क्रियाओंमें असमर्थ रहनेपर अन्नका आयी—आगमनका नाम 'आय' अर्थात् 'अन्नकी प्राप्ति' है, वह जिसे होती है उसे 'अन्नका आयी' कहते हैं । श्रुतिमें जो 'आयै' ऐसा पाठ है वह 'आयी' का वर्णव्यत्यय करके है तथा 'अन्नस्याया' ऐसा पाठ भी इसी अर्थमें समझना चाहिये, क्योंकि श्रुति द्रष्टा-श्रोता आदि कार्यका प्रतिपादन करती है । अन्नका उपयोग करनेपर ही दर्शनादिकी शक्ति देखी जाती है—उसकी अप्राप्ति होनेपर नहीं । अतः तुम अन्नकी उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसा उपासना करता है उसे अन्नवान् और पानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक अन्नकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या अन्नसे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'अन्नसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

फलं चान्नवतः प्रभूतान्नान्वै स लोकान्पानवतः प्रभूतोदकांश्चान्नपानयोर्नित्यसम्बन्धाल्लोकानभिसिध्यति । समानमन्यत् ॥ २ ॥

(उसे प्राप्त होनेवाला) फल—वह अन्नवान्—अधिक अन्नवाले और पानवान्—बहुत जलवाले लोकोंको, क्योंकि अन्न और जलका नित्य सम्बन्ध है, प्राप्त होता है। शेष पूर्ववत् है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

अन्नकी अपेक्षा जलका महत्त्व

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । इसीसे जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण [इसलिये] दु:खी हो जाते हैं कि अन्न थोड़ा होगा । और जब सुवृष्टि होती है तो यह सोचकर कि खूब अन्न होगा प्राण प्रसन्न हो जाते हैं । यह जो पृथिवी है मूर्तिमान् जल ही है तथा जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देव-मनुष्य, जो पशु और पक्षी तथा जो तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त प्राणी हैं वे भी मूर्तिमान् जल ही हैं । अतः तुम जलकी उपासना करो ॥ १ ॥

आपो वावान्नाद्भूयस्योऽन्नकारणत्वात् । यस्मादेवं तस्माद्यदा यस्मिन्काले सुवृष्टिः सस्यहिता शोभना वृष्टिर्न भवति तदा

अन्नका कारण होनेसे जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । क्योंकि ऐसा है, इसीलिये जिस समय सुवृष्टि—-अन्नके लिये हितावह सुन्दर वृष्टि नहीं होती उस समय

व्याधीयन्ते प्राणा दुःखिनो भवन्ति। किन्निमित्तम्? इत्याह—अन्नमस्मिन् संवत्सरे नः कनीयोऽल्पतरं भविष्यतीति।

अथ पुनर्यदा सुवृष्टिर्भवति तदानन्दिनः सुखिनो हृष्टाः प्राणाः प्राणिनो भवन्त्यन्नं बहु प्रभूतं भविष्यतीति। अप्सम्भवत्वान्मूर्तस्यान्नस्याप एवेमा मूर्ता मूर्तभेदाकारपरिणता इति मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षमित्यादि, आप एवेमा मूर्ता अतोऽप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

प्राण व्यथित—दुःखी होते हैं। किसलिये दुःखी होते हैं? यह श्रुति बतलाती है—इस वर्ष हमारे लिये थोड़ा अन्न होगा—इसलिये।

और फिर जिस समय सुवृष्टि होती है उस समय प्राण अर्थात् प्राणी सुखी—हर्षित होते हैं कि [इस बार] बहुत-सा यानी खूब अन्न होगा। क्योंकि मूर्त्त अन्न जलसे उत्पन्न हुआ है इसलिये यह मूर्त्त अर्थात् मूर्तिमान् भेदके आकारमें परिणत हो जानेके कारण जो मूर्त्तिमती है वह यह पृथिवी और अन्तरिक्ष इत्यादि मूर्तिमान् जल ही है। अतः तुम जलकी उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और तृप्तिमान् होता है। जहाँतक जलकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि जलकी

‘यह ब्रह्म है’ ऐसी उपासना करता है । [नारद—] ‘भगवन् ! क्या जलसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?’ [सनत्कुमार—] ‘जलसे श्रेष्ठ भी है ही ।’ [नारद—] ‘भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें’ ॥ २ ॥

फलं स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामान्काम्यान्मूर्तिमतो विषयानित्यर्थः । अप्संभवत्वाच्च तृप्तेरम्बूपासनात्तृप्तिमांश्च भवति । समानमन्यत् ॥२॥

[इस उपासनाका] फल—वह जो कि ‘जल ब्रह्म है’ ऐसी उपासना करता है सम्पूर्ण कामनाओंको—काम्य वस्तुओंको अर्थात् मूर्तिमान् विषयोंको प्राप्त कर लेता है । तथा तृप्ति भी जलजनित होनेके कारण जलकी उपासना करनेसे वह तृप्तिमान् होता है । शेष सब पूर्ववत् है ॥२॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१०॥

एकादश खण्ड

जलकी अपेक्षा तेजकी प्रधानता

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है । वह यह तेज जिस समय वायुको निश्चल कर आकाशको सब ओरसे तप्त करता है उस समय लोग कहते हैं—'गर्मी हो रही है, बड़ा ताप है, वर्षा होगी ।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको उद्भूत हुआ दिखलाकर फिर जलकी उत्पत्ति करता है । वह यह तेज ही वर्षाका हेतु है । जब ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी विद्युत्के सहित गड़गड़ाहटके शब्द फैल जाते हैं, तब उससे प्रभावित होकर लोग कहते हैं—'बिजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा होगी ।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको प्रदर्शित कर फिर जलको उत्पन्न करता है । अतः तेजकी उपासना करो ॥ १ ॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयः, तेजसोऽप्कारणत्वात् । कथमप्कारणत्वम् ? इत्याह—यस्मादब्योनिस्तेजस्तस्मात्तद्वा एतत्तेजो वायुमा-

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है, क्योंकि तेज जलका कारण है । वह जलका कारण किस प्रकार है ? यह बतलाते हैं—क्योंकि तेज जलका कारण है इसलिये वह यह

गृह्यावष्टभ्य स्वात्मना निश्चलीकृत्य वायुमाकाशमभितपत्याकाशमभिव्याप्नुवत्तपति यदा तदाहुर्लौकिका निशोचति सन्तपति सामान्येन जगन्नितपति देहानतो वर्षिष्यति वा इति। प्रसिद्धं हि लोके कारणमभ्युद्यतं दृष्टवतः कार्यं भविष्यतीति विज्ञानम्। तेज एव तत्पूर्वमात्मानमुद्भूतं दर्शयित्वाथानन्तरमपः सृजतेऽतोऽप्स्रष्टृत्वाद्भूयोऽद्भ्यस्तेजः।

किञ्चान्यत्तदेतत्तेज एव स्तनयित्नुरूपेण वर्षहेतुर्भवति। कथम्? ऊर्ध्वाभिश्चोर्ध्वगाभिर्विद्युद्भिस्तिरश्चीभिश्च तिर्यग्गताभिश्च सहाह्रादाः स्तनयनशब्दाश्चरन्ति। तस्मात्तद्दर्शनादाहुर्लौकिका विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा

तेज जिस समय वायुको आगृहीत—आश्रित कर अर्थात् अपनेद्वारा वायुको निश्चल कर आकाशको अभितप्त करता है—आकाशको सब ओरसे व्याप्त करके संतप्त करता है उस समय लौकिक पुरुष कहते हैं—'जगत् सामान्यरूपसे संतप्त हो रहा है, देहोंमें अत्यन्त ताप है; अतः वर्षा होगी।' कारणको अभ्युदित हुआ देखनेवालोंको ऐसी बुद्धि होना कि 'कार्य होगा' लोकमें प्रसिद्ध ही है। [इस प्रकार] तेज ही पहले अपनेको उद्भूत हुआ दिखलाकर फिर उसके पश्चात् जल उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार जलका स्रष्टा होनेके कारण जलकी अपेक्षा तेज उत्कृष्टतर है।

इसके सिवा [दूसरे प्रकारसे भी] तेज ही बिजलीके रूपमें वर्षाका हेतु होता है। किस प्रकार—ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वगामिनी और तिरश्ची—तिर्यग्गामिनी बिजलियोंके सहित 'आह्राद'—गड़गड़ाहटके शब्द फैल जाते हैं; अतः ऐसा देखकर लौकिक पुरुष कहते हैं—'बिजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा होगी' इत्यादि

इत्याद्युक्तार्थम् । अतस्तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

वाक्यका अर्थ ऊपर कहा जा चुका है । अतः तुम तेजकी उपासना करो ॥ १ ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेजःसम्पन्न, प्रकाशमान और तमोहीन लोकोंको प्राप्त करता है । जहाँतक तेजकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या तेजसे भी बढ़कर कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'तेजसे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

तस्य तेजस उपासनफलं तेजस्वी वै भवति । तेजस्वत एव च लोकान्भास्वतः प्रकाशवतोऽपहततमस्कान्बाह्याध्यात्मिकाज्ञानाद्यपनीततमस्कानभिसिध्यति । ऋज्वर्थमन्यत् ।

उस तेजकी उपासनाका फल—वह निश्चय तेजस्वी हो जाता है तथा जो तेजःसम्पन्न ही लोक हैं उन भास्वान्—प्रकाशवान् और अपहततमस्क—बाह्य—[रात्रि आदि] और आध्यात्मिक—अज्ञानादि ऐसे अन्धकारोंसे रहित लोकोंको प्राप्त कर लेता है । शेष सबका अर्थ सरल है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

द्वादश खण्ड

तेजसे आकाशकी प्रधानता

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

आकाश ही तेजसे बढ़कर है । आकाशमें ही सूर्य, चन्द्र ये दोनों तथा विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि स्थित हैं । आकाशके द्वारा ही एक-दूसरेको पुकारते हैं, आकाशसे ही सुनते हैं, आकाशसे ही प्रतिश्रवण करते हैं, आकाशमें ही रमण करते हैं, आकाशमें ही रमण नहीं करते, आकाशमें ही [सब पदार्थ] उत्पन्न होते हैं और आकाशकी ओर ही [सब जीव एवं अङ्कुरादि] बढ़ते हैं । तुम आकाशकी उपासना करो ॥ १ ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयान् । वायुसहितस्य तेजसः कारणत्वाद्व्योम्नो वायुमागृह्येति तेजसा सहोक्तो वायुरिति पृथगिह नोक्तस्तेजसः । कारणं हि लोके कार्याद्भूयो दृष्टम् । यथा घटादिभ्यो मृत्तथाकाशो वायु-

आकाश ही तेजसे बढ़कर है, क्योंकि आकाश वायुसहित तेजका कारण है 'वायुमागृह्य' ऐसा कहकर वायुका तेजके साथ वर्णन किया जा चुका है, इसलिये यहाँ तेजसे अलग उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया । लोकमें कार्यकी अपेक्षा कारण ही उत्कृष्ट देखा गया है, जिस प्रकार कि घटादिकी अपेक्षा मृत्तिका । इसी प्रकार आकाश वायु-

सहितस्य तेजसः कारणमिति ततो भूयान् । कथम् ? आकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ तेजोरूपौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निश्च तेजोरूपाण्याकाशेऽन्तः । यच्च यस्यान्तर्वर्ति तदल्पं भूय इतरत् ।

किञ्चाकाशेनाह्वयति चान्यमन्य आहूतश्चेतर आकाशेन शृणोत्यन्योक्तं च शब्दमन्यः प्रतिशृणोत्याकाशे रमते क्रीडत्यन्योन्यं सर्वस्तथा न रमते चाकाशे वध्वादिवियोग आकाशे जायते न मूर्ते नावष्टब्धे । तथाकाशमभिलक्ष्याङ्कुरादि जायते न प्रतिलोमम् । अत आकाशमुपास्स्व ॥ १ ॥

सहित तेजका कारण है, इसलिये उससे बड़ा है । किस प्रकार बड़ा है—आकाशमें ही तेजःस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा—ये दोनों हैं तथा आकाशके भीतर ही तेजोमय विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि हैं । जो जिसके भीतर होता है वह छोटा होता है और दूसरा उससे बड़ा होता है ।

इसके सिवा आकाशसे ही एक व्यक्ति दूसरेको पुकारता है; किसीके द्वारा पुकारे जानेपर आकाशसे ही दूसरा पुरुष श्रवण करता है तथा दूसरेके कहे हुए शब्दको आकाशके द्वारा ही अन्य पुरुष श्रवण करता है । सब लोग आकाशमें ही एक दूसरेके साथ रमण—क्रीडा करते हैं और स्त्री आदिका[1] वियोग हो जानेपर आकाशमें ही (खेदका अनुभव करते हुए) रमण नहीं करते । आकाशमें ही जीव उत्पन्न होता है, मूर्त पदार्थमें या अवरुद्ध स्थानमें नहीं तथा आकाशको लक्ष्य करके ही अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं, विपरीत दशामें नहीं । इसलिये तुम आकाशकी उपासना करो ॥ १ ॥

---

१. 'स्त्री आदि' शब्दसे यहाँ सम्पूर्ण भोग्य वस्तुएँ उपलक्षित हैं । तात्पर्य यह है कि भोग्य पदार्थके प्राप्त होनेपर जो आनन्द होता है उसका भोग आकाशमें ही होता है और उसका वियोग होनेपर जो खेद होता है उसकी अनुभूति भी आकाशमें ही होती है ।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह आकाशवान्, प्रकाशवान्, पीडारहित और विस्तारवाले लोकोंको प्राप्त करता है। जहाँतक आकाशकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद--] 'भगवन् ! क्या आकाशसे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार--] 'आकाशसे बढ़कर भी है ही।' [नारद--] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ २ ॥

फलं शृण्वाकाशवतो वै विस्तारयुक्तान् स विद्वाँल्लोकान् प्रकाशवतः प्रकाशाकाशयोर्नित्यसम्बन्धात्प्रकाशवतश्च लोकान् सम्बाधान् सम्बाधनं सम्बाधः सम्बाधोऽन्योऽन्यपीडा तद्रहितानसम्बाधानुरुगायवतो विस्तीर्णगतीन्विस्तीर्णप्रचाराँल्लोकानभिसिध्यति । यावदाकाशस्येत्याद्युक्तार्थम् ॥ २ ॥

[इसका] फल सुनो—वह विद्वान् आकाशवान् यानी विस्तारयुक्त लोकोंको तथा 'प्रकाशवान्'--क्योंकि प्रकाश और आकाशका नित्य सम्बन्ध है अतः प्रकाशयुक्त लोकोंको, 'असम्बाध'—सम्बाधनका नाम सम्बाध और सम्बाध परस्परकी पीडाको कहते हैं, उससे रहित असम्बाध और 'उरुगायवान्'—विस्तीर्ण गतिवाले अर्थात् विस्तृत प्रचारवाले लोकोंको प्राप्त होता है। 'यावदाकाशस्य' आदि वाक्यका अर्थ पहले कहे हुएके समान है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १२ ॥

त्रयोदश खण्ड

आकाशकी अपेक्षा स्मरणका महत्त्व

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स्मर (स्मरण) ही आकाशसे बढ़कर है। इसीसे यद्यपि बहुत-से लोग [एक स्थानपर] बैठे हों तो भी स्मरण न करनेपर वे न कुछ सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं और न जान ही सकते हैं। जिस समय वे स्मरण करते हैं उसी समय सुन सकते हैं, उसी समय मनन कर सकते हैं और उसी समय जान सकते हैं। स्मरण करनेसे ही पुरुष पुत्रोंको पहचानता है और स्मरणसे ही पशुओंको। तुम स्मरकी उपासना करो ॥ १ ॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयः। स्मरणं स्मरोऽन्तःकरणधर्मः। स आकाशाद्भूयानिति द्रष्टव्यं लिङ्गव्यत्ययेन। स्मर्तुः स्मरणे हि सत्याकाशादि सर्वमर्थवत्, स्मरणवतो

स्मर ही आकाशसे बढ़कर है। स्मरणका नाम 'स्मर' है, यह अन्तःकरणका धर्म है। वह आकाशकी अपेक्षा 'भूयान्' (बढ़कर) है—ऐसा लिङ्गपरिवर्तन करके * समझना चाहिये। स्मरण करनेवालेकी स्मृति होनेपर ही आकाशादि सब सार्थक

---

* मूल श्रुतिमें 'भूयः' यह नपुंसकलिङ्ग है। किंतु 'स्मर' शब्द पुँल्लिङ्ग है, अतः उसका विशेषण होनेके कारण 'भूयः' के स्थानमें 'भूयान्' ऐसा पुँल्लिङ्ग पाठ कर लेना चाहिये।

भोग्यत्वात् । असति तु स्मरणे सदप्यसदेव, सत्त्वकार्याभावात् । नापि सत्त्वं स्मृत्यभावे शक्यमाकाशादीनामवगन्तुमित्यतः स्मरणस्याकाशाद्भूयस्त्वम् ।

दृश्यते हि लोके स्मरणस्य भूयस्त्वं यस्मात्, तस्माद्यद्यपि समुदिता बहव एकस्मिन्नासीरन्नुपविशेयुः, ते तत्रासीना अन्योन्यभासितमपि न स्मरन्तश्चेत्स्युः, नैव ते कञ्चन शब्दं शृणुयुः, तथा न मन्वीरन्, मन्तव्यं चेत्स्मरेयुस्तदा मन्वीरन्, स्मृत्यभावान्न मन्वीरन्; तथा न विजानीरन् । यदा वाव ते स्मरेयुर्मन्तव्यं विज्ञातव्यं श्रोतव्यं च, अथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् । तथा स्मरेण वै—मम पुत्रा एते—इति पुत्रान्विजानाति, स्मरेण पशून् । अतो

होते हैं, क्योंकि वे स्मृतिमान्के ही भोग्य हैं । स्मृतिके न होनेपर तो विद्यमान वस्तु भी अविद्यमान ही है, क्योंकि उसकी सत्ताके कार्यका अभाव है । स्मृतिका अभाव होनेपर आकाशादिकी सत्ताका ज्ञान भी नहीं हो सकता । इसीसे स्मरणकी आकाशसे उत्कृष्टता है ।

क्योंकि लोकमें स्मृतिकी उत्कृष्टता देखी जाती है, इसलिये यद्यपि बहुत-से लोग एक स्थानपर बैठे हों वे एक-दूसरेसे भाषण करते हुए भी, यदि स्मृतियुक्त नहीं होते तो कोई शब्द श्रवण नहीं कर सकते । इसी प्रकार मनन भी नहीं कर सकते । यदि वे मन्तव्य विषयका स्मरण करते तो मनन कर सकते थे, अतः स्मृतिका अभाव होनेके कारण मनन भी नहीं कर सकते और न जान ही सकते हैं । जिस समय वे मन्तव्य, विज्ञातव्य अथवा श्रोतव्य विषयका स्मरण करते हैं तभी उसे सुन सकते, मनन कर सकते और जान सकते हैं । इसी प्रकार स्मरण करनेसे ही 'ये मेरे पुत्र हैं' इस प्रकार पुत्रोंको जानते हैं और स्मरणसे ही पशुओंको ।

भूयस्त्वात्स्मरमुपास्स्वेति ॥१॥	अतः उत्कृष्ट होनेके कारण तुम स्मरणकी उपासना करो ॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँतक स्मरकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या स्मरसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'स्मरसे भी श्रेष्ठ है ही।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसका वर्णन करें' ॥२॥

उक्तार्थमन्यत् ॥ २ ॥	शेष सबका अर्थ पूर्वोक्तके समान है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

स्मरणसे आशाकी महत्ता

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

आशा ही स्मरणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । आशासे दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रोंका पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओंकी इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोककी कामना करता है । तुम आशाकी उपासना करो ॥ १ ॥

आशा वाव स्मराद्भूयसी । आशाप्राप्तवस्त्वाकाङ्क्षा, आशा तृष्णा काम इति यामाहुः पर्यायैः; सा च स्मराद्भूयसी ।

कथम् । आशया ह्यन्तःकरणस्थया स्मरति स्मर्तव्यम् । आशाविषयरूपं स्मरन्नसौ स्मरो भवत्यत आशेद्ध आशयाभिवर्धितः स्मरभूतः स्मरन्नृगादीन्मन्त्रान-

आशा ही स्मरणसे बढ़कर है । आशा—अप्राप्त वस्तुकी इच्छाका नाम आशा है, जिसका तृष्णा और काम इन पर्याय शब्दोंसे भी निरूपण किया जाता है । वह स्मरकी अपेक्षा बढ़कर है ।

सो किस प्रकार ?—अन्तःकरणमें स्थित हुई आशासे ही मनुष्य स्मरणीय विषयका स्मरण करता है । आशाके विषयके रूपका स्मरण करनेसे यह स्मृतिको प्राप्त होता है । अतः आशासे दीप्त—आशासे वृद्धिको प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह स्मरण करता हुआ ऋगादि मन्त्रोंका

धीतेऽधीत्य च तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते तत्फलाशयैव पुत्रांश्च पशूंश्च कर्मफलभूतानिच्छतेऽभिवाञ्छत्याशयैव तत्साधनान्यनुतिष्ठति। इमं च लोकमाशेद्ध एव स्मरँल्लोकसंग्रहहेतुभिरिच्छते। अमुं च लोकमाशेद्धः स्मरंस्तत्साधनानुष्ठानेनेच्छतेऽत आशारशनावबद्धं स्मराकाशादि नामपर्यन्तं जगच्चक्रीभूतं प्रतिप्राणि । अत आशायाः स्मरादपि भूयस्त्वमित्यत आशामुपास्स्व ॥ १ ॥

अध्ययन करता है तथा उनका अध्ययन कर और ब्राह्मणोंके मुखसे उनका अर्थ एवं विधि श्रवण कर उनके फलकी आशासे ही कर्म करता है तथा कर्मके फलभूत पुत्र और पशुओंकी इच्छा—कामना करता है एवं आशासे ही उनके साधनोंका अनुष्ठान करता है । आशासे समिद्ध हुआ ही वह लोकसंग्रहरूप हेतुओंसे इस लोकका स्मरण करता हुआ इसकी इच्छा करता है तथा आशासे समिद्ध हुआ ही वह परलोककी, उसके साधनोंका अनुष्ठान करते हुए इच्छा करता है । इस प्रकार आशारूप रस्सीसे बँधा हुआ यह स्मर एवं आकाशसे लेकर नामपर्यन्त जगत् प्रत्येक प्राणीमें चक्रकी भाँति घूम रहा है। इसलिये आशा स्मरकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट है; अतः तुम आशाकी उपासना करो ॥१ ॥

* * *

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

वह जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी सब कामनाएँ आशासे समृद्ध होती हैं । उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं । जहाँतक आशाकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद——] 'भगवन् ! क्या आशासे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार——] 'आशासे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वह बतलावें' ॥ २ ॥

यस्त्वाशां ब्रह्मेत्युपास्ते शृणु तस्य फलम् । आशया सदोपासितयास्योपासकस्य सर्वे कामाः समृध्यन्ति समृद्धिं गच्छन्ति । अमोघा ह्यस्याशिषः प्रार्थनाः सर्वा भवन्ति यत्प्रार्थितं सर्वं तदवश्यं भवतीत्यर्थः । यावदाशाया गतमित्यादि पूर्ववत् ॥२॥

जो पुरुष आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसका फल श्रवण करो । सर्वदा उपासना की हुई आशासे उसके उपासककी सब कामनाएँ समृद्ध अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जाती हैं और उसकी सब आशा—प्रार्थनाएँ सफल होती हैं । तात्पर्य यह है कि जो कुछ उसका प्रार्थित होता है वह अवश्य सिद्ध होता है । 'यावदाशाया गतम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ॥२ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश खण्ड

आशासे प्राणका प्राधान्य

नामोपक्रममाशान्तं कार्यकारणत्वेन निमित्तनैमित्तिकत्वेन चोत्तरोत्तरभूयस्तयावस्थितं स्मृतिनिमित्तसद्भावमाशारशनापाशैर्विपाशितं सर्वं सर्वतो विसमिव तन्तुभिर्यस्मिन्प्राणे समर्पितम्, येन च सर्वतो व्यापिनान्तर्बहिर्गतेन सूत्रे मणिगणा इव सूत्रेण ग्रथितं विधृतं च स एषः—

नामसे लेकर आशापर्यन्त जो कार्य-कारण एवं निमित्त-नैमित्तिक रूपसे उत्तरोत्तर बढ़कर स्थित है तथा जिसका सद्भाव स्मृतिके निमित्तरूपसे सिद्ध होता है उस आशारूप जालसे तन्तुसे कमलनालके समान सब ओरसे जकड़ा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् जिस प्राणमें समर्पित है तथा बाहर-भीतर व्याप्त हुए जिस सर्वगत सूत्र (प्राण) के द्वारा सूतमें मणियों (मनकों) के समान यह सब गूँथा हुआ और विधृत है । वह यह——

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वꣳसमर्पितम् । प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

प्राण ही आशासे बढ़कर है । जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिमें अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार इस प्राणमें सारा जगत् समर्पित है । प्राण प्राण (अपनी शक्ति) के द्वारा गमन करता है; प्राण प्राणको देता है और प्राणके लिये ही देता है । प्राण ही पिता है; प्राण

माता है, प्राण भाई है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है ॥ १ ॥

प्राणो वा आशाया भूयान्। कथमस्य भूयस्त्वम्? इत्याह दृष्टान्तेन समर्थयंस्तद्भूयस्त्वम्——यथा वै लोके रथचक्रस्यारा रथनाभौ समर्पिताः सम्प्रोताः सम्प्रवेशिता इत्येतत्; एवमस्मिँल्लिङ्गसङ्घातरूपे प्राणे प्रज्ञात्मनि दैहिके मुख्ये—यस्मिन् परा देवता नामरूपव्याकरणायादर्शादौ प्रतिबिम्बवज्जीवेनात्मनानुप्रविष्टा। यश्च महाराजस्येव सर्वाधिकारीश्वरस्य। "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत" (प्र० उ० ६। ३) इति श्रुतेः। यस्तु च्छायेवानुगत ईश्वरम्, "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो

प्राण ही आशासे बढ़कर है। इसकी उत्कृष्टता किस प्रकार है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर दृष्टान्तद्वारा उसकी उत्कृष्टताका समर्थन करते हुए [सनत्कुमारजी] कहते हैं——लोकमें जिस प्रकार रथके पहियेके अरे रथकी नाभिमें समर्पित— सम्प्रोत अर्थात् सम्यक् प्रकारसे प्रवेशित रहते हैं उसी प्रकार लिङ्ग संघातरूप[1] इस प्राण यानी प्रज्ञात्मामें[2] अर्थात् दैहिक मुख्य प्राणमें, जिसमें कि परादेवताने नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये दर्पणादिमें प्रतिबिम्बके समान जीवरूपसे प्रवेश किया है, जो महाराजके सर्वाधिकारीके समान ईश्वरका सर्वाधिकारी है, जैसा कि "किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रमण करूँगा तथा किसके स्थित होनेपर स्थित होऊँगा——ऐसा ईक्षण करके उसने प्राणकी रचना की" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है तथा जो छायाके समान ईश्वरका अनुगामी

---

[1] १. व्यष्टिलिंगदेहोंका समुदायरूप समष्टिसूत्रात्मा।

[2] २. उपाधि प्राण और उपाधिमान् आत्माकी एकता मानकर यह विशेषण दिया गया है।

नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा" (कौ० उ० ३ । ८) इति कौषीतकिनाम् । अत एवमस्मिन्प्राणे सर्वं यथोक्तं समर्पितम् ।

अतः स एष प्राणोऽपरतन्त्रः प्राणेन स्वशक्त्यैव याति नान्यकृतं गमनादिक्रियास्वस्य सामर्थ्यमित्यर्थः । सर्वं क्रियाकारकफलभेदजातं प्राण एव न प्राणाद्बहिर्भूतमस्तीति प्रकरणार्थः । प्राणः प्राणं ददाति । यद्ददाति तत्स्वात्मभूतमेव । यस्मै ददाति तदपि प्राणायैव । अतः पित्राद्याख्योऽपि प्राण एव ॥ १ ॥

है, जैसा कि कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्की श्रुति है कि "जिस प्रकार रथके अरोंमें नेमि अर्पित है और रथकी नाभिमें अरे अर्पित हैं इसी प्रकार यह भूतमात्रा प्रज्ञामात्रामें अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राणमें अर्पित है । वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है ।" इसीसे इस प्राणमें ही उपर्युक्त सब समर्पित हैं ।

अतः वह यह अपरतन्त्र प्राण प्राणसे अर्थात् अपनी शक्तिसे ही गमन करता है । तात्पर्य यह है कि गमनादि क्रियाओंमें जो इसका सामर्थ्य है वह किसी अन्यके कारण नहीं है । सम्पूर्ण क्रिया, कारक और फलरूप भेदसमुदाय प्राण ही है, प्राणसे बाहर इनमें कोई नहीं है—ऐसा इस प्रकरणका तात्पर्य है । प्राण प्राण (शक्ति) प्रदान करता है; वह जो कुछ देता है उसका स्वात्मभूत ही है, जिसे देता है वह दान भी प्राणके लिये ही होता है । अतः पितृ आदि नामवाला भी प्राण ही है ॥ १ ॥

* * *

कथं पित्रादिशब्दानां प्रसिद्धार्थोत्सर्गेण प्राणविषयत्वमिति उच्यते । सति प्राणे पित्रादिषु पित्रादिशब्दप्रयोगात्तदुत्क्रान्तौ च प्रयोगाभावात् । कथं तत् ? इत्याह—

'पितृ' आदि शब्दोंके प्रसिद्ध अर्थका त्याग करके उनका प्राणविषयक होना कैसे सम्भव है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है—क्योंकि प्राण रहनेपर ही पिता आदिके लिये 'पितृ' आदि शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसके उत्क्रमण करनेपर इस प्रकारका प्रयोग भी नहीं होता । किस प्रकार है ? यह बतलाते हैं—

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वास्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २ ॥

यदि कोई पुरुष अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा ब्राह्मणके लिये कोई अनुचित बात कहता है तो [उसके समीपवर्ती लोग] उससे कहते हैं—'तुझे धिक्कार है, तू निश्चय ही पिताका हनन करनेवाला है, तू तो माताका वध करनेवाला है, तू तो भाईको मारनेवाला है, तू तो बहिनकी हत्या करनेवाला है, तू तो आचार्यका घात करनेवाला है, तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है' ॥ २ ॥

स यः कश्चित्पित्रादीनामन्यतमं यदि तं भृशमिव तदननुरूपमिव किञ्चिद्वचनं त्वङ्कारा-

जो कोई कि पिता आदिमेंसे किसीके प्रति यदि कोई 'भृशमिव'—उनके अननुरूप कोई त्वंकारादि (अरे-तू आदि)से युक्त वचन बोलता

दियुक्तं प्रत्याह तदैनं पार्श्वस्था आहुर्विवेकिनो धिक्त्वास्तु धिगस्तु त्वामित्येवम् । पितृहा वै त्वं पितुर्हन्तेत्यादि ॥ २ ॥

है तो उसके समीपवर्ती विचारशील लोग उससे 'धिक्त्वास्तु'—तुझे धिक्कार है--ऐसा कहते हैं । 'तू निश्चय ही पितृहा—पिताका हनन करनेवाला है' इत्यादि ॥ २ ॥

* * *

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

किंतु जिनके प्राण उत्क्रमण कर गये हैं उन पिता आदिको यदि वह शूलसे एकत्रित और छिन्न-भिन्न करके जला दे तो भी उससे 'तू पितृहा है' 'तू मातृहा है' 'तू भ्रातृहा है' 'तू बहिनकी हत्या करनेवाला है' 'तू आचार्यका घात करनेवाला है' अथवा 'तू ब्रह्मघाती है' ऐसा कुछ नहीं कहते ॥ ३ ॥

अथैनानेवोत्क्रान्तप्राणांस्त्यक्तदेहानथ यद्यपि शूलेन समासं समस्य व्यतिषन्दहेद्व्यत्यस्य सन्दहेदेवमप्यतिक्रूरं कर्म समासव्यासादिप्रकारेण दहनलक्षणं तद्देहसम्बद्धमेव कुर्वाणं नैवैनं ब्रूयुः पितृहेत्यादि। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यत एतत्पित्राद्याख्योऽपि प्राण एवेति ॥ ३ ॥

किंतु प्राण निकल जानेपर—देहका त्याग कर देनेपर इन्हींको यदि वह शूलसे समास--एकत्रित करके व्यतिषन्दहन करे अर्थात् छिन्न-भिन्न करके जलावे; उनके देहसे सम्बद्ध समास-व्यासादि क्रमसे दहन करनारूप ऐसा अत्यन्त क्रूर कर्म करनेपर भी उससे 'तू पितृहा है' इत्यादि नहीं कहते। अतः अन्वय-व्यतिरेकसे यह ज्ञात होता है कि यह पिता आदि नामवाला भी प्राण ही है ॥ ३ ॥

* * *

तस्मात्—

अतः—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥

प्राण ही ये सब [पिता आदि] हैं । वह जो इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार चिन्तन करनेवाला और इस प्रकार जाननेवाला है अतिवादी होता है । उससे यदि कोई कहे कि 'तू अतिवादी है' तो उसे यही कहना चाहिये कि 'हाँ, अतिवादी हूँ' उसे छिपाना नहीं चाहिये ॥४॥

प्राणो ह्येवैतानि पित्रादीनि सर्वाणि भवति चलानि स्थिराणि च । स वा एष प्राणविदेवं यथोक्तप्रकारेण पश्यन्फलतोऽनुभवन्नेवं मन्वान उपपत्तिभिश्चिन्तयन्नेवं विजानन्नुपपत्तिभिः संयोज्यैवमेवेति निश्चयं कुर्वन्नित्यर्थः । मननविज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत् । अत एवं पश्यन्नतिवादी भवति नामाद्याशान्तमतीत्य वदनशीलो भवतीत्यर्थः ।

प्राण ही ये सब चर और अचर पिता आदि है । वह यह प्राणवेत्ता इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे देखता हुआ अर्थात् फलतः अनुभव करता हुआ[1], इस प्रकार मनन करता हुआ अर्थात् युक्तियोंद्वारा चिन्तन करता हुआ और इस प्रकार जानता हुआ यानी उपपत्तियोंसे संयुक्त करके 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चय करता हुआ, क्योंकि मनन और विज्ञानके द्वारा निष्पन्न हुआ शास्त्रका अर्थ निश्चित देखा जाता है; अतः इस प्रकार देखता हुआ वह अतिवादी होता है; तात्पर्य यह है कि उसका नामसे लेकर आशापर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वोंका अतिक्रमण करके बोलनेका स्वभाव होता है ।

---

[1] यानी स्वरूपतः साक्षात्कार करता हुआ ।

तं चेद्ब्रूयुस्तं यद्येवमतिवादिनं सर्वदा सर्वैः शब्दैर्नामाद्याशान्तमतीत्य वर्तमानं प्राणमेव वदन्त्येवं पश्यन्तमतिवदनशीलमतिवादिनं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य हि जगतः प्राण आत्माहमिति ब्रुवाणं यदि ब्रूयुरतिवाद्यसीति । बाढमतिवाद्यसीति ब्रूयान्नापह्नुवीत । कस्माद्ध्यसावपह्नुवीत यत्प्राणं सर्वेश्वरमयमहमस्मीत्यात्मत्वेनोपगतः ॥ ४ ॥

उससे यदि कहें, अर्थात् इस प्रकार अतिवदन करनेवाले यानी जो ऐसा देखता है कि सब लोग सर्वदा सम्पूर्ण शब्दोंद्वारा नामसे लेकर आशापर्यन्त तत्त्वोंका अतिक्रमण करके स्थित हुए प्राणका ही वर्णन करते हैं उस अतिवदनशील अतिवादीसे, जो 'मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्का प्राण यानी आत्मा हूँ' ऐसा कहनेवाला है, यदि कहें कि 'तू अतिवादी है' तो उसे यही कहना चाहिये कि 'हाँ, मैं अतिवादी हूँ' उसे छिपाना नहीं चाहिये । जो सर्वेश्वर प्राणको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मभावसे प्राप्त हो गया है वह किस प्रकार उस (अतिवादित्व)को छिपावेगा ? [अर्थात् उसके लिये अपने अतिवादित्वको छिपानेका कोई प्रयोजन नहीं है] ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१५॥

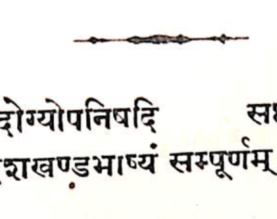

षोडश खण्ड

सत्य ही जानने योग्य है

स एष नारदः सर्वातिशयं प्राणं स्वमात्मानं सर्वात्मानं श्रुत्वा नातः परमस्तीत्युपरराम । न पूर्ववत्किमस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति पप्रच्छ यतः । तमेवं विकारानृतब्रह्मविज्ञानेन परितुष्टमकृतार्थं परमार्थसत्यातिवादिनमात्मानं मन्यमानं योग्यं शिष्यं मिथ्याग्रहविशेषाद्विप्रच्यावयन्नाह भगवान्सनत्कुमारः । एष तु वा अतिवदति यमहं वक्ष्यामि न प्राणविदतिवादी परमार्थतः । नामाद्यपेक्षं तु तस्यातिवादित्वम् । यस्तु भूमाख्यं सर्वातिक्रान्तं तत्त्वं परमार्थसत्यं वेद सोऽतिवादीत्यत आह—

वे नारदजी सबसे उत्कृष्ट अपने आत्मा प्राणको ही सर्वात्मा सुनकर यह समझकर कि इससे परे और कुछ नहीं है, शान्त हो गये, क्योंकि पूर्ववत् उन्होंने ऐसा प्रश्न नहीं किया कि 'भगवन् ! प्राणसे बढ़कर क्या है ?' इस प्रकार विकाररूप मिथ्या ब्रह्मके ज्ञानसे संतुष्ट हुए, अकृतार्थ तथा अपनेको परमार्थ सत्यातिवादी माननेवाले उस योग्य शिष्यको उस मिथ्याग्रहविशेषसे च्युत करते हुए, भगवान् सनत्कुमारने कहा—'मैं जिसका आगे वर्णन करूँगा वही अतिवदन करता है, परमार्थतः प्राणवेत्ता अतिवादी नहीं है । उसका अतिवादित्व तो नामादिकी अपेक्षासे ही है । किंतु अतिवादी तो वही है जो भूमासंज्ञक सर्वातीत परमार्थसत्य तत्त्वको जानता है ।' इसी आशयसे वे कहते हैं—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार——] जो सत्य (परमार्थ सत्य आत्माके विज्ञान) के कारण अतिवदन करता है वही निश्चय अतिवदन करता है। [नारद—] भगवन् ! मैं तो परमार्थ सत्य विज्ञानके कारण ही अतिवदन करता हूँ । [सनत्कुमार—] सत्यकी ही तो विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये । [नारद—] भगवन् ! मैं विशेषरूपसे सत्यकी जिज्ञासा करता हूँ ॥ १ ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येन परमार्थसत्यविज्ञानवत्तयातिवदति सोऽहं त्वां प्रपन्नो भगवन्सत्येनातिवदानि । तथा मां नियुनक्तु भगवान् यथाहं सत्येनातिवदानीत्यभिप्रायः । यद्येवं सत्येनातिवदितुमिच्छसि सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञासितव्यमित्युक्त आह नारदः । तथास्तु तर्हि सत्यं भगवो विजिज्ञासे विशेषेण ज्ञातुमिच्छेयं त्वत्तोऽहमिति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] किंतु अतिवदन तो वही करता है जो परमार्थसत्यविज्ञानके कारण अतिवदन करता है । [नारद—] भगवन् ! आपका शरणागत हुआ मैं तो सत्यके ही कारण अतिवदन करता हूँ । तात्पर्य यह है कि भगवान् मुझे इस प्रकार उपदेश करें जिससे कि मैं सत्य ज्ञानके कारण अतिवदन करूँ । 'यदि इस प्रकार तुम सत्यके द्वारा अतिवदन करना चाहते हो तो सत्यकी ही जिज्ञासा करनी चाहिये'—ऐसा कहे जानेपर नारदजी बोले—'ठीक है, अच्छा तो भगवन् ! मैं सत्यकी विजिज्ञासा—आपके द्वारा विशेषरूपसे सत्यको जाननेकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
षोडशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १६ ॥

सप्तदश खण्ड

विज्ञान ही जानने योग्य है

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

जिस समय पुरुष सत्यको विशेषरूपसे जानता है तभी वह सत्य बोलता है, बिना जानें सत्य नहीं बोलता; अपि तु विशेषरूपसे जाननेवाला ही सत्यका कथन करता है । अतः विज्ञानकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये । [नारद——] ‘भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ’ ॥ १ ॥

यदा वै सत्यं परमार्थतो विजानाति । इदं परमार्थतः सत्यमिति । ततोऽनृतं विकारजातं वाचारम्भणं हित्वा सर्वविकारावस्थं सदेवैकं सत्यमिति तदेवाथ वदति यद्वदति ।

ननु विकारोऽपि सत्यमेव । “नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः” (बृ० उ० १ । ६ । ३)। “प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्” (बृ० उ० २ । १ । २०) इति श्रुत्यन्तरात् ।

जिस समय पुरुष सत्यको परमार्थतः जानता है, अर्थात् ‘यह परमार्थतः सत्य है’ ऐसा जानता है उस समय वह वाणीपर अवलम्बित मिथ्या विकारजातको त्यागकर सम्पूर्ण विकारमें स्थित एक सत् ही सत्य है——ऐसा समझकर फिर जो कुछ बोलता है उसीको बोलता है ।

शङ्का—किंतु विकार भी तो सत्य ही है, क्योंकि “नाम और रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है”, “[वागादि] प्राण ही सत्य है, यह [मुख्य प्राण] उनका भी सत्य है”, इस अन्य श्रुतिसे भी [यही सिद्ध होता है] ।

बिकारस्य परमार्थसत्यत्वनिरासः

सत्यम्,उक्तं सत्यत्वं श्रुत्यन्तरे विकारस्य न तु परमार्थापेक्षमुक्तम्। किं तर्हि? इन्द्रियविषयाविषयत्वापेक्षं सच्च त्यच्चेति सत्यमित्युक्तम्। तद्द्वारेण च परमार्थसत्यस्योपलब्धिर्विवक्षितेति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति चोक्तम्।

इहापि तदिष्टमेव, इह तु प्राणविषयात्परमार्थसत्यविज्ञानाभिमानाद्व्युत्थाप्य नारदं यत्सदेव सत्यं परमार्थतो भूमाख्यं तद्विज्ञापयिष्यामीत्येष विशेषतो विवक्षितोऽर्थः। नाविजानन्सत्यं वदति। यस्त्वविजानन्वदति सोऽग्न्यादिशब्देनाग्न्यादीन्परमार्थसद्रूपान्मन्यमानो वदति। न तु ते रूपत्रयव्यतिरेकेण परमार्थतः सन्ति। तथा तान्यपि रूपाणि सदपेक्षया

समाधान—ठीक है, श्रुत्यन्तरमें विकारका सत्यत्व अवश्य बतलाया गया है, परंतु वह परमार्थकी अपेक्षासे नहीं बतलाया गया। तो फिर क्या बात है?——इन्द्रियोंके विषय होने और न होनेकी अपेक्षासे सत् और त्यत् हैं; इस प्रकार वहाँ सत्यका उल्लेख किया गया है। तथा उसके द्वारा वहाँ परमार्थ सत्यकी उपलब्धि ही विवक्षित है। इसीसे वहाँ यह कहा गया है कि '[वागादि] प्राण ही सत्य हैं, यह [मुख्य प्राण] उनका भी सत्य है।'

यहाँ भी वह इष्ट ही है। परंतु यहाँ विशेषरूपसे सनत्कुमारजीको यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि नारदजीको प्राणविषयक परमार्थ सत्य विज्ञानके अभिमानसे निवृत्त कर जो भूमासंज्ञक सत् ही परमार्थ सत्य है, उसे विशेषरूपसे समझाऊँगा। उसे विशेषरूपसे जाने बिना कोई सत्य नहीं बोलता। जो कोई उसे बिना जाने बोलता है वह 'अग्नि' आदि शब्दसे अग्नि आदिको ही परमार्थ सद्रूप समझकर बोलता है। किंतु परमार्थतः वे रूपत्रय (रक्त, शुक्ल और कृष्णरूप) से अतिरिक्त हैं नहीं। तथा वे रूप भी सत्की अपेक्षा

नैव सन्तीत्यतो नाविजानन्सत्यं वदति । विजानन्नेव सत्यं वदति ।

न च तत्सत्यविज्ञानमविजिज्ञासितमप्रार्थितं ज्ञायत इत्याह—विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । यद्येवं विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति । एवं सत्यादीनां चोत्तरोत्तराणां करोत्यन्तानां पूर्वपूर्वहेतुत्वं व्याख्येयम् ॥ १ ॥

तो हैं ही नहीं । अतः परमार्थको बिना जाने कोई सत्य नहीं बोल सकता । सत्यका विशेष ज्ञान होनेपर ही पुरुष सत्य बोल सकता है ।

किंतु वह सत्यविज्ञान बिना जिज्ञासा किये—बिना उसकी प्रार्थना किये नहीं जाना जाता; इसीसे कहते हैं कि 'विज्ञानकी* ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'यदि ऐसी बात है, तो भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ ।' इसी प्रकार सत्यसे लेकर [आगे बाईसवें खण्डके] 'करोति' पर्यन्त उत्तरोत्तर पदार्थोंके पूर्व-पूर्व पदार्थ कारण हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
सप्तदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१७॥

---

* 'विज्ञान' शब्द अष्टम खण्डके प्रथम मन्त्रमें भी आया है । परंतु वहाँ उसका तात्पर्य केवल शास्त्रज्ञान है और यहाँ विशेष ज्ञान अर्थात् वास्तविक ज्ञान है ।

अष्टादश खण्ड

मति ही जानने योग्य है

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य मनन करता है तभी वह विशेषरूपसे जानता है; बिना मनन किये कोई नहीं जानता, अपि तु मनन करनेपर ही जानता है । अतः मतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं मतिके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

यदा वै मनुत इति । मतिर्मननं तर्को मन्तव्यविषय आदरः ॥१॥	जिस समय मनन करता है इत्यादि । 'मति' अर्थात् मनन—तर्क—मन्तव्य विषयके प्रति आदर ।

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्यायेऽष्टादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १८ ॥

एकोनविंश खण्ड

श्रद्धा ही जानने योग्य है

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है तभी वह मनन करता है; बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता । अपितु श्रद्धा करनेवाला ही मनन करता है । अतः श्रद्धाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं श्रद्धाके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा ॥१॥	आस्तिक्य बुद्धिका नाम श्रद्धा है ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये एकोनविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १९ ॥

विंश खण्ड

निष्ठा ही जानने योग्य है

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुषकी निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है; बिना निष्ठाके कोई श्रद्धा नहीं करता, अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है । अतः निष्ठाको ही विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं निष्ठाको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय ॥ १ ॥	निष्ठा गुरुशुश्रूषा आदिको कहते हैं । उसमें ब्रह्मविज्ञानके लिये तत्पर रहना ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये विंश-
खण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २० ॥

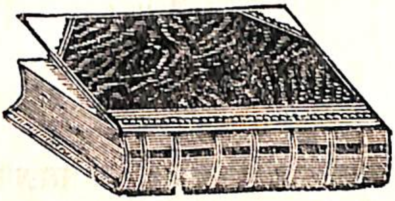

एकविंश खण्ड

कृति ही जानने योग्य है

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य करता है उस समय वह निष्ठा भी करने लगता है; बिना किये किसीकी निष्ठा नहीं होती, पुरुष करनेपर ही निष्ठावान् होता है । अतः कृतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं कृतिकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

यदा वै करोति । कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च । सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि भवन्ति विज्ञानावसानानि ॥ १ ॥

जिस समय मनुष्य करता है । 'कृति' इन्द्रियसंयम और चित्तकी एकाग्रता करनेको कहते हैं । उसके होनेपर ही उपर्युक्त [विपरीत क्रमसे] निष्ठासे लेकर विज्ञानपर्यन्त समस्त साधन होते हैं ॥ १ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
एकविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२१॥

द्वाविंश खण्ड

सुख ही जानने योग्य है

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जब मनुष्यको सुख प्राप्त होता है तभी वह करता है; बिना सुख मिले कोई नहीं करता, अपितु सुख पाकर (पानेकी आशा रखकर) ही करता है; अतः सुखकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं सुखकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥१॥

सापि कृतिर्यदा सुखं लभते सुखं निरतिशयं वक्ष्यमाणं लब्धव्यं मयेति मन्यते तदा भवतीत्यर्थः । यथा दृष्टफलसुखा कृतिस्तथेहापि नासुखं लब्ध्वा करोति । भविष्यदपि फलं लब्ध्वेत्युच्यते तदुद्दिश्य प्रवृत्त्युपपत्तेः ।

वह कृति भी, जिस समय सुख मिलता है अर्थात् जिस समय ऐसा मानता है कि मुझे आगे बतलाया जानेवाला निरतिशय सुख प्राप्त करना चाहिये, तभी होती है । जिस प्रकार लौकिक कृति दृष्टफलजनित सुखके लिये होती है उसी प्रकार इस प्रसंगमें भी बिना सुख मिले कोई नहीं करता । यद्यपि वह फल भविष्यत्कालिक होता है तो भी 'लब्ध्वा' (पाकर) ऐसा [पूर्वकालिक क्रियारूपसे] कहा जाता है, क्योंकि उसीके उद्देश्यसे प्रवृत्ति होनी सम्भव है ।

अथेदानीं कृत्यादिषूत्तरोत्तरेषु सत्सु सत्यं स्वयमेव प्रतिभासत इति न तद्विज्ञानाय पृथग्यत्नः कार्य इति प्राप्तं तत इदमुच्यते— सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्यादि । सुखं भगवो विजिज्ञास इत्यभिमुखीभूतायाह ॥ १ ॥

अब यह प्राप्त होता है कि—कृतिसे लेकर उत्तरोत्तर साधनोंके होनेपर सत्य स्वयं ही अनुभव हो जायगा, उसके विज्ञानके लिये पृथक् प्रयत्न नहीं करना चाहिये—इसीसे यह कहा गया है कि 'सुखकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये' इत्यादि । फिर 'भगवन् ! मैं सुखकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' इस प्रकार [सुखविज्ञानके प्रति] अभिमुख हुए नारदजीसे सनत्कुमारजी कहते हैं ॥ १ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
द्वाविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २२ ॥

त्रयोविंश खण्ड

भूमा ही जानने योग्य है

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है । सुख भूमा ही है । भूमाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद––] 'भगवन् ! मैं भूमाकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

यो वै भूमा महन्निरतिशयं बह्विति पर्यायास्तत्सुखम् । ततोऽर्वाक्सातिशयत्वादल्पम् । अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति । अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात् । तृष्णा च दुःखबीजम् । न हि दुःखबीजं सुखं दृष्टं ज्वरादि लोके । तस्माद्युक्तं नाल्पे सुखमस्तीति । अतो भूमैव सुखम् । तृष्णादिदुःखबीजत्वासम्भवाद्भूम्नः ॥ १ ॥

निश्चय जो भूमा है––महान्, निरतिशय और बहु—ये इसके पर्याय हैं—वही सुख है । उससे नीचेके पदार्थ सातिशय (न्यूनाधिक) होनेके कारण अल्प हैं । अतः उस अल्पमें सुख नहीं है; क्योंकि अल्प तो अधिक तृष्णाका हेतु है और तृष्णा दुःखका बीज है । तथा लोकमें दुःखके बीजभूत ज्वरादि सुखरूप नहीं देखे गये । अतः 'अल्पमें सुख नहीं है' यह कथन ठीक ही है । इसलिये भूमा ही सुखरूप है; क्योंकि भूमामें दुःखके बीजभूत तृष्णादिका होना असम्भव है ॥१॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
त्रयोविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२३॥

चतुर्विंश खण्ड

भूमाके स्वरूपका प्रतिपादन

किंलक्षणोऽसौ भूमेत्याह—

यह भूमा किन लक्षणोंवाला है, सो बतलाते हैं—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

[सनत्कुमार—] 'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है । किंतु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है । जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है ।' [नारद—] 'भगवन् ! वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है ?' [सनत्कुमार—] 'अपनी महिमामें, अथवा अपनी महिमामें भी नहीं है' ॥ १ ॥

यत्र यस्मिन्भूम्नि तत्त्वे नान्यद्द्रष्टव्यमन्येन करणेन द्रष्टान्यो विभक्तो दृश्यात्पश्यति तथा नान्यच्छृणोति । नामरूपयोरेवान्तर्भावाद्विषयभेदस्य, तद्ग्राहक-

जहाँ—जिस भूमातत्त्वमें दृश्यसे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा किसी अन्य द्रष्टव्य विषयको अन्य इन्द्रियके द्वारा नहीं देखता और न कुछ सुनता ही है । विषयभेदका अन्तर्भाव नाम और रूपमें ही हो जाता है; अतः उनका ग्रहण

योरेवेह दर्शनश्रवणयोर्ग्रहणम्, अन्येषां चोपलक्षणार्थत्वेन । मननं त्वत्रोक्तं द्रष्टव्यं नान्यन्मनुत इति, प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्विज्ञानस्य । तथा नान्यद्विजानाति; एवंलक्षणो यः स भूमा ।

किमत्र प्रसिद्धान्यदर्शनाभावो भूम्न्युच्यते नान्यत्पश्यतीत्यादिना ? अथान्यन्न पश्यत्यात्मानं पश्यतीत्येतत् ?

किं चातः ?

यद्यन्यदर्शनाद्यभावमात्रमित्युच्यते तदा द्वैतसंव्यवहारविलक्षणो भूमेत्युक्तं भवति । अथान्यदर्शनविशेषप्रतिषेधेनात्मानं पश्यतीत्युच्यते तदैकस्मिन्नेव

करनेवाली दर्शन और श्रवण इन दो इन्द्रियोंका ही यहाँ अन्य इन्द्रियोंके उपलक्षणार्थ ग्रहण किया गया है । किंतु मननका यहाँ 'नान्यन्मनुते' ऐसा कहकर अलग उल्लेख किया गया है—ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि विज्ञान प्रायः मननपूर्वक हुआ करता है; तथा जहाँ कुछ और जानता भी नहीं—जो ऐसे लक्षणोंवाला है वह भूमा है ।

गुरु—यहाँ [यह विचारना है कि] 'नान्यत्पश्यति' इत्यादि वाक्यसे भूमामें लोकप्रसिद्ध अन्यदर्शनका अभाव बतलाया गया है अथवा अन्यको नहीं देखता, इसलिये अपनेको ही देखता है—यह बतलाया गया है ?

शिष्य—इससे क्या [हानि-लाभ] है ?

गुरु—यदि इस वाक्यद्वारा अन्य पदार्थके दर्शनादिका अभाव ही बतलाया गया हो तब तो यह बात कही जाती है कि भूमा द्वैतव्यवहारसे विलक्षण है और यदि अन्यदर्शनविशेषका प्रतिषेध करके यह कहा गया हो कि वह अपनेको देखता है तो एकमें

क्रियाकारकफलभेदोऽभ्युपगतो भवेत् ।

यद्येवं को दोषः स्यात् ?

नन्वयमेव दोषः संसारानिवृत्तिः । क्रियाकारकफलभेदो हि संसार इति । आत्मैकत्व एव क्रियाकारकफलभेदः संसारविलक्षण इति चेत् ? न; आत्मनो निर्विशेषैकत्वाभ्युपगमे दर्शनादिक्रियाकारकफलभेदाभ्युपगमस्य शब्दमात्रत्वात् ।

अन्यदर्शनाद्यभावोक्तिपक्षेऽपि यत्रेत्यन्यन्न पश्यतीति च विशेषणे अनर्थके स्यातामिति चेत् ? दृश्यते हि लोके यत्र शून्ये गृहेऽन्यन्न पश्यतीत्युक्ते स्तम्भादीनात्मानं च न पश्यतीति न गम्यते । एवमिहापीति चेत् ?

ही क्रिया, कारक और फलरूप भेद मानना हो जाता है ।

शिष्य—यदि ऐसा ही हो तो उसमें दोष क्या होगा ?

गुरु—उसके संसारकी निवृत्ति न होना—बस यही दोष है, क्योंकि क्रिया, कारक और फलरूप भेद ही संसार है । यदि कहो कि आत्माका एकत्व होनेपर भी उसमें जो क्रिया, कारक और फलरूप भेद है वह संसारसे विलक्षण है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्माका निर्विशेष एकत्व स्वीकार करनेपर जो उसमें दर्शनादि क्रिया, कारक और फलरूप भेद स्वीकार करना है वह तो शब्दमात्र है ।

शिष्य—किंतु अन्य दर्शनादिका अभाव प्रतिपादन करनेके पक्षमें भी 'यत्र' और 'अन्यन्न पश्यति' ये दो विशेषण निरर्थक होंगे । लोकमें यह देखा ही जाता है कि जहाँ सूने घरमें 'किसी औरको नहीं देखता' ऐसा कहा जाता है वहाँ यह नहीं समझा जाता कि उस घरके स्तम्भादि और अपनेको भी नहीं देखता । यदि ऐसा ही यहाँ भी हो तो ?

न; तत्त्वमसीत्येकत्वोपदेशादधिकरणाधिकर्तव्यभेदानुपपत्तेः । तथा सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति षष्ठे निर्धारितत्वात् । "अदृश्येऽनात्म्ये" (तै० उ० २।७।१) "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" (क० उ० ६।९) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० उ० २।४।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः स्वात्मनि दर्शनाद्यनुपपत्तिः ।

यत्रेति विशेषणमनर्थकं प्राप्तमिति चेत् ?

न, अविद्याकृतभेदापेक्षत्वात् । यथा सत्यैकत्वाद्वितीयत्वबुद्धिं प्रकृतामपेक्ष्य सदेकमेवाद्वितीयमिति संख्याद्यनर्हमप्युच्यते, एवं भूम्न्येकस्मिन्नेव यत्रेति विशेषणम् । अविद्यावस्थायामन्यदर्शनानुवादेन च भूम्नस्तदभावत्वलक्षणस्य विवक्षितत्वान्नान्यत्पश्यतीति विशेषणम् । तस्मात्संसारव्यवहारो भूम्नि नास्तीति समुदायार्थः ।

गुरु—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'तू वह है' इस प्रकार एकत्वका उपदेश होनेके कारण आधार-आधेयरूप भेदका होना सम्भव नहीं है । इसी प्रकार छठे अध्यायमें भी यह निश्चय किया जा चुका है कि 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही सत्य है' । तथा "देखनेमें न आनेवाले शरीररहित····आत्मामें" "इसका रूप दृष्टिमें नहीं आता" "अरे ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने" इत्यादि श्रुतियोंसे भी स्वात्मामें दर्शनादिका होना सम्भव नहीं है ।

शिष्य—किंतु इस प्रकार 'यत्र' यह विशेषण व्यर्थ सिद्ध होता है ?

गुरु—नहीं, क्योंकि यह अविद्याकृत भेदकी अपेक्षासे है । जिस प्रकार प्रासङ्गिक सत्य एकत्व और अद्वितीयत्वबुद्धिकी अपेक्षासे—संख्या आदिके योग्य न होनेपर भी—'सत् एक और अद्वितीय है' ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार एक ही भूमामें 'यत्र' यह विशेषण है । तथा अविद्यावस्थामें अन्य दर्शनका अनुवाद होनेके कारण भूमाको उसके अभावत्वरूप लक्षणवाला बतलाना इष्ट होनेसे 'नान्यत्पश्यति' ऐसा विशेषण दिया गया है । अतः सारांश यह है कि भूमामें संसारव्यवहार नहीं है ।

अथ यत्राविद्याविषयेऽन्योऽन्येनान्यत्पश्यतीति तदल्पमविद्याकालभावीत्यर्थः । यथा स्वप्नदृश्यं वस्तु प्राक् प्रबोधात्तत्कालभावीति तद्वत् । तत एव तन्मर्त्यं विनाशि स्वप्नवस्तुवदेव तद्विपरीतो भूमा यस्तदमृतम् । तच्छब्दोऽमृतत्वपरः ।

स तर्ह्येवंलक्षणो भूमा हे भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्युक्तवन्तं नारदं प्रत्याह सनत्कुमारः—स्वे महिम्नीति; स्व आत्मीये महिम्नि माहात्म्ये विभूतौ प्रतिष्ठितो भूमा । यदि प्रतिष्ठामिच्छसि क्वचिद्यदि वा परमार्थमेव पृच्छसि न महिम्न्यपि प्रतिष्ठित इति ब्रूमः ।

किंतु जहाँ अविद्याके राज्यमें अन्य अन्यको अन्यके द्वारा देखता है वह अल्प है, तात्पर्य यह है कि वह केवल अविद्याके समय ही रहनेवाला है । जिस प्रकार स्वप्नमें दिखलायी देनेवाली वस्तु जागनेसे पूर्व स्वप्नकालमें ही रहनेवाली होती है उसी प्रकार [उसे जानना चाहिये] । इसीसे वह स्वप्नके पदार्थके समान ही मर्त्य—विनाशी है । उसके विपरीत जो भूमा है वह अमृत है । 'तत्' शब्द अमृतत्वपरक है [इसीसे नपुंसकलिंगका प्रयोग किया गया] ।

'तो, हे भगवन् ! वह ऐसे लक्षणवाला भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?' इस प्रकार पूछते हुए नारदजीसे सनत्कुमारजीने कहा—'अपनी महिमामें । तो वह भूमा 'स्वे'—अपनी 'महिम्नि'—महिमा अर्थात् विभूतिमें प्रतिष्ठित है । और यदि कहीं उसकी प्रतिष्ठा जानना चाहते हो—अथवा यदि परमार्थतः ही पूछते हो तो हमारा यह कथन है कि वह अपनी महिमामें भी प्रतिष्ठित नहीं

अप्रतिष्ठितोऽनाश्रितो भूमा क्वचिदपीत्यर्थः ॥ १ ॥

है । तात्पर्य यह है कि भूमा अप्रतिष्ठित है अर्थात् कहीं भी आश्रित नहीं है' ॥ १ ॥

यदि स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितो भूमा कथं तर्ह्यप्रतिष्ठ उच्यते, शृणु—

'यदि भूमा अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है तो उसे अप्रतिष्ठित क्यों कहा जाता है ?' सुनो—

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

'इस लोकमें गौ, अश्व आदिको महिमा कहते हैं तथा हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र और घर—इनका नाम भी महिमा है । किंतु मेरा ऐसा कथन नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है । मैं तो यह कहता हूँ'—ऐसा सनत्कुमारजीने कहा ॥ २ ॥

गोअश्वादीह महिमेत्याचक्षते । गावश्चाश्वाश्च गोअश्वं द्वन्द्वैकवद्भावः । सर्वत्र गवाश्वादि महिमेति प्रसिद्धम् । तदाश्रितस्तत्प्रतिष्ठश्चैत्रो भवति यथा नाहमेवं

'इस लोकमें गो-अश्वादिको महिमा कहते हैं । गो और अश्वको 'गोअश्व' कहते हैं । इन दोनों शब्दोंका द्वन्द्व समासमें एकवद्भाव* हुआ है । सर्वत्र गौ और अश्व आदि ही महिमा हैं इस प्रकार प्रसिद्ध है । जिस प्रकार चैत्र [नामका कोई पुरुष] उनके

---

* यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'गावश्च अश्वाश्च' ऐसा विग्रह करके पुँल्लिङ्ग एवं बहुवचनान्त शब्दोंका द्वन्द्वसमास हुआ है, ऐसी दशामें 'गोअश्वम्' यह एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग प्रयोग कैसे हुआ ? इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं कि एकवद्भाव हुआ है । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस पाणिनिसूत्रसे यहाँ एकवद्भाव किया गया है, इससे यह एकवचनान्त हो गया है तथा जहाँ एकवद्भाव होता है वहाँ 'स नपुंसकम्' इस सूत्रके अनुसार नपुंसकता भी हो जाती है ।

स्वतोऽन्यं महिमानमाश्रितो भूमा चैत्रवदिति ब्रवीम्यत्र हेतुत्वेनान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति व्यवहितेन सम्बन्धः । किं त्वेवं ब्रवीमीति होवाच स एवेत्यादि ॥ २ ॥

आश्रित और उनमें प्रतिष्ठित होता है उसी प्रकार चैत्रके समान ही भूमा भी अपनेसे भिन्न महिमामें आश्रित है—ऐसा मैं नहीं कहता । यहाँ 'क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है' इस व्यवधानयुक्त वाक्यसे इसका हेतुरूपसे सम्बन्ध है । किंतु मैं तो यह कहता हूँ' ऐसा कहकर सनत्कुमारजीने 'स एव अधस्तात्' इत्यादि कहा ॥ २ ॥

◆

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
चतुर्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम्॥ २४ ॥

पञ्चविंश खण्ड

सर्वत्र भूमा ही है

कस्मात्पुनः क्वचिन्न प्रतिष्ठितः? इत्युच्यते--यस्मात्—

तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है ? सो बतलाते हैं; क्योंकि—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति ॥ १ ॥

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। अब उसीमें अहंकारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ ॥ १ ॥

स एव भूमाधस्तान्न तद्व्यतिरेकेणान्यद्विद्यते यस्मिन्प्रतिष्ठितः स्यात् तथोपरिष्टादित्यादि समानम्। सति भूम्नोऽन्यस्मिन्भूमा हि प्रतिष्ठितः स्यान्न तु तदस्ति। स एव तु सर्वम्। अतस्तस्मादसौ न क्वचित्प्रतिष्ठितः।

क्योंकि वह भूमा ही नीचे है, उससे भिन्न कोई और ऐसी वस्तु नहीं है जिसपर वह प्रतिष्ठित हो। इसी प्रकार 'उपरिष्टात्' इत्यादिका अर्थ भी समझना चाहिये। भूमासे भिन्न कोई और पदार्थ हो तो भूमा उसपर प्रतिष्ठित हो; किंतु ऐसा है नहीं। सब कुछ वही है। अतः इसीसे वह कहीं अन्यत्र प्रतिष्ठित नहीं है।

यत्र नान्यत्पश्यतीत्यधिकरणाधिकर्तव्यतानिर्देशात्स एवाधस्तादिति च परोक्षनिर्देशाद्द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा स्यादित्याशङ्का कस्यचिन्मा भूदित्यथातोऽनन्तरमहङ्कारादेशोऽहङ्कारेणादिश्यत इत्यहङ्कारादेशः। द्रष्टुरनन्यत्वदर्शनार्थं भूमैव निर्दिश्यतेऽहङ्कारेणाहमेवाधस्तादित्यादिना ॥१॥

'जहाँ कुछ और नहीं देखता' इस वाक्यसे आधार-आधेयताका निर्देश होनेसे तथा 'वही नीचे है' इत्यादि वाक्यसे परोक्ष निर्देश होनेसे किसीको ऐसी शङ्का न हो जाय कि भूमा द्रष्टा जीवसे भिन्न है इसलिये अब—इसके पश्चात् अहंकारादेश किया जाता है। अहंकाररूपसे आदेश (उपदेश) किया जाता है इसलिये इसे अहंकारादेश कहा है। द्रष्टासे अभिन्नत्व दिखलानेके लिये भूमाका ही 'मैं ही नीचे हूँ' इत्यादि वाक्यद्वारा अहंकाररूपसे निर्देश किया जाता है ॥ १ ॥

अहङ्कारेण देहादिसङ्घातोऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिरित्यतस्तदाशङ्का मा भूदिति—

अविवेकी लोग अहंकारसे देहादि संघातका भी आदेश करते हैं; अतः ऐसी आशङ्का न हो इसलिये—

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳसर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ

येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

अब आत्मरूपसे ही भूमाका आदेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है। वह यह इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेषरूपसे इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है; वह स्वराट् है; सम्पूर्ण लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है। किंतु जो इससे विपरीत जानते हैं वे अन्यराट् (जिनका राजा अपनेसे भिन्न कोई और है, ऐसे) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकोंको प्राप्त होनेवाले) होते हैं। उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति नहीं होती ॥ २ ॥

अथानन्तरमात्मादेश आत्मनैव केवलेन सत्स्वरूपेण शुद्धेनादिश्यते । आत्मैव सर्वतः सर्वमित्येवमेकमजं सर्वतो व्योमवत्पूर्णमन्यशून्यं पश्यन्स वा एष विद्वान्मननविज्ञानाभ्यामात्मरतिरात्मन्येव रती रमणं यस्य सोऽयमात्मरतिः । तथात्मक्रीडः । देहमात्रसाधना रतिर्बाह्यसाधना क्रीडा । लोके स्त्रीभिः सखिभिश्च

अब आगे आत्मादेश है अर्थात् केवल सत्स्वरूप शुद्ध आत्माके द्वारा ही आदेश किया जाता है। सब ओर सब कुछ आत्मा ही है। इस प्रकार आकाशके समान सर्वत्र पूर्ण एक अज और अनन्य आत्माको देखनेवाला वह यह विद्वान् मनन और विज्ञानके कारण आत्मरति—आत्मामें ही जिसकी रति अर्थात् रमण है ऐसा आत्मरति और आत्मक्रीड होता है। रतिका साधन केवल देह है और क्रीडा बाह्य साधनवाली होती है, क्योंकि लोकमें 'स्त्रियों और मित्रोंके साथ क्रीडा

क्रीडतीति दर्शनात् । न तथा विदुषः । किं तर्ह्यात्मविज्ञाननिमित्तमेवोभयं भवतीत्यर्थः ।

मिथुनं द्वन्द्वजनितं सुखं तदपि द्वन्द्वनिरपेक्षं यस्य विदुषः। तथात्मानन्दः शब्दादिनिमित्त आनन्दोऽविदुषां न तथास्य विदुषः किं तर्ह्यात्मनिमित्तमेव सर्वं सर्वदा सर्वप्रकारेण च । देहजीवितभोगादिनिमित्तबाह्यवस्तुनिरपेक्ष इत्यर्थः ।

स एवंलक्षणो विद्वाञ्जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि देहे स्वराडेव भवति । यत एवं भवति तत एव तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । प्राणादिषु पूर्वभूमिषु तत्रास्येति

करता है' ऐसा प्रयोग देखा जाता है; किंतु विद्वान्की क्रीडा ऐसी नहीं होती । तो कैसी होती है ? उसकी तो ये [रति और क्रीडा] दोनों ही आत्मविज्ञानके ही कारण होती हैं ।

मिथुन यह दोसे होनेवाला सुख है, वह भी जिस विद्वान्का दोकी अपेक्षासे रहित है [उसे आत्ममिथुन कहते हैं]; तथा आत्मानन्द—अविद्वानोंका आनन्द शब्दादि विषयजनित होता है, विद्वान्का आनन्द वैसा नहीं होता । तो कैसा होता है ?—वह सारा-का-सारा सर्वदा सब प्रकार आत्माके ही कारण होता है । तात्पर्य यह है कि वह देह, जीवन और भोगादिकी निमित्तभूत बाह्य वस्तुओंकी अपेक्षासे रहित होता है ।

इस प्रकारके लक्षणोंवाला वह विद्वान् जीवित रहता हुआ ही स्वाराज्यपर अभिषिक्त हो जाता है तथा देहपात होनेपर भी स्वराट् ही होता है । क्योंकि ऐसा है इसीसे उसकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति होती है । प्राणादि पूर्व भूमिकाओंमें इस उपासककी उनसे परिच्छिन्न ही

तावन्मात्रपरिच्छिन्नकामचारत्वमुक्तमन्यराजत्वं चार्थप्राप्तं सातिशयत्वाद्यथाप्राप्तस्वाराज्यकामचारत्वानुवादेन तत्तन्निवृत्तिरिहोच्यते स स्वराडित्यादिना ।

अथ पुनर्येऽन्यथात उक्तदर्शनादन्यथा वैपरीत्येन यथोक्तमेव वा सम्यङ् न विदुस्तेऽन्यराजानो भवन्ति । अन्यः परो राजा स्वामी येषां तेऽन्यराजानस्ते किञ्च क्षय्यलोकाः क्षय्यो लोको येषां ते क्षय्यलोकाः । भेददर्शनस्याल्पविषयत्वात् । अल्पं च तन्मर्त्यमित्यवोचाम । तस्माद्ये द्वैतदर्शिनस्ते क्षय्यलोकाः स्वदर्शनानुरूपेणैव भवन्त्यत एव तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

स्वेच्छागति बतलायी गयी थी । अतः सातिशय होनेके कारण वहाँ उसका अन्यराजत्व स्वतः सिद्ध है । अब यथाप्राप्त स्वाराज्य और कामचारत्वका अनुवाद करते हुए यहाँ 'स स्वराड् भवति' इत्यादि वाक्यसे उसकी निवृत्तिका निरूपण किया जाता है ।

किंतु जो इससे अन्यथा——उपर्युक्त दृष्टिसे अन्य प्रकार अर्थात् इसके विपरीत जानते हैं अथवा इसीको सम्यक् प्रकारसे नहीं जानते वे अन्यराट् होते हैं । अन्य अर्थात् पर है राजा——स्वामी जिनका उन्हें 'अन्यराट्' कहते हैं । इसके सिवा वे क्षय्यलोक——जिनका लोक क्षय्य है ऐसे वे क्षय्यलोक होते हैं, क्योंकि भेददृष्टि अल्पविषयक है । और जो अल्प है वह मर्त्य है——ऐसा हम पहले कह चुके हैं । अतः जो द्वैतदर्शी हैं वे अपनी दृष्टिके अनुरूप ही क्षय्यलोक होते हैं । अतः उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति नहीं होती ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
पञ्चविंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥२५॥

षड्विंश खण्ड

इस प्रकार जाननेवालेके लिये फलका उपदेश

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳसर्वमिति ॥ १ ॥

उस इस प्रकार देखनेवाले, इस प्रकार मनन करनेवाले और इस प्रकार जाननेवाले इस विद्वान्के लिये आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे स्मृति, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मासे अन्न, आत्मासे बल, आत्मासे विज्ञान, आत्मासे ध्यान, आत्मासे चित्त, आत्मासे संकल्प, आत्मासे मन, आत्मासे वाक्, आत्मासे नाम, आत्मासे मन्त्र, आत्मासे कर्म और आत्मासे ही यह सब हो जाता है ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्येत्यादि स्वाराज्यं प्राप्तस्य प्रकृतस्य विदुष इत्यर्थः । प्राक्सदात्मविज्ञानात्स्वात्मनोऽन्यस्मात्सतः प्राणादे-

'तस्य ह वा एतस्य' इत्यादिका यह तात्पर्य है कि स्वाराज्यको प्राप्त हुए इस प्रकृत विद्वान्के लिये सत्का आत्मस्वरूपसे ज्ञान होनेके पूर्व प्राणसे लेकर नामपर्यन्त पदार्थोंके उत्पत्ति और प्रलय स्वात्मासे भिन्न

र्नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम् । सदात्मविज्ञाने तु सतीदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहार आत्मत एव विदुषः ॥ १ ॥

सत्से होते थे । किंतु अब सत्का आत्मत्व ज्ञात होनेपर वे अपने आत्मासे ही हो गये । इसी प्रकार विद्वान्का और भी सब व्यवहार आत्मासे ही होने लगता है ॥ १ ॥

किञ्च—

तथा—

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳसर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारस्तꣳस्कन्द इत्याचक्षते तꣳस्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—विद्वान् न तो मृत्युको देखता है, न रोगको और न दुःखत्वको ही । वह विद्वान् सबको [आत्मरूप ही] देखता है, अतः सबको प्राप्त हो जाता है । वह एक होता है; फिर वही तीन, पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है । फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दश, एक, सहस्र और बीस भी होता है । आहारशुद्धि (विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि) होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है । [इस प्रकार] जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं उन (नारदजी) को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानान्धकारका पार दिखलाया ।

उन (सनत्कुमारजी) को 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं, 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति—न पश्यः पश्यतीति । पश्यो यथोक्तदर्शी विद्वानित्यर्थः, मृत्युं मरणं रोगं ज्वरादि दुःखतां दुःखभावं चापि न पश्यति । सर्वं ह सर्वमेव स पश्यः पश्यत्यात्मानमेव सर्वम् । ततः सर्वमाप्नोति सर्वशः सर्वप्रकारैरिति ।

किञ्च स विद्वान्प्राक्सृष्टिप्रभेदादेकधैव च संस्त्रिधादिभेदैरनन्तभेदप्रकारो भवति सृष्टिकाले । पुनः संहारकाले मूलमेव स्वं पारमार्थिकमेकधाभावं प्रतिपद्यते स्वतन्त्र एवेति विद्याफलेन प्ररोचयन्स्तौति ।

अथेदानीं यथोक्ताया विद्यायाः सम्यगवभासकारणं मुखावभासकारणस्येवादर्शस्य विशुद्धिकारणं

इस विषयमें यह श्लोक—मन्त्र भी है । पश्य नहीं देखता । पश्य अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे देखनेवाला विद्वान् मृत्यु—मरण, ज्वरादि रोग और दुःखत्व यानी दुःखभावको नहीं देखता । वह पश्य—विद्वान् सभीको देखता है अर्थात् सबको आत्मरूप ही देखता है । इसीसे वह सबको सब प्रकार प्राप्त होता है ।

तथा वह विद्वान् सृष्टिभेदके पूर्व एकरूप होता हुआ ही सृष्टिकालमें त्रिधा आदि अनन्तभेदप्रकारोंवाला हो जाता है । और फिर संहारकालमें अपने मूल पारमार्थिक एकधाभावको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र ही है—इस प्रकार विद्याके फलद्वारा रुचि उत्पन्न करते हुए सनत्कुमारजी उसकी स्तुति करते हैं ।

इसके पश्चात् अब मुखावभासकी हेतुभूत दर्पणकी विशुद्धि करनेके समान उपर्युक्त विद्याके सम्यक् प्रकारसे प्रतिफलित होनेके हेतुभूत साधनका उपदेश किया

साधनमुपदिश्यते । आहारशुद्धौ । आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः ।

तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति, सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवाविच्छिन्ना स्मृतिरविस्मरणं भवति । तस्यां च लब्धायां स्मृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाशरूपाणामनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षो विशेषेण प्रमोक्षणं विनाशो भवतीति । यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूलं तस्मात्सा कार्येत्यर्थः ।

जाता है—'आहारशुद्धौ' इत्यादि । जिनका आहरण किया जाय उन्हें 'आहार' कहते हैं; भोक्ताके भोगके लिये शब्दादि विषयविज्ञानका आहरण किया जाता है; उस विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि ही 'आहारशुद्धि' है, अर्थात् राग-द्वेष, मोह आदि दोषोंसे असंसृष्ट विषयविज्ञान ।

उस आहारशुद्धिके होनेपर उससे युक्त अन्तःकरण यानी सत्त्वकी शुद्धि—निर्मलता होती है; और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर उपर्युक्त प्रकारसे जाने गये भूमात्मामें ध्रुव—अविच्छिन्न स्मृति यानी अविस्मरण हो जाता है तथा उसकी प्राप्ति होनेपर—स्मृति लब्ध होनेपर अनेक जन्मोंमें अनुभव की हुई भावनाओंसे कठिन की हुई अविद्याकृत अनर्थपाशरूप हृदयस्थित ग्रन्थियोंका विप्रमोक्ष—विशेषरूपसे प्रमोक्षण—विनाश हो जाता है । इस प्रकार क्योंकि यह ऊपर कहा हुआ सब कुछ उत्तरोत्तर आहारशुद्धिमूलक है, इसलिये वह अवश्य करनी चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

सर्वं शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वाख्यायिकामुपसंहरति श्रुतिः—तस्मै मृदितकषायाय वार्क्षादिरिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य रञ्जनारूपत्वात्स ज्ञानवैराग्याभ्यासरूपक्षारेण क्षालितो मृदितो विनाशितो यस्य नारदस्य तस्मै योग्याय मृदितकषायाय तमसोऽविद्यालक्षणात्पारं परमार्थतत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः। कोऽसौ ? भगवान्—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति" (विष्णुपु० ६। ५। ७८) एवंधर्मा सनत्कुमारः। तमेव सनत्कुमारं देवं स्कन्द इत्याचक्षते कथयन्ति तद्विदः। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ २ ॥

शास्त्रके सम्पूर्ण अभिप्रायको सम्यक् प्रकारसे कहकर श्रुति आख्यायिकाका उपसंहार करती है—उस मृदितकषायको—वृक्षादिसे सम्बन्ध रखनेवाले कषायके समान रागद्वेषादि दोष अन्तःकरणके रञ्जक होनेके कारण कषाय हैं। ज्ञान, वैराग्य और अभ्यासरूप क्षारसे जिन नारदजीके उस कषायका क्षालन—मर्दन अर्थात् विनाश कर दिया गया है उन मृदितकषाय योग्य शिष्य नारदजीको अविद्यारूप तमसे पार परमार्थतत्त्वको दिखलाया। वह दिखानेवाला कौन था ? भगवान्—"जो भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, आय-व्यय तथा विद्या-अविद्याको जानता है उसे 'भगवान्' कहना चाहिये" ऐसे धर्मोंवाले सनत्कुमारजी। उन सनत्कुमारदेवको ही विद्वान् लोग 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं। 'तं स्कन्द इत्याचक्षते' इसकी द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ २ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमाध्याये
षड्विंशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

दहर-पुण्डरीकमें ब्रह्मकी उपासना

अष्टमप्रपाठकारम्भप्रयोजनम्

यद्यपि दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्म सत्, एकमेवाद्वितीयमात्मैवेदं सर्वमिति षष्ठसप्तमयोरधिगतं तथापीह मन्दबुद्धीनां दिग्देशादिभेदवद्वस्त्वित्येवं भाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसा परमार्थविषया कर्तुमित्यनधिगम्य च ब्रह्म न पुरुषार्थसिद्धिरिति तदधिगमाय हृदयपुण्डरीकदेश उपदेष्टव्यः।

यद्यपि सत्सम्यक्प्रत्ययैकविषयं निर्गुणं चात्मतत्त्वं तथापि मन्दबुद्धीनां गुणवत्त्वस्येष्टत्वा-

यद्यपि छठे और सातवें अध्यायमें दिशा, देश और कालादि भेदसे रहित ब्रह्म 'सत् एकमात्र अद्वितीय है' 'आत्मा ही यह सब है'--ऐसा जाना गया है, तथापि 'यहाँ दिशा और देश आदि भेदयुक्त वस्तु है ही'—इस प्रकारकी भावनासे युक्त मन्दबुद्धि पुरुषोंकी बुद्धि सहसा परमार्थसम्बन्धिनी नहीं की जा सकती और ब्रह्मको जाने बिना पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसका अनुभव होनेके लिये हृदयकमलरूप देशका उपदेश करना आवश्यक है।

यद्यपि आत्मतत्त्व सत्, एकमात्र सम्यक् ज्ञानका विषय और निर्गुण है, तो भी मन्दबुद्धि पुरुषोंको उसकी सगुणता ही इष्ट है, इसलिये उसके सत्यसंकल्पादि गुणोंसे युक्त

त्सत्यकामादिगुणवत्त्वं च वक्तव्यम् । तथा यद्यपि ब्रह्मविदां स्त्र्यादिविषयेभ्यः स्वयमेवोपरमो भवति तथाप्यनेकजन्मविषयसेवाभ्यासजनिता विषयविषया तृष्णा न सहसा निवर्तयितुं शक्यत इति ब्रह्मचर्यादिसाधनविशेषो विधातव्यः । तथा यद्यप्यात्मैकत्वविदां गन्तृगमनगन्तव्याभावादविद्यादिशेषस्थितिनिमित्तक्षये गगन इव विद्युदुद्भूत इव वायुर्दग्धेन्धन इवाग्निः स्वात्मन्येव निवृत्तिस्तथापि गन्तृगमनादिवासितबुद्धीनां हृदयदेशगुणविशिष्टब्रह्मोपासकानां मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येत्यष्टमः प्रपाठक आरभ्यते ।

दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म मन्द-

होनेका प्रतिपादन करना आवश्यक है । इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्मोपासकोंको स्त्री आदि विषयोंसे स्वयं ही उपरति होती है तो भी अनेक जन्मोंके विषयसेवनके अभ्याससे उत्पन्न हुई विषयसम्बन्धिनी तृष्णा सहसा निवृत्त नहीं की जा सकती, इसलिये ब्रह्मचर्यादि साधनविशेषका विधान करना भी आवश्यक है, इसी तरह यद्यपि आत्माका एकत्व जाननेवालोंकी दृष्टिमें गमन करनेवाले, गमनक्रिया और गन्तव्य देशका अभाव हो जानेके कारण शरीरकी स्थितिकी निमित्तभूत अविद्या आदिका क्षय हो जानेपर उनकी विद्युत्, बढ़े हुए वायु और जिसका ईंधन जल गया है उस अग्निके आकाशमें लीन हो जानेके समान अपने आत्मामें ही निवृत्ति हो जाती है तो भी जिनकी बुद्धि गन्ता और गमनादिकी वासनासे युक्त है अपने हृदयदेशस्थित गुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करनेवाले उन पुरुषोंकी शिरोगत नाडीसे होनेवाली गतिका प्रतिपादन करना आवश्यक है, इसीलिये अष्टम प्रपाठकका आरम्भ किया जाता है ।

दिशा, देश, गुण, गति और फलभेदसे शून्य जो परमार्थ सत्

बुद्धीनामसदिव प्रतिभाति । सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु; ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः ।

अद्वितीय ब्रह्म है, वह मन्दबुद्धि पुरुषोंको असत्के समान प्रतीत होता है; ये सन्मार्गमें स्थित हों, तब धीरे-धीरे मैं इन्हें परमार्थ सत्को भी ग्रहण करा दूँगी—ऐसा श्रुति मानती है ।

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है इसमें जो सूक्ष्म आकाश है उसके भीतर जो वस्तु है उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये ॥ १ ॥

अथानन्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं वेश्मेव वेश्म द्वारपालादिमत्त्वात्; अस्मिन्ब्रह्मपुरे ब्रह्मणः परस्य पुरं राज्ञोऽनेकप्रकृतिमद्यथा पुरं तथेदमनेकेन्द्रियमनोबुद्धिभिः स्वाम्यर्थकारिभिर्युक्तमिति ब्रह्मपुरम् । पुरे च वेश्म राज्ञो यथा तथा तस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे दहरं वेश्म ब्रह्मण उपलब्ध्यधि-

अथ—इसके पश्चात् [यह कहा जाता है कि] यह जो आगे कहा जानेवाला दहर अर्थात् छोटा-सा कमल-सदृश गृह है—द्वारपालादिसे युक्त होनेके कारण जो गृहके समान गृह है वह इस ब्रह्मपुरमें—ब्रह्म यानी परमात्माके पुरमें; जैसा कि राजाका अनेकों प्रजाओंसे युक्त पुर होता है उसी प्रकार यह (शरीर) भी [आत्मारूप] अपने स्वामीका अर्थ सिद्ध करनेवाली अनेकों इन्द्रियों तथा मन और बुद्धिसे युक्त पुर है, अतः यह ब्रह्मपुर है। जिस प्रकार पुरमें राजाका भवन होता है उसी प्रकार उस ब्रह्मपुररूप शरीरमें एक सूक्ष्म गृह अर्थात् ब्रह्मकी उपलब्धिका अधिष्ठान है, जिस प्रकार कि शालग्रामशिला

ष्ठानमित्यर्थः, यथा विष्णोः शालग्रामः ।

अस्मिन् हि स्वविकारशुङ्गे देहे नामरूपव्याकरणाय प्रविष्टं सदाख्यं ब्रह्म जीवेनात्मनेत्युक्तम् । तस्मादस्मिन्हृदयपुण्डरीके वेश्मन्युपसंहृतकरणैर्बाह्यविषयविरक्तैर्विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्यसाधनाभ्यां युक्तैर्वक्ष्यमाणगुणवद्ध्यायमानैर्ब्रह्मोपलभ्यत इति प्रकरणार्थः ।

दहरोऽल्पतरोऽस्मिन्दहरे वेश्मनि वेश्मनोऽल्पत्वात्तदन्तर्वर्तिनोऽल्पतरत्वं वेश्मनोऽन्तराकाश आकाशाख्यं ब्रह्म । आकाशो वै नामेति हि वक्ष्यति । आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्याच्च । तस्मिन्ना-

विष्णुकी उपलब्धिकी अधिष्ठान होती है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

इस अपने विकारभूत कार्य—देहमें सत्संज्ञक ब्रह्म नाम-रूपकी अभिव्यक्ति करनेके लिये जीवात्मभावसे अनुप्रविष्ट है—यह कहा जा चुका है । इसीसे जिन्होंने इस हृदयकमलरूप भवनमें अपने इन्द्रियवर्गका उपसंहार कर दिया है उन बाह्य विषयोंसे विरक्त, विशेषतः ब्रह्मचर्य एवं सत्यरूप साधनोंसे सम्पन्न तथा आगे बतलाये जानेवाले गुणोंसे युक्त पुरुषोंद्वारा चिन्तन किये जानेपर ब्रह्मकी उपलब्धि होती है—ऐसा इस प्रकरणका तात्पर्य है ।

इस सूक्ष्म गृहमें दहर—अत्यन्त सूक्ष्म अन्तराकाश यानी आकाशसंज्ञक ब्रह्म है । गृह सूक्ष्म होनेके कारण उसके अन्तर्वर्ती आकाशका सूक्ष्मतरत्व सिद्ध होता है । 'आकाश ही नाम-रूपका निर्वाह करनेवाला है' ऐसा श्रुति कहेगी भी । आकाशके समान अशरीर होनेके कारण तथा सूक्ष्मत्व और सर्वगतत्वमें उससे समानता होनेके कारण [उसे आकाश कहा

काशाख्ये यदन्तर्मध्ये तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव च विशेषेण जिज्ञासितव्यं गुर्वाश्रयश्रवणाद्युपायैरन्विष्य च साक्षात्करणीयमित्यर्थः ॥ १ ॥

गया है] । उस आकाशसंज्ञक तत्त्वके भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिये, तथा उसीकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये, अर्थात् गुरुके आश्रय तथा श्रवणादि उपायोंसे अन्वेषण करके उसका साक्षात्कार करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २ ॥

उस (गुरु) से यदि [शिष्यगण] कहें कि इस ब्रह्मपुरमें जो सूक्ष्म कमलाकार गृह है उसमें जो अन्तराकाश है उसके भीतर क्या वस्तु है जिसका अन्वेषण करना चाहिये अथवा जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये ?—तो [इस प्रकार पूछनेवाले शिष्योंके प्रति] वह आचार्य यों कहे ॥ २ ॥

तं चेदेवमुक्तवन्तमाचार्यं यदि ब्रूयुरन्तेवासिनश्चोदयेयुः; कथम् ? यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे परिच्छिन्नेऽन्तर्दहरं पुण्डरीकं वेश्म ततोऽप्यन्तरल्पतर एवाकाशः । पुण्डरीक एव वेश्मनि तावत्किं

इस प्रकार कहनेवाले उस आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें अर्थात् शङ्का करें; किस प्रकार शङ्का करें ?—इस परिच्छिन्न ब्रह्मपुरमें जो यह अन्तर्वर्ती कमलाकार सूक्ष्म गृह है उसके भीतर तो उससे भी सूक्ष्मतर आकाश है। प्रथम तो उस कमलाकार गृहमें ही क्या वस्तु रह सकती है ? फिर उससे भी

स्यात् । किं ततोऽल्पतरे खे यद्भवेदित्याहुः। दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते न किञ्चन विद्यत इत्यभिप्रायः ।

यदि नाम बदरमात्रं किमपि विद्यते किं तस्यान्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा फलं विजिज्ञासितुः स्यात् ? अतो यत्तत्रान्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा न तेन प्रयोजनमित्युक्तवतः स आचार्यो ब्रूयादिति श्रुतेर्वचनम् ॥ २ ॥

अल्पतर आकाशमें जो हो ऐसी क्या वस्तु हो सकती है ?—इस प्रकार यदि वे पूछें । अभिप्राय यह है कि इस हृदयपुण्डरीकके भीतर जो आकाश है वह सूक्ष्म है, उसमें क्या वस्तु हो सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकती ।

यदि बेरके समान कोई वस्तु हो भी तो उसकी खोज अथवा जिज्ञासा करनेसे जिज्ञासुको फल भी क्या होगा ? अतः वहाँ जो खोज करने योग्य अथवा जिज्ञासा करने योग्य वस्तु है उससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है तो इस प्रकार कहनेवाले शिष्योंसे आचार्यको इस प्रकार कहना चाहिये—यह श्रुतिका वाक्य है ॥ २ ॥

* * *

शृणुत, तत्र यद्ब्रूथ पुण्डरीकान्तःखस्याल्पत्वात्तत्स्थमल्पतरं स्यादिति, तदसत् । न हि खं पुण्डरीकवेश्मगतं पुण्डरीकादल्पतरं मत्वावोचं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति । किन्तर्हि ? पुण्डरीकमल्पं तदनुविधायि

सुनो, इस विषयमें तुम जो कहते हो कि हृदयपुण्डरीकान्तर्गत आकाश सूक्ष्म होनेके कारण उसका अन्तर्वर्ती ब्रह्म और भी सूक्ष्म होगा, वह ठीक नहीं । मैंने हृदयपुण्डरीकान्तर्गत आकाशको हृदयकमलसे सूक्ष्मतर मानकर यह नहीं कहा कि इसका अन्तर्वर्ती आकाश सूक्ष्म है । तो क्या बात है ?—हृदयकमल सूक्ष्म है उसका अनुवर्तन

तत्स्थमन्तःकरणं पुण्डरीकाकाशपरिच्छिन्नं तस्मिन्विशुद्धे संहृतकरणानां योगिनां स्वच्छ इवोदके प्रतिविम्बरूपमादर्श इव च शुद्धे स्वच्छं विज्ञानज्योतिःस्वरूपावभासं तावन्मात्रं ब्रह्मोपलभ्यत इति दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यवोचामान्तःकरणोपाधिनिमित्तम्; स्वतस्तु—

करनेवाला उसका अन्तर्वर्ती अन्तःकरण उस पुण्डरीकाकाशसे परिच्छिन्न है। जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंका उपसंहार कर लिया है उन योगियोंको उस विशुद्ध अन्तःकरणमें जलमें प्रतिबिम्बके समान तथा स्वच्छ दर्पणमें रूपके समान विशुद्ध विज्ञानज्योतिःस्वरूपसे प्रतीत होनेवाला ब्रह्म उसीके बराबर उपलब्ध होता है। इसीसे अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण हमने यह कहा था कि इसका अन्तर्वर्ती आकाश अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण सूक्ष्म है; स्वयं तो—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३ ॥

जितना यह [भौतिक] आकाश है उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है। द्युलोक और पृथिवी—ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसके भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों, सूर्य और चन्द्रमा—ये दोनों तथा विद्युत् और नक्षत्र एवं इस आत्माका जो कुछ इस लोकमें है और जो नहीं है वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है ॥ ३ ॥

यावान्वै प्रसिद्धः परिमाणतोऽयमाकाशो भौतिकस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशो यस्मिन्नन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चावोचाम । नाप्याकाशतुल्यपरिमाणत्वमभिप्रेत्य तावानित्युच्यते । किं तर्हि ? ब्रह्मणोऽनुरूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात् । कथं पुनर्नाकाशसममेव ब्रह्मेत्यवगम्यते । ‘‘येनावृतं खं च दिवं महीं च’’ (महानारा० उ० १ । ३) ‘‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।’ (तै० उ० २ । १ । १) ‘‘एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः ।’’ (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

किञ्चोभे अस्मिन्द्यावापृथिवी ब्रह्माकाशे बुद्ध्युपाधिविशिष्टे अन्तरेव समाहिते सम्यगाहिते स्थिते । यथा वा अरा नाभावित्युक्तं हि । तथोभावग्निश्च वायुश्चेत्यादि

परिमाणमें जितना यह भौतिक आकाश प्रसिद्ध है उतना ही यह हृदयान्तर्गत आकाश है, जिसके विषयमें कि हमने ‘अन्वेषण करना चाहिये तथा जिज्ञासा करनी चाहिये’ ऐसा कहा था । [यही नहीं] ब्रह्मको आकाशके समान परिमाणवाला मानकर भी ऐसा नहीं कहा जाता । तो फिर क्या बात है ?—ब्रह्मके अनुरूप कोई अन्य दृष्टान्त न होनेके कारण ऐसा कहा जाता है । [प्रश्न] किंतु ब्रह्म आकाशके समान ही नहीं है—यह कैसे जाना जाता है ? [उत्तर] ‘‘जिसने आकाश, द्युलोक और पृथिवीको आवृत किया हुआ है’’ ‘‘उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ’’ ‘‘हे गार्गि ! इस अक्षरमें ही आकाश स्थित है’’ इत्यादि श्रुतियोंसे यह बात सिद्ध होती है ।

यही नहीं, इस बुद्ध्युपाधिविशिष्ट ब्रह्माकाशके भीतर ही द्युलोक और पृथिवी समाहित—सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं; जिस प्रकार कि नाभिमें अरे—ऐसा पहले कह ही चुके हैं । इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों भी

समानम् । यच्चास्यात्मन आत्मीयत्वेन देहवतोऽस्ति विद्यत इह लोके, तथा यच्चात्मीयत्वेन न विद्यते; नष्टं भविष्यच्च नास्तीत्युच्यते । न त्वत्यन्तमेवासत्, तस्य हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

स्थित हैं—इत्यादि शेष वाक्यका तात्पर्य भी इसीके समान है । इस देहवान् आत्माका आत्मीयरूपसे जो कुछ पदार्थ इस लोकमें है और जो कुछ 'आत्मीयरूपसे [इस समय] नहीं है, नष्ट हो गया है अथवा भविष्यमें नहीं होगा'—ऐसा कहा जाता है [वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है] । यहाँ अत्यन्त असत् वस्तुसे अभिप्राय नहीं है, क्योंकि उसकी तो हृदयाकाशमें स्थिति होनी ही सम्भव नहीं है॥ ३ ॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳसमाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

उस आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें कि यदि इस ब्रह्मपुरमें यह सब समाहित है तथा सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं तो जिस समय यह वृद्धावस्थाको प्राप्त होता अथवा नष्ट हो जाता है उस समय क्या शेष रह जाता है ? ॥ ४ ॥

तं चेदेवमुक्तवन्तं ब्रूयुः पुनरन्तेवासिनोऽस्मिंश्चेद्यथोक्ते चेद्यदि ब्रह्मपुरे ब्रह्मपुरोपलक्षितान्तराकाश

किंतु यदि इस प्रकार कहनेवाले उस आचार्यसे शिष्यगण कहें कि यदि इस ब्रह्मपुरमें अर्थात् ब्रह्मपुरोपलक्षित अन्तराकाशमें यह सब सम्यक् प्रकारसे स्थित है तथा

इत्यर्थः । इदं सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ।

कथमाचार्येणानुक्ताः कामा अन्तेवासिभिरुच्यन्ते ?

नैष दोषः; यच्चास्येहास्ति यच्च नास्तीत्युक्ता एव ह्याचार्येण कामाः । अपि च सर्वशब्देन चोक्ता एव कामाः । यदा यस्मिन्काल एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं जरावलीपलितादिलक्षणा वयोहानिर्व्याप्नोति शस्त्रादिना वा वृक्णं प्रध्वंसते विस्रंसते विनश्यति किं ततोऽन्यदतिशिष्यते ।

घटाश्रितक्षीरदधिस्नेहादिवद्घटनाशे देहनाशेऽपि देहाश्रयमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशान्नश्यती-

सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी स्थित हैं [तो जिस समय यह वृद्ध होता या नष्ट हो जाता है उस समय क्या-क्या रहता है ?]

शङ्का—आचार्यने जिनका निरूपण नहीं किया उन कामनाओंको शिष्यगण क्यों [ब्रह्मपुरमें स्थित] बतलाते हैं ?

समाधान—यह दोष नहीं है; 'इस लोकमें जो कुछ इसका है और जो कुछ नहीं है' इस प्रकार आचार्यने कामनाओंके विषयमें कहा ही है । इसके सिवा 'सर्व' शब्दसे भी कामनाओंका कथन हो ही जाता है । जब—जिस समय इस ब्रह्मपुरसंज्ञक शरीरको झुर्रियाँ पड़ जाने और केशोंके पक जाने आदि रूपसे वृद्धावस्था अपनाती है अथवा उसकी आयुका क्षय प्राप्त होता है अथवा वह शस्त्रादिसे काटा जाकर ध्वंस—विस्रंसन यानी नाशको प्राप्त हो जाता है तो उससे भिन्न और क्या शेष रहता है ?

अभिप्राय यह है कि घटका नाश होनेपर घटस्थित दुग्ध, दही और घृतादिके नाशके समान देहका नाश होनेपर भी देहके आश्रित

त्यभिप्रायः । एवं प्राप्ते नाशे किं ततोऽन्यद्यथोक्तादतिशिष्यतेऽवतिष्ठते न किञ्चनावतिष्ठत इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

उत्तरोत्तर कार्य पूर्व-पूर्व कारणका नाश होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार नाश होनेपर उपर्युक्त नाशसे भिन्न और क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं रहता—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

एवमन्तेवासिभिश्चोदितः—

शिष्योंद्वारा इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

उसे कहना चाहिये 'इस (देह) की जरावस्थासे यह (आकाशाख्य ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता । इसके वधसे उसका नाश नहीं होता । यह ब्रह्मपुर सत्य है; इसमें [सम्पूर्ण] कामनाएँ सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं; यह आत्मा है, धर्माधर्मसे शून्य है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है; जिस प्रकार इस लोकमें प्रजा राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन करती है तो वह जिस-जिस सन्निहित वस्तुकी कामना करती है तथा जिस-जिस देश या भूभागकी इच्छा करती है उसी-उसीके आश्रित जीवन धारण करती है' ॥ ५ ॥

स आचार्यो ब्रूयात्तन्मतिमपनयन् । कथम् ? अस्य देहस्य जरयैतद्यथोक्तमन्तराकाशाख्यं ब्रह्म यस्मिन् सर्वं समाहितं न जीर्यति देहवन्न विक्रियत इत्यर्थः । न चास्य वधेन शस्त्रादिघातेनैतद्धन्यते यथाकाशम्; किमु ततोऽपि सूक्ष्मतरमशब्दमस्पर्शं ब्रह्म देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृश्यत इत्यर्थः ।

कथं देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृश्यत इत्येतस्मिन्नवसरे वक्तव्यं प्राप्तं तत्प्रकृतव्यासङ्गो मा भूदिति नोच्यते। इन्द्रविरोचनाख्यायिकायामुपरिष्टाद्वक्ष्यामो युक्तितः ।

एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं
ब्रह्मैव ब्रह्मपुरम् **ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मपुरं शरीराख्यं तु ब्रह्म-**

उस आचार्यको उनकी [शून्यविषयिणी] बुद्धिकी निवृत्ति करते हुए इस प्रकार कहना चाहिये । किस प्रकार कहना चाहिये ?— इस देहकी जरावस्थासे यह उपर्युक्त अन्तराकाशसंज्ञक ब्रह्म, जिसमें कि सब कुछ स्थित है जीर्ण नहीं होता, अर्थात् देहके समान उसका विकार नहीं होता; और न इसके वध अर्थात् शस्त्रादिके प्रहारसे यह नष्ट ही होता है, जैसे कि [शस्त्रादिके आघातसे] आकाशका नाश नहीं होता; फिर उससे भी सूक्ष्मतर अशब्द एवं अस्पर्श ब्रह्मका देह एवं इन्द्रियादिके दोषसे स्पर्श नहीं होता—इस विषयमें तो कहना ही क्या है ? यह इसका तात्पर्य है ।

देह एवं इन्द्रियादिके दोषोंसे ब्रह्मका स्पर्श क्यों नहीं होता ? इस बातका उल्लेख करना इस अवसरपर आवश्यक है; परंतु प्रसङ्गका विच्छेद न हो, इसलिये यहाँ नहीं कहा जाता । आगे इन्द्र-विरोचनकी आख्यायिकामें इसका युक्तिपूर्वक वर्णन करेंगे ।

यह ब्रह्मपुर सत्य—अवितथ है। ब्रह्म ही पुर [अर्थात् ब्रह्मरूप पुरका नाम] ब्रह्मपुर है । किंतु यह

पुरं ब्रह्मोपलक्षणार्थत्वात् । तत्त्वनृतमेव, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः । तद्विकारेऽनृतेऽपि देहशुङ्गे ब्रह्मोपलभ्यत इति ब्रह्मपुरमित्युक्तं व्यावहारिकम् । सत्यं तु ब्रह्मपुरमेतदेव ब्रह्म; सर्वव्यवहारास्पदत्वात् । अतोऽस्मिन्पुण्डरीकोपलक्षिते ब्रह्मपुरे सर्वे कामा ये बहिर्भवद्भिः प्रार्थ्यन्ते तेऽस्मिन्नेव स्वात्मनि समाहिताः । अतस्तत्प्राप्त्युपायमेवानुतिष्ठत बाह्यविषयतृष्णां त्यजतेत्यभिप्रायः ।

एष आत्मा भवतां स्वरूपम् । आत्मनो लक्षणम् **शृणुत तस्य लक्षणम् ।** अपहतपाप्मा, अपहतः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्य सोऽयमपहतपाप्मा । तथा विजरो विगतजरो विमृत्युश्च ।

शरीरसंज्ञक ब्रह्मपुर ब्रह्मके उपलक्षणके लिये होनेके कारण [ब्रह्मपुर कहा जाता] है । और वह तो मिथ्या ही है, क्योंकि "वाणीके आश्रित विकार नाममात्र है" ऐसी श्रुति है । ब्रह्मका विकार और मिथ्या होनेपर भी इस देहरूप अङ्कुर—कार्यमें ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, इसलिये इसे व्यावहारिक ब्रह्मपुर कहा गया है । वास्तविक ब्रह्मपुर तो यह ब्रह्म ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण व्यवहारका आश्रय है । अतः इस हृदयपुण्डरीकोपलक्षित ब्रह्मपुरमें सम्पूर्ण कामनाएँ, जिन्हें कि आप बाहर पाना चाहते हैं वे सब-की-सब इस अपने आत्मामें ही स्थित हैं । इसलिये आपको उसकी प्राप्तिके उपायका ही अनुष्ठान करना चाहिये और बाह्य विषयोंकी तृष्णाका परित्याग कर देना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यह आत्मा आपका स्वरूप है । आप उसका लक्षण सुनिये । अपहतपाप्मा—जिसका धर्माधर्मसंज्ञक पाप अपहत—नष्ट हो गया है वह यह ब्रह्म अपहतपाप्मा है । इसी प्रकार विजर—जिसकी जरावस्था बीत गयी है और मृत्युहीन है ।

तदुक्तं पूर्वमेव न वधेनास्य हन्यत इति किमर्थं पुनरुच्यते ?

शङ्का—'इस (शरीर) के नाशसे उसका नाश नहीं होता'—यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है, फिर इसे पुनः क्यों कहा जाता है ?

यद्यपि देहसम्बन्धिभ्यां जरामृत्युभ्यां न सम्बध्यते । अन्यथापि सम्बन्धस्ताभ्यां स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ।

समाधान—यद्यपि देह सम्बन्धी जरा-मृत्युसे उसका सम्बन्ध नहीं होता, तो भी अन्य प्रकारसे तो उनके साथ उसका सम्बन्ध हो ही सकता है—इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये ऐसा किया गया है ।

विशोको विगतशोकः । शोको नामेष्टादिवियोगनिमित्तो मानसः सन्तापः । विजिघत्सो विगताशनेच्छः । अपिपासोऽपानेच्छः ।

वह विशोक—शोकरहित—इष्टादिका वियोग होनेके कारण जो मानसिक संताप होता है उसे शोक कहते हैं, विजिघत्स—भोजनेच्छासे रहित और अपिपास—पीनेकी इच्छासे रहित है ।

नन्वपहतपाप्मत्वेन जरादयः शोकान्ताः प्रतिषिद्धा एव भवन्ति । कारणप्रतिषेधात् । धर्माधर्मकार्या हि त इति । जरादिप्रतिषेधेन वा धर्माधर्मयोः कार्याभावे विद्यमानयोरप्यसत्समत्वमिति पृथक्प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

शङ्का—किंतु अपहतपाप्मत्वके द्वारा तो जरासे लेकर शोकपर्यन्त सभी विशेषण प्रतिषिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उनके कारणका प्रतिषेध हो जाता है, कारण वे सब धर्माधर्मके ही कार्य हैं; अथवा जरादिके प्रतिषेधसे धर्माधर्मका कोई कार्य न रहनेके कारण, विद्यमान रहते हुए भी, उनका असत्समत्व सिद्ध होता है । इसलिये इन दोनोंका पृथक् प्रतिषेध निरर्थक ही है ।

जरादिप्रतिषेध-सार्थक्यम्

सत्यमेवं तथापि धर्मकार्यानन्दव्यतिरेकेण स्वाभाविकानन्दो यथेश्वरे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) इति श्रुतेः । तथाधर्मकार्यजरादिव्यतिरेकेणापि जरादिदुःखस्वरूपं स्वाभाविकं स्यादित्याशङ्क्यते । अतो युक्तस्तन्निवृत्तये जरादीनां धर्माधर्माभ्यां पृथक्प्रतिषेधः । जरादिग्रहणं सर्वदुःखोपलक्षणार्थम् । पापनिमित्तानां तु दुःखानामानन्त्यात्प्रत्येकं च तत्प्रतिषेधस्याशक्यत्वात्सर्वदुःखप्रतिषेधार्थं युक्तमेवापहतपाप्मत्ववचनम् ।

सत्या अवितथाः कामा यस्य सोऽयं सत्यकामः । वितथा हि संसारिणां कामाः । ईश्वरस्य तद्विपरीताः । तथा कामहेतवः संकल्पा अपि सत्या यस्य स सत्यसंकल्पः । संकल्पाः कामाश्च शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्ता ईश्वरस्य ।

समाधान—ठीक है, ऐसा ही होता; किंतु जिस प्रकार ईश्वरमें धर्मके कार्यभूत आनन्दसे भिन्न "ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनन्दमय है" इस श्रुतिके अनुसार स्वाभाविक आनन्द है इसी प्रकार अधर्मके कार्यरूप जरादिसे भिन्न स्वाभाविक जरादि दुःखका होना भी सम्भव है—ऐसी आशङ्का हो सकती है । इसलिये उसकी निवृत्तिके लिये धर्माधर्मसे जरादिका पृथक् प्रतिषेध करना उचित ही है । जरादिका ग्रहण सम्पूर्ण दुःखोंके उपलक्षणके लिये है । पापनिमित्तक दुःखोंकी अनन्तता होनेके कारण और उनमेंसे प्रत्येकका प्रतिषेध करना असम्भव होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका प्रतिषेध करनेके लिये उसके अपहतपाप्मत्वका प्रतिपादन करना उचित ही है ।

जिसकी कामनाएँ सत्य—अमिथ्या हैं उसे सत्यकाम कहते हैं । असत्य तो संसारियोंकी ही कामनाएँ हुआ करती हैं, ईश्वरकी कामनाएँ तो उससे विपरीत होती हैं । इसी प्रकार जिसके कामके हेतुभूत संकल्प भी सत्य हैं वह ईश्वर सत्यसंकल्प है । ईश्वरके

चित्रगुवत् । न स्वतो नेति नेतीत्युक्तत्वात् । यथोक्तलक्षण एवात्मा विज्ञेयो गुरुभ्यः शास्त्रतश्चात्मसंवेद्यतया च स्वाराज्यकामैः ।

आत्मतत्त्वाज्ञाने दोषः

न चेद्विज्ञायते को दोषः स्यादिति, शृणु तात्र दोषं दृष्टान्तेन । यथा ह्येवेह लोके प्रजा अन्वाविशन्त्यनुवर्तन्ते यथानुशासनं यथेह प्रजा अन्यं स्वामिनं मन्यमानाः स्वस्य स्वामिनो यथा यथानुशासनं तथा तथान्वाविशन्ति । किम् ? यं यमन्तं प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागं चाभिकामा अर्थिन्यो भवन्त्यात्मबुद्ध्यनुरूपं तं तमेव च प्रत्यन्तादिमुपजीवन्तीति । एष दृष्टान्तोऽस्वातन्त्र्यदोषं प्रति पुण्यफलोपभोगे ॥ ५ ॥

संकल्प और कामना चित्रगुके समान* उसकी शुद्धसत्त्वरूप उपाधिके कारण हैं, स्वतः नहीं; क्योंकि 'नेति नेति' ऐसा कहकर उनका प्रतिषेध किया गया है । स्वाराज्यकी इच्छावाले पुरुषोंको गुरु और शास्त्रद्वारा उपर्युक्त लक्षणोंवाले आत्माको ही स्वसंवेद्यरूपसे जानना चाहिये ।

यदि कहो कि उसे न जानें तो भी क्या दोष है तो इसमें जो दोष है वह दृष्टान्तपूर्वक सुनो । इस लोकमें जिस प्रकार प्रजा [राजाके] अनुशासनके अनुसार रहती है—इस लोकमें जिस प्रकार अपनेसे भिन्न कोई अन्य स्वामी माननेवाली प्रजा जैसी अपने स्वामीकी आज्ञा होती है उसी प्रकार अनुवर्तन करती है; किसका अनुवर्तन करती है ?—वह अपनी बुद्धिके अनुसार जिस-जिस प्रत्यन्त (वस्तुकी संनिधि), देश अथवा क्षेत्रभागकी कामना करती है उसी-उसी प्रत्यन्तादिकी उपजीविनी होती है । यह दृष्टान्त पुण्यफलोपभोगमें अस्वातन्त्र्यदोषके प्रति है ॥ ५ ॥

---

* जिस प्रकार जिसके यहाँ चित्र-वर्णवाली गौएँ हैं उसको चित्रगु कहते हैं, उसी प्रकार ।

पुण्यकर्मफलोंका अनित्यत्व

अथान्यो दृष्टान्तस्तत्क्षयं प्रति तद्यथेहेत्यादिः ।

अब उस (कर्मफल) के क्षयके लिये 'तद्यथेत्यादि' श्रुतिसे दूसरा दृष्टान्त दिया जाता है—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान्कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

जिस प्रकार यहाँ कर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है उसी प्रकार परलोकमें पुण्योपार्जित लोक क्षीण हो जाता है । जो लोग इस लोकमें आत्माको और इन सत्य कामनाओंको बिना जाने ही परलोकगामी होते हैं उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति नहीं होती और जो इस लोकमें आत्माको तथा सत्य कामनाओंको जानकर [परलोकमें] जाते हैं उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छगति होती है ॥ ६ ॥

तत्तत्र यथेह लोके तासामेव स्वाम्यनुशासनानुवर्तिनीनां प्रजानां सेवादिजितो लोकः पराधीनोपभोगः क्षीयतेऽन्तवान्भवति । अथेदानीं दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति—एवमेवामुत्राग्निहोत्रादिपुण्यजितो लोकः पराधीनोपभोगः क्षीयत एवेति । उक्तो दोष

सो जिस प्रकार इस लोकमें अपने स्वामीके अनुशासनका अनुवर्तन करनेवाली उन प्रजाओंका सेवादिकर्मसे प्राप्त किया हुआ यह लोक, जिसका उपभोग पराधीन है, क्षीण–अन्तवान् हो जाता है—अब श्रुति दार्ष्टान्तका उपसंहार करती है—उसी प्रकार परलोकमें अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक भी, जिसका उपभोग पराधीन है, क्षीण ही हो जाता है । उक्त दोष

एषामिति विषयं दर्शयति तद्य इत्यादिना ।

तत्त्रेहास्मिँल्लोके ज्ञानकर्मणोरधिकृता योग्याः सन्त आत्मानं यथोक्तलक्षणं शास्त्राचार्योपदिष्टमननुविद्य यथोपदेशमनु स्वसंवेद्यतामकृत्वा व्रजन्ति देहादस्मात्प्रयन्ति । य एतांश्च यथोक्तान्सत्यान्सत्यसंकल्पकार्यांश्च स्वात्मस्थान् कामाननुविद्य व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारोऽस्वतन्त्रता भवति । यथा राजानुशासनानुवर्तिनीनां प्रजानामित्यर्थः ।

अथ येऽन्य इह लोक आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य व्रजन्ति यथोक्तांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति राज्ञ इव सार्वभौमस्येह लोके ॥ ६ ॥

इन (अनात्मवेत्ताओं) को ही प्राप्त होता है—इस प्रकार श्रुति 'तद्य' इत्यादि वाक्यसे दोषका विषय दिखलाती है ।

सो इस लोकमें ज्ञान और कर्मके अधिकारी अर्थात् योग्यतासम्पन्न होकर जो लोग शास्त्र और आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए उपर्युक्त लक्षणवाले आत्माको उनके उपदेशके अनुसार बिना जाने—स्वात्मसंवेद्यताको बिना प्राप्त किये इस देहसे चले जाते हैं और जो इन उपर्युक्त सत्य—सत्यसंकल्पकी कार्यभूत अपने अन्तःकरणमें स्थित सत्य कामनाओंको बिना जाने चले जाते हैं उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें अकामगति—अस्वतन्त्रता होती है । जिस प्रकार कि राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन करनेवाली प्रजाओंकी परतन्त्रता रहती है ।

और जो दूसरे लोग इस लोकमें शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार आत्माको जानकर—स्वात्मसंवेद्यताको प्राप्त करके और उपर्युक्त सत्य कामनाओंको जानकर परलोकमें जाते हैं उनकी इस लोकमें सार्वभौम राजाके समान सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति होती है ॥ ६ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये
प्रथमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१॥

द्वितीय खण्ड

दहर-ब्रह्मकी उपासनाका फल

कथं सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्युच्यते । य आत्मानं यथोक्तलक्षणं हृदि साक्षात्कृतवान्वक्ष्यमाणब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नः संस्तत्स्थांश्च सत्यान् कामान्—

उसकी सम्पूर्ण लोकोंमें किस प्रकार यथेच्छ गति हो जाती है, यह बतलाते हैं—जिसने आगे बतलाये जानेवाले ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न हो अपने हृदयमें [अर्थात् ध्यानके द्वारा] उपर्युक्त लक्षणोंवाले आत्माका साक्षात्कार किया है तथा उसमें रहनेवाले सत्य कामोंको प्राप्त किया है—

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ १ ॥

वह यदि पितृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं [अर्थात् उसके आत्मसम्बन्धी हो जाते हैं,] उस पितृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है ॥ १ ॥

स त्यक्तदेहो यदि पितृलोककामः पितरो जनयितारस्त एव सुखहेतुत्वेन भोग्यत्वाल्लोका उच्यन्ते तेषु कामो यस्य तैः पितृभिः सम्बन्धेच्छा यस्य भवति तस्य संकल्पमात्रादेव

वह यदि देह छोड़नेपर पितृलोककी कामनावाला होता है—पितर उत्पत्तिकर्ताओंको कहते हैं, सुखके हेतुरूपसे भोग्य होनेके कारण वे ही लोक कहे जाते हैं, उनके प्रति जिसकी कामना होती है अर्थात् उन पितृगणके साथ सम्बन्ध करनेकी जिनकी इच्छा

पितरः समुत्तिष्ठन्त्यात्मसम्बन्धितामापद्यन्ते । विशुद्धसत्त्वतया सत्यसंकल्पत्वादीश्वरस्येव तेन पितृलोकेन भोगेन सम्पन्नः सम्पत्तिरिष्टप्राप्तिस्तया समृद्धो महीयते पूज्यते वर्धते वा महिमानमनुभवति ॥ १ ॥

होती है उसके संकल्पमात्रसे ही पितृगण समुत्थित हो जाते हैं अर्थात् आत्म-सम्बन्धित्वको प्राप्त हो जाते हैं। शुद्धचित्त होनेसे ईश्वरके समान सत्यसंकल्प होनेके कारण वह उस पितृलोकके भोगसे सम्पन्न हो—सम्पत्ति इष्टप्राप्तिका नाम है—उससे समृद्ध हो वह महनीय पूजित होता अथवा वृद्धिको प्राप्त होता है यानी महिमाका अनुभव करता है ॥१॥

◆

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥२॥

और यदि वह मातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं । उस मातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥३॥

और यदि वह भ्रातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस भ्रातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥४॥

और यदि वह भगिनीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही बहनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं । उस भगिनीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥५॥

और यदि वह सखाओंके लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही सखा लोग वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । उस सखाओंके लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥

और यदि वह गन्धमाल्यलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गन्धमाल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं । उस गन्धमाल्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥७॥

और यदि वह अन्नपानसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं । उस अन्नपान-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥

और यदि वह गीतवाद्यसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गीत-वाद्य वहाँ प्राप्त हो जाते हैं। उस गीतवाद्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥९॥

और यदि वह स्त्रीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पमात्रसे ही स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्रीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमान्वित होता है ॥ ९ ॥

समानमन्यत् । मातरो जनयित्र्योऽतीताः सुखहेतुभूताः सामर्थ्यात् । न हि दुःखहेतुभूतासु ग्रामसूकरादिजन्मनिमित्तासु मातृषु विशुद्धसत्त्वस्य योगिन इच्छा तत्सम्बन्धो वा युक्तः ॥२—९॥

शेष सब इसीके समान है। मातृगण अर्थात् अतीत जन्म देनेवाली माताएँ जो योग्यताके अनुसार सुखकी हेतुभूता हैं, क्योंकि दुःखकी हेतुभूत ग्रामसूकरादि जन्मोंकी कारणस्वरूपा माताओंके प्रति विशुद्ध चित्त योगीकी इच्छा अथवा उनसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है॥२—९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥१०॥

वह जिस-जिस प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और जिस-जिस भोगकी इच्छा करता है वह सब उसके संकल्पसे ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न होकर वह महिमाको प्राप्त होता है ॥१०॥

यं यमन्तं प्रदेशमभिकामो भवति। यं च कामं कामयते यथोक्तव्यतिरेकेणापि सोऽस्यान्तः प्राप्तुमिष्टः कामश्च संकल्पादेव समुत्तिष्ठत्यस्य। तेनेच्छाविघातवयाभिप्रेतार्थप्राप्त्या च सम्पन्नो महीयत इत्युक्तार्थम् ॥ १० ॥

वह जिस-जिस अन्त यानी प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और उपर्युक्त भोगोंसे भिन्न जिस भोगकी इच्छा करता है वह इसका पानेके लिये अभिमत प्रदेश और भोग इसे संकल्पमात्रसे प्राप्त हो जाता है। उससे अर्थात् इच्छाके अविघात और अभिमत पदार्थकी प्राप्तिसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है—इस प्रकार यह अर्थ पहले कहा ही जा चुका है ॥ १० ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये द्वितीयखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

असत्यसे आवृत सत्यकी उपासना और नामाक्षरोपासना

यथोक्तात्मध्यानसाधनानुष्ठानं प्रति साधकानामुत्साहजननार्थमनुक्रोशन्त्याह—कष्टमिदं खलु वर्तते यत्स्वात्मस्थाः शक्यप्राप्या अपि—

उपर्युक्त आत्मध्यानरूप साधनके अनुष्ठानके प्रति साधकोंमें उत्साह पैदा करनेके लिये दया करनेवाली श्रुति कहती है—यह बड़े ही कष्टकी बात है कि अपने आत्मामें ही स्थित और प्राप्त होने योग्य भी——

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳ सत्यानाꣳसतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

वे ये सत्यकाम अनृताच्छादनयुक्त हैं। सत्य होनेपर भी अनृत (मिथ्या) उनका अपिधान (आच्छादन करनेवाला) है, क्योंकि इस प्राणीका जो-जो [सम्बन्धी] यहाँसे मरकर जाता है वह-वह उसे फिर देखनेके लिये नहीं मिलता ॥ १ ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषामात्मस्थानां स्वाश्रयाणामेव सतामनृतं बाह्यविषयेषु स्त्र्यन्नभोजनाच्छादनादिषु तृष्णा तन्निमित्तं च स्वेच्छाप्रचारत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्यु-

वे ये सत्यकाम अनृतापिधान (मिथ्यारूप आच्छादनवाले) हैं। अपने ही आश्रित रहनेवाली उन आत्मस्थित कामनाओंका अनृत [अपिधान है]—स्त्री, अन्न, भोजन और वस्त्रादि बाह्य विषयोंमें जो तृष्णा है उसके कारण होनेवाला स्वेच्छाचार मिथ्याज्ञानजनित होनेके कारण 'अनृत' कहा जाता है; उनके

च्यते । तन्निमित्तं सत्यानां कामानामप्राप्तिरित्यपिधानमिवापिधानम् ।

कथमनृतापिधाननिमित्तं तेषामलाभः ? इत्युच्यते; यो यो हि यस्मादस्य जन्तोः पुत्रो भ्राता वेष्ट इतोऽस्माल्लोकात्प्रैति म्रियते तमिष्टं पुत्रं भ्रातरं वा स्वहृदयाकाशे विद्यमानमपीह पुनर्दर्शनायेच्छन्नपि न लभते ॥ १ ॥

कारण सत्यकामनाओंकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये वह अपिधानके समान अपिधान है [वास्तविक अपिधान नहीं है] ।

मिथ्या अपिधानके कारण उनकी प्राप्ति किस प्रकार नहीं होती, सो बतलाया जाता है; क्योंकि इस जीवका जो-जो पुत्र, भाई अथवा इष्ट इस लोकसे मरकर जाता है, अपने हृदयाकाशमें विद्यमान रहनेपर भी उस इष्ट, पुत्र अथवा भाईको वह इच्छा करनेपर भी इस लोकमें फिर देखनेको नहीं पाता ॥ १ ॥

* * *

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

तथा इस लोकमें अपने जिन जीवित अथवा जिन मृतक [पुत्रादि] को और जिन अन्य पदार्थोंको यह इच्छा करते हुए भी प्राप्त नहीं करता उन सबको यह इस (हृदयाकाशस्थित ब्रह्म) में जाकर प्राप्त कर लेता है; क्योंकि यहाँ इसके ये सत्यकाम अनृतसे ढके हुए रहते हैं । इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार पृथिवीमें गड़े हुए सुवर्णके खजानेको

उस स्थानसे अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जानते इसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्यप्रति ब्रह्मलोकको जाती हुई उसे नहीं पाती, क्योंकि यह अनृतके द्वारा हर ली गयी है ॥ २ ॥

अथ पुनर्ये चास्य विदुषो जन्तोर्जीवा जीवन्तीह पुत्रा भ्रात्रादयो वा ये च प्रेता मृता इष्टाः सम्बन्धिनो यच्चान्यदिह लोके वस्त्रान्नपानादि रत्नादि वा वस्त्विच्छन्न लभते तत्सर्वमत्र हृदयाकाशाख्ये ब्रह्मणि गत्वा यथोक्तेन विधिना विन्दते लभते। अत्रास्मिन्हार्दाकाशे हि यस्मादस्यैते यथोक्ताः सत्याः कामा वर्तन्तेऽनृतापिधानाः।

कथमिव तदन्याय्यमित्युच्यते। तत्तत्र यथा हिरण्यनिधिं हिरण्यमेव पुनर्ग्रहणाय निधातृभिर्निधीयत इति निधिस्तं हिरण्यनिधिं निहितं भूमेरधस्तान्निक्षिप्तमक्षेत्रज्ञा निधिशास्त्रैर्निधिक्षेत्र-

तथा इस विद्वान् प्राणीको जो जीव—इस लोकमें जीवित पुत्र या भ्राता आदि, अथवा जो प्रेत—मरे हुए इष्ट सम्बन्धी तथा इस लोकमें जो वस्त्र एवं अन्न-पानादि और रत्नादि पदार्थ इच्छा करनेपर भी नहीं मिलते उन सबको यह इस हृदयाकाशरूप ब्रह्ममें पहुँचकर उपर्युक्त विधिसे प्राप्त कर लेता है, क्योंकि यहाँ उसके इस हृदयाकाशमें ये उपर्युक्त सत्य काम मिथ्यासे आच्छादित हुए वर्तमान रहते हैं।

[अपने आत्मभूत ब्रह्ममें विद्यमान रहनेपर भी कामनाएँ यहाँ उपलब्ध नहीं होतीं] यह असङ्गत बात कैसे हो सकती है ? यह बतलाया जाता है। इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार हिरण्यनिधि—हिरण्य (सुवर्ण) ही, धरोहर रखनेवाले पुरुषोंद्वारा पुनः ग्रहण करनेके लिये धरोहररूपसे निहित किया (रख दिया) जाता है, इसलिये निधि है। भूमिके नीचे

मजानन्तस्ते निधेरुपर्युपरि सञ्चरन्तोऽपि निधिं न विन्देयुः शक्यवेदनमपि;एवमेवेमा अविद्यावत्यः सर्वा इमाः प्रजा यथोक्तं हृदयाकाशाख्यं ब्रह्मलोकं ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तमहरहः प्रत्यहं गच्छन्त्योऽपि सुषुप्तकाले न विन्दन्ति न लभन्ते एषोऽहं ब्रह्मलोकभावमापन्नोऽस्म्यद्येति । अनृतेन हिं यथोक्तेन हि यस्मात्प्रत्यूढा हृताः स्वरूपादविद्यादिदोषैर्बहिरपकृष्टा इत्यर्थः । अतः कष्टमिदं वर्तते जन्तूनां यत्स्वायत्तमपि ब्रह्म न लभ्यत इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

निहित—निक्षिप्त (रखी हुई) उस सुवर्णनिधिको जिस प्रकार उस स्थानसे अनभिज्ञ—निधिशास्त्रद्वारा निधिक्षेत्रको न जाननेवाले पुरुष निधिके ऊपर सञ्चार करते हुए भी, जिसका ज्ञान प्राप्त होना सम्भव भी है उस निधिको भी नहीं जानते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण अविद्यावती प्रजा उपर्युक्त हृदयाकाशसंज्ञक लोकको—ब्रह्म यही लोक है उस ब्रह्मलोकको सुषुप्तिकालमें प्रतिदिन जानेपर भी 'यह मैं इस समय ब्रह्मलोकभावको प्राप्त हो गया हूँ' इस प्रकार नहीं उपलब्ध करतीं, क्योंकि वह उपर्युक्त अनृतसे प्रत्यूढ—हृत है अर्थात् अविद्यादि दोषोंद्वारा अपने स्वरूपसे बाहर खींच ली गयी है । अतः यह बड़े कष्टकी बात है कि स्वायत्त होनेपर भी जीवोंको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती—ऐसा इसका तात्पर्य है । २ ।

* * *

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳहृदयमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

वह यह आत्मा हृदयमें है । 'हृदि अयम्' (यह हृदयमें है) यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है । इसीसे यह 'हृदय' है । इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोकको जाता है ॥ ३ ॥

स वै यः 'आत्मापहतपाप्मा' इति प्रकृतो वैशब्देन तं स्मारयति, एष विवक्षित आत्मा हृदि हृदयपुण्डरीक आकाशशब्देनाभिहितः । तस्यैतस्य हृदयस्यैतदेव निरुक्तं निर्वचनं नान्यत् । हृद्ययमात्मा वर्तत इति यस्मात्तस्माद्धृदयम् । हृदयनामनिर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृदय आत्मेत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । अहरहर्वै प्रत्यहमेवंविद्धृद्ययमात्मेति जानन् स्वर्गं लोकं हार्दं ब्रह्मैति प्रतिपद्यते ।

नन्वनेवंविदपि सुषुप्तकाले हार्दं ब्रह्म प्रतिपद्यत एव सुषुप्तकाले सता सोम्य तदा सम्पन्न इत्युक्तत्वात् ।

बाढमेवं तथाप्यस्ति विशेषः । यथा जानन्नजानंश्च सर्वो जन्तुः

वह जो आत्मा है, 'आत्मापहतपाप्मा' इस प्रकार जिसका प्रकरण है उस आत्माका ही श्रुति 'वै' शब्दसे स्मरण कराती है । यह विवक्षित आत्मा हृदय-पुण्डरीकमें 'आकाश' शब्दसे कहा गया है । उस इस हृदयका यही निरुक्त—निर्वचन (व्युत्पत्ति) है, अन्य नहीं । क्योंकि यह आत्मा हृदयमें विद्यमान है इसलिये यह हृदय है । इस प्रकार 'हृदय' इस नामके निर्वचनकी प्रसिद्धिसे भी 'आत्मा अपने हृदयमें है' ऐसा जानना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है । अहरहः—प्रतिदिन इस प्रकार जाननेवाला अर्थात् 'यह आत्मा हृदयमें है' इस प्रकार जाननेवाला पुरुष स्वर्गलोक—हृदयस्थ ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

शङ्का—किंतु इस प्रकार न जाननेवाला भी सुषुप्तकालमें ब्रह्मको प्राप्त होता ही है, क्योंकि सुषुप्तकालमें 'हे सोम्य ! उस समय यह सत्से सम्पन्न हो जाता है' ऐसा कहा गया है ।

समाधान—ठीक है, ऐसा ही है । तो भी कुछ विशेषता है । जिस प्रकार विद्वान् और अविद्वान्

सद्ब्रह्मैव तथापि तत्त्वमसीति प्रतिबोधितो विद्वान्सदेव नान्योऽस्मीति जानन्सदेव भवति । एवमेव विद्वानविद्वांश्च सुषुप्ते यद्यपि सत्सम्पद्यते तथाप्येवंविदेव स्वर्गं लोकमेतीत्युच्यते । देहपातेऽपि विद्याफलस्यावश्यंभावित्वादित्येष विशेषः ॥ ३ ॥

सभी जीव सद्ब्रह्म ही है, तथापि 'तू वह है' इस प्रकार बोधित किया हुआ विद्वान् 'मैं सत् ही हूँ, और कुछ नहीं' इस प्रकार जानता हुआ सत् ही हो जाता है । इसी प्रकार यद्यपि सुषुप्तमें विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही सत्को प्राप्त होते हैं, तो भी केवल इस प्रकार जाननेवाला ही स्वर्गलोकको प्राप्त होता है—ऐसा कहा जाता है, क्योंकि देहपात होनेपर भी विद्याका फल अवश्यम्भावी है । यही इसकी विशेषता है ॥३॥

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

यह जो सम्प्रसाद है वह इस शरीरसे उत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे युक्त हो जाता है । यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है—ऐसा आचार्यने कहा । उस इस ब्रह्मका 'सत्य' यह नाम है ॥ ४ ॥

सुषुप्तकाले स्वेनात्मना सता सम्पन्नः सन्सम्यक् प्रसीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयेन्द्रियसंयोग-

सुषुप्तकालमें अपने आत्मा सत्से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक् रूपसे प्रसन्न होता है, अतः वह जाग्रत् तथा स्वप्नके विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे प्राप्त हुई

जातं कालुष्यं जहातीति सम्प्रसादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां साधारणस्तथाप्येवंवित्स्वर्गं लोकमेतीति प्रकृतत्वादेष सम्प्रसाद इति संनिहितवद्यत्नविशेषात् ।

सोऽथेदं शरीरं हित्वास्माच्छरीरात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां परित्यज्येत्यर्थः । न त्वासनादिव समुत्थायेतीह युक्तम्; स्वेन रूपेणेति विशेषणात् । न ह्यन्यत उत्थाय स्वरूपं सम्पत्तव्यम् । स्वरूपमेव हि तन्न भवति प्रतिपत्तव्यं चेत्स्यात् । परं परमात्मलक्षणं विज्ञप्तिस्वभावं ज्योति-

कालिमाको त्याग देता है; इसलिये यद्यपि 'सम्प्रसाद' शब्द सम्पूर्ण जीवोंके लिये साधारण है, तो भी 'इस प्रकार जाननेवाला स्वर्गलोकको प्राप्त होता है' ऐसा [विद्वत्सम्बन्धी] प्रकरण होनेके कारण 'एष सम्प्रसादः' यह प्रयोग इस विद्वान्के लिये ही आया है; क्योंकि यहाँ संनिहितके समान विशेष यत्न किया गया है।*

इस प्रकारका विवेक होनेके पश्चात् वह विद्वान् इस शरीरको त्यागकर इस शरीरसे उत्थान कर अर्थात् देहात्मबुद्धिको त्यागकर—यहाँ 'आसनसे उठनेके समान शरीरसे उठकर' ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि 'स्वेन रूपेण' (अपने स्वरूपसे) ऐसा विशेषण दिया गया है और अपने स्वरूपकी प्राप्ति किसी अन्य स्थानसे उत्थान करके की नहीं जाती, क्योंकि यदि वह प्राप्तव्य हो तो स्वरूप ही नहीं हो सकता—पर अर्थात् परमात्मलक्षण विज्ञप्तिस्वरूप ज्योतिको प्राप्त

---

* 'एष सम्प्रसादः' में जो 'एषः' शब्दका प्रयोग किया हुआ है वही यत्नविशेष है । जो वस्तु समीप होती है उसीके लिये 'एषः' (यह) का प्रयोग किया जाता है, अतः 'सम्प्रसाद' शब्दसे यद्यपि सामान्यतः सभी जीवोंका ग्रहण हो सकता है तथापि 'एषः' रूप विशेष यत्न होनेके कारण तीसरे मन्त्रमें कहे हुए प्रकरण-प्राप्त विद्वान्के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वही समीप है ।

रूपसम्पद्य स्वास्थ्यमुपगम्येत्येतत् । स्वेनात्मीयेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। प्रागेतस्याः स्वरूपसम्पत्तेरविद्यया देहमेवापरं रूपमात्मत्वेनोपगत इति तदपेक्षयेदमुच्यते स्वेन रूपेणेति ।

अशरीरता ह्यात्मनः स्वरूपम् । यत्स्वं परं ज्योतिःस्वरूपमापद्यते सम्प्रसाद एष आत्मेति होवाच । स ब्रूयादिति यः श्रुत्या नियुक्तोऽन्तेवासिभ्यः । किञ्चैतदमृतमविनाशि भूमा "यो वै भूमा तदमृतम्" (छा० उ० ७ । २४ । १) इत्युक्तम् । अत एवाभयं भूम्नो द्वितीयाभावादत एतद्ब्रह्मेति ।

तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नामाभिधानम् । किं तत् ? सत्यमिति । सत्यं ह्यवितथं ब्रह्म । तत्सत्यं स आत्मेति ह्युक्तम् ।

हो अर्थात् आत्मस्थितिमें पहुँचकर स्वकीय अर्थात् अपने रूपसे सम्पन्न हो जाता है । इस स्वरूपप्राप्तिसे पूर्व वह अपररूप देहको ही अविद्याके कारण आत्मभावसे समझता था । उसीकी अपेक्षासे 'स्वेन रूपेण' (अपने स्वरूपसे) ऐसा कहा गया है ।

अशरीरता ही आत्माका स्वरूप है । जिस अपने परज्योतिःस्वरूपको सम्प्रसाद प्राप्त होता है वही आत्मा है--ऐसा आचार्यने कहा । तात्पर्य यह है कि श्रुतिने जिसे नियुक्त किया है उस आचार्यको शिष्योंके प्रति ऐसा कहना चाहिये । तथा यही अमृत—अविनाशी भूमा है, क्योंकि "जो भूमा है वही अमृत है" ऐसा कहा जा चुका है । इसीसे यह अभय है, क्योंकि भूमासे भिन्न दूसरी वस्तुका अभाव है; इसलिये यह ब्रह्म है ।

उस इस ब्रह्मका यह नाम--अभिधान है । वह क्या है ?--सत्य । सत्य ही अवितथ (असद्विलक्षण) ब्रह्म है, क्योंकि 'वह सत्य है, वह आत्मा है' ऐसा पहले (छा० ६ । ८ । ७ में) कहा जा

अथ किमर्थमिदं नाम पुनरुच्यते? तदुपासनविधिस्तुत्यर्थम् ॥ ४ ॥

चुका है । किंतु यह नाम किसलिये कहा गया है ? [इसपर कहते हैं—] उसकी उपासना-विधिकी स्तुतिके लिये ॥ ४ ॥

* * *

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

वे ये 'सकार' 'तकार' और 'यम्' तीन अक्षर हैं । उनमें जो 'सकार' है वह अमृत है, जो 'तकार' है वह मर्त्य है और जो 'यम्' है उससे वह दोनोंका नियमन करता है; क्योंकि इससे वह उन दोनोंका नियमन करता है इसलिये 'यम्' इस प्रकार जाननेवाला प्रतिदिन ही स्वर्गलोकको जाता है ॥ ५ ॥

तानि ह वा एतानि ब्रह्मणो नामाक्षराणि त्रीण्येतानि सतीयमिति सकारस्तकारो यमिति च । ईकारस्तकार उच्चारणार्थोऽनुबन्धः; ह्रस्वेनैवाक्षरेण पुनः प्रतिनिर्देशात् । तेषां तत्तत्र यत्सत्सकारस्तदमृतं सद्ब्रह्म; अमृतवाचकत्वादमृत एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः । अथ यत्ति तका-

वे ये ब्रह्मके तीन नामाक्षर हैं, 'स' 'ती' और 'यम्' अर्थात् सकार तकार और यम् हैं । तकारमें जो ईकार है वह उच्चारणमात्रके लिये अनुबन्ध है, क्योंकि पीछे ह्रस्व [इकार] से ही उसका निर्देश किया गया है । उनमेंसे वहाँ जो सत् यानी सकार है वह अमृत है—सद् ब्रह्म है । अमृतका वाचक होनेके कारण अमृतरूप सकारका ही तकारान्त निर्देश किया गया है । तथा जो 'ति' यानी तकार है

रस्तन्मर्त्यम् । अथ यद्यमक्षरं तेनाक्षरेणामृतमर्त्याख्ये पूर्वे उभे अक्षरे यच्छति यमयति नियमयति वशीकरोत्यात्मनेत्यर्थः ।

यद्यस्मादनेन यमित्येतेनोभे यच्छति तस्माद्यम् । संयते इव ह्येतेन यमा लक्ष्येते । ब्रह्मनामाक्षरस्यापीदममृतत्वादिधर्मवत्त्वं महाभाग्यं किमुत नामवत इत्युपास्यत्वाय स्तूयते ब्रह्मनामनिर्वचनेनैव । नामवतो वेत्तैवंवित् । अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेतीत्युक्तार्थम् ॥ ५ ॥

वह मर्त्य है और जो 'यम्' अक्षर है उस अक्षरसे अमृत और मर्त्यसंज्ञक पहले दोनों अक्षरोंका प्रयोग करनेवाला उनका नियमन करता है अर्थात् उसके नियमन स्वभावसे उन्हें वशीभूत करता है ।

क्योंकि इस अक्षरके द्वारा इन दोनोंको नियमन करता है इसलिये यह 'यम्' है । इस 'यम्' अक्षरके द्वारा वे पूर्वोक्त दोनों अक्षर संयत-से दिखायी देते हैं । ब्रह्मके नामके अक्षरोंका भी यह अमृतत्वादि धर्मवान् होना परम सौभाग्य है, फिर नामीके विषयमें तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार उसके उपास्यत्वके लिये ब्रह्मके नामका निर्वचन करके ही उसकी स्तुति की जाती है । उस नामीको जाननेवाला 'एवंवित्' कहलाता है । वह एवंवित् (इस प्रकार जाननेवाला) नित्यप्रति स्वर्गलोकको जाता है—ऐसा अर्थ पहले कहा ही जा चुका है ॥५॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये तृतीयखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

सेतुरूप आत्माकी उपासना

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतꣳसेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

जो आत्मा है वह इन लोकोंके असम्भेद (पारस्परिक असंघर्ष) के लिये इन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है । इस सेतुका दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते । इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं । सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापशून्य है ॥ १ ॥

अथ य आत्मेति । उक्तलक्षणो यः सम्प्रसादस्तस्य स्वरूपं वक्ष्यमाणैरुक्तैरनुक्तैश्च गुणैः पुनः स्तूयते ब्रह्मचर्यसाधनसम्बन्धार्थम् । य एष यथोक्तलक्षण आत्मा स सेतुरिव सेतुः । विधृतिर्विधरणः । अनेन हि सर्वं जगद्वर्णाश्रमादिक्रियाकारकफलादिभेदनियमैः

उपर्युक्त लक्षणवाला जो सम्प्रसाद है उसके स्वरूपकी आगे कहे जानेवाले, पहले कहे हुए तथा बिना कहे हुए गुणोंसे ब्रह्मचर्यरूप साधनसे सम्बन्ध करानेके लिये पुनः स्तुति की जाती है । यह जो उपर्युक्त लक्षणोंवाला आत्मा है वह सेतुके समान सेतु है; विधृति—विशेषतः धारण करनेवाला है । कर्ता (जीव) के अनुरूप विधान करनेवाले इस आत्माके द्वारा ही सारा जगत् वर्णाश्रमादि क्रिया, कारक और

कर्तुरनुरूपं विदधता विधृतम्। अध्रियमाणं हीश्वरेणेदं विश्वं विनश्येद्यतस्तस्मात्स सेतुर्विधृतिः।

किमर्थं स सेतुरित्याह—एषां भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्मफलाश्रयाणामसंभेदायाविदारणायाविनाशायेत्येतत् । किंविशिष्टश्चासौ सेतुरित्याह । नैतं सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्य जनिमतः परिच्छेदके सती नैतं तरतः। यथान्ये संसारिणः कालेनाहोरात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्या न तथायं कालपरिच्छेद्य इत्यभिप्रायः । "यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते" (बृ० उ० ४। ४। १६) इति श्रुत्यन्तरात्।

अत एवैनं न जरा तरति न प्राप्नोति तथा। न मृत्युर्न शोको

फलादि भेदके नियमोंद्वारा धारण किया गया है; क्योंकि ईश्वरद्वारा धारण न किये जानेपर यह विश्व नष्ट हो जाता, इसलिये वह इसे धारण करनेवाला सेतु है ।

वह सेतु क्यों है ? इसपर श्रुति कहती है कि कर्ता और कर्मफलके आश्रयभूत इन भूर्लोक आदि लोकोंके असम्भेद—अविदारण अर्थात् अविनाश (रक्षा) के लिये यह सेतु है। यह सेतु किस विशेषणवाला है ? इसपर श्रुति कहती है—इस आत्मारूप सेतुको दिन और रात सम्पूर्ण उत्पत्तिशील पदार्थोंके परिच्छेदक होनेपर भी अतिक्रमण नहीं करते । जिस प्रकार अन्य संसारी पदार्थ अहोरात्रादिरूप कालसे परिच्छेद्य हैं उस प्रकार यह कालपरिच्छेद्य नहीं है——ऐसा इसका अभिप्राय है; जैसा कि "जिस (परमात्मा) से नीचे संवत्सर दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता रहता है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

इसीसे इसे जरा नहीं तरती; अर्थात् प्राप्त नहीं होती । इसी प्रकार न मृत्यु, न शोक, न सुकृत-दुष्कृत

न सुकृतं न दुष्कृतं सुकृतदुष्कृते धर्माधर्मौ । प्राप्तिरत्र तरणशब्देनाभिप्रेता नातिक्रमणम् । कारणं ह्यात्मा । न शक्यं हि कारणातिक्रमणं कर्तुं कार्येण । अहोरात्रादि च सर्वं सतः कार्यम् । अन्येन ह्यन्यस्य प्राप्तिरतिक्रमणं वा क्रियेत । न तु तेनैव तस्य । न हि घटेन मृत्प्राप्यतेऽतिक्रम्यते वा ।

यद्यपि पूर्वं य आत्मापहतपाप्मेत्यादिना पाप्मादिप्रतिषेध उक्त एव तथापीहायं विशेषो न तरतीति प्राप्तिविषयत्वं प्रतिषिध्यते । तत्राविशेषेण जराद्यभावमात्रमुक्तम् । अहोरात्राद्या उक्ता अनुक्ताश्चान्ये सर्वे पाप्मान उच्यन्तेऽतोऽस्मादात्मनः सेतोर्निवर्तन्तेऽप्राप्यैवेत्यर्थः । अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक उक्तः ॥ १ ॥

और न धर्माधर्म ही प्राप्त होते हैं । यहाँ 'तरण' शब्दसे प्राप्ति अभिप्रेत है, अतिक्रमण नहीं; क्योंकि आत्मा कारण है और कार्यके द्वारा कारणका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता । दिन और रात्रि आदि ये सब सत्‌के ही कार्य हैं; और अन्यके द्वारा अन्यकी ही प्राप्ति अथवा अतिक्रमण किया जाता है, अपने द्वारा अपनी ही प्राप्ति या अतिक्रमण नहीं किया जाता—घड़ेके द्वारा मृत्तिका प्राप्त या अतिक्रान्त नहीं की जा सकती ।

यद्यपि पहले 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि वाक्यसे पाप आदिका प्रतिषेध कर दिया गया है तथापि यहाँ यह विशेषता है कि 'न तरति' इस वाक्यसे आत्माके प्राप्तिविषयत्वका प्रतिषेध किया जाता है । उसमें सामान्यरूपसे जरादिका अभावमात्र बतलाया गया है । पूर्वोक्त दिन और रात्रि आदि तथा अन्य अनुक्त पदार्थ सभी पाप कहे जाते हैं । अतः वे इस आत्मारूप सेतुसे इसे प्राप्त किये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक—जिसमें ब्रह्म ही लोक है—अपहतपाप्मा कहा गया है ॥ १ ॥

यस्माच्च पाप्मकार्यमान्ध्यादिशरीरवतः स्यान्न त्वशरीरस्य—

क्योंकि पापके कार्य अन्धत्वादि शरीरवान्‌को ही होते हैं, अशरीरको नहीं—

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

इसलिये इस सेतुको तरकर पुरुष अन्धा होनेपर भी अन्धा नहीं होता, विद्ध होनेपर भी अविद्ध होता है, उपतापी होनेपर भी अनुपतापी होता है, इसीसे इस सेतुको तरकर अन्धकाररूप रात्रि भी दिन ही हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है ॥ २ ॥

तस्माद्वा एतमात्मानं सेतुं तीर्त्वा प्राप्यानन्धो भवति देहवत्त्वे पूर्वमन्धोऽपि सन्। तथा विद्धः सन्देहवत्त्वे स देहवियोगे सेतुं प्राप्याविद्धो भवति। तथोपतापी रोगाद्युपतापवान्सन्ननुपतापी भवति। किञ्च यस्मादहोरात्रे न स्तः सेतौ तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य नक्तमपि तमोरूपं रात्रिरपि सर्वमहरेवा-

इसीसे सेतुरूप इस आत्माको तरकर—प्राप्त होकर देहवान् होनेके समय पहले अन्धा होनेपर भी अनन्ध हो जाता है। इसी प्रकार देहवान् होनेके समय विद्ध होनेपर भी देहका वियोग होनेपर इस सेतुको प्राप्त होकर अविद्ध हो जाता है तथा [देहवान् होनेके ही समय] उपतापी—रोगादि उपतापवाला होनेपर भी अनुपतापी हो जाता है। इसके सिवा क्योंकि इस [आत्मारूप] सेतुमें दिन-रातका अभाव है इसलिये इस सेतुको तरकर—प्राप्त होकर नक्त—तमोरूपा रात्रि भी सम्पूर्ण दिन ही

भिनिष्पद्यते । विज्ञप्त्यात्मज्योतिःस्वरूपमहरिवाहः सदैकरूपं विदुषः सम्पद्यत इत्यर्थः । सकृद्विभातः सदा विभातः सदैकरूपः स्वेन रूपेणैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

हो जाती है । तात्पर्य यह है कि विद्वान्के लिये वह दिनके समान विज्ञानात्मज्योतिःस्वरूप दिन अर्थात् सर्वदा एक रूप ही हो जाता है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक अपने स्वाभाविकरूपसे सकृद्विभात—सदा भासमान अर्थात् सदा एक रूप है ॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३॥

वहाँ ऐसा होनेके कारण जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्यके द्वारा [शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशके अनुसार] जानते हैं उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति हो जाती है ॥ ३ ॥

तत्तत्रैवं यथोक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण स्त्रीविषयतृष्णात्यागेन शास्त्राचार्योपदेशमनुविन्दन्ति स्वात्मसंवेद्यतामापादयन्ति ये तेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदामेष ब्रह्मलोकः । नान्येषां स्त्रीविषयसम्पर्कजाततृष्णानां ब्रह्मविदाम-

वहाँ ऐसा होनेके कारण जो इस पूर्वोक्त ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्य—स्त्रीविषयक तृष्णाके त्यागद्वारा शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशके अनन्तर जानते हैं अर्थात् स्वात्मसंवेद्यताको प्राप्त कराते हैं उन ब्रह्मचर्यरूप साधनसम्पन्न ब्रह्मोपासकोंको ही यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है । अन्य स्त्रीविषयक सम्पर्कजनित तृष्णावालोंको ब्रह्मोपासक होनेपर भी इसकी प्राप्ति नहीं

पीत्यर्थः । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्युक्तार्थम् । तस्मात्परमेतत्साधनं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मविदामित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

होती—ऐसा इसका तात्पर्य है । उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति हो जाती है—इस प्रकार इसका अर्थ पहले कहा जा चुका है । अतः अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मोपासकोंका परम साधन है ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये चतुर्थखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

यज्ञादिमें ब्रह्मचर्यदृष्टि

य आत्मा सेतुत्वादिगुणैः स्तुतस्तत्प्राप्तये ज्ञानसहकारिसाधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधातव्यमित्याह । यज्ञादिभिश्च तत्स्तौति कर्तव्यार्थम्——

जिस आत्माकी सेतुत्वादि गुणोंसे स्तुति की गयी है उसकी प्राप्तिके लिये ज्ञानसे इतर ज्ञानके सहकारी साधन—ब्रह्मचर्यका विधान करना आवश्यक है; इसीसे श्रुति कहती है; तथा उसकी कर्तव्यताके लिये यज्ञादिरूपसे उसकी स्तुति करती है——

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अब, [लोकमें] जिसे 'यज्ञ' (परम पुरुषार्थका साधन) कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्यके द्वारा ही उस (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है । और जिसे 'इष्ट' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्माको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते लोके परमपुरुषार्थसाधनं कथयन्ति शिष्टास्तद्ब्रह्मचर्यमेव । यज्ञस्यापि

अब, जिसे 'यज्ञ' ऐसा कहा जाता है अर्थात् लोकमें जिसे शिष्ट पुरुष परम पुरुषार्थका साधन बतलाते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है ।

यत्फलं तद्ब्रह्मचर्यवाँल्लभतेऽतो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्तव्यम् । कथं ब्रह्मचर्यं यज्ञ इत्याह । ब्रह्मचर्येणैव हि यस्माद्यो ज्ञाता स तं ब्रह्मलोकं यज्ञस्यापि पारम्पर्येण फलभूतं विन्दते लभते ततो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेति । यो ज्ञातेत्यक्षरानुवृत्तेर्यज्ञो ब्रह्मचर्यमेव ।

अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । कथम् ; ब्रह्मचर्येणैव साधनेन तमीश्वरमिष्ट्वा पूजयित्वाथवैषणामात्मविषयां कृत्वा तमात्मानमनुविन्दते । एषणादिष्टमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥१॥

यज्ञका भी जो फल है उसे ब्रह्मचर्यवान् पुरुष प्राप्त करता है, इसलिये यज्ञको भी ब्रह्मचर्य ही समझना चाहिये । ब्रह्मचर्य यज्ञ किस प्रकार है ?—इसपर श्रुति कहती है—क्योंकि जो ज्ञानवान् है वह उस ब्रह्मलोकको, जो कि परम्परासे यज्ञका भी फलस्वरूप है, ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त करता है; अतः यज्ञ भी ब्रह्मचर्य ही है । 'यो ज्ञाता' इन अक्षरोंकी अनुवृत्ति होनेके कारण ब्रह्मचर्यको ही यज्ञ कहा गया है ।

तथा जिसे 'इष्ट' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है । किस प्रकार ?—पुरुष उस ईश्वरको ब्रह्मचर्यरूप साधनसे ही यजन कर–पूजकर अथवा आत्मविषयक एषणा कर उस आत्माको शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशानुसार साक्षात् जानता है । उस एषणाके कारण इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है ॥ १ ॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सत्—परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है। इसके सिवा जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही आत्माको जानकर पुरुष मनन करता है ॥२॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्; तथा सतः परस्मादात्मन आत्मनस्त्राणं रक्षणं ब्रह्मचर्यसाधनेन विन्दते । अतः सत्त्रायणशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव तत् । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, ब्रह्मचर्येणैव साधनेन युक्तः सन्नात्मानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य पश्चान्मनुते ध्यायति । अतो मौनशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव ॥ २ ॥

तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि पूर्वोक्त (यज्ञ और इष्ट) के समान ब्रह्मचर्यरूप साधनसे ही पुरुष सत्—परमात्मासे अपनी रक्षा कराता है। अतः सत्त्रायण नामवाला भी ब्रह्मचर्य ही है। और जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधनसे युक्त हुआ ही साधक शास्त्र और आचार्यसे आत्माको जानकर फिर मनन अर्थात् ध्यान करता है। अतः 'मौन' नामवाला भी ब्रह्मचर्य ही है ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

तथा जिसे अनाशकायन (नष्ट न होना) कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जिसे [साधक] ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होता है वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता। और जिसे अरण्यायन ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि इस ब्रह्मलोकमें 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र हैं, यहाँसे तीसरे द्युलोकमें ऐरंमदीय सरोवर है, सोमसवन नामका अश्वत्थ है, वहाँ ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है और प्रभुका विशेषरूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमय मण्डप है ॥ ३ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। यमात्मानं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते स एष ह्यात्मा ब्रह्मचर्यसाधनवतो न नश्यति तस्मादनाशकायनमपि ब्रह्मचर्यमेव।

अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। अरण्यशब्दयोरर्णवयोर्ब्रह्मचर्यवतोऽयनादरण्यायनं ब्रह्मचर्यम्। यो ज्ञानाद्यज्ञ एषणादिष्टं सतस्त्राणात्सत्रायणं मननान्मौनमनशनादनाशकायनमरण्ययोर्गमनादरण्याय-

तथा जिसे 'अनाशकायन' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है। जिस आत्माको ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप साधनवाले पुरुषका वह आत्मा नष्ट नहीं होता; अतः अनाशकायन भी ब्रह्मचर्य ही है।

और जिसे 'अरण्यायन' (वनवास) ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यवान् पुरुष 'अर' और 'ण्य' नामवाले दो समुद्रोंके प्रति गमन करता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अरण्यायन है। जो ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप होनेके कारण यज्ञ है, एषणाके कारण इष्ट है, सत् (ब्रह्म) से रक्षा करानेके कारण सत्त्रायण है, मनन करनेके कारण मौन है, नष्ट न होनेके कारण अनाशकायन है और अर एवं ण्य इन

नमित्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थसाधनैः स्तुतत्वाद्ब्रह्मचर्यं परमं ज्ञानस्य सहकारिकारणं साधनमित्यतो ब्रह्मविदा यत्नतो रक्षणीयमित्यर्थः ।

तत्तत्र हि ब्रह्मलोकेऽरश्च ह वै प्रसिद्धो ण्यश्चार्णवौ समुद्रौ समुद्रोपमे वा सरसी तृतीयस्यां भुवमन्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीया द्यौस्तस्यां तृतीयस्यामितोऽस्माल्लोकादारभ्य गण्यमानायां दिवि । तत्तत्रैव चैरंमिरान्नं तन्मय ऐरो मण्डस्तेन पूर्णमैरं मदीयं तदुपयोगिनां मदकरं हर्षोत्पादकं सरः । तत्रैव चाश्वत्थो वृक्षः सोमसवनो नामतः सोमोऽमृतं तन्निस्रवोऽमृतस्रव इति वा । तत्रैव च ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्यसाधनरहितैर्ब्रह्मचर्यसाधनवद्भ्योऽन्यैर्न जीयत इत्यपराजिता नाम पूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ।

अर्णवोंको गमन करनेके कारण अरण्यायन है—इस प्रकारके पुरुषार्थके महान् साधनोंद्वारा स्तुति किया जानेके कारण ब्रह्मचर्य ज्ञानका परम सहकारी कारण है । अतः तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवेत्ताको इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ।

वहाँ उस ब्रह्मलोकमें तीसरे अर्थात् इस लोकसे आरम्भ करनेपर भूर्लोक और अन्तरिक्षकी अपेक्षा तीसरे द्युलोकमें प्रसिद्ध 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र अथवा समुद्रके समान दो सरोवर हैं । तथा वहींपर ऐर—इरा अन्नको कहते हैं तन्मय ऐर अर्थात् मण्ड उससे भरा हुआ 'मदीय'—अपना उपयोग करनेवालोंको मद उत्पन्न करनेवाला अर्थात् हर्षोत्पादक सरोवर है । वहीं सोमसवन नामवाला अश्वत्थ वृक्ष है, अथवा सोम अमृतको कहते हैं उसका निस्रवण करनेवाला अमृतस्रावी वृक्ष है । वहाँ उस ब्रह्मलोकमें ही ब्रह्मचर्यरूप साधनसे रहित अर्थात् ब्रह्मचर्यसाधनवानोंसे भिन्न पुरुषोंद्वारा जो नहीं जीती जा सकती ऐसी ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भकी अपराजिता नामवाली पुरी

ब्रह्मणा च प्रभुणा विशेषेण मतं निर्मितं तच्च हिरण्मयं सौवर्णं प्रभुविमितं मण्डपमिति वाक्यशेषः ॥ ३ ॥

है तथा ब्रह्मारूप प्रभुके द्वारा विशेषरूपसे मित—निर्मित (रची हुई) प्रभुविमित सुवर्णमय 'मण्डप है' ऐसा वाक्यशेष समझना चाहिये ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाᳪसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मलोकमें जो लोग ब्रह्मचर्यके द्वारा इन 'अर' और 'ण्य' दोनों समुद्रोंको प्राप्त करते हैं उन्हींको इस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छ गति हो जाती है ॥ ४ ॥

तत्तत्र ब्रह्मलोक एतावर्णवौ यावरण्याख्यावुक्तौ ब्रह्मचर्येण साधनेनानुविन्दन्ति ये तेषामेवैष यो व्याख्यातो ब्रह्मलोकस्तेषां च ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति नान्येषामब्रह्मचर्यपराणां बाह्यविषयासक्तबुद्धीनां कदाचिदपीत्यर्थः ।

नन्वत्र त्वमिन्द्रस्त्वं यमस्त्वं वरुण इत्यादिभिर्यथा कश्चित्

उस ब्रह्मलोकमें जो ये 'अर' और 'ण्य' नामवाले दो समुद्र कहे गये हैं इन्हें जो ब्रह्मचर्यरूप साधनके द्वारा प्राप्त करते हैं उन्हींको उस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। तथा उन ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्न ब्रह्मवेत्ताओंकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति हो जाती है; ब्रह्मचर्यमें तत्पर न रहनेवाले अन्य बाह्य विषयासक्तबुद्धि पुरुषोंकी स्वेच्छागति कभी नहीं होती ।

किंतु यहाँ कुछ लोगोंका मत है कि जिस प्रकार 'तुम इन्द्र हो,

स्तूयते महार्हं एवमिष्टादिभिः शब्दैर्न स्त्र्यादिविषयतृष्णानिवृत्तिमात्रं स्तुत्यर्हं किं तर्हि ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वात्तदेवेष्टादिभिः स्तूयत इति केचित् । न । स्त्र्यादिबाह्यविषयतृष्णापहृतचित्तानां प्रत्यगात्मविवेकविज्ञानानुपपत्तेः । "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" (क० उ० २ । १ । १) इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः । ज्ञानसहकारिकारणं स्त्र्यादिविषयतृष्णानिवृत्तिसाधनं विधातव्यमेवेति युक्तैव तत्स्तुतिः ।

ननु च यज्ञादिभिः स्तुतं ब्रह्मचर्यमिति यज्ञादीनां पुरुषार्थ-

तुम यम हो, तुम वरुण हो' इत्यादि वाक्योंसे किसी परम पूजनीय पुरुषकी स्तुति की जाती है उसी प्रकार इष्टादि शब्दोंसे केवल स्त्री आदि विषयसम्बन्धिनी तृष्णाकी निवृत्ति ही स्तुति योग्य नहीं है, तो फिर क्या है ? [इसपर वे कहते हैं—] ज्ञान मोक्षका साधन है, अतः इष्टादि शब्दोंसे उसीकी स्तुति की जाती है । परंतु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री आदि बाह्य विषयोंकी तृष्णाद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है उन्हें प्रत्यगात्मविषयक विवेकज्ञान होना सम्भव नहीं है । यह बात "स्वयम्भू ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है; इसलिये जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता" इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होती है । अतः ज्ञानके सहकारी कारण स्त्री आदि विषयसम्बन्धी तृष्णाकी निवृत्तिरूप साधनका विधान करना ही चाहिये—इसलिये उसकी स्तुति करना भी उचित ही है ।

शिष्य—किंतु ब्रह्मचर्यकी यज्ञादिरूपसे स्तुति की गयी है; इससे यज्ञादिका पुरुषार्थसाधनत्व

साधनत्वं गम्यते ।

प्रतीत होता है ।

सत्यं गम्यते, न त्विह ब्रह्मलोकं प्रति यज्ञादीनां साधनत्वमभिप्रेत्य यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यं स्तूयते । किं तर्हि ? तेषां प्रसिद्धं पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य । यथेन्द्रादिभी राजा न तु यत्रेन्द्रादीनां व्यापारस्तत्रैव राज्ञ इति तद्वत् ।

गुरु—ठीक है, ऐसा प्रतीत होता है । किंतु यहाँ, ब्रह्मलोकके प्रति यज्ञादिका साधनत्व है—ऐसे अभिप्रायसे यज्ञादिके द्वारा ब्रह्मचर्यकी स्तुति नहीं की जाती । तो फिर क्या बात है ?—उनके प्रसिद्ध पुरुषार्थसाधनत्वकी अपेक्षासे ही स्तुति की जाती है, जिस प्रकार कि इन्द्रादिरूपसे राजाकी । इससे यह अभिप्राय नहीं होता कि जहाँ इन्द्रादिका व्यापार है वहीं राजाका भी है [अर्थात् जो काम इन्द्रादि देवगण करते हैं वही राजा भी करता है] । उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

ब्रह्मलोकादि-भोगानां स्वरूप-विचारः

य इमेऽर्णवादयो ब्राह्मलौकिकाः संकल्पजाश्च पित्रादयो भोगास्ते किं पार्थिवा आप्याश्च यथेह लोके दृश्यन्ते तद्वदर्णववृक्षपूःस्वर्णमण्डपान्याहोस्विन्मानसप्रत्ययमात्राणीति ।

[भला सोचो तो] ये जो ब्रह्मलोकसम्बन्धी समुद्रादि और संकल्पजनित पितृलोकादिके भोग हैं वे—जैसे कि इस लोकमें समुद्र, वृक्ष, पुरी और सुवर्णमय मण्डप देखे जाते हैं उन्हींके समान पृथ्वी और जलके विकार हैं, अथवा केवल मानसिक प्रतीतिमात्र हैं ?

किञ्चातो यदि पार्थिवा आप्याश्च स्थूलाः स्युः ?

हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तिः। पुराणे च मनोमयानि ब्रह्मलोके शरीरादीनीति वाक्यं विरुध्येत । "अशोकमहिमम्" (बृ० उ० ५ । १०१) इत्याद्याश्च श्रुतयः ।

ननु समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा यज्ञा वेदा मन्त्रादयश्च मूर्तिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्त इति मानसत्वे विरुध्येत पुराणस्मृतिः ।

न; मूर्तिमत्त्वे प्रसिद्धरूपाणामेव तत्र गमनानुपपत्तेः । तस्मात्प्रसिद्धमूर्तिव्यतिरेकेण सागरादीनां मूर्त्यन्तरं सागरादिभिरुपात्तं ब्रह्मलोकगन्तृ कल्पनीयम् ।

शिष्य—यदि वे पृथ्वी और जलके विकारभूत स्थूल पदार्थ ही हों तो इसमें क्या आपत्ति है ?

गुरु—उनका हृदयाकाशमें स्थित होना सम्भव नहीं है । तथा पुराणमें यह कहा गया है कि ब्रह्मलोकमें जो शरीरादि हैं वे मनोमय हैं—इस वाक्यसे विरोध आयेगा तथा "शोकरहित है, शीतस्पर्शरहित है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी विरोध होगा ।

शिष्य—किंतु उन्हें मानसिक माननेपर भी 'समुद्र, नदियाँ, सरोवर, वापी, कूप, यज्ञ, वेद और मन्त्रादि मूर्तिमान् होकर ब्रह्माके समीप उपस्थित रहते हैं' ऐसे अर्थवाली पुराणस्मृतिसे विरोध आयेगा ।

गुरु—यह बात नहीं है, क्योंकि मूर्तिमान् होनेपर तो उन समुद्रादिके प्रसिद्ध रूपोंका वहाँ गमन होना सम्भव नहीं है । इसलिये समुद्रादिके प्रसिद्ध रूपसे भिन्न सागरादिद्वारा ग्रहण किया हुआ कोई अन्य रूप ब्रह्मलोकमें गमन करनेवाला है—ऐसी कल्पना

तुल्यायां च कल्पनायां यथाप्रसिद्धा एव मानस्य आकारवत्यः पुंस्त्र्याद्या मूर्तयो युक्ताः कल्पयितुं मानसदेहानुरूप्यसम्बन्धोपपत्तेः। दृष्टा हि मानस्य एवाकारवत्यः पुंस्त्र्याद्या मूर्तयः स्वप्ने।

ननु ता अनृता एव, "त इमे सत्याः कामाः" (छा० उ० ८। ३। १) इति श्रुतिस्तथा सति विरुध्येत।

न; मानसप्रत्ययस्य सत्त्वोपपत्तेः। मानसा हि प्रत्ययाः स्त्रीपुरुषाद्याकाराः स्वप्ने दृश्यन्ते।

ननु जाग्रद्वासनारूपाः स्वप्नदृश्या न तु तत्र स्त्र्यादयः स्वप्ने विद्यन्ते।

अत्यल्पमिदमुच्यते। जाग्रद्विषया अपि मानसप्रत्ययाभि-

करनी चाहिये। तथा [मनुष्यादिके विषयमें भी] वैसी ही कल्पना होनेके कारण जैसी प्रसिद्ध हैं वैसे ही आकारवाली मानसिक पुरुष-स्त्री आदि मूर्तियोंकी कल्पना करनी चाहिये, क्योंकि मानसदेहके साथ तदनुरूप ही उनका सम्बन्ध होना सम्भव है। स्वप्नमें पुरुष एवं स्त्री आदिकी मूर्तियाँ मानसिक आकारवाली ही देखी भी गयी हैं।

शिष्य—किंतु वे तो मिथ्या ही हैं; ऐसा होनेपर "वे ये सत्य काम हैं" इस श्रुतिसे विरोध आयेगा।

गुरु—नहीं, [इस श्रुतिसे कोई विरोध नहीं आ सकता], क्योंकि मानसिक अनुभवका सत्य होना सम्भव है; क्योंकि स्वप्नमें मानसिक प्रतीतियाँ ही स्त्री-पुरुषादि आकारवाली दिखलायी देती हैं।

शिष्य—किंतु स्वप्नमें दिखलायी देनेवाले पदार्थ तो जागृतिकी वासनारूप ही हैं; वहाँ स्वप्नावस्थामें वास्तवमें तो स्त्री आदि हैं ही नहीं।

गुरु—यह तुम बहुत कम बता रहे हो। जाग्रत्कालके विषय भी

निर्वृत्ता एव सदीक्षाभिनिर्वृत्ततेजोऽबन्नमयत्वाज्जाग्रद्विषयाणाम् । संकल्पमूला हि लोका इति चोक्तम् "समक्लृपतां द्यावापृथिवी" (छा० उ० ७ । ४ । १) इत्यत्र । सर्वश्रुतिषु च प्रत्यगात्मन उत्पत्तिः प्रलयश्च तत्रैव स्थितिश्च "यथा वा अरा नाभौ" (छा० उ० ७ । १५ । १) इत्यादिनोच्यते । तस्मान्मानसानां बाह्यानां च विषयाणामितरेतरकार्यकारणत्वमिष्यत एव बीजाङ्कुरवत् । यद्यपि बाह्या एव मानसा मानसा एव च बाह्या नानृतत्वं तेषां कदाचिदपि स्वात्मनि भवति ।

तो सर्वथा मानसिक प्रतीतियोंसे ही निष्पन्न हुए हैं; क्योंकि जाग्रत्कालीन विषय सत्के ईक्षणसे निष्पन्न तेज, अप् और अन्नमय ही हैं । "समक्लृपतां द्यावापृथिवी" (पृथ्वी और द्युलोककी कल्पना की) इत्यादि स्थानपर यही कहा गया है कि सम्पूर्ण लोक संकल्पमूलक हैं । तथा सम्पूर्ण श्रुतियोंमें "जिस प्रकार नाभिमें अरे समर्पित हैं" इत्यादि दृष्टान्तसे उन सबकी उत्पत्ति प्रत्यगात्मासे ही बतलायी गयी है तथा उसीमें उनके लय और स्थिति भी बतलाये गये हैं । अतः बीज और अङ्कुरके समान मानसिक और बाह्य विषयोंका एक दूसरेके प्रति कार्य-कारणभाव माना ही जाता है । यद्यपि बाह्य पदार्थ ही मानसिक हैं और मानसिक पदार्थ ही बाह्य हैं तो भी स्वात्मामें उनका मिथ्यात्व कभी नहीं होता ।

ननु स्वप्ने दृष्टाः प्रतिबुद्धस्यानृता भवन्ति विषयाः ।

शिष्य—किंतु स्वप्नमें देखे हुए विषय तो जाग्रत् पुरुषके लिये मिथ्या हो जाते हैं ।

सत्यमेवम्; जाग्रद्बोधापेक्षं तु तदनृतत्वं न स्वतः । तथा

गुरु—यह ठीक है, किंतु उनका मिथ्यात्व जाग्रत्-ज्ञानकी अपेक्षासे है, स्वतः नहीं है ।

स्वप्नबोधापेक्षं च जाग्रद्दृष्टविषयानृतत्वं न स्वतः । विशेषाकारमात्रं तु सर्वेषां मिथ्याप्रत्ययनिमित्तमिति वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् । तान्यप्याकारविशेषतोऽनृतं स्वतः सन्मात्ररूपतया सत्यम् । प्राक्सदात्मप्रतिबोधात् स्वविषयेऽपि सर्वं सत्यमेव स्वप्नदृश्या इवेति न कश्चिद्विरोधः । तस्मान्मानसा एव ब्राह्मलौकिका अरण्यादयः संकल्पजाश्च पित्रादयः कामाः ।

बाह्यविषयभोगवदशुद्धिरहितत्वाच्छुद्धसत्त्वसंकल्पजन्या इति निरतिशयसुखाः सत्याश्चेश्वराणां भवन्तीत्यर्थः । सत्सत्यात्मप्रतिबोधेऽपि रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयः सदात्मस्वरूपतामेव प्रतिपद्यन्त इति सदात्मना सत्या एव भवन्ति ॥ ४ ॥

इसी प्रकार स्वप्नज्ञानकी अपेक्षा जाग्रत्कालमें देखे हुए विषयोंका मिथ्यात्व है, स्वतः नहीं । सम्पूर्ण पदार्थोंका जो विशेष आकारमात्र है वही मिथ्याज्ञानका कारण है, क्योंकि वाणीपर अवलम्बित विकार नाममात्र और मिथ्या है, बस तीन रूप ही सत्य हैं । वे तीन रूप भी आकारविशेष होनेसे स्वतः तो मिथ्या ही हैं, किंतु सन्मात्ररूप होनेसे सत्य हैं । सदात्माका साक्षात्कार होनेसे पूर्व तो स्वप्नदृश्य पदार्थोंके समान अपने क्षेत्रमें भी वे सब सत्य ही हैं, इसलिये किसी प्रकारका विरोध सम्भव नहीं है । अतः ब्रह्मलोकसम्बन्धी अरण्यादि और संकल्पजनित पित्रादि काम मानसिक ही हैं ।

बाह्य विषयभोगोंके समान अशुद्धिरहित होनेके कारण वे शुद्धान्तःकरणके संकल्पसे होनेवाले हैं; इसलिये ईश्वरके संकल्प आत्यन्तिक सुखमय और सत्य होते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । सत् ही वास्तविक आत्मा है—ऐसा बोध होनेपर भी वे रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान सदात्मरूपताको ही प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये सत्स्वरूपसे वे सत्य ही रहते हैं ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये पञ्चमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥५॥

षष्ठ खण्ड

हृदयनाडी और सूर्यरश्मिरूप मार्गकी उपासना

यस्तु हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्त्यक्तबाह्यविषयानृततृष्णः सन्नुपास्ते तस्येयं मूर्धन्यया नाड्या गतिर्वक्तव्येति नाडीखण्ड आरभ्यते—

जो पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न और बाह्य विषयोंकी मिथ्या तृष्णासे निवृत्त होकर अपने हृदयकमलमें विराजमान उपर्युक्त गुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करता है उसकी यह मूर्धन्य नाडीके द्वारा गति बतलानी है; इसीलिये इस नाडी-खण्डका आरम्भ किया जाता है—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

अब, ये जो हृदयकी नाडियाँ हैं वे पिंगलवर्ण सूक्ष्म रसकी हैं। वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रसकी हैं; क्योंकि यह आदित्य पिंगलवर्ण है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लोहितवर्ण है ॥ १ ॥

अथ या एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मो-

अब, आगे कहे जानेवाले ब्रह्मोपासनाके आश्रयभूत इस पुण्डरीकाकार हृदयकी जो उससे

पासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात्सर्वतो विनिःसृता आदित्यमण्डलादिव रश्मयस्ताश्चैताः पिङ्गलस्य वर्णविशेषविशिष्टस्याणिम्नः सूक्ष्मरसस्य रसेन पूर्णास्तदाकारा एव तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः ।

तथा शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य च रसस्य पूर्णा इति सर्वत्राध्याहार्यम् । सौरेण तेजसा पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन कफेनाल्पेन सम्पर्कात्पिङ्गलं भवति सौरं तेजः पित्ताख्यम् । तदेव च वातभूयस्त्वान्नीलं भवति । तदेव च कफभूयस्त्वाच्छुक्लम् । कफेन समतायां पीतम् । शोणितबाहुल्येन लोहितम् । वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः, कथं भवन्तीति ?

श्रुतिस्त्वाहादित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते

सम्बद्ध नाडियाँ आदित्यमण्डलसे किरणोंके समान उस हृदयरूप मांसपिण्डसे सब ओर निकली हुई हैं वे पिंगलनामक एक वर्णविशेषसे युक्त अणिमा अर्थात् सूक्ष्म रसकी हैं, तात्पर्य यह है कि वे उस रससे पूर्ण होकर तदाकार ही रहती हैं ।

इसी प्रकार वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रससे पूर्ण हैं—इस प्रकार पूर्ण पदका सर्वत्र अध्याहार करना चाहिये । पित्तसंज्ञक सौर तेजसे परिपक्व हुए थोड़े-से कफसे सम्पर्क होनेपर पित्तनामक सौर तेज पिङ्गल वर्ण हो जाता है । वही वातकी अधिकता होनेपर नीला हो जाता है और कफकी अधिकता होनेपर वही शुक्ल हो जाता है । कफसे [वातकी] समता होनेपर वह पीला हो जाता है और रक्तकी अधिकता होनेपर लोहित । अथवा वैद्यक शास्त्रसे इन वर्णविशेषोंका—ये किस प्रकार होते हैं, ऐसा—अन्वेषण करना चाहिये ।

किंतु श्रुतिका तो यही कथन है कि आदित्यके सम्बन्धसे ही, नाडियोंमें अनुस्यूत हुए उस तेजके

वर्णविशेषा इति । कथम् ? असौ वा आदित्यः पिङ्गलो वर्णत एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष पीत एष लोहित आदित्य एव ॥ १ ॥

ये वर्णविशेष हो जाते हैं । यह किस प्रकार ? [इसपर कहते हैं—] यह आदित्य वर्णतः पिङ्गल है, यह आदित्य शुक्ल भी है तथा यही नील-वर्ण है, यही पीला है और यही लोहित भी है ॥ १ ॥

◆

तस्याध्यात्मं नाडीभिः कथं सम्बन्ध इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

शरीरके भीतर नाडियोंके साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है—इस विषयमें श्रुति दृष्टान्त देती है—

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दोनों गाँवोंको जाता है उसी प्रकार ये सूर्यकी किरणें इस पुरुषमें और उस आदित्यमण्डलमें दोनों लोकोंमें प्रविष्ट हैं । वे निरन्तर इस आदित्यसे ही निकली हैं और इन नाडियोंमें व्याप्त हैं तथा जो इन नाडियोंसे निकलती हैं वे इस आदित्यमें व्याप्त हैं ॥ २ ॥

तत्तत्र यथा लोके महान्विस्तीर्णः पन्था महापथ आततो

इस विषयमें यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार लोकमें कोई महान्

व्याप्त उभौ ग्रामौ गच्छतीमं च संनिहितममुं च विप्रकृष्टं दूरम्, एवं यथा दृष्टान्तो महापथ उभौ ग्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकावमुं चादित्यमण्डलमिमं च पुरुषं गच्छन्त्युभयत्र प्रविष्टाः; यथा महापथः ।

कथम् ? अमुष्मादादित्यमण्डलात्प्रतायन्ते संतता भवन्ति, ता अध्यात्ममासु पिङ्गलादिवर्णासु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ता गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते प्रवृत्ताः संतानभूताः सत्यस्तेऽमुष्मिन् । रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात्त इत्युच्यन्ते ॥ २ ॥

यानी विस्तीर्ण मार्ग अर्थात् महापथ आतत—व्याप्त हुआ इस समीपवर्ती और उस दूरस्थ दोनों ग्रामोंको जाता है इसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है कि महापथ दोनों ग्रामोंमें प्रवेश करता है, ये सूर्यकी किरणें दोनों लोकोंमें—उस आदित्यमण्डलमें और इस पुरुषमें जाती हैं अर्थात् महापथके समान दोनों जगह प्रवेश किये हुए हैं ।

किस प्रकार प्रवेश किये हुए हैं ?—वे इस आदित्यमण्डलसे फैलती हैं और शरीरमें उन उपर्युक्त पिङ्गलादि वर्णोंवाली नाडियोंमें सृप्त—गत अर्थात् प्रविष्ट होती हैं तथा इन नाडियोंसे व्याप्त होती अर्थात् प्रवृत्त होकर फैलती हुई इस आदित्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं । 'रश्मि' शब्द [स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग] दोनों लिङ्गोंवाला होनेके कारण उनके लिये [पहले 'ताः' सर्वनामका प्रयोग होनेपर भी पीछे] 'ते' ऐसा कहा गया है ॥ २ ॥

* * *

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ३ ॥

ऐसी अवस्थामें जिस समय यह सोया हुआ—भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता उस समय यह इन नाडियोंमें चला जाता है, तब इसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता और यह तेजसे व्याप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

तत्तत्रैवं सति यत्र यस्मिन् काल एतत्स्वपनमयं जीवः सुप्तो भवति । स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद्विशेषणं समस्त इति; उपसंहृतसर्वकरणवृत्तिरित्येतत् । अतो बाह्यविषयसम्पर्कजनितकालुष्याभावात्सम्यक् प्रसन्नः सम्प्रसन्नो भवति । अत एव स्वप्नं विषयाकाराभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति नानुभवतीत्यर्थः । यदैवं सुप्तो भवत्यासु सौरतेजःपूर्णासु यथोक्तासु नाडीषु तदा

'तत्'—उस अवस्थामें ऐसा होनेपर जहाँ—जिस समय यह जीव इस स्वप्नावस्था अर्थात् निद्राको प्राप्त होकर सो जाता है । निद्रा[1] दो प्रकारकी है इसलिये यहाँ 'समस्त' ऐसा विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह है कि जिस समय यह, जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंका उपसंहार हो गया है, ऐसा हो जाता है; इसलिये बाह्य विषयोंके सम्पर्कसे प्राप्त हुई मलिनताका अभाव हो जानेके कारण यह सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न—सम्प्रसन्न होता है; तात्पर्य यह है कि इसीलिये यह स्वप्न—विषयाकारसे भासित होनेवाले मानसिक स्वप्नप्रत्ययको नहीं जानता, अर्थात् उसका अनुभव नहीं करता । जिस समय इस प्रकार सो जाता है उस समय सूर्यके तेजसे पूर्ण हुई इन पूर्वोक्त नाडियोंमें सृप्त अर्थात् प्रविष्ट होता है, तात्पर्य यह है कि वह

---

[1] निद्राकी दो वृत्तियाँ हैं—दर्शनवृत्ति यानी स्वप्न और अदर्शनवृत्ति—गाढ सुषुप्ति । यहाँ दर्शनवृत्तिकी व्यावृत्तिके लिये 'समस्त' ऐसा विशेषण दिया गया है ।

सुप्तः प्रविष्टो नाडीभिर्द्वारभूताभिर्हृद्याकाशं गतो भवतीत्यर्थः। न ह्यन्यत्र सत्सम्पत्तेः स्वप्नादर्शनमस्तीति सामर्थ्यान्नाडीष्विति सप्तमी तृतीयया परिणम्यते।

इन द्वारभूत नाडियोंसे हृदयाकाशमें पहुँच जाता है। सत्सम्पत्ति (सत्को प्राप्त हो जाने) के सिवा और कहीं स्वप्नका अदर्शन नहीं होता—इस सामर्थ्यसे 'नाडीषु' इस पदमें जो सप्तमी विभक्ति है उसे ['नाडीभिः' इस प्रकार] तृतीयाके रूपमें बदल ली जाती है।

तं सता सम्पन्नं न कश्चन न कश्चिदपि धर्माधर्मरूपः पाप्मा स्पृशतीति स्वरूपावस्थितत्वात्तदात्मनः। देहेन्द्रियविशिष्टं हि सुखदुःखकार्यप्रदानेन पाप्मा स्पृशतीति न तु सत्सम्पन्नं स्वरूपावस्थं कश्चिदपि पाप्मा स्प्रष्टुमुत्सहते; अविषयत्वात्। अन्यो ह्यन्यस्य विषयो भवति न त्वन्यत्वं केनचित्कुतश्चिदपि सत्सम्पन्नस्य। स्वरूपप्रच्यवनं त्वात्मनो जाग्रत्स्वप्नावस्थां प्रति गमनं बाह्यविषयप्रतिबोधोऽविद्याकाम-

सत्को प्राप्त हुए उस प्राणीको कोई भी धर्माधर्मरूप पाप स्पर्श नहीं करता, क्योंकि उस अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। जो जीव देह और इन्द्रियोंसे विशिष्ट है उसीको सुख-दुःखरूप अपने कार्य प्रदान करके पाप स्पर्श कर सकता है। सत्को प्राप्त हुए स्वरूपावस्थित आत्माको स्पर्श करनेका कोई भी पाप साहस नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसका विषय नहीं है। अन्य ही अन्यका विषय हुआ करता है और सत्को प्राप्त हुए जीवका किसीसे भी किसी भी कारणसे अन्यत्व है नहीं। आत्माका जाग्रत् या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होना तथा बाह्य विषयोंको अनुभव करना ही स्वरूपसे च्युत होना है, क्योंकि अविद्यारूप काम और कर्मका बीज

कर्मबीजस्य ब्रह्मविद्याहुताशादाहनिमित्तमित्यवोचाम षष्ठ एव तदिहापि प्रत्येतव्यम् ।

यदैवं सुप्तः सौरेण तेजसा हि नाड्यन्तर्गतेन सर्वतः सम्पन्नो व्याप्तो भवति । अतो विशेषेण चक्षुरादिनाडीद्वारैर्बाह्यविषयभोगायाप्रसृतानि करणान्यस्य तदा भवन्ति । तस्मादयं करणानां निरोधात्स्वात्मन्येवावस्थितःस्वप्नं न विजानातीति युक्तम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मविद्यारूप अग्निसे दग्ध न होनेके कारण ही रहता है—ऐसा हम छठे अध्यायमें ही कह चुके हैं, उसीपर यहाँ भी विश्वास करना चाहिये ।

जिस समय यह जीव इस प्रकार सो जाता है उस समय सब ओरसे नाडीके अन्तर्गत सौर तेजसे सम्पन्न—व्याप्त हो जाता है । इसलिये तब इसकी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंके भोगके लिये चक्षु आदि नाडियोंके द्वारा विशेषरूपसे अप्रसृत अर्थात् निरुद्ध हो जाती हैं । इसीसे इन्द्रियोंका निरोध हो जानेके कारण अपने स्वरूपमें ही स्थित हुआ यह जीव स्वप्न नहीं देखता ॥ ३ ॥

* * *

तत्रैवं सति—

ऐसा होनेपर—

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

अब, जिस समय यह जीव शरीरकी दुर्बलताको प्राप्त होता है उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए [बन्धुजन] कहते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ?' वह जबतक इस शरीरसे उत्क्रमण नहीं करता तबतक उन्हें जानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्र यस्मिन् कालेऽबलिमानमबलभावं देहस्य रोगादिनिमित्तं जरादिनिमित्तं वा कृशीभावमेतन्नयनं नीतः प्रापितो देवदत्तो भवति मुमूर्षुर्यदा भवतीत्यर्थः, तमभितः सर्वतो वेष्टयित्वासीना ज्ञातय आहुर्जानासि मां तव पुत्रं जानासि मां पितरं चेत्यादि । स मुमूर्षुर्यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तोऽनिर्गतो भवति तावत्पुत्रादीञ्जानाति ॥४॥

अब, जिस समय यह देवदत्त [नामक पुरुषविशेष] अबलिमा—रोगादिके कारण अथवा जरादिके कारण देहकी दुर्बलता—कृशताको प्राप्त करा दिया जाता है अर्थात् जिस समय यह मरणासन्न होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए बन्धुजन कहते हैं—'क्या तुम मुझ अपने पुत्रको जानते हो ? क्या तुम मुझ अपने पिताको पहचानते हो ?' इत्यादि । वह मुमूर्षु जीव जबतक इस शरीरसे अनुत्क्रान्त रहता है अर्थात् बहिर्गत नहीं होता तबतक उन पुत्रादिको पहचानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

फिर जिस समय यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है उस समय इन किरणोंसे ही ऊपरकी ओर चढ़ता है । वह 'ॐ' ऐसा [कहकर आत्माका ध्यान करता हुआ] ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोकको जाता है । वह जितनी देरमें मन जाता है उतनी ही देरमें आदित्यलोकमें पहुँच जाता है । यह [आदित्य] निश्चय ही लोकद्वार है । यह विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोकप्राप्तिका द्वार है और अविद्वानोंका निरोधस्थान है ॥ ५ ॥

अथ यत्र यदैतत्क्रियाविशेषणमित्यस्माच्छरीरादुत्क्रामति । अथ तदैतैरेव यथोक्ताभी रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते यथाकर्मजितं लोकं प्रत्यविद्वान् । इतरस्तु विद्वान्यथोक्तसाधनसम्पन्नः स ओमित्योङ्कारेणात्मानं ध्यायन्यथापूर्वं वा हैव । उद्धोर्ध्वं वा विद्वांश्चेदितरस्तिर्यङ्वेत्यभिप्रायः। मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः ।

स विद्वानुत्क्रमिष्यन्यावत्क्षिप्येन्मनो यावता कालेन मनसः क्षेपः स्यात्तावता कालेनादित्यं गच्छति प्राप्नोति क्षिप्रं गच्छतीत्यर्थो न तु तावतैव कालेनेति विवक्षितम् ।

किमर्थमादित्यं गच्छतीत्युच्यते । एतद्वै खलु प्रसिद्धं ब्रह्मलोकस्य द्वारं य आदित्यस्तेन द्वार-

फिर जिस समय—'एतत्' यह शब्द क्रियाविशेषण है—यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब वह अज्ञानी अपने कर्मोंके अनुसार उपार्जित लोकोंके प्रति इन उपर्युक्त किरणोंके द्वारा ही ऊपर चढ़ता है । तथा दूसरा जो उपर्युक्त साधनोंसे सम्पन्न ज्ञानी (निर्गुणोपासक) है वह ओंकारके द्वारा पूर्ववत् आत्माका ध्यान करता हुआ—तात्पर्य यह है कि यदि वह विद्वान् होता है तो ऊर्ध्वलोकोंको और अविद्वान् होता है तो अधोलोकोंको 'मीयते' अर्थात् जाता है ।

वह उत्क्रमण करनेवाला विद्वान् जितनी देरमें मन जाता है अर्थात् जितने समयमें मनको कहीं ले जाया जाता है, उतने ही समयमें आदित्यलोकमें जाता—पहुँचता है । तात्पर्य यह है कि वह शीघ्र चलता है, इससे यह बतलाना अभीष्ट नहीं है कि उतने ही समयमें पहुँचता है ।

वह आदित्यलोकमें क्यों जाता है ? यह बतलाया जाता है—यह जो आदित्य है वह निश्चय ही ब्रह्मलोकका प्रसिद्ध द्वार है; उस

भूतेन ब्रह्मलोकं गच्छति विद्वान् । अतो विदुषां प्रपदनं प्रपद्यते ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपदनम् । निरोधनं निरोधोऽस्मादादित्यादविदुषां भवतीति निरोधः । सौरेण तेजसा देह एव निरुद्धाः सन्तो मूर्धन्यया नाड्या नोत्क्रमन्त एवेत्यर्थः । विष्वङ्ङन्या इति श्लोकात् ॥ ५ ॥

द्वारभूत आदित्यके द्वारा विद्वान् ब्रह्मलोकको जाता है । अतः इस द्वारसे विद्वान् ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं इसलिये यह विद्वानोंका प्रपदन है । निरोधनका नाम निरोध है; इस आदित्यसे अविद्वानोंका निरोध होता है, इसलिये यह निरोध है । तात्पर्य यह है कि अविद्वान् लोग सौर तेजके द्वारा देहमें ही निरुद्ध होकर मूर्धन्यनाडीसे उत्क्रमण नहीं करते, जैसा कि 'विष्वङ्ङन्या' इत्यादि आगेके मन्त्रसे सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं । उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकल गयी है । उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है; शेष इधर-उधर जानेवाली नाडियाँ केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं, उत्क्रमणका कारण होती हैं [उनसे अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती] ॥ ६ ॥

तदेतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति । शतं चैका चैकोत्तरशतं नाड्यो हृदयस्य मांसपिण्डभूतस्य सम्बन्धिन्यः

उस इस उपर्युक्त अर्थमें यह श्लोक यानी मन्त्र है—मांसके पिण्डभूत हृदयसे सम्बन्ध रखनेवाली सौ और एक अर्थात् एक ऊपर सौ प्रधान नाडियाँ हैं, ['प्रधानतः'

प्रधानतो भवन्ति, आनन्त्याद्देहनाडीनाम् । तासामेका मूर्धानमभिनिःसृता विनिर्गता तयोर्ध्वमायन्गच्छन्नमृतत्वममृतभावमेति विष्वङ्नानागतयस्तिर्यग्विसर्पिण्य ऊर्ध्वगाश्चान्या नाड्यो भवन्ति संसारगमनद्वारभूता न त्वमृतत्वाय किं तर्ह्युत्क्रमण एवोत्क्रान्त्यर्थमेव भवन्तीत्यर्थः । द्विरभ्यासः प्रकरणसमाप्त्यर्थः ।६।

इसलिये कहा कि] देहकी नाडियोंका कोई अन्त नहीं है । उनमेंसे एक मूर्धाकी ओर निकल गयी है । उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमृतत्व—अमृतभावको प्राप्त होता है । तथा अन्य नाडियाँ विष्वक्—नाना गतिवाली अर्थात् इधर-उधर जानेवाली और ऊर्ध्वगामिनी हैं । वे संसारप्राप्तिकी द्वारभूत हैं, अमृतत्वकी हेतुभूत नहीं हैं । तो फिर कैसी हैं ?—वे उत्क्रमण अर्थात् प्राणप्रयाणके लिये ही होती हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'उत्क्रमणे भवन्ति' इस पदकी द्विरुक्ति प्रकरणकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ६ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये
षष्ठखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

आत्मतत्त्वका अनुसंधान करनेके लिये इन्द्र और विरोचनका प्रजापतिके पास जाना

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ सम्प्रसादः? कथं वा तस्याधिगमः? यथा सोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, येन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स किंलक्षण आत्मा? सम्प्रसादस्य च देहसम्बन्धीनि रूपाणि ततो यदन्यत्कथं स्वरूपमित्येतेऽर्था वक्तव्या इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । आख्यायिका

'अथ यह जो सम्प्रसाद है, जो इस शरीरसे सम्यक् रूपसे उत्थानकर परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे निष्पन्न होता है यह आत्मा है—ऐसा [आचार्यने] कहा । यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है' ऐसा [पहले दहरविद्याके प्रसङ्गमें] कहा जा चुका है । सो इस प्रसङ्गमें यह सम्प्रसाद कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है? यह जिस प्रकार इस शरीरसे उत्थानकर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे निष्पन्न होता है और जिस रूपसे निष्पन्न होता है वह आत्मा कैसे लक्षणवाला है? सम्प्रसादके जो [सविशेष] रूप हैं वे तो देहसम्बन्धी हैं, उनसे भिन्न जो उसका [निर्विशेष] रूप है वह कैसा है?—ये सब बातें बतलानी हैं, इसीलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका है वह तो विद्याके ग्रहण और दान करनेकी

तु विद्याग्रहणसम्प्रदानविधिप्रदर्शनार्था विद्यास्तुत्यर्था च । राजसेवितं पानीयमितिवत् ।

विधि प्रदर्शित करने एवं विद्याकी स्तुतिके लिये है, जिस प्रकार [जलकी प्रशंसा करनेके लिये] 'यह जल राजाद्वारा सेवित है' ऐसा कहा जाता है ।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

जो आत्मा [धर्माधर्मादिरूप] पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है उसे खोजना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापतिने कहा ॥ १ ॥

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः, यस्योपासनायोपलब्ध्यर्थं हृदयपुण्डरीकमभिहितम्, यस्मिन्कामाः समाहिताः सत्या अनृतापिधानाः, यदुपासनसहभावि ब्रह्मचर्यं

जो आत्मा पापरहित, जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधारहित, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, जिसकी उपासना अर्थात् उपलब्धिके लिये हृदयपुण्डरीक स्थान बतलाया गया है, जिसमें मिथ्यासे अपिहित (ढँके हुए) सत्यकाम सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, जिसकी उपासनाके साथ-साथ रहनेवाला

साधनमुक्तम्, उपासनफलभूतकामप्रतिपत्तये च मूर्धन्यया नाड्या गतिरभिहिता सोऽन्वेष्टव्यः शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञातव्यः स विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यो विजिज्ञासितव्यः स्वसंवेद्यतामापादयितव्यः ।

किं तस्यान्वेषणाद्विजिज्ञासनाच्च स्यात् ? इत्युच्यते -- स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानं यथोक्तेन प्रकारेण शास्त्राचार्योपदेशेनान्विष्य विजानाति स्वसंवेद्यतामापादयति तस्यैतत्सर्वलोककामावाप्तिः सर्वात्मता फलं भवतीति ह किल प्रजापतिरुवाच ।

अन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य इति चैष नियमविधिरेव नापूर्वविधिः । एवमन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य इत्यर्थः । दृष्टार्थत्वादन्वे-

ब्रह्मचर्यरूप साधन बतलाया गया है और उपासनाके फलभूत कामकी प्राप्तिके लिये मूर्धन्य नाडीसे गति बतलायी गयी है उसका अन्वेषण करना चाहिये—शास्त्र और आचार्यके उपदेशोंसे उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; वह विजिज्ञासितव्य—विशेषरूपसे जाननेके लिये इष्ट है अर्थात् स्वसंवेद्यताको प्राप्त करानेयोग्य है ।

उसके अन्वेषण और विशेषरूपसे जाननेकी इच्छासे क्या होता है, यह बतलाया जाता है—जो उपर्युक्त प्रकारसे उस आत्माको शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार अन्वेषणकर विशेषरूपसे जान लेता है अर्थात् स्वसंवेद्यताको प्राप्त कर लेता है उसे इन समस्त लोकोंके भोगोंकी प्राप्ति और सर्वात्मतारूप फलकी प्राप्ति होती है—ऐसा प्रजापतिने कहा ।

'अन्वेषण करना चाहिये, विशेषरूपसे जानना चाहिये' यह नियमविधि ही है, अपूर्व विधि नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि उसे इस प्रकार अन्वेषण करना चाहिये, इस प्रकार जानना चाहिये, क्योंकि

षणविजिज्ञासनयोः । दृष्टार्थत्वं च दर्शयिष्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्यनेनासकृत् । पररूपेण च देहादिधर्मैरवगम्यमानस्यात्मनः स्वरूपाधिगमे विपरीताधिगमनिवृत्तिर्दृष्टं फलमिति नियमार्थतैवास्य विधेर्युक्ता न त्वग्निहोत्रादीनामिवापूर्वविधित्वमिह सम्भवति ॥ १ ॥

अन्वेषण और विजिज्ञासा ये दोनों ही दृष्टार्थ हैं [इनका फल प्रत्यक्ष सिद्ध है, परलोकादिकी भाँति अदृष्ट नहीं है]। इनकी दृष्टार्थता 'मैं इसमें भोग्य नहीं देखता' इस [इन्द्रके] वाक्यसे श्रुति बारंबार दिखलायेगी । देहादि धर्मोंसे अतीत रूपसे ज्ञात होनेवाले आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेमें विपरीत ज्ञानकी निवृत्ति—यह दृष्ट फल है; अतः इस विधिका नियमार्थक होना ही उचित है; अग्निहोत्रादिके समान इसका अपूर्वविधि होना सम्भव नहीं है ॥ १ ॥

* * *

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त
तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च
लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज
विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी
प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुर दोनोंहीने परम्परासे जान लिया । वे कहने लगे—'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं जिसे जाननेपर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है'—ऐसा निश्चय कर देवताओंका राजा इन्द्र और असुरोंका राजा विरोचन—ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएँ लेकर प्रजापतिके पास आये ॥ २ ॥

तद्धोभय इत्याद्याख्यायिकाप्रयोजनमुक्तम् । तद्ध किल प्रजापतेर्वचनमुभये देवासुरा देवाश्चासुराश्च देवासुरा अनु परम्परागतं स्वकर्णगोचरापन्नमनुबुबुधिरेऽनुबुद्धवन्तः ।

'तद्धोभये' इत्यादि आख्यायिकाका प्रयोजन पहले बतला दिया गया । परम्परासे आये हुए—अपने कर्णोंके विषय हुए उस प्रजापतिके वचनको देवता और असुर इन दोनोंने जान लिया ।

ते चैतत्प्रजापतिवचो बुद्ध्वा किमकुर्वन्नित्युच्यते—ते होचुरुक्तवन्तोऽन्योऽन्यं देवाः स्वपरिषद्यसुराश्च हन्त यद्यनुमतिर्भवतां प्रजापतिनोक्तं तमात्मानमन्विच्छामोऽन्वेषणं कुर्मो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानित्युक्त्वेन्द्रो हैव राजैव स्वयं देवानामितरान्देवांश्च भोगपरिच्छदं च सर्वं स्थापयित्वा शरीरमात्रेणैव प्रजापतिं प्रत्यभिप्रवव्राज प्रगतवांस्तथा विरोचनोऽसुराणाम् ।

प्रजापतिके इस वचनको जानकर उन्होंने क्या किया—यह बतलाया जाता है—उन देवता और असुरोंने अपनी-अपनी सभामें आपसमें कहा, 'यदि आपलोगोंकी अनुमति हो तो प्रजापतिके बतलाये हुए उस आत्माका अन्वेषण करें, जिस आत्माका अन्वेषण कर लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है । ऐसा कहकर स्वयं देवताओंका राजा इन्द्र ही अपनी सम्पूर्ण भोगसामग्री देवताओंको सौंपकर शरीरमात्रसे ही प्रजापतिके पास गया । इसी प्रकार असुरोंका राजा विरोचन भी गया ।

विनयेन गुरवोऽभिगन्तव्या इत्येतद्दर्शयति, त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा विद्येति । यतो देवासुर-

गुरुजनोंके प्रति विनयपूर्वक जाना चाहिये—यह बात श्रुति दिखलाती है; तथा यह भी [प्रदर्शित करती है] कि विद्या त्रिलोकीके राज्यसे

राजौ महार्हभोगार्हौ सन्तौ तथा गुरुमभ्युपगतवन्तौ। तौ ह किलासंविदानावेवान्योऽन्यं संविदमकुर्वाणौ विद्याफलं प्रत्यन्योन्यमीर्ष्यां दर्शयन्तौ समित्पाणी समिद्भारहस्तौ प्रजापतिसकाशमाजग्मतुरागतवन्तौ ॥ २ ॥

भी बढ़कर है, क्योंकि देवराज और असुरराज ये दोनों बहुमूल्य भोगके पात्र होनेपर भी इस प्रकार गुरुके समीप गये । वे दोनों परस्पर असंविदान—संविद (सद्भाव) न करते हुए अर्थात् विद्याके फलके लिये एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या प्रदर्शित करते हुए समित्पाणि—हाथोंमें समिधाओंके भार लिये प्रजापतिके समीप आये ॥ २ ॥

◆

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

उन्होंने बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यवास किया । तब उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम यहाँ किस इच्छासे रहे हो ?' उन्होंने कहा—'जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधाहीन, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । जो उस आत्माका अन्वेषण कर उसे विशेषरूपसे जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है—इस श्रीमान्‌के वाक्यको शिष्टजन बतलाते हैं । उसीको जाननेकी इच्छा करते हुए हम यहाँ रहे हैं' ॥ ३ ॥

तौ ह गत्वा द्वात्रिंशतं वर्षाणि शुश्रूषापरौ भूत्वा ब्रह्मचर्यमूषतुरुषितवन्तौ । अभिप्रायज्ञः प्रजापतिस्तावुवाच किमिच्छन्तौ किं प्रयोजनमभिप्रेत्येच्छन्ताववास्तमुषितवन्तौ युवामितीत्युक्तौ तौ होचतुः—य आत्मेत्यादि भगवतो वचो वेदयन्ते शिष्टा अतस्तमात्मानं ज्ञातुमिच्छन्ताववास्तमिति। यद्यपि प्राक्प्रजापतेः समीपागमनादन्योन्यमीर्ष्यायुक्तावभूतां तथापि विद्याप्राप्तिप्रयोजनगौरवात्त्यक्तरागद्वेषमोहेर्ष्यादिदोषावेव भूत्वोषतुर्ब्रह्मचर्यं प्रजापतौ। तेनेदं प्रख्यापितमात्मविद्यागौरवम् ॥ ३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने बत्तीस वर्षतक सेवामें तत्पर रहते हुए ब्रह्मचर्यवास किया । तब उनके अभिप्रायको जाननेवाले प्रजापतिने उनसे कहा—'तुमने किस प्रयोजनके अभिप्रायसे अर्थात् क्या चाहते हुए यहाँ निवास किया है ?' इस प्रकार कहे जानेपर वे बोले—'शिष्टजन श्रीमान्‌का 'य आत्मा' इत्यादि वाक्य बतलाते हैं, अतः उस आत्माको जाननेके लिये हमने निवास किया है ।' यद्यपि प्रजापतिके पास आनेसे पूर्व वे एक दूसरेके प्रति ईर्ष्यायुक्त थे, तथापि विद्याप्राप्तिके प्रयोजनके गौरवसे उन्होंने प्रजापतिके यहाँ राग-द्वेष, मोह एवं ईर्ष्यादि दोषोंको त्यागकर ही ब्रह्मचर्यवास किया । इससे इस आत्मविद्याके गौरवकी सूचना मिलती है ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

उनसे प्रजापतिने कहा—'यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखायी देता है आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।' [तब उन्होंने पूछा—] 'भगवन्! यह जो जलमें सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पणमें दिखायी देता है उनमें आत्मा कौन-सा है?' इसपर प्रजापतिने कहा— 'मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुषका वर्णन किया है वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है' ॥ ४ ॥

तावेवं तपस्विनौ शुद्धकल्मषौ योग्यावुपलक्ष्य प्रजापतिरुवाच ह । य एषोऽक्षिणि पुरुषो निवृत्तचक्षुर्भिर्मृदितकषायैर्दृश्यते योगिभिर्द्रष्टा । एष आत्मापहतपाप्मादिगुणो यमवोचं पुराहं यद्विज्ञानात्सर्वलोककामावाप्तिरेतदमृतं भूमाख्यम् । अत एवाभयमत एव ब्रह्म वृद्धतममिति ।

अथैतत्प्रजापतिनोक्तमक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति वचः श्रुत्वा छायारूपं पुरुषं जगृहतुः ।

उन्हें इस प्रकार तपस्वी, विशुद्धकल्मष (जिनके दोष निवृत्त हो गये हैं) और योग्य जानकर प्रजापतिने कहा—'जिनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो गयी हैं और जिनके राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो गया है उन योगियोंको जो नेत्रके भीतर यहाँ द्रष्टा पुरुष दिखायी देता है, यह अपहतपाप्मादि गुणोंवाला आत्मा है, जिसके विषयमें पहले मैंने कहा था और जिसका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोक और कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती है। यह भूमासंज्ञक अमृत है, इसलिये अभय है और इसीसे ब्रह्म यानी वृद्धतम है।'

तब प्रजापतिके कहे हुए 'नेत्रोंके भीतर जो पुरुष दिखायी देता है' इस वाक्यसे उन्होंने छायारूप पुरुषको ग्रहण किया।

गृहीत्वा च दृढीकरणाय प्रजापतिं पृष्टवन्तौ । अथ योऽयं हे भगवोऽप्सु परिख्यायते परिसमन्ताज्ज्ञायते यश्चायमादर्शे आत्मनः प्रतिबिम्बाकारः परिख्यायते खड्गादौ च कतम एष एषां भवद्भिरुक्तः किं वैक एव सर्वेष्विति ।

एवं पृष्टः प्रजापतिरुवाच—एष उ एव यश्चक्षुषि द्रष्टा मयोक्त इति । एतन्मनसि कृत्वैषु सर्वेष्वन्तेषु मध्येषु परिख्यायत इति होवाच ।

ननु कथं युक्तं शिष्ययोर्विपरीतग्रहणमनुज्ञातुं प्रजापतेर्विगतदोषस्याचार्यस्य सतः ?

सत्यमेवं नानुज्ञातम् ।

और उसे ग्रहणकर अपने विचारको पुष्ट करनेके लिये प्रजापतिसे पूछा, 'हे भगवन् ! यह जो पुरुष जलमें परिख्यात—'परि'—सब ओर 'ख्यात'—प्रतीत होता है और जो यह दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बरूपसे दिखायी देता है तथा जो खड्गादि [स्वच्छ पदार्थों] में दीखता है इन सबमें आपका बतलाया हुआ आत्मा कौन है ? अथवा इन सबमें एक ही आत्मा है ?'

इस प्रकार पूछे जानेपर प्रजापतिने कहा—'मैंने जो नेत्रान्तर्गत द्रष्टा बतलाया है वही आत्मा है' * इस बातको मनमें रखकर ही उसने कहा कि 'वह इन सभीके भीतर दिखायी देता है ।'

शङ्का—किंतु निर्दोष आचार्य होकर भी प्रजापतिका अपने शिष्योंके विपरीत ग्रहणका अनुमोदन करना कैसे उचित हो सकता है ?

समाधान—यह ठीक है, परंतु प्रजापतिने उसका अनुमोदन नहीं किया ।

---

* इस उक्तिसे प्रजापतिने यह सूचित कर दिया है कि तुम मेरा अभिप्राय नहीं समझे, मैंने द्रष्टाको आत्मा बतलाया है और तुम दृश्यको आत्मा समझ बैठे हो ।

कथम्—

प्रजापतिविषयकाक्षेपवारणम्

आत्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यमहत्त्वबोद्धृत्वौ हीन्द्रविरोचनौ तथैव च प्रथितौ लोके। तौ यदि प्रजापतिना मूढौ युवां विपरीतग्राहिणावित्युक्तौ स्यातां ततस्तयोश्चित्ते दुःखं स्यात्तज्जनिताच्च चित्तावसादात्पुनः प्रश्नश्रवणग्रहणावधारणं प्रत्युत्साहविघातः स्यादतो रक्षणीयौ शिष्याविति मन्यते प्रजापतिः। गृह्णीतां तावत्तदुदशरावदृष्टान्तेनापनेष्यामीति च।

ननु न युक्तमेष उ एवेत्यनृतं वक्तुम्।

न चानृतमुक्तम्।

कथम्?

आत्मनोक्तोऽक्षिपुरुषो मनसि

शङ्का—सो किस प्रकार ?

समाधान—इन्द्र और विरोचन इन दोनोंने अपनेमें पाण्डित्य, महत्त्व और ज्ञातृत्वका आरोप किया था और ये लोकमें प्रतिष्ठित भी थे। यदि उनसे प्रजापति यह कहते कि 'तुम मूढ़ हो और उलटा समझनेवाले हो' तो उनके चित्तमें दुःख हो जाता और उससे होनेवाले चित्तके पराभवसे फिर प्रश्न करने, सुनने, ग्रहण करने और समझनेके लिये उत्साहका ह्रास हो जाता। अतः प्रजापति यही मानते हैं कि शिष्योंकी रक्षा करनी चाहिये। अभी ये विपरीत ग्रहण करते हैं तो भले ही करें, मैं जलके शकोरे आदिके दृष्टान्तसे उसे निवृत्त कर दूँगा।

शङ्का—किंतु 'यही वह आत्मा है' ऐसा कहकर मिथ्याभाषण करना तो उचित नहीं है।

समाधान—प्रजापतिने मिथ्याभाषण तो नहीं किया।

शङ्का—किस प्रकार नहीं किया ?

समाधान—शिष्यके ग्रहण

सन्निहिततरः शिष्यगृहीताच्छायात्मनः । "सर्वेषां चाभ्यन्तरः" इति श्रुतेः । तमेवावोचदेष उ एवेत्यतो नानृतमुक्तं प्रजापतिना तथा च तयोर्विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थं ह्याह ॥ ४ ॥

किये हुए छायात्मासे प्रजापतिका स्वयं बतलाया हुआ नेत्रान्तर्गत पुरुष उनके मनमें बहुत समीपवर्ती है; क्योंकि "आत्मा सबके भीतर है" ऐसी श्रुति है । 'यही वह आत्मा है' इस वाक्यसे प्रजापतिने उसीका निर्देश किया है, इसलिये उन्होंने मिथ्याभाषण नहीं किया । तथा उन्होंने उनके विपरीत ग्रहणकी निवृत्तिके लिये इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये सप्तमखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

इन्द्र तथा विरोचनका जलके शकोरेमें अपना प्रतिबिम्ब देखना

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

'जलपूर्ण शकोरेमें अपनेको देखकर तुम आत्माके विषयमें जो न जान सको वह मुझे बतलाओ' ऐसा [प्रजापतिने कहा] । उन्होंने जलके शकोरेमें देखा । उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम क्या देखते हो !' उन्होंने कहा, 'भगवन् ! हम अपने इस समस्त आत्माको लोम और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं' ॥ १ ॥

उदशराव उदकपूर्णे शरावादावात्मानमवेक्ष्यानन्तरं यत्तत्रात्मानं पश्यन्तौ न विजानीथस्तन्मे मम प्रब्रूतमाचक्षीयाथामित्युक्तौ तौ ह तथैवोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते अवेक्षणं चक्रतुस्तथा कृतवन्तौ । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ?

[प्रजापतिने कहा] 'उदशराव अर्थात् जलसे भरे हुए शकोरे आदिमें अपनेको देखकर फिर अपने आत्माको देखनेपर जो कुछ तुम न समझ सको वह तुम मुझसे कहना ।' इस प्रकार कहे जानेपर उन्होंने उसी प्रकार जलके शकोरेमें ईक्षण—अवलोकन किया अर्थात् [जैसा प्रजापतिने कहा था] वैसा ही किया । तब उनसे प्रजापतिने कहा—'तुमने क्या देखा ?'

ननु तन्मे प्रब्रूतमित्युक्ताभ्यामुदशरावेऽवेक्षणं कृत्वा प्रजापतये न निवेदितमिदमावाभ्यां न विदितमित्यनिवेदिते चाज्ञानहेतौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ? तत्र कोऽभिप्राय इति ।

उच्यते—नैव तयोरिदमावयोरविदितमित्याशङ्काभूच्छायात्मन्यात्मप्रत्ययो निश्चित एवासीत् । येन वक्ष्यति—'तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः' इति । न ह्यनिश्चितेऽभिप्रेतार्थे प्रशान्तहृदयत्वमुपपद्यते । तेन नोचतुरिदमावाभ्यामविदितमिति । विपरीतग्राहिणौ च शिष्यावनुपेक्षणीयाविति स्वयमेव पप्रच्छ किं पश्यथ इति ? विपरीतनिश्चया-

शङ्का—किंतु 'वह मुझसे कहना' इस प्रकार कहे हुए उन दोनोंने तो जलपूर्ण शकोरेमें देखकर प्रजापतिसे ऐसा कोई निवेदन नहीं किया कि 'यह बात हम नहीं समझ सके ।' इस प्रकार अज्ञानका कारण न बतलानेपर भी प्रजापतिने जो कहा कि 'तुमने क्या देखा ?' सो इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—इसका उत्तर दिया जाता है—उन्हें इस प्रकारकी कोई शङ्का नहीं हुई कि अमुक बात हमको ज्ञात नहीं है । छायात्मामें उनकी आत्मप्रतीति निश्चित ही थी । इसीसे आगे चलकर श्रुति यह कहती है कि वे शान्तचित्तसे चले गये । तथा अभीष्ट वस्तुका निश्चय हुए बिना प्रशान्तचित्तता सम्भव नहीं है; इसीसे उन्होंने यह नहीं कहा कि यह बात हमें विदित नहीं है । किंतु विपरीत ग्रहण करनेवाले शिष्योंकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; इसीसे उन्होंने स्वयं ही पूछ लिया कि तुम क्या देखते हो; तथा उनके विपरीत निश्चयका

पनयाय च वक्ष्यति साध्वलङ्कृतावित्येवमादि ।

तौ होचतुः—सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति, यथैवावां हे भगवो लोमनखादिमन्तौ स्वः, एवमेवेदं लोमनखादिसहितमावयोः प्रतिरूपमुदशरावे पश्याव इति ॥ १ ॥

निराकरण करनेके लिये [पीछे] 'साध्वलङ्कृतौ' इत्यादि वाक्य भी कहा ।

उन्होंने कहा—'हे भगवन् ! हम दोनों अपने आत्माको लोम और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं । हे भगवन् ! हमारे स्वरूप जैसे लोम एवं नखादियुक्त हैं उसी प्रकार हम जलके शकोरेमें अपने प्रतिबिम्बको भी लोम और नखादियुक्त देखते हैं' ॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

उन दोनोंसे प्रजापतिने कहा—'तुम अच्छी तरह अलंकृत होकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखो ।' तब उन्होंने अच्छी तरह अलंकृत हो, सुन्दर वस्त्र धारणकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखा । उनसे प्रजापतिने पूछा, 'तुम क्या देखते हो ?' ॥ २ ॥

तौ ह पुनः प्रजापतिरुवाच—छायात्मनिश्चयापनयाय साध्वलङ्कृतौ यथा स्वगृहे सुवसनौ महा-

उन दोनोंसे प्रजापतिने छायात्मामें आत्मत्वके निश्चयकी निवृत्तिके लिये फिर कहा—'तुम दोनों जिस प्रकार अपने घरमें

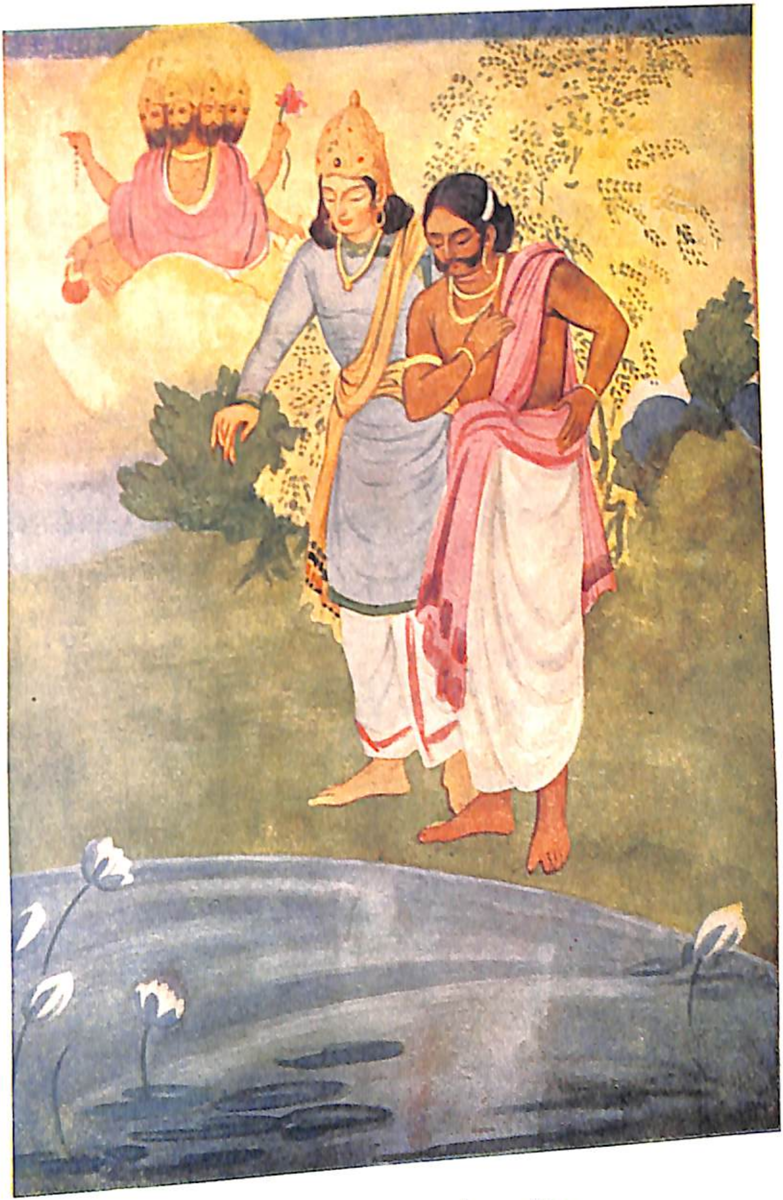

इन्द्र और विरोचनको उपदेश [पृष्ठ ८७८

र्हवस्त्रपरिधानौ परिष्कृतौ छिन्नलोमनखौ च भूत्वोदशरावे पुनरीक्षेथामिति । इह च नादिदेश यदज्ञातं तन्मे प्रब्रूतमिति । कथं पुनरनेन साध्वलङ्कारादि कृत्वोदशरावेऽवेक्षणेन तयोश्छायात्मग्रहोऽपनीतः स्यात् ।

साध्वलङ्कारसुवसनादीनामागन्तुकानां छायाकरत्वमुदशरावे यथा शरीरसम्बद्धानामेवं शरीरस्यापिच्छायाकरत्वं पूर्वं बभूवेति गम्यते । शरीरैकदेशानां च लोमनखादीनां नित्यत्वेनाभिप्रेतानामखण्डितानां छायाकरत्वं पूर्वमासीत् । छिन्नेषु च तेषु नैव लोमनखादिच्छाया दृश्यतेऽतो लोमनखादिवच्छरीरस्याप्यागमापायित्वं सिद्धमित्युदशरावादौ

रहते हो उसी भाँति अच्छी तरह अलंकृत होकर 'सुवसन'—महामूल्य वस्त्र धारणकर तथा परिष्कृत यानी लोम और नख काटकर जलके शकोरेमें फिर देखो ।' यहाँ प्रजापतिने ऐसा आदेश नहीं किया कि उस समय तुम जो न जान सको वह मुझे बतलाना । [क्योंकि वे यही चाहते थे कि] इस प्रकार सुन्दर अलंकारादि धारण कर जलके शकोरेमें देखनेसे किसी-न-किसी तरह उनकी छायात्मबुद्धि निवृत्त हो जाय ।

जिस प्रकार देहसे सम्बद्ध सुन्दर अलंकार और बहुमूल्य वस्त्रादि आगन्तुक पदार्थ जलके शकोरेमें अपनी छाया प्रकट करते हैं उसी प्रकार पहले शरीर भी छायाकारक था—ऐसा इससे ज्ञात होता है । शरीरके एकदेशरूप तथा नित्यरूपसे माने गये अखण्डित लोम और नखादि भी पहले छायाजनक थे । किंतु अब उन्हें काट लिये जानेपर उन लोम एवं नखादिकी छाया दिखायी नहीं देती । इससे लोम और नखादिके समान शरीर भी आगमापायी (उत्पन्न और नष्ट होनेवाला) सिद्ध होता है ।

दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च देहस्यानात्मत्वं सिद्धम्, उदशरावादौ छायाकरत्वादेहसम्बद्धालङ्कारादिवत् ।

न केवलमेतावदेतेन यावत्किञ्चिदात्मीयत्वाभिमतं सुखदुःखरागद्वेषमोहादि च कादाचित्कत्वान्नखलोमादिवदनात्मेति प्रत्येतव्यम् । एवमशेषमिथ्याग्रहापनयनिमित्ते साध्वलङ्कारादिदृष्टान्ते प्रजापतिनोक्ते श्रुत्वा तथा कृतवतोरपिच्छायात्मविपरीतग्रहो नापजगाम यस्मात्तस्मात्स्वदोषेणैव केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानाविन्द्रविरोचनावभूतामिति गम्यते । तौ पूर्ववदेव दृढनिश्चयौ पप्रच्छ किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

इस प्रकार जलके शकोरे आदिमें दीखनेवाले उनके निमित्तभूत देहका भी अनात्मत्व सिद्ध होता है, क्योंकि देहसम्बन्धी अलंकारादिके समान उसका भी जलके शकोरे आदिमें छायाकरत्व है ।

इससे केवल इतनी ही बात सिद्ध होती हो सो नहीं, बल्कि सुख, दुःख, राग, द्वेष और मोहादि जितना कुछ भी आत्मीयरूपसे माना जाता है वह भी नख एवं लोमादिके समान कभी-कभी होनेवाला होनेके कारण अनात्मा ही है—ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार सम्पूर्ण मिथ्या ग्रहणकी निवृत्तिका हेतुभूत प्रजापतिका कहा हुआ साधु अलंकारादिका दृष्टान्त सुनकर वैसा ही करनेपर भी, क्योंकि उनका छायात्मसम्बन्धी विपरीत ज्ञान निवृत्त नहीं हुआ इसलिये यह विदित होता है कि उन इन्द्र और विरोचनका विवेकविज्ञान उनके किसी अपने दोषसे ही प्रतिबद्ध हो गया था । तब प्रजापतिने पहलेहीके समान दृढ निश्चयवाले उन दोनोंसे पूछा, 'तुम क्या देखते हो ?' ॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

उन दोनोंने कहा—'भगवन् ! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकारसे अलंकृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये और परिष्कृत हैं उसी प्रकार हे भगवन् ! ये दोनों भी उत्तम प्रकारसे अलंकृत, सुन्दर वस्त्रधारी और परिष्कृत हैं ।' तब प्रजापतिने कहा—'यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है ।' तब वे दोनों शान्तचित्तसे चले गये ॥३॥

तौ तथैव प्रतिपन्नौ यथैवेदमिति पूर्ववद्यथा साध्वलङ्कारादिविशिष्टावावां स्व एवमेवेमौ छायात्मानाविति सुतरां विपरीतनिश्चयौ बभूवतुः । यस्यात्मनो लक्षणं य आत्मापहतपाप्मेत्युक्त्वा पुनस्तद्विशेषमन्विष्यमाणयोर्य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति साक्षादात्मनि निर्दिष्टे तद्विपरीतग्रहापनयायोदशरावसाध्वलङ्कारदृष्टान्तेऽप्यभिहित आत्मस्वरूपबोधाद्विपरीतग्रहो नापगतः ।

उन्होंने उसी प्रकार समझा । 'यथैवेदम्' अर्थात् पूर्ववत् जिस प्रकार हम साधु-अलंकारादिविशिष्ट हैं उसी प्रकार ये छायात्मा भी हैं । इस प्रकार वे सर्वथा विपरीत निश्चयवाले हो गये । जिस आत्माका लक्षण 'य आत्मापहतपाप्मा' इस प्रकार कहकर फिर उसकी विशेषताकी जिज्ञासावालोंके प्रति 'यह जो नेत्रान्तर्गत पुरुष दिखायी देता है' इस प्रकार आत्माका साक्षात् निर्देश करनेपर तथा उसके विपरीत ज्ञानकी निवृत्तिके लिये उदशराव और साधु-अलंकारादि दृष्टान्त देनेपर भी उन दोनोंका आत्मस्वरूपज्ञानसे विपरीत ग्रह निवृत्त नहीं हुआ; अतः ऐसा

अतः स्वदोषेण केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानसामर्थ्याविति मत्वा यथाभिप्रेतमेवात्मानं मनसि निधायैष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति प्रजापतिः पूर्ववत् । न तु तदभिप्रेतमात्मानम् ।

य आत्मेत्याद्यात्मलक्षणश्रवणेनाक्षिपुरुषश्रुत्या चोदशरावाद्युपपत्त्या च संस्कृतौ तावत् । मद्वचनं सर्वं पुनः पुनः स्मरतोः प्रतिबन्धक्षयाच्च स्वयमेवात्मविषये विवेको भविष्यतीति मन्वानः पुनर्ब्रह्मचर्यादेशे च तयोश्चित्तदुःखोत्पत्तिं परिजिहीर्षन्कृतार्थबुद्धितया गच्छन्तावप्युपेक्षितवान्प्रजापतिः । तौ हेन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ तुष्टहृदयौ कृतार्थबुद्धी इत्यर्थः । न तु शम एव शमश्चेत्तयोर्जातो विपरीतग्रहो विगतोऽभविष्यत्प्रवव्रजतुर्गतवन्तौ ॥ ३ ॥

मानकर कि इन दोनोंकी विवेक-विज्ञानसामर्थ्य अपने किसी दोषके कारण प्रतिबद्ध हो गयी है प्रजापतिने उनके माने हुए आत्माका नहीं बल्कि अपने मनमें यथाभिमत आत्माका ही निश्चय कर पहलेहीकी तरह कहा—'यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है तथा यही ब्रह्म है ।'

'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि आत्माका लक्षण सुननेसे, अक्षिपुरुषसम्बन्धिनी श्रुतिसे और उदशरावादिकी युक्तिसे तो ये संस्कारयुक्त हो ही गये हैं; अब मेरी सारी बातको बारंबार स्मरण करते हुए प्रतिबन्धका क्षय होनेपर इन्हें स्वयं ही आत्माके सम्बन्धमें विवेक हो जायगा —ऐसा मानकर और पुनः ब्रह्मचर्यका आदेश देनेपर उन्हें जो दुःख होगा उसे बचानेके लिये प्रजापतिने कृतार्थबुद्धि होकर जाते हुए उन दोनोंकी उपेक्षा कर दी । वे इन्द्र और विरोचन शान्तचित्त—संतुष्टहृदय अर्थात् कृतार्थबुद्धि होकर चले गये । किंतु यह शम नहीं था, क्योंकि यदि उन्हें वास्तविक शम ही होता तो उनका विपरीतग्रहण निवृत्त हो जाता ॥ ३ ॥

एवं तयोर्गतयोरिन्द्रविरोचनयो राज्ञोर्भोगासक्तयोर्यथोक्तविस्मरणं स्यादित्याशङ्क्याप्रत्यक्षं प्रत्यक्षवचनेन च चित्तदुःखं परिजिहीर्षुः—

इस प्रकार गये हुए उन भोगासक्त राजा इन्द्र और विरोचनको पहले कहे हुए [आत्मलक्षण] का विस्मरण हो जायगा——ऐसी आशङ्कासे प्रत्यक्ष वचनद्वारा अप्रत्यक्षरूपसे उनके हार्दिक दुःखकी निवृत्ति चाहनेवाले——

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४ ॥

प्रजापतिने उन्हें [दूर गया] देखकर कहा——'ये दोनों आत्माको उपलब्ध किये बिना-उसका साक्षात्कार किये बिना जा रहे हैं; देवता हों या असुर जो कोई ऐसे निश्चयवाले होंगे उन्हींका पराभव होगा ।' वह जो विरोचन था शान्तचित्तसे असुरोंके पास पहुँचा और उनको यह आत्मविद्या सुनायी——'इस लोकमें आत्मा (देह) ही पूजनीय है और आत्मा ही सेवनीय है । आत्माकी ही पूजा और परिचर्या करनेवाला पुरुष इहलोक और परलोक दोनों लोकोंको प्राप्त कर लेता है' ॥ ४ ॥

तौ दूरं गच्छन्तावन्वीक्ष्य य आत्मापहतपाप्मेत्यादिवचनवदे-

प्रजापतिने उन्हें दूर गया देखकर, यह मानते हुए कि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि

तदप्यनयोः श्रवणगोचरत्वमेष्यतीति मत्वोवाच प्रजापतिः । अनुपलभ्य यथोक्तलक्षणमात्मानमननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षं चाकृत्वा विपरीतनिश्चयौ च भूत्वेन्द्रविरोचनावेतौ व्रजतो गच्छेयाताम् । अतो यतरे देवा वासुरा वा किं विशेषितेनैतदुपनिषद आभ्यां या गृहीतात्मविद्या सेयमुपनिषद्येषां देवानामसुराणां वा त एतदुपनिषद एवंविज्ञाना एतन्निश्चया भविष्यन्तीत्यर्थः । ते किं पराभविष्यन्ति श्रेयोमार्गात्पराभूता बहिर्भूता विनष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः ।

स्वगृहं गच्छतोः सुरासुरराजयोर्योऽसुरराजः स ह शान्तहृदय एव सन्विरोचनोऽसुराञ्जगाम । गत्वा च तेभ्योऽसुरेभ्यः शरीरात्मबुद्धिर्योपनिषत्तामेतामुपनिषदं प्रोवाचोक्तवान् । देहमात्रमेवात्मा पित्रोक्त इति ।

वाक्यके समान यह वचन भी उनके कानोंमें पड़ जायगा, कहा—'ये इन्द्र और विरोचन उपर्युक्त लक्षणवाले आत्माको बिना जाने—उसे अपने प्रत्यक्ष किये बिना विपरीत निश्चयवाले होकर जा रहे हैं । इसलिये विशेषरूपसे क्या कहा जाय, जो भी देवता या असुर इस उपनिषद्वाले होंगे--इनके द्वारा जो आत्मविद्या ग्रहण की गयी है वही जिन देवता या असुरोंकी उपनिषद् होगी वे ऐसे उपनिषद्--ऐसे विज्ञान अर्थात् ऐसे निश्चयवाले जो भी होंगे । उनका क्या होगा ? उनका पराभव होगा । तात्पर्य यह है कि वे श्रेयोमार्गसे पराभूत—बहिर्भूत अर्थात् विनष्ट हो जायँगे ।'

अपने घरको जानेवाले देवराज और असुरराजोंमें जो असुरराज था वह विरोचन शान्तचित्तसे ही असुरोंके पास पहुँचा । तथा वहाँ पहुँचकर उन असुरोंके प्रति जो देहात्मबुद्धिरूप उपनिषद् थी वही उपनिषद् सुना दी । अर्थात् यह कह दिया कि प्रजापतिने देहको ही आत्मा बतलाया है । इसलिये

तस्मादात्मैव देह इह लोके महय्यः पूजनीयस्तथा परिचर्यः परिचरणीयस्तथात्मानमेवेह लोके देहं महयन् परिचरंश्चोभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं च । इहलोकपरलोकयोरेव सर्वे लोकाः कामाश्चान्तर्भवन्तीति राज्ञोऽभिप्रायः ॥ ४ ॥

इस लोकमें देहरूप आत्मा ही महय्य—पूजनीय तथा परिचर्य—सेवनीय है और इस लोकमें देहरूप आत्माकी ही पूजा-सेवा करनेसे इस और उस दोनों लोकोंको प्राप्त कर लेता है । इस लोक और परलोकमें ही सम्पूर्ण लोक और भोग अन्तर्भूत होते हैं—ऐसा राजा विरोचनका अभिप्राय है ॥४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाꣳह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इसीसे इस लोकमें जो दान न देनेवाला, श्रद्धा न करनेवाला और यजन न करनेवाला पुरुष होता है उसे शिष्टजन 'अरे ! यह तो आसुर (आसुरीस्वभाववाला) ही है' ऐसा कहते हैं । यह उपनिषद् असुरोंकी ही है । वे ही मृतक पुरुषके शरीरको [गन्ध-पुष्प-अन्नादि] भिक्षा, वस्त्र और अलंकारसे सुसज्जित करते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे—ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात्तत्सम्प्रदायोऽद्याप्यनुवर्तत इतीह लोकेऽददानं दानमकुर्वाणमविभागशीलमश्रद्दधानं सत्कार्येषु श्रद्धारहितं यथाश-

इसीसे उन (असुरों) का सम्प्रदाय इस समय भी विद्यमान है । अतः इस लोकमें अददान—दान न करनेवाले अर्थात् जिसका स्वभाव अपने धनका विभाग करनेका नहीं है, अश्रद्दधान—

क्त्ययजमानमयजनस्वभावमाहुरासुरः खल्वयं यत एवंस्वभावो बतेति खिद्यमाना आहुः शिष्टाः । असुराणां हि यस्मादश्रद्दधानतादिलक्षणैषोपनिषत् ।

तयोपनिषदा संस्कृताः सन्तः प्रेतस्य शरीरं कुणपं भिक्षया गन्धमाल्यान्नादिलक्षणया वसनेन वस्त्रादिनाच्छादनादिप्रकारेणालङ्कारेण ध्वजपताकादिकरणेनेत्येवं संस्कुर्वन्त्येतेन कुणपसंस्कारेणामुं प्रेत्य प्रतिपत्तव्यं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

सत्कार्योंमें श्रद्धा न रखनेवाले और अयजमान—जिसका स्वभाव यथाशक्ति यजन करनेका नहीं है उस पुरुषको शिष्टजन 'क्योंकि यह ऐसे स्वभाववाला है इसलिये निश्चय यह आसुर ही है' ऐसा खेद करते हुए कहते हैं; क्योंकि यह अश्रद्धानता आदि लक्षणोंवाली उपनिषद् असुरोंकी ही है ।

उस उपनिषद्से संस्कारयुक्त होकर वे मृतक पुरुषके शरीर अर्थात् शवको गन्ध, पुष्प एवं अन्नादिरूप भिक्षा, वसन—वस्त्रादिद्वारा आच्छादनादि करनेकी विधिसे और ध्वजा-पताकादि लगानारूप अलंकारसे संस्कृत करते हैं और ऐसा मानते हैं कि इस शवके संस्कारसे हम मरकर अपने प्राप्त होनेयोग्य लोकको प्राप्त कर लेंगे ।५।

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्यायेऽष्टमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

इन्द्रका पुनः प्रजापतिके पास आना

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥ १ ॥

किंतु इन्द्रको देवताओंके पास बिना पहुँचे ही यह भय दिखायी दिया । जिस प्रकार इस शरीरके अच्छी प्रकार अलंकृत होनेपर यह (छायात्मा) अच्छी तरह अलंकृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है उसी प्रकार इसके अंधे होनेपर अंधा हो जाता है, स्राम होनेपर स्राम हो जाता है और खण्डित होनेपर खण्डित हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह भी नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अथ ह किलेन्द्रोऽप्राप्यैव देवान् दैव्याक्रौर्यादिसम्पदा युक्तत्वाद्गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन्नेतद्वक्ष्यमाणं भयं स्वात्मग्रहणनिमित्तं ददर्श दृष्टवान् । उदशरावदृष्टान्तेन

किंतु इन्द्रने देवताओंके पास बिना पहुँचे ही, क्योंकि वे अक्रूरता आदि दैवीसम्पत्तिसे युक्त थे इसलिये गुरुवाक्योंको बारंबार स्मरण करते हुए जाते-जाते अपने किये हुए आत्मस्वरूपके ग्रहणके कारण यह भय देखा । जलपात्रके दृष्टान्तसे प्रजापतिने जिसके लिये [अर्थात् देहका अनात्मत्व प्रदर्शित

प्रजापतिना यदर्थो न्याय उक्तस्तदेकदेशो मघवतः प्रत्यभाद्बुद्धौ, येन च्छायात्मग्रहणे दोषं ददर्श ।

कथम् ? यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते छायात्मापि साध्वलंकृतो भवति सुवसने च सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतो यथा नखलोमादिदेहावयवापगमे छायात्मापि परिष्कृतो भवति नखलोमादिरहितो भवति; एवमेवायं छायात्माप्यस्मिञ्छरीरे नखलोमादिभिर्देहावयवत्वस्य तुल्यत्वादन्धे चक्षुषोपगमेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः । स्रामः किलैकनेत्रस्तस्यान्धत्वेन गतत्वात्। चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा स्रवति स स्रामः। परिवृक्णश्छिन्न-

करनेके लिये जो व्यभिचारित्वरूप] न्याय प्रदर्शित किया था उसका एकदेश इन्द्रकी बुद्धिमें स्फुरित हुआ, जिससे कि उन्हें छायाको आत्मरूपसे ग्रहण करनेमें दोष दीखने लगा ।

कैसा दोष दिखायी दिया ?—जिस प्रकार निश्चय ही इस शरीरके अच्छी तरह अलंकृत होनेपर यह छायात्मा अच्छी तरह अलंकृत हो जाता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है अर्थात् नखलोमादि शरीरके अवयवोंकी निवृत्ति होनेपर छायात्मा भी परिष्कृत—नखलोमादिरहित हो जाता है; उसी प्रकार यह छायात्मा भी—इस शरीरमें नखलोमादिसे चक्षु आदिकी देहावयवत्वमें समानता होनेके कारण [शरीरके] अंधे होनेपर अंधा हो जाता है, स्राम होनेपर स्राम हो जाता है । स्रामका प्रसिद्ध अर्थ एक नेत्रवाला है, किंतु वह अंधत्वसे ही गतार्थ हो जाता है इसलिये जिसके चक्षु या नासिका सदा स्रवित होते रहते हैं उसे 'स्राम' समझना चाहिये । परिवृक्ण—जिसके हाथ या पैर

हस्तश्छिन्नपादो वा। स्रामे परिवृक्णे वा देहे छायात्मापि तथा भवति। तथास्य देहस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥ १ ॥

कट गये हों। शरीरके स्राम या परिवृक्ण होनेपर छायात्मा भी वैसा ही हो जाता है; तथा इस देहका नाश होनेपर यह भी नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अतः—

अतः—

नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

'इस [छायात्मदर्शन] में मैं कोई भोग्य नहीं देखता।' इसलिये वे समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्त होकर गये थे; अब किस इच्छासे पुनः आये हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! जिस प्रकार यह (छायात्मा) इस शरीरके अच्छी तरह अलंकृत होनेपर अच्छी तरह अलंकृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत हो जाता है उसी प्रकार इसके अंधे होनेपर अंधा, स्राम होनेपर स्राम और खण्डित होनेपर खण्डित भी हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह नष्ट भी हो जाता है, मुझे इसमें कोई फल दिखायी नहीं देता' ॥ २ ॥

नाहमत्रास्मिंश्छायात्मदर्शने देहात्मदर्शने वा भोग्यं फलं पश्यामीति । एवं दोषं देहच्छायात्मदर्शनेऽध्यवस्य स समित्पाणिर्ब्रह्मचर्यं वस्तुं पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः प्रगतवानसि विरोचनेन सार्धं किमिच्छन् पुनरागम इति । विजानन्नपि पुनः पप्रच्छेन्द्राभिप्रायाभिव्यक्तये । यद्वेत्थ तेन मोपसीदेति यद्वत्तथा च स्वाभिप्रायं प्रकटमकरोद्यथैव खल्वयमित्यादि, एवमेवेति चान्वमोदत प्रजापतिः ।

ननु तुल्येऽक्षिपुरुषश्रवणे देहच्छायामिन्द्रोऽग्रहीदात्मेति देहमेव तु विरोचनस्तत्किन्निमित्तम् ।

इस छायात्मदर्शन या देहात्मदर्शनमें मैं कोई भोग्य—फल नहीं देखता । इस प्रकार देहात्मदर्शन या छायात्मदर्शनमें दोष निश्चय कर वे समित्पाणि हो पुनः ब्रह्मचर्यवास करनेके लिये लौट आये । उनसे प्रजापतिने कहा—'हे इन्द्र ! तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्तसे चले गये थे, अब क्या इच्छा करते हुए तुम पुनः आये हो ?' उन्होंने अच्छी तरह जानते हुए भी इन्द्रके अभिप्रायकी अभिव्यक्तिके लिये [इस प्रकार] पुनः प्रश्न किया । [सप्तमाध्यायमें सनत्कुमारजीके] 'तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे प्रति उपसन्न होओ' ऐसा पूछनेपर जिस प्रकार नारदजीने अपना अभिप्राय प्रकट किया था उसी प्रकार इन्द्रने 'यथैव खल्वयम्' इत्यादि वाक्यसे अपना अभिप्राय प्रकट किया और प्रजापतिने 'एवमेव' ऐसा कहकर उसका अनुमोदन किया ।

शङ्का—किंतु अक्षिपुरुषका समानरूपसे श्रवण करनेपर भी इन्द्रने देहकी छायाको आत्मरूपसे ग्रहण किया और विरोचनने स्वयं देहको ही—सो ऐसा किस कारणसे हुआ ?

तत्र मन्यन्ते—यथेन्द्रस्योदशरावादिप्रजापतिवचनं स्मरतो देवानप्राप्तस्यैवाचार्योक्तबुद्ध्या छायात्मग्रहणं तत्र दोषदर्शनं चाभूत् । न तथा विरोचनस्य, किं तर्हि ? देह एवात्मदर्शनं नापि तत्र दोषदर्शनं बभूव । तद्वदेव विद्याग्रहणसामर्थ्यप्रतिबन्धदोषाल्पत्वबहुत्वापेक्षमिन्द्रविरोचनयोश्छायात्मदेहयोर्ग्रहणम् । इन्द्रोऽल्पदोषत्वाद्दृश्यत इति श्रुत्यर्थमेव श्रद्दधानतया जग्राहेतरश्छायानिमित्तं देहं हित्वा श्रुत्यर्थं लक्षणया जग्राह प्रजापतिनोक्तोऽयमिति दोषभूयस्त्वात् । यथा किल नीलानील-

समाधान—इस विषयमें शिष्टजन ऐसा मानते हैं—जिस प्रकार इन्द्रको प्रजापतिका जलपात्रादिसम्बन्धी वाक्य स्मरण करते-करते देवताके पास पहुँचे बिना ही आचार्यकी बतलायी हुई दृष्टिसे छायात्माका ग्रहण और उसमें दोषदर्शन भी हुआ, तथा विरोचनको वैसा नहीं हुआ; तो क्या हुआ ?—उसकी देहमें ही आत्मदृष्टि हुई और उसमें कोई दोषदर्शन भी नहीं हुआ—उसी प्रकार विद्याग्रहणकी सामर्थ्यका प्रतिबन्ध करनेवाले दोषकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षासे इन्द्र और विरोचनका छायात्म और देहात्मसम्बन्धी ग्रहण है । इन्द्रने अल्पदोषयुक्त होनेके कारण श्रद्धा करते हुए 'दृश्यते' इस श्रुतिके अर्थको ही ग्रहण किया और दूसरे (विरोचन) ने दोषकी अधिकताके कारण श्रुत्यर्थको छोड़कर लक्षणासे 'प्रजापतिने देहके विषयमें ही कहा है' इस प्रकार देहको ही ग्रहण किया । जिस प्रकार दर्पणमें दीखनेवाले नील और अनीलवर्ण वस्त्रोंमें जो नीला है वह

योरादर्शे दृश्यमानयोर्वाससोर्यन्नीलं तन्महार्हमितिच्छायानिमित्तं वास एवोच्यते नच्छाया तद्वदिति विरोचनाभिप्रायः। स्वचित्तगुणदोषवशादेव हि शब्दार्थावधारणं तुल्येऽपि श्रवणे ख्यापितं दाम्यत दत्त दयध्वमिति दकारमात्रश्रवणाच्छ्रुत्यन्तरे। निमित्तान्यपि तदनुगुणान्येव सहकारीणि भवन्ति।२।

बहुमूल्य है'—इस कथनसे छायाका निमित्तभूत वस्त्र ही कहा जाता है, छाया नहीं कही जाती उसी प्रकार [प्रजापतिके] इस कथनसे देह ही विवक्षित है—ऐसा विरोचनका अभिप्राय था। एक अन्य श्रुतिमें (बृह० अ० ५ में) केवल दकारके श्रवणसे तुल्य श्रवण होनेपर भी अपने चित्तके गुण-दोषके कारण ही 'दमन करो, दान करो, दया करो' ऐसा विभिन्न शब्दार्थ-ज्ञान देखा गया है। अपने-अपने गुणोंके अनुसार ही युक्तिरूप निमित्त भी सहकारी हो जाते हैं॥ २॥

* * *

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

'हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है' ऐसा प्रजापतिने कहा, 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और रहो।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया। तब प्रजापतिने उससे कहा ॥ ३ ॥

एवमेवैष मघवन्सम्यक् त्वयावगतं नच्छायात्मेत्युवाच प्रजापतिर्यो मयोक्त आत्मा प्रकृत

'हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है तुमने ठीक समझा है, छाया आत्मा नहीं है'—ऐसा प्रजापतिने कहा, 'मैंने तुम्हारे प्रति जिस प्रकृत

एतमेवात्मानं तु ते भूयः पूर्वं व्याख्यातमप्यनुव्याख्यास्यामि । यस्मात्सकृद्व्याख्यातं दोषरहितानामवधारणविषयं प्राप्तमपि नाग्रहीरतः केनचिद्दोषेण प्रतिबद्धग्रहणसामर्थ्यस्त्वमतस्तत्क्षपणाय वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीत्युक्त्वा तथोषितवते क्षपितदोषाय तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

आत्माका वर्णन किया है, पहले व्याख्या किये हुए उस आत्माकी ही मैं तुम्हारे प्रति पुनः व्याख्या करूँगा । क्योंकि यद्यपि दोषरहित पुरुषोंको वह एक बार व्याख्या करनेपर ही ज्ञानका विषय हो जाता है तथापि तुम उसे ग्रहण नहीं कर सके । इसलिये किसी दोषसे तुम्हारी ग्रहणशक्ति प्रतिबद्ध है । उसकी निवृत्तिके लिये तुम अगले बत्तीस वर्ष यहाँ और ब्रह्मचर्यवास करो । ऐसा कहकर, उसी प्रकार निवास करनेवाले क्षीणदोष इन्द्रसे प्रजापतिने कहा ॥ ३ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये नवमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

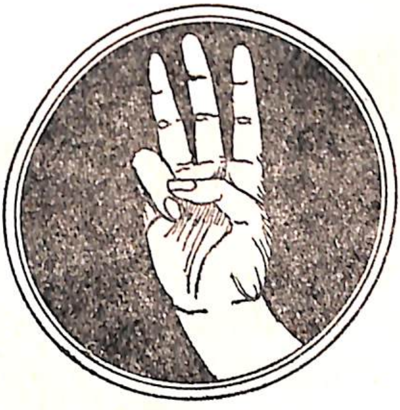

दशम खण्ड

इन्द्रके प्रति स्वप्नपुरुषका उपदेश

य आत्मापहतपाप्मादिलक्षणो य एषोऽक्षिणीत्यादिना व्याख्यात एष सः । कोऽसौ ?

जो आत्मा अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाला है जिसकी 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि वाक्यद्वारा व्याख्या की गयी है वह यह है । वह कौन है ?

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

'जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है यह आत्मा है' ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है ।' ऐसा सुनकर वे (इन्द्र) शान्तहृदयसे चले गये । किंतु देवताओंके पास बिना पहुँचे ही उन्हें यह भय दिखायी दिया 'यद्यपि यह शरीर अंधा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध होता है और यदि यह स्राम होता है तो भी वह अस्राम होता है । इस प्रकार यह इसके दोषसे दूषित नहीं होता' ॥ १ ॥

यः स्वप्ने महीयमानः स्त्र्यादिभिः पूज्यमानश्चरत्यनेकविधान् स्वप्नभोगाननुभवतीत्यर्थः ।

'जो स्वप्नमें महीयमान—स्त्री आदिसे पूजित होता हुआ विचरता अर्थात् अनेक प्रकारके भोगोंको अनुभव करता है, वही आत्मा है'

एष आत्मेति होवाचेत्यादि समानम् । स हैवमुक्त इन्द्रः शान्तहृदयः प्रवव्राज । स हाप्राप्यैव देवान् पूर्ववदस्मिन्नप्यात्मनि भयं ददर्श । कथम् ? तदिदं शरीरं यद्यप्यन्धं भवति स्वप्नात्मा योऽनन्धः स भवति । यदि स्राममिदं शरीरमस्रामश्च स भवति नैवैष स्वप्नात्मास्य देहस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

ऐसा प्रजापतिने कहा इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है । इस प्रकार कहे जानेपर वे—इन्द्र शान्तहृदयसे चले गये । किंतु उन्होंने देवताओंके पास बिना पहुँचे ही इस आत्मामें भी यह भय देखा । क्या देखा ?—'यद्यपि यह शरीर अंधा हो तो भी जो स्वप्नशरीर है वह अनन्ध होता है और यदि यह शरीर स्राम हो तो भी वह स्राम नहीं होता । इस प्रकार यह स्वप्नशरीर इस शरीरके दोषसे दूषित नहीं होता' ॥१॥

* * *

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

'यह इस देहके वधसे नष्ट भी नहीं होता और न इसकी स्रामतासे स्राम होता है । किंतु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताडित करता हो, यह मानो अप्रियवेत्ता हो और रुदन करता हो—ऐसा हो जाता है; अतः इसमें (इस प्रकारके आत्मदर्शनमें) मैं कोई फल नहीं देखता' ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

[अतः] वे समित्पाणि होकर फिर [प्रजापतिके पास] आये । उनसे प्रजापतिने कहा— 'इन्द्र ! तुम तो शान्तचित्त होकर गये थे अब किस इच्छासे पुनः आये हो ?' उन्होंने कहा—'भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध रहता है, और यह स्राम होता है तो भी वह अस्राम रहता है; इस प्रकार वह इसके दोषसे दूषित नहीं होता ॥ ३ ॥ न इसके वधसे उसका वध होता है और न इसकी स्रामतासे वह स्राम होता है; किंतु उसे मानो कोई मारते हों, कोई ताडित करते हों और [उसके कारण] मानो वह अप्रियवेत्ता हो और रुदन करता हो–[ऐसा अनुभव होनेके कारण] इसमें मैं कोई फल नहीं देखता ।' तब प्रजापतिने कहा——'इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है, मैं तुम्हारे इस (आत्मतत्त्व) की पुनः व्याख्या करूँगा, तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो ।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया; तब उनसे प्रजापतिने कहा—— ॥ ४ ॥

नाप्यस्य वधेन स हन्यते छायात्मवन्न चास्य स्राम्येण स्रामः स्वप्नात्मा भवति । यदध्यायादावागममात्रेणोपन्यस्तं नास्य जरयैतज्जीर्यतीत्यादि,

न तो छायात्माके समान इस देहके नाशसे उस (स्वप्नशरीर) का नाश ही होता है और न इसकी स्रामतासे वह स्राम होता है । इस अध्यायके आरम्भमें जो केवल शास्त्रप्रमाणसे कहा गया है कि 'इसकी जरावस्थासे वह जीर्ण नहीं होता'

तदिह न्यायेनोपपादयितुमुपन्यस्तम् ।

इत्यादि, उसीका न्यायतः उपपादन करनेके लिये यहाँ उल्लेख किया गया है ।

न तावदयं छायात्मवदेहदोषयुक्तः, किन्तु घ्नन्ति त्वेवैनम् । एवशब्द इवार्थे । घ्नन्तीवैनं केचनेति द्रष्टव्यम्, न तु घ्नन्त्येवेति, उत्तरेषु सर्वेष्विवशब्ददर्शनात् ।

[इस प्रकार] यह छायात्माके समान देहके दोषोंसे तो युक्त नहीं है; किंतु इसे मानो कोई मारते हैं । ['घ्नन्ति त्वेव' इस पदमें] 'एव' शब्द 'इव' अर्थमें है; अतः इसका 'मानो इसे कोई मारते हैं' यही भाव समझना चाहिये, 'मारते ही हैं' ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उत्तरवर्ती सब वाक्योंमें 'इव' शब्द ही देखा जाता है ।

नास्य वधेन हन्यत इति विशेषणाद्घ्नन्ति त्वेवेति चेत् ? नैवम्, प्रजापतिं प्रमाणीकुर्वतोऽनृतवादित्वापादनानुपपत्तेः । 'एतदमृतम्' इत्येतत्प्रजापतिवचनं कथं मृषा कुर्यादिन्द्रस्तं प्रमाणीकुर्वन् ।

यदि कहो कि 'यह इस (स्थूल शरीर) का नाश होनेसे नष्ट नहीं होता' ऐसा विशेषण होनेके कारण 'इसे कोई मारते ही हैं' यही अर्थ समझना चाहिये तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रजापतिको प्रामाणिक माननेवाले व्यक्तिके लिये उनपर मिथ्यावादित्वका आरोप करना सम्भव नहीं है । भला, प्रजापतिको प्रामाणिक माननेवाला इन्द्र उनके 'यह अमृत है' इस वचनको मिथ्या कैसे कर सकता है ।

ननुच्छायापुरुषे प्रजापतिनोक्ते 'अस्य शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' इति दोषमभ्यदधात्, तथेहापि स्यात् ।

शङ्का—किंतु प्रजापतिके बतलाये हुए छायापुरुषमें तो [इन्द्रने] 'शरीरका नाश होनेके पश्चात् यह भी नष्ट हो जाता है' ऐसा दोष दिखलाया था; उसी प्रकार यहाँ भी हो सकता है ।

नैवम्; कस्मात् ? 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति नच्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते मघवान् । कथम् ? अपहतपाप्मादिलक्षणे पृष्टे यदिच्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते तदा कथं प्रजापतिं प्रमाणीकृत्य पुनः श्रवणाय समित्पाणिर्गच्छेत् ? जगाम च । तस्मान्नच्छायात्मा प्रजापतिनोक्त इति मन्यते । तथा च व्याख्यातम्—द्रष्टाक्षिणि दृश्यत इति ।

समाधान—यह बात नहीं है; कैसे नहीं है ? क्योंकि 'यह जो नेत्रमें पुरुष दिखायी देता है' इस वाक्यसे प्रजापतिने छायात्माका निरूपण नहीं किया—ऐसा इन्द्र मानते हैं । किस प्रकार ?—यदि वे ऐसा मानते कि अपहतपाप्मादि लक्षणवाले आत्माके विषयमें पूछे जानेपर प्रजापतिने छायात्मा बतलाया है तो प्रजापतिको प्रामाणिक मानकर भी वे श्रवण करनेके लिये पुनः समित्पाणि होकर उनके पास क्यों जाते ? और गये थे ही । इसलिये वे यही मानते थे कि प्रजापतिने छायात्माका वर्णन नहीं किया । तथा हमने भी 'जो द्रष्टा नेत्रमें दिखायी देता है' ऐसी ही व्याख्या की है ।

तथा विच्छादयन्तीव विद्रावयन्तीव, तथा च पुत्रादिमरण-

तथा मानो इसे कोई विच्छादित—विद्रावित (ताडित) करते हों और इसी प्रकार पुत्रादि-मरणके

निमित्तमप्रियवेत्तेव भवति । अपि च स्वयमपि रोदितीव ।	कारण मानो वह अप्रिय अनुभव करनेवाला होता है तथा वह स्वयं भी मानो रोता है ।
नन्वप्रियं वेत्त्येव कथं वेत्तेवेति उच्यते ?	*शङ्का*—किंतु वह तो अप्रिय जानता ही है, फिर उसे 'मानो अप्रिय जाननेवाला हो' ऐसा क्यों कहा जाता है ?
न; अमृताभयत्ववचनानुपपत्तेः। "ध्यायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति च श्रुत्यन्तरात् ।	*समाधान*—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इससे उसका अमृतत्व और अभयत्वप्रतिपादन अनुपपन्न होगा तथा "मानो ध्यान करता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है ।
ननु प्रत्यक्षविरोध इति चेत् ?	*शङ्का*-किंतु ऐसा माननेसे तो प्रत्यक्ष अनुभवसे विरोध आता है ।
न; शरीरात्मत्वप्रत्यक्षवद्भ्रान्तिसम्भवात् ।	*समाधान*—नहीं, क्योंकि शरीर ही आत्मा है इस प्रत्यक्ष अनुभवके समान यह (अप्रियवेदनादि) भी भ्रान्तिजनित है ।
तिष्ठतु तावदप्रियवेत्तेव न वेति; नाहमत्र भोग्यं पश्यामि। स्वप्नात्मज्ञानेऽपीष्टं फलं नोपलभ इत्यभिप्रायः ।	वह मानो अप्रियवेत्ता हो अथवा न हो, यह बात अलग रहे, मुझे इसमें कोई भोग्य (फल) दिखायी नहीं देता । तात्पर्य यह है कि स्वप्नशरीरको आत्मा माननेमें भी मुझे इच्छित फल प्राप्त नहीं होता ।
एवमेवैष तवाभिप्रायेणेति	[प्रजापतिने कहा—] 'आत्माका अमृत और अभय गुणवान् होना

वाक्यशेषः । आत्मनोऽमृताभयगुणवत्त्वस्याभिप्रेतत्वात् ।

द्विरुक्तमपि न्यायतो मया यथावन्नावधारयति; तस्मात्पूर्ववदस्याद्यापि प्रतिबन्धकारणमस्तीति मन्वानस्तत्क्षपणाय वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमित्यादिदेश प्रजापतिः । तथोषितवते क्षपितकल्मषायाह ॥ २—४ ॥

अभीष्ट है, अतः तुम्हारे अभिप्रायके अनुसार यह बात ऐसी ही है ।* यहाँ 'एवमेवैष' इसके आगे 'तवाभिप्रायेण' यह वाक्यशेष है ।

फिर ऐसा समझकर कि 'मेरे दो बार युक्तिपूर्वक बतलानेपर भी यह ठीक-ठीक नहीं समझता, इसलिये पहलेकी भाँति अब भी इसमें प्रतिबन्धका कारण विद्यमान है'—प्रजापतिने उसकी निवृत्तिके लिये इन्द्रको 'बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो'—ऐसी आज्ञा दी । इस प्रकार ब्रह्मचर्यवास करके क्षीणदोष हुए इन्द्रसे प्रजापतिने कहा ॥ २—४ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये दशमखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १० ॥

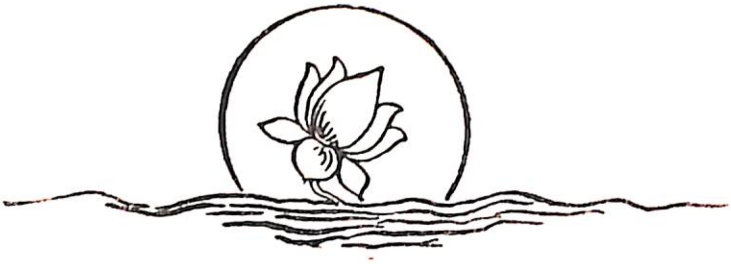

---

* अर्थात् स्वप्नशरीरको आत्मा माननेमें वस्तुतः कोई लाभ नहीं है ।

एकादश खण्ड

सुषुप्त पुरुषका उपदेश

पूर्ववदेतं त्वेव त इत्याद्युक्त्वा—

पूर्ववत् 'मैं तेरे प्रति इसकी [पुनः व्याख्या करूँगा]' ऐसा कहकर—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

'जिस अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शनवृत्तिसे रहित और सम्यक्‌रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता वह आत्मा है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है।' यह सुनकर इन्द्र शान्तचित्तसे चले गये; किंतु देवताओंके पास पहुँचे बिना ही उन्हें यह भय दिखायी दिया—'उस अवस्थामें तो इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है; उस समय तो यह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता' ॥ १ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि व्याख्यातं वाक्यम्। अक्षिणि यो

'तद्यत्रैतत् सुप्तः' इत्यादि वाक्यकी व्याख्या पहले हो चुकी है। 'जो नेत्रस्थ द्रष्टा स्वप्नमें पूजित होता

द्रष्टा स्वप्ने च महीयमानश्चरति स एष सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स्वाभिप्रेतमेव ।

मघवांस्तत्रापि दोषं ददर्श । कथम् ? नाह नैव सुषुप्तस्थोऽप्यात्मा खल्वयं सम्प्रति सम्यगिदानीं चात्मानं जानाति नैवं जानाति । कथम् ? अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि चेति, यथा जाग्रति स्वप्ने वा । अतो विनाशमेव विनाशमिवेति पूर्ववद्द्रष्टव्यम् । अपीतोऽपिगतो भवति विनष्ट इव भवतीत्यभिप्रायः ।

ज्ञाने हि सति ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते नासति ज्ञाने । न च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतो विनष्ट इवेत्यभिप्रायः । न तु

हुआ विचरता है, वह जब सो जानेपर दर्शनवृत्तिसे रहित और अत्यन्त आनन्दित होकर स्वप्न नहीं देखता तो वही आत्मा है यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है' इस प्रकार प्रजापतिने अपने अभिप्रायके अनुसार ही आत्माका स्वरूप बतलाया ।

किंतु इन्द्रने उसमें भी दोष देखा । सो किस प्रकार ?—'यह सुषुप्तस्थ आत्मा भी इस अवस्थामें निश्चय ही अपनेको इस प्रकार नहीं जानता ।' किस प्रकार नहीं जानता ?—कि 'मैं यह हूँ' और न यह अन्य भूतोंको ही जानता है; जैसा कि यह जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें जानता था । अतः यह मानो विनाशको अपीत—प्राप्त हो जाता है; तात्पर्य यह है कि विनष्ट-सा हो जाता है । यहाँ पूर्ववत् 'विनाशमेव'के स्थानमें 'विनाशमिव' ऐसा समझना चाहिये ।

ज्ञान होनेपर ही ज्ञाताकी सत्ता जानी जाती है, ज्ञानके अभावमें नहीं जानी जाती; और सुषुप्त पुरुषको ज्ञान होना देखा नहीं जाता । अतः तात्पर्य यह है कि उस समय यह नष्ट-सा हो जाता है । अमृत और

विनाशमेवात्मनो मन्यतेऽमृताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन् ।१।	अभयवचनका प्रामाण्य चाहनेवाले इन्द्रदेव उस अवस्थामें आत्माका साक्षात् विनाश ही नहीं मानते ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

वे समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये । उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! तुम तो शान्तचित्तसे गये थे, अब किस इच्छासे तुम्हारा पुनः आगमन हुआ है ।' इन्द्रने कहा—'भगवन् ! इस अवस्थामें तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है, यह विनाशको प्राप्त-सा हो जाता है । इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता' ॥ २ ॥

पूर्ववत्—	पहलेहीके समान—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳसम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

'हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है। अभी पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो।' उन्होंने पाँच वर्ष और वहीं निवास किया। ये सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसीसे ऐसा कहते हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा ॥ ३ ॥

एवमेवेत्युक्त्वा यो मयोक्तस्त्रिभिः पर्यायैस्तमेवैतं नो एवान्यत्रैतस्मादात्मनोऽन्यं कञ्चन किं तर्ह्येतमेव व्याख्यास्यामि। स्वल्पस्तु दोषस्तवावशिष्टस्तत्क्षपणाय वसापराण्यन्यानि पञ्च वर्षाणीत्युक्तः स तथा चकार। तस्मै मृदितकषायादिदोषाय स्थानत्रयदोषसम्बन्धरहितमात्मनः स्वरूपमपहतपाप्मत्वादिलक्षणं मघवते तस्मै होवाच।

तान्येकशतं वर्षाणि सम्पेदुः सम्पन्नानि बभूवुः। यदाहुर्लोके

'यह बात ऐसी ही है' ऐसा कहकर 'मैंने तीन पर्यायोंमें जिसका वर्णन किया था उसी इस आत्माकी—इस आत्मासे भिन्न किसी अन्य आत्माकी नहीं, तो किसकी ? इसी आत्माकी मैं व्याख्या करूँगा। अभी तुम्हारा थोड़ा-सा दोष शेष है। उसकी निवृत्तिके लिये अन्य पाँच वर्ष और रहो' ऐसा कहे जानेपर इन्द्रने वैसा ही किया। इस प्रकार जिनके कषायादि दोष नष्ट हो गये हैं उन इन्द्रदेवके प्रति प्रजापतिने जाग्रदादि तीनों स्थानोंके दोषोंके सम्बन्धसे रहित आत्माका अपहतपाप्मत्वादि लक्षणवाला स्वरूप निरूपण किया।

वे सब एक और सौ वर्ष हो गये। इसीसे लोकमें शिष्टजन ऐसा कहते

शिष्टा एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवासेति । तदेतद्द्वात्रिंशतमित्यादिना दर्शितमित्याख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्योच्यते । एवं किलैतदिन्द्रत्वादपि गुरुतरमिन्द्रेणापि महता यत्नेनैकोत्तरवर्षशतकृतायासेन प्राप्तमात्मज्ञानमतो नातः परं पुरुषार्थान्तरमस्तीत्यात्मज्ञानं स्तौति ॥ ३ ॥

हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया । यह बात 'द्वात्रिंशतम्' इत्यादि वाक्योंसे कही गयी है, अतः श्रुतिने आख्यायिकासे कुछ हटकर इसे स्वयं भी कह दिया है । इस प्रकार जो इन्द्रत्वसे भी गुरुतर है ऐसे इस आत्मज्ञानको इन्द्रने भी एक सौ एक वर्षतक किये हुए परिश्रमसे बड़े यत्नपूर्वक प्राप्त किया था, अतः इससे बढ़कर और कोई पुरुषार्थ नहीं है—इस प्रकार श्रुति आत्मज्ञानकी स्तुति करती है ॥ ३ ॥

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये एकादशखण्ड-
भाष्यं सम्पूर्णम् ॥ ११ ॥

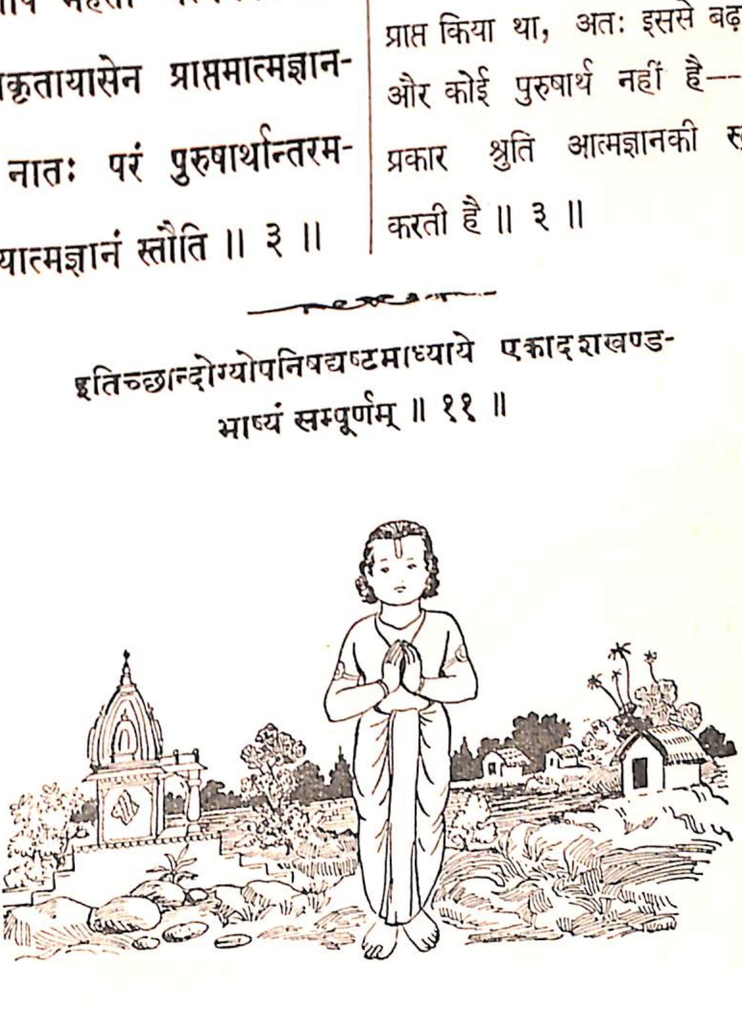

द्वादश खण्ड

मर्त्यशरीर आदिका उपदेश

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! यह शरीर मरणशील ही है; यह मृत्युसे ग्रस्त है । यह इस अमृत, अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है । सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रियसे ग्रस्त है; सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रियका नाश नहीं हो सकता और अशरीर होनेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १ ॥

मघवन्मर्त्यं वै मरणधर्मीदं शरीरम् । यन्मन्यसेऽक्ष्याधारादिलक्षणः सम्प्रसादलक्षण आत्मा मयोक्तो विनाशमेवापीतो भवतीति । शृणु तत्र कारणम् । यदिदं शरीरं वै यत्पश्यसि तदेतन्मर्त्यं विनाशि । तच्चात्तं मृत्युना ग्रस्तं सततमेव । कदाचिदेव म्रियत इति मर्त्यमित्युक्ते न तथा

हे इन्द्र ! यह शरीर निश्चय ही मर्त्य——मरणधर्मी है । तुम जो ऐसा समझते हो कि मेरा बतलाया हुआ नेत्रादिका आधारभूत सम्प्रसादरूप आत्मा विनाशको ही प्राप्त हो जाता है, सो उसका कारण सुनो । तुम जो यह शरीर देखते हो वह यह शरीर मर्त्य——नाशवान् है—यह मृत्युसे आत्त अर्थात् सर्वदा ही ग्रस्त है । कभी-कभी ही मरता है, इसलिये यह मर्त्य है—ऐसा कहनेपर इतना भय नहीं

संत्रासो भवति यथा ग्रस्तमेव सदा व्याप्तमेव मृत्युनेत्युक्त इति वैराग्यार्थं विशेष इत्युच्यत आत्तं मृत्युनेति । कथं नाम देहाभिमानतो विरक्तः सन्निवर्तत इति। शरीरमप्यत्र सहेन्द्रियमनोभिरुच्यते ।

तच्छरीरमस्य सम्प्रसादस्य त्रिस्थानतया गम्यमानस्यामृतस्य मरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्मवर्जितस्येत्येतत् । अमृतस्येत्यनेनैवाशरीरत्वे सिद्धे पुनरशरीरस्येति वचनं वाय्वादिवत्सावयवत्वमूर्तिमत्त्वे मा भूतामिति । आत्मनो भोगाधिष्ठानम् । आत्मनो वा सत ईक्षितुस्तेजोऽबन्नादिक्रमेणोत्पन्नमधिष्ठानम् । जीवरूपेण प्रविश्य

होता जितना कि 'मृत्युसे ग्रस्त अर्थात् सर्वदा व्याप्त ही है' ऐसा कहनेपर होता है । अतः वैराग्यके लिये विशेषरूपसे कहनेके लिये यह कहा गया है कि यह मृत्युसे व्याप्त है; जिससे कि किसी-न-किसी तरह यह देहाभिमानसे विरक्त होकर निवृत्तिपरायण हो जाय । यहाँ शरीर भी इन्द्रिय और मनके सहित कहा गया है ।

वह शरीर जाग्रदादि तीन स्थानोंके सम्बन्धसे विदित होनेवाले इस अमृत—देह, इन्द्रिय और मनके मरणादि-धर्मोंसे रहित सम्प्रसादका [अधिष्ठान है] । आत्माका अशरीरत्व तो 'अमृतस्य' इस पदसे ही सिद्ध होता है किंतु फिर भी 'अशरीरस्य' ऐसा जो कहा गया है वह इसलिये है कि वायु आदिके समान आत्माके सावयवत्व और अमूर्तिमत्त्वका प्रसंग न हो जाय । उस आत्माका यह भोगाधिष्ठान है । अथवा यह आत्मासे—ईक्षण करनेवाले सत्से तेज, अप् और अन्नादि क्रमसे उत्पन्न हुआ 'अधिष्ठान' (उस अपने उत्पादककी उपलब्धिका अधिकरण) है;

सदेवाधितिष्ठत्यस्मिन्निति वाधिष्ठानम्।

यस्येदमीदृशं नित्यमेव मृत्युग्रस्तं धर्माधर्मजनितत्वात्प्रियाप्रियवदधिष्ठानं तदधिष्ठितस्तद्वान् सशरीरो भवति। अशरीरस्वभावस्यात्मनस्तदेवाहं शरीरं शरीरमेव चाहमित्यविवेकात्मभावः सशरीरत्वमत एव सशरीरः सन्नात्तो ग्रस्तः प्रियाप्रियाभ्यां प्रसिद्धमेतत्।

तस्य च न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोर्बाह्यविषयसंयोगवियोगनिमित्तयोर्बाह्यविषयसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमानस्यापहतिर्विनाश उच्छेदः संततिरूपयोर्नास्तीति। तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः। स्पृशिः

या [यों समझो कि] इसमें जीवरूपसे प्रवेश करके सत् ही अधिष्ठित है, इसलिये यह अधिष्ठान है।

जिसका यह इस प्रकारका अधिष्ठान सदा ही मृत्युग्रस्त और धर्माधर्मजनित होनेके कारण प्रियाप्रियवान् है उसमें अधिष्ठित हुआ उससे युक्त यह आत्मा 'सशरीर' है। अशरीरस्वभाव जो आत्मा है उसका 'वह मैं ही शरीर हूँ और शरीर ही मैं हैं' ऐसा अविवेकात्मभाव ही सशरीरत्व है। इसीसे सशरीर रहते हुए यह प्रिय और अप्रियसे आत्त— ग्रस्त रहता है—यह बात प्रसिद्ध है।

बाह्य विषयोंके संयोग और वियोग मेरे हैं—ऐसा माननेवाले उस सशरीर पुरुषके बाह्य विषयोंके संयोग-वियोगसे होनेवाले प्रवाहरूप प्रिय और अप्रियकी अपहति नहीं होती अर्थात् उनका विनाश यानी उच्छेद नहीं होता। देहाभिमानसे उठकर अशरीरस्वरूप विज्ञानके द्वारा जिसका अविवेकज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे उस अशरीरभूत आत्माको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते 'स्पृश' इस धातुसे प्रिय और अप्रिय प्रत्येकका सम्बन्ध

प्रत्येकं सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशत्यप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति । न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेतेति यद्वत् । धर्माधर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।

है; इसलिये 'प्रिय स्पर्श नहीं करता, अप्रिय स्पर्श नहीं करता' ये दो वाक्य होते हैं, जिस प्रकार कि 'म्लेच्छ, अपवित्र और अधार्मिक पुरुषोंसे सम्भाषण न करे' इस वाक्यमें 'सम्भाषण' क्रियाका म्लेच्छादि प्रत्येक पदसे सम्बन्ध है । वे (प्रिय और अप्रिय) धर्माधर्मके ही कार्य हैं, किंतु अशरीरता तो आत्माका स्वरूप है । अतः उसमें धर्माधर्मका अभाव होनेके कारण उनके कार्य (प्रियाप्रिय) भी दूर ही रहेंगे; इसीसे उसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते ।

प्रियस्पर्शप्रतिषेधे दूषणम्

ननु यदि प्रियमप्यशरीरं न स्पृशतीति यन्मघवतोक्तं सुषुप्तस्थो विनाशमेवापीतो भवतीति तदेवेहाप्यापन्नम् ।

शङ्का—किंतु यदि अशरीर आत्माको प्रिय भी स्पर्श नहीं करता तो इन्द्रने जो कहा था कि 'सुषुप्तिमें स्थित हुआ पुरुष विनाशको ही प्राप्त हो जाता है' वही बात यहाँ भी प्राप्त हो जाती है ।

उक्तदोषपरिहारः

नैष दोषः; धर्माधर्मकार्ययोः शरीरसम्बन्धिनोः प्रियाप्रिययोः प्रतिषेधस्य विवक्षितत्वात् । अशरीरं

समाधान—यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ धर्माधर्मके कार्यभूत शरीरसम्बन्धी प्रियाप्रियका प्रतिषेध निरूपण करना इष्ट है । अर्थात् अशरीरको प्रियाप्रिय स्पर्श

न प्रियाप्रिये स्पृशत इति । आगमापायिनोर्हि स्पर्शशब्दो दृष्टो यथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्श इति । न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयोः स्वभावभूतयोरग्निना स्पर्श इति भवति । तथाग्नेः सवितुर्वोष्णप्रकाशवत्स्वरूपभूतस्यानन्दस्य प्रियस्यापि नेह प्रतिषेधः "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "आनन्दो ब्रह्म" (तै० उ० ३ । ६ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि भूमैव सुखमित्युक्तत्वात् ।

नहीं करते । 'स्पर्श' शब्दका प्रयोग आगमापायी विषयोंके लिये ही देखा गया है; जैसे—शीतस्पर्श-उष्णस्पर्श इत्यादि । अग्निके स्वभावभूत उष्ण और प्रकाशका अग्निसे स्पर्श होता है—ऐसा प्रयोग नहीं होता । इसी प्रकार अग्नि या सूर्यके उष्ण एवं प्रकाशके समान आत्माके स्वरूपभूत आनन्द—प्रियका भी यहाँ प्रतिषेध नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है' 'आनन्द ही ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियोंसे यही सिद्ध होता है और यहाँ भी 'भूमा ही सुख है' ऐसा ही कहा गया है ।

इन्द्राभिमतात्मस्वरूपदर्शनम्

ननु भूम्नः प्रियस्यैकत्वेऽसंवेद्यत्वात् स्वरूपेणैव वा नित्यसंवेद्यत्वान्निर्विशेषतेति नेन्द्रस्य तदिष्टम् । 'नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामि'

शङ्का—किंतु भूमा और प्रियकी एकता होनेके कारण वह प्रिय भूमाका वेद्य नहीं हो सकता अथवा उसका स्वरूप होनेसे नित्यसंवेद्य होनेके कारण उसमें निर्विशेषता रहेगी; इसलिये वह (निर्विशेषता) इन्द्रको इष्ट नहीं है; क्योंकि उसने ऐसा कहा है कि 'इस अवस्थामें तो 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अपनेको भी नहीं जानता और न इन अन्य भूतोंको ही जानता है । इस समय यह विनाशको ही प्राप्त हो जाता

इत्युक्तत्वात्। तद्धीन्द्रस्येष्टं यद्भूतानि चात्मानं च जानाति न चाप्रियं किञ्चिद्वेत्ति स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्येन ज्ञानेन।

तत्र प्रजापतेरविवक्षा सत्यमेतदिष्टमिन्द्रस्येमानि भूतानि मत्तोऽन्यानि लोकाः कामाश्च सर्वे मत्तोऽन्येऽहमेषां स्वामीति; न त्वेतदिन्द्रस्य हितम्। हितं चेन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम्। व्योमवदशरीरात्मतया सर्वभूतलोककामात्मत्वोपगमेन या प्राप्तिस्तद्धितमिन्द्राय वक्तव्यमिति प्रजापतिनाभिप्रेतम्। न तु राज्ञो राज्याप्तिवदन्यत्वेन। तत्रैवं सति कं केन विजानीयादात्मैकत्वे 'इमानि भूतान्ययमहमस्मि' इति।

है। मैं इसमें कोई फल नहीं देखता।' इन्द्रको तो वही ज्ञान इष्ट है जिस ज्ञानसे कि आत्मा सम्पूर्ण भूतोंको और अपनेको भी जानता है, किसी भी अप्रियका अनुभव नहीं करता तथा सम्पूर्ण लोकोंको और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है।

समाधान—ठीक है, यह इन्द्रको इष्ट तो अवश्य है कि ये भूत मेरेसे भिन्न हैं तथा ये सम्पूर्ण लोक और भोग भी मेरेसे भिन्न हैं और मैं इनका स्वामी हूँ; किंतु यह इन्द्रके लिये हितकर नहीं है। और प्रजापतिको तो इन्द्रका हित बतलाना चाहिये। आकाशके समान अशरीररूपसे जो सम्पूर्ण भूतलोक और कामके आत्मभावको प्राप्त होकर उन्हें प्राप्त करना है उस हितकर विषयका इन्द्रके प्रति उपदेश करना चाहिये—ऐसा प्रजापतिको अभिमत है। राजाकी राज्यप्राप्तिके समान अन्यभावसे लोकादिकी प्राप्ति प्रजापतिको अभिमत नहीं है। तब ऐसी अवस्थामें आत्माका एकत्व होनेपर कौन किसके द्वारा यह बात जान सकता है कि 'वे भूत हैं और यह मैं हूँ।'

नन्वस्मिन्पक्षे 'स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' 'स यदि पितृलोककामः' 'स एकधा भवति' इत्याद्यैश्वर्यश्रुतयोऽनुपपन्नाः ।

न; सर्वात्मनः सर्वफलसम्बन्धोपपत्तेरविरोधात् । मृद इव सर्वघटकरककुण्डाद्याप्तिः ।

ननु सर्वात्मत्वे दुःखसम्बन्धोऽपि स्यादिति चेत् ?

न, दुःखस्याप्यात्मत्वोपगमादविरोधः । आत्मन्यविद्याकल्पनानिमित्तानि दुःखानि रज्ज्वामिव सर्पादिकल्पनानिमित्तानि । सा चाविद्याशरीरात्मैकत्वस्वरूपदर्शनेन दुःखनिमित्तोच्छिन्नेति दुःखसम्बन्धाशङ्का न सम्भवति ।

शङ्का—किंतु ऐसा पक्ष होनेपर 'स्त्रियोंसे अथवा यानोंसे [क्रीडा करता है]' 'वह यदि पितृलोककी कामना करता है' 'वह एक रूप होता है' इत्यादि [पूर्वोक्त] ऐश्वर्यसूचक श्रुतियाँ अनुपपन्न हो जायँगी ।

समाधान—यह बात नहीं है, क्योंकि सर्वात्मा विद्वान्का किसीसे विरोध न होनेके कारण सम्पूर्ण फलोंसे सम्बन्ध हो सकता है; जिस प्रकार मृत्तिकाकी घट, कमण्डलु और कूँडा आदि सम्पूर्ण विकारोंमें प्राप्ति होती है ।

शङ्का—किंतु सर्वात्मता होनेपर तो उसे दुःखका भी सम्बन्ध होगा ही ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दुःखके भी आत्मत्वको प्राप्त हो जानेके कारण उससे भी उसका कोई विरोध नहीं है । आत्मामें अविद्याके कारण होनेवाली कल्पनाके निमित्तसे होनेवाले दुःख रज्जुमें सर्पादि कल्पनाके कारण होनेवाले कम्पादिके समान हैं । दुःखकी निमित्तभूता वह अविद्या आत्माके अशरीरत्व और एकत्वदर्शनसे उच्छिन्न हो गयी है; इसलिये अब उसे दुःखके सम्बन्धकी आशङ्का होना सम्भव नहीं है ।

शुद्धसत्त्वसंकल्पनिमित्तानां तु कामानामीश्वरदेहसम्बन्धः सर्वभूतेषु मानसानाम् । पर एव सर्वसत्त्वोपाधिद्वारेण भोक्तेति सर्वाविद्याकृतसंव्यवहाराणां पर एवात्मास्पदं नान्योऽस्तीति वेदान्तसिद्धान्तः ।

अत्रैकदेशिमतम्

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इतिच्छायापुरुष एव प्रजापतिनोक्तः । स्वप्नसुषुप्तयोश्चान्य एव, न परोऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणः, विरोधादिति केचिन्मन्यन्ते । छायाद्यात्मनां चोपदेशे प्रयोजनमाचक्षते—आदावेवोच्यमाने

[यहाँ शङ्का होती है कि जब विद्यासे अविद्या दग्ध हो जाती है तो उसके द्वारा ईश्वरमें आरोपित किया हुआ सगुणविद्याका फलभूत पूर्वोक्त ऐश्वर्य भी तो दग्ध ही हो जाता है, फिर विद्याकी स्तुतिके लिये उनका उपदेश कैसे सिद्ध हो सकता है ? उत्तर—] शुद्ध सत्त्वजन्य संकल्पके कारण प्राप्त होनेवाले मनोवाञ्छित भोगरूप ऐश्वर्योंका सम्पूर्ण भूतोंमें [केवल मनके द्वारा मायावस्थामें] ईश्वरसे सम्बन्ध सिद्ध होता है । समस्त सत्त्वमय उपाधिके द्वारा परमात्मा ही उन ऐश्वर्योंका भोक्ता है, इसलिये सम्पूर्ण अविद्याजन्य व्यवहारोंका अधिष्ठान परमात्मा ही है, कोई दूसरा नहीं है—ऐसा वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त है ।

यहाँ कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि वाक्यसे प्रजापतिने छायापुरुषका ही वर्णन किया है; तथा स्वप्न और सुषुप्तावस्थामें भी अन्य पुरुषका ही उल्लेख किया है, अपहतपाप्मत्वादिरूप परात्माका निरूपण नहीं किया, क्योंकि इन दोनोंके लक्षणोंमें परस्पर विरोध है । छायात्मादिका उपदेश करनेमें वे यह प्रयोजन बतलाते हैं कि परात्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है,

किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्यात्मनोऽत्यन्तबाह्यविषयासक्तचेतसोऽत्यन्तसूक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो मा भूदिति ।

यथा किल द्वितीयायां सूक्ष्मं चन्द्रं दिदर्शयिषुर्वृक्षं कञ्चित्प्रत्यक्षमादौ दर्शयति पश्यामुमेष चन्द्र इति । ततोऽन्यं ततोऽप्यन्यं गिरिमूर्धानं च चन्द्रसमीपस्थमेष चन्द्र इति । ततोऽसौ चन्द्रं पश्यति । एवमेतद् 'य एषोऽक्षिणि'इत्याद्युक्तं प्रजापतिना त्रिभिः पर्यायैर्न पर इति । चतुर्थे तु पर्याये देहान्मर्त्यात्समुत्थायाशरीरतामापन्नो ज्योतिःस्वरूपं यस्मिन्नुत्तमपुरुषे स्त्र्यादिभिर्जक्षत्क्रीडन्रममाणो

अतः जिनका चित्त बाह्य विषयोंमें अत्यन्त आसक्त है ऐसे उन लोगोंको आरम्भमें ही उसका उपदेश कर देनेपर उस अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुका श्रवण करनेसे कहीं व्यामोह न हो जाय ।

[इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—] जिस प्रकार द्वितीयाके दिन सूक्ष्म चन्द्रमाको दिखलानेकी इच्छावाला कोई पुरुष पहले सामनेवाले वृक्षको 'देख यह चन्द्रमा है' ऐसा कहकर दिखाता है । फिर किसी अन्य वृक्षको और उसके पश्चात् चन्द्रमाके समीपवर्ती किसी पर्वतशिखरको 'यह चन्द्रमा है' ऐसा कहकर दिखलाता है । तदनन्तर वह चन्द्रमाको देख लेता है । इसी प्रकार प्रजापतिने 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि तीन पर्यायोंसे जिसका वर्णन किया है वह पर आत्मा नहीं है; किंतु चौथे पर्यायमें इस मरणशील देहसे उत्थान कर जिस उत्तम पुरुषमें वह ज्योतिःस्वरूप अशरीरताको प्राप्त होकर स्त्री आदिके साथ वर्तमान रहता हुआ भक्षण, क्रीडा और रमण

भवति स उत्तमः पुरुषः पर उक्त इति चाहुः ।

पूर्वोक्तमतनिरसनपूर्वकं सिद्धान्तिमतम्

सत्यं रमणीया तावदियं व्याख्या श्रोतुम् । न त्वर्थोऽस्य ग्रन्थस्यैवं सम्भवति । कथम् ? 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपन्यस्य शिष्याभ्यां छायात्मनि गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा तदपनयायोदशरावोपन्यासः किं पश्यथ इति च प्रश्नः साध्वलङ्कारोपदेशश्चानर्थकः स्यात्, यदिच्छायात्मैव प्रजापतिनाक्षिणि दृश्यत इत्युपदिष्टः । किञ्च यदि स्वयमुपदिष्ट इति ग्रहणस्याप्यपनयनकारणं वक्तव्यं स्यात् । स्वप्नसुषुप्तात्मग्रहणयोरपि तदप-

करता रहता है वही उत्तम पुरुष परात्मा कहा गया है—ऐसा भी उनका कथन है ।

सिद्धान्ती—ठीक है, यह व्याख्या सुननेमें तो बड़ी सुहावनी है, किंतु इस ग्रन्थका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता । कैसे नहीं हो सकता ?—यदि प्रजापतिने 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ऐसा कहकर छायात्माका ही उपदेश किया होता तो 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ऐसा उल्लेख करके, दोनों शिष्योंद्वारा छायात्माका ही ग्रहण किये जानेपर फिर उनका वह विपरीत ग्रहण मानकर उसकी निवृत्तिके लिये उदशरावका उपक्रम, 'क्या देखते हो' ऐसा प्रश्न और सुन्दर अलंकारधारणका उपदेश यह सब व्यर्थ ही सिद्ध होगा । इसके सिवा यदि उन्होंने स्वयं ही उसका उपदेश किया था तो उन्हें उसी प्रकार किये हुए ग्रहणकी निवृत्तिका भी कारण बतलाना चाहिये था । इसी प्रकार स्वप्नात्मा और सुषुप्तात्माका ग्रहण करनेपर उनकी निवृत्तिका कारण

नयकारणं च स्वयं ब्रूयात् । न चोक्तं तेन मन्यामहे नाक्षिणिच्छायात्मा प्रजापतिनोपदिष्टः ।

किं चान्यदक्षिणि द्रष्टा चेद्दृश्यत इत्युपदिष्टः स्यात्तत इदं युक्तम् । एतं त्वेव त इत्युक्त्वा स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवोपदेशः । स्वप्ने न द्रष्टोपदिष्ट इति चेन्न; अपि रोदितीवाप्रियवेत्तेवेत्युपदेशात् । न च द्रष्टुरन्यः कश्चित्स्वप्ने महीयमानश्चरति । "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४ । ३ । ९) इति न्यायतः श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वात् ।

यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति तथापि न धीः स्वप्नभोगोपलब्धिं प्रति करणत्वं भजते । किं

भी उन्हें स्वयं बतलाना चाहिये था। किंतु यह उन्होंने बतलाया नहीं है । इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि प्रजापतिने नेत्रान्तर्गत छायात्माका उपदेश नहीं किया ।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि यदि 'दृश्यते' इस क्रियापदसे नेत्रान्तर्गत द्रष्टाका ही उपदेश किया गया हो तभी यह कथन युक्त हो सकता है; 'एतं त्वेव ते' ऐसा कहकर स्वप्नमें भी द्रष्टाका ही उपदेश किया गया है । यदि कहो कि स्वप्नमें द्रष्टाका उपदेश नहीं किया गया तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि 'रुदन-सा करता है, अप्रियवेत्ता-सा है' ऐसा कहा गया है । द्रष्टाके सिवा और कोई भी स्वप्नमें पूजित होता हुआ-सा नहीं विचरता; क्योंकि "इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है" ऐसा एक अन्य (बृहदारण्यक) श्रुतिमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है ।

यद्यपि स्वप्नमें आत्मा 'सधीः'— अन्तःकरणसहित रहता है तो भी वह अन्तःकरण स्वप्नभोगोंकी उपलब्धिके प्रति करणत्वको प्राप्त नहीं होता । तो फिर क्या रहता

तर्हि ? पटचित्रवज्जाग्रद्वासनाश्रया दृश्यैव धीर्भवतीति न द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वबाधः स्यात् ।

किञ्चान्यत्, जाग्रत्स्वप्नयोर्भूतानि चात्मानं च जानातीमानि भूतान्ययमहमस्मीति प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधो युक्तः स्यान्नाह खल्वयमित्यादि । तथा चेतनस्यैवाविद्यानिमित्तयोः सशरीरत्वे सति प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीत्युक्त्वा तस्यैवाशरीरस्य सतो विद्यायां सत्यां सशरीरत्वे प्राप्तयोः प्रतिषेधो युक्तोऽशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति । एकश्चात्मा स्वप्नबुद्धान्तयोर्महामत्स्यवदसङ्गः सञ्चरतीति श्रुत्यन्तरे सिद्धम् ।

है ?—वह पटचित्रके समान जाग्रत्-वासनाओंका आश्रयभूत दृश्य ही रहता है—इसलिये उस अवस्थामें द्रष्टाके स्वयंप्रकाशत्वका बाध नहीं हो सकता ।

इसके सिवा दूसरा हेतु यह भी है कि जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें यह भूतोंको और अपनेको 'ये भूत हैं और यह मैं हूँ' इस प्रकार जानता है—यह बात प्राप्त होनेपर ही [सुषुप्तिमें] 'यह अपनेको और भूतोंको नहीं जानता' ऐसा प्रतिषेध उचित हो सकता है । तथा चेतनके ही सशरीरत्वकी प्राप्ति होनेपर अविद्यानिमित्तक प्रियाप्रियका नाश नहीं होता ऐसा कहकर विद्या प्राप्त होनेपर अशरीर हुए उसीके सशरीरावस्थामें प्राप्त हुए प्रियाप्रियका 'अशरीर होनेपर इसे प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं करते' इस प्रकार प्रतिषेध करना उचित होगा । स्वप्न और जाग्रत्में एक ही आत्मा महामत्स्यके समान असंगरूपसे विचरता है—ऐसा एक अन्य (बृहदारण्यक) श्रुतिसे सिद्ध है ।

यच्चोक्तं सम्प्रसादः शरीरात्समुत्थाय यस्मिन्स्त्र्यादिभी रममाणो भवति सोऽन्यः सम्प्रसादादधिकरणनिर्दिष्ट उत्तमः पुरुष इति, तदप्यसत् ; चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते' इति वचनात्। यदि ततोऽन्योऽभिप्रेतः स्यात्पूर्ववत् 'एतं त्वेव ते' इति न ब्रूयान्मृषा प्रजापतिः ।

और ऐसा जो कहा कि सम्प्रसाद (सुषुप्तावस्थापन्न जीव) इस शरीरसे सम्यक् प्रकारसे उत्थान कर जिसमें स्त्री आदिके साथ रमण करता रहता है वह अधिकरणरूपसे निर्दिष्ट उत्तम पुरुष उससे भिन्न है—सो भी ठीक नहीं, क्योंकि चौथे पर्यायमें 'एतं त्वेव ते' ऐसा [पूर्वोक्तका परामर्श करनेवाला] निर्देश किया गया है । यदि प्रजापतिको उससे भिन्न कोई और पुरुष अभिमत होता तो वे पहलेहीके समान 'एतं त्वेव ते' ऐसा मिथ्या वचन न कहते।

किञ्चान्यत्तेजोऽबन्नादीनां स्रष्टुः सतः स्वविकारदेहशुङ्गे प्रवेशं दर्शयित्वा प्रविष्टाय पुनस्तत्त्वमसीत्युपदेशो मृषा प्रसज्येत। तस्मिंस्त्वं स्त्र्यादिभी रन्ता भविष्यसीति युक्त उपदेशोऽभविष्यद्यदि सम्प्रसादादन्य उत्तमः पुरुषो भवेत् । तथा भूम्न्यहमेवे-

इसके सिवा दूसरा कारण यह भी है कि [यदि उत्तम पुरुषको पूर्वोक्त पुरुषोंसे भिन्न मानेंगे तो] तेज, अप् और अन्नादिकी रचना करनेवाले सत्का अपने विकारभूत देहमें प्रवेश दिखलाकर इस प्रकार प्रविष्ट हुए उसको जो 'तू वह है' ऐसा उपदेश किया गया है वह मिथ्या सिद्ध होगा । यदि उत्तम पुरुष सम्प्रसादसे भिन्न होता तो 'उसमें तू स्त्री आदिके साथ रमण करनेवाला होगा' ऐसा उपदेश

त्यादिश्यात्मैवेदं सर्वमिति नोपसमहरिष्यद्यदि भूमा जीवादन्योऽभविष्यत् । "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० उ० ३ । ७ । २३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । सर्वश्रुतिषु च परस्मिन्नात्मशब्दप्रयोगो नाभविष्यत्प्रत्यगात्मा चेत्सर्वजन्तूनां पर आत्मा न भवेत् । तस्मादेक एवात्मा प्रकरणी सिद्धः ।

न चात्मनः संसारित्वम् ; अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि संसारस्य । न हि रज्जुशुक्तिकागगनादिषु सर्परजतमलादीनि मिथ्याज्ञानाध्यस्तानि तेषां भवन्तीति । एतेन सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीति व्याख्यातम् । यच्च स्थितमप्रियवेत्तेवेति नाप्रियवेत्तैवेति सिद्धम् । एवं च सति

उचित होता और यदि भूमा जीवसे भिन्न होता तो भूमामें 'यह मैं ही हूँ' ऐसा आदेश करके 'यह सब आत्मा ही है' ऐसा उपसंहार न किया जाता । "इससे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है" इस श्रुत्यन्तरसे भी यहीं सिद्ध होता है । यदि सम्पूर्ण जीवोंका प्रत्यगात्मा ही पर आत्मा न होता तो समस्त श्रुतियोंमें परमात्माके लिये 'आत्मा' शब्दका प्रयोग न किया जाता । अतः एक ही आत्मा इस प्रकरणका विषय सिद्ध होता है ।

इसके सिवा, आत्माको संसारित्व है भी नहीं; क्योंकि आत्मामें संसार अविद्याके कारण अध्यस्त है । रज्जु, शुक्ति और आकाशादिमें मिथ्याज्ञानके कारण अध्यस्त हुए सर्प, रजत और मलादि वस्तुतः उनके नहीं हो जाते । इससे 'सशरीरके प्रियाप्रियका नाश नहीं होता' इस वाक्यकी व्याख्या हो जाती है । [इस प्रकार] पहले जो कहा गया था कि स्वप्नद्रष्टा अप्रियवेत्ता-सा होता है । साक्षात् अप्रियवेत्ता ही नहीं होता—सो सिद्ध हो गया । और यह सिद्ध

सर्वपर्यायेष्वेतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति प्रजापतेर्वचनम् । यदि वा प्रजापतिच्छद्मरूपायाः श्रुतेर्वचनं सत्यमेव भवेत् । न च तत्कुतर्कबुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम् । ततो गुरुतरस्य प्रमाणान्तरस्यानुपपत्तेः ।

होनेपर समस्त पर्यायोंमें 'यह अमृत और अभय है तथा यही ब्रह्म है' ऐसा प्रजापतिका वचन अथवा प्रजापतिच्छद्मरूपा श्रुतिका वचन भी सत्य ही सिद्ध होता है । उसे कुतर्कबुद्धिसे मिथ्या प्रमाणित करना उचित नहीं है, क्योंकि उस (श्रुतिवाक्य) से उत्कृष्टतर प्रमाण मिलना असम्भव है ।

ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृत्वमव्यभिचार्यनुभूयत इति चेन्न; जरादिरहितो जीर्णोऽहं जातोऽहमायुष्मान् गौरः कृष्णो मृत इत्यादिप्रत्यक्षानुभववत्तदुपपत्तेः । सर्वमप्येतत्सत्यमिति चेदस्त्येवैतदेवं दुरवगमं येन देवराजोऽप्युदशरावादिदर्शिताविनाशयुक्तिरपि सुमोहैवात्र विनाशमेवापीतो भवतीति ।

यदि कहो कि दुःखादि अप्रियवेत्तृत्व तो निश्चित है और प्रत्यक्ष अनुभव होता है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'मैं जरादिसे रहित हूँ, जराग्रस्त हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, आयुष्मान् हूँ, गौर हूँ, श्याम हूँ, मरा हुआ हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवोंके समान वह (अप्रियवेत्तृत्व) भी सम्भव हो सकता है । यदि कहो कि यह सब तो सत्य ही है तो वस्तुतः यह बात ऐसी ही दुर्गम है, इसीसे आत्माके अविनाशके सम्बन्धमें उदकपात्रादि युक्ति दिखलानेपर भी देवराजको यह मोह ही रहा कि इस अवस्थामें तो यह विनाशको ही प्राप्त हो जाता है ।

तथा विरोचनो महाप्राज्ञः प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो बभूव । तथेन्द्रस्यात्मविनाशभयसागर एव वैनाशिका न्यमज्जन्। तथा सांख्या द्रष्टारं देहादिव्यतिरिक्तमवगम्यापि त्यक्तागमप्रमाणत्वान्मृत्युविषय एवान्यत्वदर्शने तस्थुः । तथान्ये काणादादिदर्शनाः कषायरक्तमिव क्षारादिभिर्वस्त्रं नवभिरात्मगुणैर्युक्तमात्मद्रव्यं विशोधयितुं प्रवृत्ताः । तथान्ये कर्मिणो बाह्यविषयापहृतचेतसो वेदप्रमाणा अपि परमार्थसत्यमात्मैकत्वं विनाशमिवेन्द्रवन्मन्यमाना घटीयन्त्रवदारोहावरोहप्रकारैरनिशं बम्भ्रमति किमन्ये क्षुद्रजन्तवो विवेकहीनाः स्वभावत एव बहिर्विषयापहृतचेतसः ।

तथा परम बुद्धिमान् और प्रजापतिका पुत्र होनेपर भी विरोचन केवल देहमात्रमें आत्मबुद्धि करनेवाला हुआ । इसी प्रकार वैनाशिक लोग इन्द्रके आत्मविनाशरूप भयके समुद्रमें डूब गये । तथा सांख्यवादी द्रष्टा (आत्मा) को देहादिसे भिन्न जानकर भी शास्त्रप्रमाणको छोड़ देनेके कारण मृत्युके विषयभूत भेददर्शनमें ही पड़े रह गये । एवं अन्य काणादादि मतावलम्बी कषायसे रँगे हुए वस्त्रको क्षारादिसे शुद्ध करनेके समान आत्माके नौ गुणोंसे युक्त आत्मद्रव्यको शुद्ध करनेमें लग गये । तथा दूसरे कर्मकाण्डी लोग बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त होनेके कारण वेदको प्रमाण माननेवाले होनेपर भी इन्द्रके समान परमार्थसत्य आत्मैकत्वको अपना विनाश-सा समझकर घटीयन्त्रके समान ऊपर-नीचे जाते-आते रात-दिन भटकते रहते हैं । फिर जो स्वभावसे ही बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त हैं उन अन्य विवेकहीन क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है ?

तस्मादिदं त्यक्तसर्वबाह्यैषणैरनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैरत्याश्रमिभिर्वेदान्तविज्ञानपरैरेव वेदनीयं पूज्यतमैः प्राजापत्यं चेमं सम्प्रदायमनुसरद्भिरुपनिबद्धं प्रकरणचतुष्टयेन । तथानुशासत्यद्यापि त एव नान्य इति ॥ १ ॥

अतः जिन्होंने सम्पूर्ण बाह्य एषणाओंका त्याग कर दिया है, जिनकी कोई और गति नहीं है और जो प्रजापतिके सम्प्रदायका अनुसरण करनेवाले हैं उन वेदान्तविज्ञानपरायण अत्याश्रमी पूज्यतम परमहंस परिव्राजकोंके द्वारा ही यह चार प्रकरणोंमें उपनिबद्ध (प्रतिपादित) आत्मतत्त्व ज्ञातव्य है; तथा आज भी वे ही उसका उपदेश करते हैं, और कोई नहीं ॥ १ ॥

तत्राशरीरस्य सम्प्रसादस्याविद्यया शरीरेणाविशेषतां सशरीरतामेव सम्प्राप्तस्य शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेण यथाभिनिष्पत्तिस्तथा वक्तव्येति दृष्टान्त उच्यते—

ऐसी अवस्थामें, जिस प्रकार अविद्यावश शरीरके साथ अविशेषता अर्थात् सशरीरताको ही प्राप्त हुए अशरीर सम्प्रसादकी शरीरसे उत्थान कर अपने स्वरूपकी प्राप्ति होती है वह बतलानी चाहिये—इसीसे यह दृष्टान्त कहा जाता है—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

वायु अशरीर है; अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाशसे समुत्थान कर सूर्यकी परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ २ ॥

अशरीरो वायुरविद्यमानं शिरःपाण्यादिमच्छरीरमस्येत्यशरीरः । किं चाभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरित्येतानि चाशरीराणि । तत्तत्रैवं सति वर्षादिप्रयोजनावसाने तथा अमुष्मादिति भूमिष्ठा श्रुतिर्द्युलोकसम्बन्धिनमाकाशदेशं व्यपदिशति । एतानि यथोक्तान्याकाशसमानरूपतामापन्नानि स्वेन वाय्वादिरूपेणागृह्यमाणान्याकाशाख्यतां गतानि ।

यथा सम्प्रसादोऽविद्यावस्थायां शरीरात्मभावमेवापन्नस्तानि च तथाभूतान्यमुष्माद्द्युलोकसम्बन्धिन आकाशदेशात्समुत्तिष्ठन्ति वर्षणादिप्रयोजनाभिनिर्वृत्तये । कथम् ? शिशिरापाये सावित्रं परं ज्योतिः प्रकृष्टं ग्रैष्मकमुपसम्पद्य सावित्रमभितापं प्राप्येत्यर्थः । आदित्याभितापेन पृथग्भावमा-

वायु अशरीर है; इसके शिर एवं हाथ-पाँववाला शरीर नहीं है इसलिये यह अशरीर है । तथा बादल, बिजली और मेघध्वनि—ये भी अशरीर हैं । ऐसा होनेपर भी, जिस प्रकार वर्षादि प्रयोजनकी पूर्ति होनेपर ये उस [आकाशसे समुत्थान कर] इस प्रकार भूमिमें स्थित श्रुति द्युलोकसम्बन्धी आकाशका परोक्षरूपसे निर्देश करती है । ये पूर्वोक्त वायु आदि आकाशकी समानरूपताको प्राप्त हो अपने वायु आदि रूपसे गृहीत न होते हुए आकाशसंज्ञाको प्राप्त हो जाते हैं ।

जिस प्रकार सम्प्रसाद अविद्यावस्थामें देहात्मभावको ही प्राप्त रहता है उसी प्रकार तद्रूपताको प्राप्त हुए वे सब वर्षा आदि प्रयोजनकी पूर्तिके लिये इस द्युलोकसम्बन्धी आकाशदेशसे समुत्थान करते हैं । किस प्रकार समुत्थान करते हैं ?—शिशिरका अन्त होनेपर सूर्यके परम तेज ग्रीष्मकालीन प्रकृष्ट तेजको उपसम्पन्न हो अर्थात् सविताके अभितापको प्राप्त हो उस आदित्यके

पादिताः सन्तः स्वेन स्वेन रूपेण पुरोवातादिवायुरूपेण स्तिमितभावं हित्वाभ्रमपि भूमिपर्वतहस्त्यादिरूपेण विद्युदपि स्वेन ज्योतिर्लतादिचपलरूपेण स्तनयित्नुरपि स्वेन गर्जिताशनिरूपेणेत्येवं प्रावृडागमे स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अभितापसे विभिन्नभावको प्राप्त होकर अपने-अपने स्वरूपसे सम्पन्न हो जाते हैं । उनमें वायु पूर्ववायु आदि अपने रूपोंसे, बादल आर्द्रभावको त्यागकर भूमि, पर्वत एवं हाथी आदिके सदृश आकारोंसे, विद्युत् ज्योतिर्लता आदि अपने चपल रूपसे और मेघध्वनि गर्जन तथा वज्रपात आदि अपने रूपसे स्थित हो जाते हैं । इस प्रकार वर्षाकाल आनेपर ये सभी अपने-अपने रूपसे निष्पन्न हो जाते हैं ॥ २ ॥

* * *

यथायं दृष्टान्तः—

जैसा कि यह दृष्टान्त है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳस्मरन्निदꣳशरीरꣳस यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे समुत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है । वह उत्तम पुरुष है । उस अवस्थामें वह हँसता, क्रीडा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनके साथ रमण करता अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीरको स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है । जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ीमें जुता रहता है उसी प्रकार यह प्राण इस शरीरमें जुता हुआ है ॥ ३ ॥

वाय्वादीनामाकाशादिसाम्यगमनवदविद्यया संसारावस्थायां शरीरसाम्यमापन्नोऽहममुष्य पुत्रो जातो जीर्णो मरिष्ये— इत्येवंप्रकारं प्रजापतिनेव मघवान् यथोक्तेन क्रमेण नासि त्वं देहेन्द्रियादिधर्मा तत्त्वमसीति प्रतिबोधितः सन्स एष सम्प्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरादाकाशादिव वाय्वादयः समुत्थाय देहादिविलक्षणमात्मनो रूपमवगम्य देहात्मभावनां हित्वेत्येतत्। स्वेन रूपेण सदात्मनैवाभिनिष्पद्यत इति व्याख्यातं पुरस्तात्।

स येन स्वेन रूपेण सम्प्रसादोऽभिनिष्पद्यते—प्राक्प्रतिबोधात्तद्भ्रान्तिनिमित्तात्सर्पो भवति यथा रज्जुः पश्चात्कृतप्रकाशा रज्ज्वात्मना स्वेन रूपेणाभिनि-

[उसी प्रकार—] वायु आदिके आकाशादिकी समताको प्राप्त होनेके समान अविद्यावश सांसारिक अवस्थामें शरीरकी समताको प्राप्त हुआ, अर्थात् 'मैं इसका पुत्र हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, जराग्रस्त हूँ, मरूँगा' इस प्रकार समझनेवाले इन्द्रको जिस प्रकार प्रजापतिने समझाया था उसी क्रमसे 'तू देह और इन्द्रियोंके धर्मवाला नहीं है, बल्कि वह सत् ही तू है' इस प्रकार समझाया हुआ वह यह सम्प्रसाद—जीव आकाशसे वायु आदिके समान इस शरीरसे समुत्थान कर देहादिसे विलक्षण आत्मस्वरूपको जानकर अर्थात् देहात्मभावनाको त्यागकर अपने स्वाभाविक सत्स्वरूपसे ही स्थित हो जाता है—इस प्रकार पहले इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

वह सम्प्रसाद अपने जिस स्वाभाविक रूपसे स्थित होता है—जिस प्रकार विवेक होनेसे पूर्व भ्रान्तिके कारण रज्जु सर्प हो जाती है और फिर प्रकाश होनेपर वह अपने स्वाभाविक रज्जुरूपसे स्थित

ष्पद्यते । एवं च स उत्तमपुरुष उत्तमश्चासौ पुरुषश्चेत्युत्तमपुरुषः स एवोत्तमपुरुषोऽक्षिस्वप्नपुरुषौ व्यक्तावव्यक्तश्च सुषुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नोऽशरीरश्च स्वेन रूपेणेति । एषामेष स्वेन रूपेणावस्थितः क्षराक्षरौ व्याकृताव्याकृतावपेक्ष्योत्तमपुरुषः कृतनिर्वचनो ह्ययं गीतासु ।

स सम्प्रसादः स्वेन रूपेण तत्र स्वात्मनि स्वस्थतया सर्वात्मभूतः पर्येति क्वचिदिन्द्राद्यात्मना जक्षद्धसन् भक्षयन् वा भक्ष्यानुच्चावचानीप्सितान् क्वचिन्मनोमात्रैः संकल्पादेव समुत्थितैर्ब्राह्मलौकिकैर्वा क्रीडन् स्त्र्यादिभी रममाणश्च मनसैव, नोपजनम्, स्त्रीपुंसयोर-

हो जाती है उसी प्रकार वह उत्तम पुरुष—जो उत्तम हो और पुरुष हो उसे उत्तम पुरुष कहते हैं। अक्षिपुरुष और स्वप्नपुरुष ये दोनों व्यक्त हैं, किंतु सुषुप्तपुरुष अपने स्वाभाविक रूपमें स्थित होकर सम्यक्प्रकारसे लीन, सम्प्रसन्न, अव्यक्त तथा अशरीर है। इनमें व्यक्त और अव्यक्त जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं उनकी अपेक्षा यह अपने स्वाभाविक रूपमें स्थित हुआ पुरुष उत्तम है। इसका निरूपण गीतामें किया है।

वह सम्प्रसाद अपने स्वाभाविक रूपमे—स्वयं स्वात्मामें स्थित हुआ आत्मनिष्ठ होनेके कारण सबका अन्तरात्मभूत होकर सब ओर संचार करता है। कभी इन्द्रादि रूपसे 'जक्षत्'—हँसता अथवा मनोवाञ्छित बढ़िया-घटिया भोजन-सामग्रियोंको भक्षण करता हुआ, कभी मनोमात्र अर्थात् केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हुए अथवा ब्रह्मलोक-सम्बन्धी भोगोंके साथ क्रीडा करता और स्त्री आदिके साथ मनके ही द्वारा रमण करता हुआ उपजनको—जो स्त्री-पुरुषोंके पारस्परिक सहगमनसे उत्पन्न होता है अथवा

न्योन्योपगमेन जायत इत्युपजनमात्मभावेन वात्मसामीप्येन जायत इत्युपजनमिदं शरीरं तन्न स्मरन् । तत्स्मरणे हि दुःखमेव स्यात्; दुःखात्मकत्वात्तस्य ।

नन्वनुभूतं चेन्न स्मरेदसर्वज्ञत्वं मुक्तस्य ।

नैष दोषः; येन मिथ्याज्ञानादिना जनितं तच्च मिथ्याज्ञानादि विद्ययोच्छेदितमतस्तन्नानुभूतमेवेति न तदस्मरणे सर्वज्ञत्वहानिः । न ह्युन्मत्तेन ग्रहगृहीतेन वा यदनुभूतं तदुन्मादाद्यपगमेऽपि स्मर्तव्यं स्यात्तथेहापि संसारिभिरविद्यादोषवद्भिर्यदनुभूयते तत्सर्वात्मानमशरीरं न

आत्मरूपसे या अपनी समीपतासे उत्पन्न होता है ऐसे इस शरीरका नाम 'उपजन' है——इसे स्मरण न करता हुआ [सब ओर संचार करता है], क्योंकि उसका स्मरण करनेसे तो दुःख ही होगा, कारण वह दुःखात्मक है ।

शङ्का—यदि वह अनुभूत शरीरका स्मरण नहीं करता तब तो मुक्त पुरुषकी असर्वज्ञता सिद्ध होती है ।

समाधान—यहाँ यह दोष नहीं है । जिस मिथ्याज्ञानादिके द्वारा उस शरीरकी उत्पत्ति हुई थी वह मिथ्या ज्ञानादि ज्ञानसे उच्छिन्न हो गये; इसलिये अब उस शरीरका अनुभव नहीं होता, अतः उसका स्मरण न करनेमें सर्वज्ञताकी हानि नहीं हो सकती । जो वस्तु उन्मत्त या ग्रहग्रस्त पुरुषको अनुभव होती थी उसे उन्मादादिकी निवृत्ति होनेपर भी स्मरण करना चाहिये——ऐसी बात नहीं है । इसी प्रकार इस प्रसङ्गमें भी जो शरीर अविद्यारूप दोषवाले संसारियोंद्वारा अनुभव किया जाता है वह अशरीरी सर्वात्माको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि

स्पृशति; अविद्यानिमित्ताभावात् ।

ये तूच्छिन्नदोषैर्मृदितकषायैर्मानसाः सत्याः कामा अनृतापिधाना अनुभूयन्ते विद्याभिव्यङ्ग्यत्वात्, त एव मुक्तेन सर्वात्मभूतेन सम्बध्यन्त इत्यात्मज्ञानस्तुतये निर्दिश्यन्तेऽतः साध्वेतद्विशिनष्टि—'य एते ब्रह्मलोके' इति । यत्र क्वचन भवन्तोऽपि ब्रह्मण्येव हि ते लोके भवन्तीति सर्वात्मत्वाद्ब्रह्मण उच्यन्ते ।

ननु कथमेकः सन्नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा कामांश्च ब्राह्मलौकिकान् पश्यन्रमत इति च विरुद्धम् । यथैको यस्मिन्नेव क्षणे

उसमें उसके अविद्यारूप निमित्तका अभाव है ।

किंतु जिनके दोष नष्ट हो गये हैं और राग-द्वेषादि कषाय क्षीण हो गये हैं उन पुरुषोंद्वारा, मिथ्या विषयाभिनिवेशरूप अनृतके कारण अज्ञानियोंके अनुभवमें न आनेवाले जिन मानस सत्य भोगोंका अनुभव किया जाता है वे विद्याद्वारा अभिव्यक्त होनेवाले होनेके कारण इस प्रकार उपर्युक्त सर्वात्मभूत विद्वान्से सम्बन्धित हैं; इसीसे आत्मज्ञानकी स्तुतिके लिये उनका निर्देश किया जाता है। अतः 'य एते ब्रह्मलोके' ऐसा जो निर्देश किया गया है वह ठीक ही है, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है, अतः वे कहीं भी रहें तथापि ब्रह्मलोकमें ही हैं—इस प्रकार कहे जाते हैं ।

शङ्का—किंतु 'वह एक होता हुआ न तो अन्य कुछ देखता है, न अन्य कुछ सुनता है और न अन्य कुछ जानता है' 'वह भूमा है' और 'वह ब्रह्मलोकसम्बन्धी भोगोंको देखता हुआ रमण करता है' ये दोनों कथन तो परस्परविरुद्ध हैं, जिस प्रकार यह कहा जाय कि एक पुरुष

पश्यति स तस्मिन्नेव क्षणे न पश्यति ।

नैष दोषः; श्रुत्यन्तरे परिहृतत्वात् । द्रष्टुर्दृष्टेरविपरिलोपात्पश्यन्नेव भवति; द्रष्टुरन्यत्वेन कामानामभावान्न पश्यति चेति । यद्यपि सुषुप्ते तदुक्तं मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात्समानो द्वितीयाभावः । 'केन कं पश्येत्' इति चोक्तमेव ।

अशरीरस्वरूपोऽपहतपाप्मादिलक्षणः सन् कथमेष पुरुषोऽक्षिणि दृश्यत इत्युक्तः प्रजापतिना ? तत्र यथासावक्षिणि साक्षाद्दृश्यते तद्वक्तव्यमितीदमारभ्यते । तत्र को हेतुरक्षिणि दर्शन इत्याह—

जिस क्षणमें देखता है उसी क्षणमें नहीं भी देखता ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक अन्य श्रुतिमें इसका निराकरण कर दिया गया है । द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप न होनेके कारण वह देखता ही रहता है और द्रष्टासे भिन्न भोगोंका अभाव होनेके कारण वह नहीं भी देखता । यद्यपि सुषुप्तिमें वह (द्वैताभाव) बतलाया गया है तथापि मुक्तके लिये भी सब कुछ एकरूप होनेके कारण समानरूपसे द्वैताभाव है । इस विषयमें 'किसके द्वारा क्या देखे' ऐसा कहा ही गया है ।

यह पुरुष अशरीररूप और अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाला होनेपर भी नेत्रमें दिखलायी देता है—ऐसा प्रजापतिने क्यों कहा ? ऐसी शङ्का होनेपर जिस प्रकार यह नेत्रमें साक्षात् दिखलायी देता है वह बतलाना चाहिये—इसीसे यह (आगेका वक्तव्य) आरम्भ किया जाता है । नेत्रके भीतर उसके दिखलायी देनेमें क्या कारण है, सो श्रुति बतलाती है—

स दृष्टान्तो यथा प्रयोग्यः प्रयोग्यपरो वा सशब्दः । प्रयुज्यत इति प्रयोग्योऽश्वो बलीवर्दो वा । यथा लोक आचरत्यनेनेत्याचरणो रथोऽनो वा तस्मिन्नाचरणे युक्तस्तदाकर्षणाय । एवमस्मिञ्छरीरे रथस्थानीये प्राणः पञ्चवृत्तिरिन्द्रियमनोबुद्धिसंयुक्तः प्रज्ञात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्च्छितात्मा युक्तः स्वकर्मफलोपभोगनिमित्तं नियुक्तः । 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इतीश्वरेण राज्ञेव सर्वाधिकारी दर्शनश्रवणचेष्टाव्यापारेऽधिकृतः । तस्यैव तु मात्रैकदेशश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धिद्वारभूतम् ॥ ३ ॥

वह दृष्टान्त यों है, जिस प्रकार प्रयोग्य । अथवा 'स यथा प्रयोग्यः' इस पदसमूहमें 'सः' शब्द प्रयोग्यपरक है । जो प्रयुक्त होता है वह अश्व या वृषभ प्रयोग्य कहलाता है । वह जिस प्रकार लोकमें—जिसके द्वारा सब ओर जाते हैं वह रथ या गाड़ी आचरण कहलाता है उस आचरणमें उसे खींचनेके लिये [अश्व या वृषभ] जुता रहता है, इसी प्रकार इस रथस्थानीय शरीरमें पाँच वृत्तियोंवाला प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे संयुक्त हुआ प्रज्ञात्मा विज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दो शक्तियोंसे संयुक्त है, अर्थात् अपने कर्मफलके उपभोगके लिये नियुक्त है । 'किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रमण करूँगा और किसके स्थित होनेपर मैं स्थित रहूँगा' इस श्रुतिके अनुसार, राजा जिस प्रकार सर्वाधिकारीको नियुक्त करता है उसी प्रकार ईश्वरने दर्शन, श्रवण और चेष्टा आदि व्यापारमें प्राणको अधिकारी बनाया है । रूपकी उपलब्धिका द्वारभूत चक्षु इन्द्रिय उसीकी मात्रा अर्थात् एक देश है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳशृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

जिसमें यह चक्षुद्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है; उसके रूपग्रहणके लिये नेत्रेन्द्रिय है। जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ वह आत्मा है; उसके गन्धग्रहणके लिये नासिका है और जो ऐसा समझता है कि मैं यह शब्द बोलूँ वही आत्मा है; उसके शब्दोच्चारणके लिये वागिन्द्रिय है, तथा जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह भी आत्मा है, श्रवण करनेके लिये श्रोत्रेन्द्रिय है ॥ ४ ॥

अथ यत्र कृष्णतारोपलक्षितमाकाशं देहच्छिद्रमनुविषण्णमनुषक्तमनुगतं तत्र स प्रकृतोऽशरीर आत्मा चाक्षुषश्चक्षुषि भव इति चाक्षुषस्तस्य दर्शनाय रूपोपलब्धये चक्षुः करणम्; यस्य तद्देहादिभिः संहतत्वात्परस्य द्रष्टुरर्थे, सोऽत्र चक्षुषि दर्शनेन लिङ्गेन दृश्यते परोऽशरीरोऽसंहतः।

जहाँ (जिस जाग्रदवस्थामें) यह कृष्णतारोपलक्षित आकाश देहान्तर्वर्ती छिद्रमें अनुविषण्ण—अनुषक्त अर्थात् अनुगत है उस अवस्थामें यह प्रकृत अशरीर आत्मा चाक्षुष—चक्षुमें रहनेवाला है इसलिये चाक्षुष है। उसके देखने—रूपोपलब्धि करनेके लिये चक्षु करण है। देहादिसे संहत होनेके कारण जिस पर द्रष्टाके लिये चक्षु यह करण है वह पर अशरीर आत्मा इस नेत्रके अन्तर्गत दर्शनरूप लिङ्गसे उससे असंहत देखा जाता

'अक्षिणि दृश्यते' इति प्रजापतिनोक्तं सर्वेन्द्रियद्वारोपलक्षणार्थम्; सर्वविषयोपलब्धा हि स एवेति । स्फुटोपलब्धिहेतुत्वात्तु 'अक्षिणि' इति विशेषवचनं सर्वश्रुतिषु । "अहमदर्शमिति तत्सत्यं भवति" इति च श्रुतेः ।

अथापि योऽस्मिन्देहे वेद कथम्? इदं सुगन्धि दुर्गन्धि वा जिघ्राणीत्यस्य गन्धं विजानीयामिति स आत्मा तस्य गन्धाय गन्धविज्ञानाय घ्राणम् । अथ यो वेदेदं वचनमभिव्याहराणीति वदिष्यामीति स आत्माभिव्याहरणक्रियासिद्धये करणं वागिन्द्रियम् । अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

है । 'नेत्रके अन्तर्गत दिखलायी देता है' यह बात प्रजापतिने सम्पूर्ण इन्द्रियरूप द्वारोंके उपलक्षणके लिये कही है । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण विषयोंको उपलब्ध करनेवाला वही है । चक्षु इन्द्रिय स्फुट उपलब्धिका कारण है, इसलिये समस्त श्रुतियोंमें 'अक्षिणि' यह विशेष वचन है । "मैंने देखा है, इसलिये यह सत्य है" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ।

तथा इस शरीरमें जो यह जानता है—किस प्रकार जानता है?—मैं यह सुगन्धि या दुर्गन्धि सूँघूँ अर्थात् इसकी गन्ध जानूँ—ऐसा जो जानता है वह आत्मा है । उसके गन्ध अर्थात् गन्धज्ञानके लिये घ्राण है । और जो ऐसा जानता है कि मैं यह वचन उच्चारण करूँ अर्थात् बोलूँ वह आत्मा है; उसकी शब्दोच्चारणक्रियाकी सिद्धिके लिये वाक् इन्द्रिय करण है । तथा जो यह जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ वह आत्मा है; उसके शब्दश्रवणके लिये श्रोत्रेन्द्रिय है ॥ ४ ॥

---

१. स्पष्टोपलब्धिमें चक्षुका हेतुत्व ।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते ॥ ५ ॥

और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ वह आत्मा है। मन उसका दिव्य नेत्र है; वह यह आत्मा इस दिव्य चक्षुके द्वारा भोगोंको देखता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति मननव्यापारमिन्द्रियासंस्पृष्टं केवलं मन्वानीति वेद स आत्मा मननाय मनः। 'यो वेद स आत्मा' इत्येवं सर्वत्र प्रयोगाद्वेदनमस्य स्वरूपमित्यवगम्यते। यथा 'यः पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यो यो दक्षिणतो यः पश्चाद्य उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाशयति स आदित्यः' इत्युक्ते प्रकाशस्वरूपः स इति गम्यते।

और जो यह जानता है कि मैं इसका मनन करूँ अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंसे असंस्पृष्ट केवल मनन व्यापार करूँ वह आत्मा है; उसके मनन करनेके लिये मन करण है। 'जो जानता है वह आत्मा है' इस प्रकार ही सर्वत्र प्रयोग होनेके कारण यह विदित होता है कि ज्ञान ही इसका स्वरूप है; जिस प्रकार कि 'जो पूर्वसे प्रकाश करता है वह सूर्य है तथा जो दक्षिणसे, जो पश्चिमसे, जो उत्तरसे और जो ऊपरकी ओर प्रकाश करता है वह सूर्य है' ऐसा कहे जानेपर यह ज्ञात होता है कि सूर्य प्रकाशस्वरूप है।

दर्शनादिक्रियानिर्वृत्त्यर्थानि तु चक्षुरादिकरणानि। इदं चास्यात्मनः सामर्थ्यादवगम्यते।

नेत्रादि जो इन्द्रियाँ हैं वे दर्शनादि क्रियाकी निष्पत्तिके लिये हैं—यह बात इस आत्माकी सामर्थ्यसे विदित होती है। आत्मा-

आत्मनः सत्तामात्र एव ज्ञानकर्तृत्वं न तु व्यापृततया । यथा सवितुः सत्तामात्रमेव प्रकाशनकर्तृत्वं न तु व्यापृततयेति, तद्वत् ।

मनोऽस्यात्मनो दैवमप्राकृतमितरेन्द्रियैरसाधारणं चक्षुश्चष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षुः । वर्तमानकालविषयाणि चेन्द्रियाण्यतोऽदैवानि तानि । मनस्तु त्रिकालविषयोपलब्धिकरणं मृदितदोषं च सूक्ष्मव्यवहितादिसर्वोपलब्धिकरणं चेति दैवं चक्षुरुच्यते । स वै मुक्तः स्वरूपापन्नोऽविद्याकृतदेहेन्द्रियमनोवियुक्तः सर्वात्मभावमापन्नः सन्नेष व्योमवद्विशुद्धः सर्वेश्वरो मनउपाधिः सन्नेतेनैवेश्वरेण मनसैतान्कामान्सवितृप्रकाशवन्नित्यप्रततेन दर्शनेन पश्यन्रमते ॥ ५ ॥

का जो ज्ञानकर्तृत्व है वह केवल सत्तामात्रमें है, उसकी व्यापृतताके कारण नहीं है । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाशन-कर्तृत्व उसकी सत्तामात्रमें ही है किसी व्यापारप्रवणताके कारण नहीं है, इसी प्रकार इसे समझना चाहिये ।

मन इस आत्माका दैव—अप्राकृत अर्थात् अन्य इन्द्रियोंसे असाधारण चक्षु है; 'चष्टे अनेन'—जिससे देखता है उसे चक्षु कहते हैं । इन्द्रियाँ वर्तमानकालविषयक हैं, इसलिये वे अदैव हैं; किंतु मन तीनों कालोंके विषयोंकी उपलब्धिका करण, क्षीणदोष और सूक्ष्म एवं व्यवहित सभी पदार्थोंकी उपलब्धिका साधन है, इसलिये वह दैव चक्षु कहा जाता है । तथा वह आत्मा स्वरूपस्थित होनेपर मुक्त तथा अविद्याकृत देह, इन्द्रिय और मनसे वियुक्त है, सर्वात्मभावको प्राप्त होनेपर वह आकाशके समान विशुद्ध और सर्वेश्वर है तथा मनरूप उपाधिवाला होनेपर वही इस इन्द्रियोंके स्वामी मनसे ही सूर्यके प्रकाशके समान अपनी नित्य प्रसृत दृष्टिसे इन भोगोंको देखता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

कान्कामानिति विशिनष्टि ।

किन भोगोंको देखता है ? इसपर श्रुति उनका विशेषण बतलाती है ।

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

जो ये भोग इस ब्रह्मलोकमें हैं उन्हें देखता हुआ रमण करता है । उस आत्माकी देवगण उपासना करते हैं । इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त हैं । जो उस आत्माको शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार जानकर साक्षात् रूपसे अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है । ऐसा प्रजापतिने कहा, प्रजापतिने कहा ॥ ६ ॥

य एते ब्रह्मणि लोके हिरण्यनिधिवद्बाह्यविषयासङ्गानृतेनापिहिताः संकल्पमात्रलभ्यास्तानित्यर्थः । यस्मादेष इन्द्राय प्रजापतिनोक्त आत्मा तस्मात्ततः श्रुत्वा तमात्मानमद्यत्वेऽपि देवा उपासते । तदुपासनाच्च तेषां सर्वे च लोका आत्ताः प्राप्ताः सर्वे च कामाः । यदर्थं हीन्द्र

जो ये भोग सुवर्णकी निधिके समान ब्रह्मलोकमें बाह्य विषयोंकी आसक्तिरूप अनृतसे आच्छादित हैं अर्थात् केवल संकल्पमात्रसे प्राप्त होनेयोग्य हैं, उन्हें वह देखता है । क्योंकि इस आत्माका प्रजापतिने इन्द्रको उपदेश किया है इसलिये उनसे श्रवण कर आज भी देवगण उसकी उपासना करते हैं । उसकी उपासनासे उन्हें सारे लोक और समस्त भोग प्राप्त हैं । तात्पर्य यह

एकशतं वर्षाणि प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तत्फलं प्राप्तं देवैरित्यभिप्रायः ।

तद्युक्तं देवानां महाभाग्यत्वान्न त्विदानीं मनुष्याणामल्पजीवितत्वान्मन्दतरप्रज्ञत्वाच्च सम्भवतीति प्राप्त इदमुच्यते—स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिदानींतनोऽपि; कोऽसौ ? इन्द्रादिवद्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह सामान्येन किल प्रजापतिरुवाच । अतः सर्वेषामात्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च तुल्यैव भवतीत्यर्थः । द्विर्वचनं प्रकरणसमाप्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

है कि जिसके लिये इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया था वह फल देवताओंको प्राप्त हो गया ।

देवता महान् भाग्यशाली हैं, अतः उनके लिये वह (सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंकी प्राप्ति होनी) उचित ही है, किंतु इस समय मनुष्योंको तो उनका मिलना सम्भव नहीं है; क्योंकि वे अल्पजीवी और मन्दतर बुद्धिवाले हैं—ऐसी शङ्का प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—वह वर्तमानकालीन साधक भी सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है । वह कौन ? जो इन्द्रादिके समान उस आत्माको जानकर साक्षात् अनुभव कर लेता है—इस प्रकार सामान्यरूपसे (सभीके लिये) प्रजापतिने कहा । अतः आत्मज्ञान और उसके फलकी प्राप्ति सभीके लिये समान है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'प्रजापतिरुवाच' इसकी द्विरुक्ति प्रकरणकी समाप्तिके लिये है ६

* * *

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये द्वादशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥१२॥

त्रयोदश खण्ड

‘श्यामाच्छबलम्’ इस मन्त्रका उपदेश

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥

मैं श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्मसे शबल ब्रह्मको प्राप्त होऊँ और शबलसे श्यामको प्राप्त होऊँ । अश्व जिस प्रकार रोएँ झाड़कर निर्मल हो जाता है उसी प्रकार मैं पापोंको झाड़कर तथा राहुके मुखसे निकले हुए चन्द्रमाके समान शरीरको त्यागकर कृतकृत्य हो अकृत (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ, ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ ॥ १ ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्य इत्यादिमन्त्राम्नायः पावनो जपार्थश्च ध्यानार्थो वा । श्यामो गम्भीरो वर्णः श्याम इव श्यामो हार्दं ब्रह्मात्यन्तदुरवगाह्यत्वात्तद्धार्दं ब्रह्म ज्ञात्वा ध्यानेन तस्माच्छ्यामाच्छबलं शबल इव शबलोऽरण्याद्यनेककाममिश्रत्वाद्ब्रह्मलो-

‘श्यामाच्छबलं प्रपद्ये’ इत्यादि मन्त्र पवित्र करनेवाला है और यह जप अथवा ध्यानके लिये है । श्याम यह गम्भीर वर्ण है । हृदयस्थ ब्रह्म अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण श्याम वर्णके समान श्याम है, उस हृदयस्थ ब्रह्मको जानकर ध्यानके द्वारा उस श्याम ब्रह्मसे शबल ब्रह्मको—जो शबलके समान शबल है, क्योंकि ब्रह्मलोक अरण्यादि अनेक कामनाओंसे युक्त है इसलिये

कस्य शाबल्यम्, तं ब्रह्मलोकं शबलं प्रपद्ये मनसा शरीरपाताद्वोर्ध्वं गच्छेयम् । यस्मादहं शबलाद्ब्रह्मलोकान्नामरूपव्याकरणाय श्यामं प्रपद्ये हार्दभावं प्रपन्नोऽस्मीत्यभिप्रायः । अतस्तमेव प्रकृतिस्वरूपमात्मानं शबलं प्रपद्य इत्यर्थः ।

कथं शबलं ब्रह्मलोकं प्रपद्ये ? इत्युच्यते—अश्व इव स्वानि लोमानि विधूय कम्पनेन श्रमं पांस्वादि च रोमतोऽपनीय यथा निर्मलो भवत्येवं हार्दब्रह्मज्ञानेन विधूय पापं धर्माधर्माख्यं चन्द्र इव च राहुग्रस्तस्तस्माद्राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवति यथा—एवं धूत्वा प्रहाय शरीरं सर्वानर्थाश्रयमिहैव ध्यानेन कृतात्मा कृतकृत्यः सन्नकृतं नित्यं ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीति । द्विर्वचनं मन्त्रसमाप्त्यर्थम् ॥ १ ॥

उसकी शबलता है, उस शबल ब्रह्मलोकको मनसे—शरीरपातके पश्चात् प्राप्त होऊँ—जाऊँ, क्योंकि मैं नाम-रूपकी अभिव्यक्तिके लिये शबल ब्रह्मलोकसे श्याम—हार्द-भावको प्राप्त हुआ हूँ, ऐसा इसका अभिप्राय है । अतः तात्पर्य यह है कि मैं उस अपने प्रकृतिस्वरूप शबल आत्माको प्राप्त होऊँ ।

मैं शबल ब्रह्मलोकको कैसे प्राप्त हो सकता हूँ ? सो बतलाया जाता है—जिस प्रकार अश्व अपने रोएँ हिलाकर अर्थात् रोम-कम्पनके द्वारा श्रम और धूलि आदि दूर करके जैसे निर्मल हो जाता है उसी प्रकार हार्दब्रह्मके ज्ञानसे धर्माधर्मरूप पापको झाड़कर तथा राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जिस प्रकार कि वह राहुके मुखसे निकलकर प्रकाशमान हो जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण अनर्थोंके आश्रयभूत शरीरको त्यागकर इस लोकमें ही ध्यानद्वारा कृतात्मा—कृतकृत्य हो अकृत—नित्य ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ । 'ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' इसकी द्विरुक्ति मन्त्रकी समाप्तिके लिये है ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये त्रयोदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १३ ॥

चतुर्दश खण्ड

कारणरूपसे आकाशसंज्ञक ब्रह्मका उपदेश

आकाशो वा इत्यादि ब्रह्मणो लक्षणनिर्देशार्थम् आध्यानाय ।

'आकाशो वै' इत्यादि श्रुति उत्तम प्रकारसे ध्यान करनेके निमित्त ब्रह्मका लक्षण निर्देश करनेके लिये है ।

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳश्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥ १ ॥

आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है । वे (नाम और रूप) जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है । मैं प्रजापतिके सभागृहको प्राप्त होता हूँ; मैं यश:संज्ञक आत्मा हूँ; मैं ब्राह्मणोंके यश, क्षत्रियोंके यश और वैश्योंके यश (यश:स्वरूप आत्मा) को प्राप्त होना चाहता हूँ; वह मैं यशोंका यश हूँ; मैं बिना दाँतोंके भक्षण करनेवाले रोहित वर्ण पिच्छिल स्त्री-चिह्नको प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ ॥ १ ॥

आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा; आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च । स

'आकाश' इस नामसे श्रुतियोंमें आत्मा प्रसिद्ध है, क्योंकि वह आकाशके समान अशरीर और सूक्ष्म है । वह आकाश (आकाश-

चाकाशो नामरूपयोः स्वात्मस्थयोर्जगद्बीजभूतयोः सलिलस्येव फेनस्थानीययोर्निर्वहिता निर्वोढा व्याकर्ता । ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्तेते तयोर्वा नामरूपयोरन्तरा मध्ये यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत्तद्ब्रह्म नामरूपविलक्षणं नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयोर्निर्वोढ्रेवंलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । इदमेव मैत्रेयीब्राह्मणेनोक्तं चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यत एकवाक्यता ।

कथं तदवगम्यते ? इत्याह—स आत्मा । आत्मा हि नाम सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धस्तेनैव स्वरूपेणोन्नीयाशरीरो व्योमवत्सर्वगत आत्मा

संज्ञक आत्मा) जलके फेनस्थानीय अपनेमें स्थित नाम और रूपका निर्वहिता—निर्वाह करनेवाला अर्थात् उन्हें व्यक्त करनेवाला है । वे नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं अर्थात् जिस ब्रह्मके अन्तरा—मध्यमें वर्तमान हैं, अथवा जो उन नाम और रूपके अन्तरा—मध्यमें है और उन नाम और रूपसे असंस्पृष्ट है; तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म नाम-रूपसे विलक्षण और नाम-रूपसे असंस्पृष्ट है, तो भी उनका निर्वाह करनेवाला है; अर्थात् ब्रह्म ऐसे लक्षणोंवाला है । यही बात [बृहदारण्यकान्तर्गत] मैत्रेयीब्राह्मणमें कही गयी है कि सर्वत्र चिन्मात्रकी अनुगति होनेके कारण सबकी चिद्रूपता है—इस प्रकार इन वाक्योंकी एकवाक्यता ज्ञात होती है ।

यह बात कैसे ज्ञात होती है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—'स आत्मा'—आत्मा सम्पूर्ण जीवोंका प्रत्यक्चेतन और स्वसंवेद्य प्रसिद्ध है; उसी रूपसे उन्नयन (ऊहा) करके वह अशरीर और आकाशके समान सर्वगत आत्मा

ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । तच्चात्मा ब्रह्मामृतममरणधर्मा ।

अत ऊर्ध्वं मन्त्रः । प्रजापतिश्चतुर्मुखस्तस्य सभां वेश्म प्रभुविमितं वेश्म प्रपद्ये गच्छेयम् । किञ्च यशोऽहं यशो नामात्माहं भवामि ब्राह्मणानाम् । ब्राह्मणा एव हि विशेषतस्तमुपासते ततस्तेषां यशो भवामि । तथा राज्ञां विशां च । तेऽप्यधिकृता एवेति तेषामप्यात्मा भवामि । तद्यशोऽहमनुप्रापत्स्यनुप्राप्तुमिच्छामि। स हाहं यशसामात्मनां देहेन्द्रियमनोबुद्धिलक्षणानामात्मा ।

किमर्थमहमेवं प्रपद्ये ? इत्युच्यते—श्येतं वर्णतः पक्वबदरसमं रोहितम् । तथादत्कं दन्तरहितमप्यदत्कं भक्षयितृ स्त्रीव्यञ्जनं तत्सेविनां तेजोबलवीर्यविज्ञान-

ही ब्रह्म है—ऐसा जानना चाहिये । वह आत्मरूप ब्रह्म अमृत—अमरणधर्मा है ।

इसके आगे मन्त्र है—प्रजापति चतुर्मुख ब्रह्माका नाम है, उनकी सभा अर्थात् प्रभुविमितनामक गृहको मैं प्राप्त होऊँ—जाऊँ । मैं ब्राह्मणोंका यश—यशसंज्ञक आत्मा होऊँ; क्योंकि ब्राह्मण ही विशेषरूपसे उसकी उपासना करते हैं; अतः मैं उनका यश होऊँ । इसी प्रकार मैं क्षत्रिय और वैश्योंका भी यश होऊँ । वे भी अधिकारी ही हैं, अतः मैं उनका भी आत्मा होऊँ । मैं उनका यश प्राप्त करना चाहता हूँ । वह मैं यशःस्वरूप आत्माओंका अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप आत्माओंका आत्मा हूँ ।

मैं इस प्रकार आत्माको क्यों प्राप्त होता हूँ ? सो बतलाया जाता है—श्येन—जो रङ्गमें पके हुए बेरके समान लाल है, तथा 'अदत्क'—दन्तरहित होनेपर भी 'अदत्क' भक्षण करनेवाले स्त्रीचिह्नको; क्योंकि वह अपना सेवन करनेवालेके तेज, बल, वीर्य, विज्ञान

धर्माणामपहन्तृ विनाशयित्रित्येतत् । यदेवंलक्षणं श्येतं लिन्दु पिच्छलं तन्माभिगां माभिगच्छेयम् । द्विर्वचनमत्यन्तानर्थहेतुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥ १ ॥

और धर्मका हनन अर्थात् विनाश करनेवाला है । जो ऐसे लक्षणोंवाला श्येत लिन्दु—पिच्छिल स्त्रीचिह्न है उसे प्राप्त न होऊँ, उसमें गमन न करूँ । 'माभिगाम् माभिगाम्' यह द्विरुक्ति उसका अत्यन्त अनर्थहेतुत्व प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये चतुर्दशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १४ ॥

पञ्चदश खण्ड

आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और फलका वर्णन

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

उस इस आत्मज्ञानका ब्रह्माने प्रजापतिके प्रति वर्णन किया, प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया । नियमानुसार गुरुके कर्तव्यकर्मोंको समाप्त करता हुआ वेदका अध्ययन कर आचार्यकुलसे समावर्तनकर कुटुम्बमें स्थित हो पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ [पुत्र एवं शिष्यादिको] धार्मिक कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थापित कर शास्त्रकी आज्ञासे अन्यत्र प्राणियोंकी हिंसा न करता हुआ वह निश्चय ही आयुकी समाप्तिपर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ [अन्तमें] ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ॥ १ ॥

तद्धैतदात्मज्ञानं सोपकरणम् 'ओमित्येतदक्षरम्' इत्याद्यैः सहो-

[शमादि] उपकरणोंके सहित उस इस आत्मज्ञानका 'ओमित्येतदक्षरम्' इत्यादि उपासनाओंके सहित उसका

पासनैस्तद्वाचकेन ग्रन्थेनाष्टाध्यायीलक्षणेन सह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये कश्यपायोवाच, असावपि मनवे स्वपुत्राय, मनुः प्रजाभ्यः; इत्येवं श्रुत्यर्थसम्प्रदायपरम्परयागतमुपनिषद्विज्ञानमद्यापि विद्वत्स्ववगम्यते ।

यथेह षष्ठाद्यध्यायत्रये प्रकाशितात्मविद्या सफलावगम्यते तथा कर्मणां न कश्चनार्थ इति प्राप्ते तदानर्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्षयेदं कर्मणो विद्वद्भिरनुष्ठीयमानस्य विशिष्टफलवत्त्वेनार्थवत्त्वमुच्यते—

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य सहार्थतोऽध्ययनं कृत्वा यथाविधानं यथास्मृत्युक्तैर्नियमैर्युक्तः सन्नित्यर्थः । सर्वस्यापि विधेः स्मृत्युक्तस्योपकुर्वाणकं प्रति कर्त-

वर्णन करनेवाले इस आठ अध्यायवाले ग्रन्थके साथ ब्रह्मा—हिरण्यगर्भ अथवा परमेश्वरने प्रजापति—कश्यपके प्रति वर्णन किया था । उन्होंने अपने पुत्र मनुसे कहा और मनुने प्रजावर्गको सुनाया । इस प्रकार श्रुत्यर्थसम्प्रदायपरम्परासे आया हुआ वह विज्ञान आज भी विद्वानोंमें देखा जाता है ।

जिस प्रकार छठे आदि इन तीन अध्यायोंमें वर्णन की हुई आत्मविद्या सफल समझी जाती है उस प्रकार कर्मोंका कोई प्रयोजन नहीं है—यह बात प्राप्त होनेपर कर्मोंकी व्यर्थता प्राप्त होती है; अतः उसकी निवृत्तिकी इच्छासे विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित होनेवाले कर्मोंके विशिष्टफलयुक्त होनेसे उनकी सार्थकताका निरूपण किया जाता है—

आचार्यकुलसे वेदाध्ययन कर, अर्थात् यथाविधान—जैसे कि स्मृतियोंने नियम बतलाये हैं उनसे युक्त हो अर्थके सहित वेदका स्वाध्याय कर—क्योंकि उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिये स्मृत्युक्त सम्पूर्ण विधि कर्तव्य है, अतः उसमें

न्यत्वे गुरुशुश्रूषायाः प्राधान्यप्रदर्शनार्थमाह—गुरोः कर्म यत्कर्तव्यं तत्कृत्वा कर्मशून्यो योऽतिशिष्टः कालस्तेन कालेन वेदमधीत्येत्यर्थः । एवं हि नियमवताधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्राप्तये भवति नान्यथेत्यभिप्रायः ।

अभिसमावृत्य धर्मजिज्ञासां समापयित्वा गुरुकुलान्निवृत्य न्यायतो दारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा गार्हस्थ्ये विहिते कर्मणि तिष्ठन्नित्यर्थः । तत्रापि गार्हस्थ्यविहितानां कर्मणां स्वाध्यायस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थमुच्यते—शुचौ विविक्तेऽमेध्यादिरहिते देशे यथावदासीनः स्वाध्यायमधीयानो नैत्यकमधिकं च यथाशक्ति ऋगाद्यभ्यासं च कुर्वन्धार्मिकान्पुत्राञ्शिष्यांश्च धर्मयुक्तान्विदधद्धार्मिकत्वेन तान्नियमयन्नात्मनि

गुरुशुश्रूषाकी प्रधानता प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति कहती है—गुरुका जो करनेयोग्य कर्म हो उसे करके जो कर्मशून्य समय शेष रहे उस समयमें वेदका अध्ययन कर—ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः अभिप्राय यह है कि इस प्रकार नियमवान् विद्यार्थीका अध्ययन किया हुआ वेद ही कर्म और ज्ञानकी फलप्राप्तिका हेतु होता है और किसी प्रकार नहीं ।

‘अभिसमावृत्य’ अर्थात् धर्मजिज्ञासाको समाप्त कर गुरुकुलसे निवृत्त हो नियमपूर्वक स्त्रीपरिग्रह कर कुटुम्बमें स्थित हो अर्थात् गृहस्थाश्रममें विहित कर्ममें तत्पर हो; वहाँ भी गृहस्थाश्रमके लिये विहित कर्मोंमें स्वाध्यायकी प्रधानता प्रदर्शित करनेके लिये ऐसा कहा जाता है—शुचि—विविक्त अर्थात् अपवित्र पदार्थोंसे रहित स्थानमें यथावत् बैठकर स्वाध्याय करता हुआ अर्थात् प्रतिदिनका नियमित पाठ और यथाशक्ति उससे अधिक भी ऋगादिका अभ्यास करता हुआ पुत्र एवं शिष्योंको धार्मिक—धर्मवान् बनाता हुआ अर्थात् धार्मिकत्वद्वारा उनका नियमन करता हुआ ‘आत्मनि’—अपने

स्वहृदये हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्योपसंहृत्येन्द्रियग्रहणात्कर्माणि च संन्यस्याहिंसन् हिंसां परपीडामकुर्वन् सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि भूतान्यपीडयन्नित्यर्थः ।

भिक्षानिमित्तमटनादिनापि परपीडा स्यादित्यत आह—अन्यत्र तीर्थेभ्यः । तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञाविषयस्ततोऽन्यत्रेत्यर्थः । सर्वाश्रमिणां चैतत्समानम् । तीर्थेभ्योऽन्यत्राहिंसैवेत्यन्ये वर्णयन्ति । कुटुम्ब एवैतत्सर्वं कुर्वन्स खल्वधिकृतो यावदायुषं यावज्जीवमेवं यथोक्तेन प्रकारेणैव वर्तयन् ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते देहान्ते । न च पुनरावर्तते शरीर-

हृदयमें यानी हृदयस्थ ब्रह्ममें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको स्थापित—उपसंहृत कर और इन्द्रियनिग्रहद्वारा कर्मोंका संन्यास कर 'अहिंसन्'—हिंसा अर्थात् परपीडा न करता हुआ यानी स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंको पीडित न करता हुआ ।

भिक्षाके लिये किये हुए भ्रमणादिसे भी परपीडा (हिंसा) हो सकती है, इसलिये श्रुति कहती है—'अन्यत्र तीर्थेभ्यः' । जो शास्त्राज्ञाका विषय है उसे 'तीर्थ' कहते हैं, अतः तात्पर्य यह है कि उसके सिवा अन्यत्र हिंसा न करता हुआ । यह नियम सभी आश्रमोंके लिये समान है । कुछ अन्य विद्वान् लोग तो ऐसा कहते हैं कि तीर्थोंके सिवा और सब जगह अहिंसाका ही विधान है । अपने कुटुम्बमें ही यह सब करता हुआ वह अधिकारी पुरुष आयुपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन उपर्युक्त प्रकारसे ही बर्तता हुआ देहान्त होनेपर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, और फिर शरीर ग्रहण करनेके लिये नहीं लौटता; क्योंकि

ग्रहणाय; पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रतिषेधात् । अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभिसम्पद्य यावद्ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक्ततो नावर्तत इत्यर्थः । द्विरभ्यास उपनिषद्विद्यापरिसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

पुनरावृत्तिकी प्राप्तिका प्रतिषेध किया गया है । तात्पर्य यह है कि अर्चिरादि मार्गसे कार्यब्रह्मके लोकको प्राप्त हो जबतक ब्रह्मलोककी स्थिति रहती है तबतक वह वहीं रहता है, उसका नाश होनेसे पूर्व वह वहाँसे नहीं लौटता ।* 'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते' यह द्विरुक्ति उपनिषद्-विद्याकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १ ॥

इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमाध्याये पञ्चदशखण्डभाष्यं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्भाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥
॥ छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

---

* यहाँ यह शङ्का होती है कि क्या ब्रह्मलोकके नाश होनेके बाद वह लौटता है ? तो इसका उत्तर है नहीं, वह ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मलोकके नाश होनेके बाद तो कोई लोक ही नहीं रह जाता है ।

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृष्ठ
अग्निर्हिङ्कारो वायुः	२	२०	१	२०२
अग्निष्टे पादं वक्तेति	४	६	१	३८९
अजा हिङ्कारोऽवयः	२	१८	१	१९९
अतो यान्यन्यानि	१	३	५	६९
अत्र यजमानः परस्तादायुषः	२	२४	६	२३७
,, ,,	२	२४	१०	२३९
अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्	५	१२	२	५४७
,, ,,	५	१४	२	५५२
,, ,,	५	१५	२	५५३
,, ,,	५	१६	२	५५५
,, ,,	५	१७	२	५५७
अथ खलु य उद्गीथः	१	५	१	८३
,, ,,	१	५	५	८७
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथम्	१	३	३	६७
अथ खलूद्गीथाक्षराणि	१	३	६	७०
अथ खल्वमुमादित्यम्	२	९	१	१७३
अथ खल्वात्मसंमितमति०	२	१०	१	१८१
अथ खल्वाशीः	१	३	८	७३
अथ खल्वेतयर्चा पच्छः	५	२	७	४६८
अथ जुहोति नमः	२	२४	१४	२४०
अथ जुहोति नमो वायवे	२	२४	९	२३८
अथ जुहोति नमोऽग्नये	२	२४	५	२३६
अथ तत ऊर्ध्वः	३	११	१	२७२
अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ	५	२	६	४६७
अथ य आत्मा स सेतुः	८	४	१	८३६
अथ य इमे ग्रामे	५	१०	३	५०९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
अथ य एतदेवम्	५	२४	२	५७०
अथ य एतदेवं विद्वान्	१	७	७	१०३
अथ य एष सम्प्रसादः	८	३	४	८३१
अथ य एषोऽन्तरक्षिणि	१	७	५	१००
अथ यच्चतुर्थममृतम्	३	९	१	२६८
अथ यत्तदजायत	३	१९	३	३४८
अथ यत्तपो दानम्	३	१७	४	३३१
अथ यत्तृतीयममृतम्	३	८	१	२६४
अथ यत्पञ्चमममृतम्	३	१०	१	२७०
अथ यत्प्रथमास्तमिते	२	९	८	१७९
अथ यत्प्रथमोदिते	२	९	३	१७५
अथ यत्रैतत्पुरुषः	६	८	५	६५४
अथ यत्रैतदबलिमानम्	८	६	४	८६०
अथ यत्रैतदस्माच्छरीराद्	८	६	५	८६१
अथ यत्रैतदाकाशम्	८	१२	४	९३१
अथ यत्रोपाकृते	४	१६	४	४३२
अथ यत्सङ्गववेलायाम्	२	९	४	१७६
अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने	२	९	५	१७७
अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते	८	५	२	८४३
अथ यदतः परो दिवः	३	१३	७	२९८
अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते	८	५	३	८४४
अथ यदवोचं भुवः	३	१५	६	३२१
अथ यदवोचं भूः	३	१५	५	३२०
अथ यदवोचꣳस्वः	३	१५	७	३२१
अथ यदश्नाति	३	१७	२	३३०
अथ यदास्य वाङ्मनसि	६	१५	२	६९५
अथ यदि गन्धमाल्यलोककामः	८	२	६	८२३
अथ यदि गीतवादित्रलोककामः	८	२	८	८२३
अथ यदि तस्याकर्ता	६	१६	२	७००
अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे	८	१	१	८०५
अथ यदि भ्रातृलोककामः	८	२	३	८२२
अथ यदि महज्जिगमिषेद्	५	२	४	४६४

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
अथ यदि मातृलोककामः ...	८	२	२	८२२
अथ यदि यजुष्टो रिष्येत् ...	४	१७	५	४३६
अथ यदि सखिलोककामः ...	८	२	५	८२३
अथ यदि सामतो रिष्येत् ...	४	१७	६	४३७
अथ यदि स्त्रीलोककामः ...	८	२	९	८२४
अथ यदि स्वसृलोककामः ...	८	२	४	८२२
अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यम् ...	४	१५	५	४२३
अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात् ...	२	९	६	१७८
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात् ...	२	९	७	१७९
अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लम् ...	१	७	४	९१
अथ यदेतदादित्यस्य ...	१	६	५	९२
अथ यदेवैतदादित्यस्य ...	१	६	६	९३
अथ यद्द्वितीयममृतम् ...	३	७	१	२६२
अथ यद्वसति ...	३	१७	३	३३१
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ...	८	५	१	८४२
अथ यद्यन्नपानलोककामः ...	८	२	७	८२३
अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त० ...	७	१५	३	७७१
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत ...	२	२२	४	११२
अथ या एता हृदयस्य ...	८	६	१	८५४
अथ यां चतुर्थीम् ...	५	२२	१	५६७
अथ यां तृतीयाम् ...	५	२१	१	५६६
अथ यां द्वितीयाम् ...	५	२०	१	५६५
अथ यां पञ्चमीम् ...	५	२३	१	५६८
अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत् ...	३	१६	३	३२६
अथ यान्यष्टाचत्वारिंशत् ...	३	१६	५	३२७
अथ ये चास्येह ...	८	३	२	८२७
अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयः ...	३	२	१	२४९
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चः ...	३	३	१	२५१
अथ येऽस्योदञ्चः ...	३	४	१	२५२
अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः ...	३	५	१	२५५
अथ यो वेदेदं मन्वानीति ...	८	१२	५	९३३
अथ योऽस्य दक्षिणः ...	३	१३	२	२९१

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः	३	१३	३	२९३
अथ योऽस्योदङ्सुषिः	३	१३	४	२९४
अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः	३	१३	५	२९५
अथ सप्तविधस्य वाचि	२	८	१	१७०
अथ ह हꣳसा निशायाम्	४	१	२	३५४
अथ ह चक्षुरुद्गीथम्	१	२	४	५२
अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्	५	१	१२	४५१
अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि	५	१	६	४४६
अथ ह मन उद्गीथम्	१	२	६	५३
अथ ह य एतानेवम्	५	१०	१०	५३५
अथ ह य एवायं मुख्यः	१	२	७	५४
अथ ह वाचमुद्गीथम्	१	२	३	५२
अथ ह शौनकं च	४	३	५	३७२
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथम्	१	२	५	५३
अथ हाग्नयः समूदिरे	४	१०	४	४०३
अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव	८	९	१	८८७
अथ हैनं गार्हपत्यः	४	११	१	४०९
अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद	१	११	८	१३६
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	१	११	४	१३३
अथ हैनं यजमान उवाच	१	११	१	१३१
अथ हैनं वागुवाच	५	१	१३	४५२
अथ हैनꣳश्रोत्रमुवाच	५	१	१४	४५२
अथ हैनमन्वाहार्यपचनः	४	१२	१	४१२
अथ हैनमाहवनीयः	४	१३	१	४१४
अथ हैनमुद्गातोपससाद	१	११	६	१३५
अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद	४	५	१	३८६
अथ होवाच जनꣳशार्कराक्ष्य	५	१५	१	५५३
अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम्	५	१६	१	५५५
अथ होवाच सत्ययज्ञम्	५	१३	१	५४९
अथ होवाचेन्द्रद्युम्नम्	५	१४	१	५५१
अथ होवाचोद्दालकम्	५	१७	१	५५७
अथात आत्मादेश एव	७	२५	२	७९४

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
अथातः शौव उद्गीथः	...	१	१२	१	१३८
अथाधिदैवतं य एवासौ	...	१	३	१	६४
अथाध्यात्मं प्राणो वाव	...	४	३	३	३७१
अथाध्यात्मं य एवायम्	...	१	५	३	८५
अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः	...	१	७	१	९८
अथानु किमनुशिष्टः	...	५	३	४	४७५
अथानेनैव ये चैतस्मात्	...	१	७	८	१०४
अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कारः	...	२	२	२	१५७
अथैतयोः पथोर्न कतरेण	...	५	१०	८	५३१
अथोताप्याहुः	...	२	१	३	१५२
अधीहि भगव इति	...	७	१	१	७१२
अनिरुक्तस्त्रयोदशः	...	१	१३	३	१४७
अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः	...	१	६	२	९१
अन्तरिक्षोदरः कोशः	...	३	१५	१	३१७
अन्नं वाव बलाद्भूयः	...	७	९	१	७४९
अन्नमयꣳ हि सोम्य	...	६	५	४	६२६
,, ,,	...	६	६	५	६३१
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	...	६	५	१	६२३
अन्नमिति होवाच	...	१	११	९	१३६
अन्यतरामेव वर्तनीम्	...	४	१६	३	४३०
अपां का गतिरित्यसौ	...	१	८	५	१११
अपाꣳ सोम्य पीयमानानाम्	...	६	६	३	६३०
अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति	...	५	२१	२	५६६
अभिमन्थति स हिङ्कारः	...	२	१२	१	१८९
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति	...	५	१०	६	५२१
अभ्राणि संप्लवन्ते	...	२	१५	१	१९४
अमृतत्वं देवेभ्यः	...	२	२२	२	२१०
अयं वाव लोकः	...	१	१३	१	१४४
अयं वाव स योऽयमन्तः	...	३	१२	८	२८५
अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदये	...	३	१२	९	२८५
अरिष्टं कोशम्	...	३	१५	३	३२०
अशनापिपासे मे सोम्य	...	६	८	३	६४८

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्	८	१२	२	९२२
असौ वा आदित्यः	३	१	१	२४३
असौ वाव लोकः	५	४	१	४८२
अस्य यदेकाꣳ शाखाम्	६	११	२	६७२
अस्य लोकस्य का गतिः	१	९	१	११७
अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य	६	११	१	६७१
आकाशो वाव तेजसः	७	१२	१	७५८
आकाशो वै नाम	८	१४	१	९३९
आगाता ह वै कामानाम्	१	२	१४	६३
आत्मानमन्तत उपसृत्य	१	३	१२	७६
आदित्प्रत्नस्य रेतसः	३	१७	७	३३५
आदित्य इति होवाच	१	११	७	१३५
आदित्य ऊकारः	१	१३	२	१४५
आदित्यमथ वैश्वदेवम्	२	२४	१३	२४०
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः	३	१९	१	३४४
आदिरिति द्व्यक्षरम्	२	१०	२	१८३
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	६	५	२	६२४
आपयिता ह वै कामानाम्	१	१	७	४०
आपो वावान्नाद्भूयस्यः	७	१०	१	७५२
आप्नोति हादित्यस्य	२	१०	६	१८६
आशा वाव स्मराद्भूयसी	७	१४	१	७६४
इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः	५	९	१	४९६
इदं वाव तज्ज्येष्ठाय	३	११	५	२७६
इदमिति ह प्रतिजज्ञे	४	१४	३	४१७
इमाः सोम्य नद्यः	६	१०	१	६६८
इयमेवर्गग्निः	१	६	१	८९
उदशराव आत्मानमवेक्ष्य	८	८	१	८७६
उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति	५	२३	२	५६८
उद्गीथ इति त्र्यक्षरम्	२	१०	३	१८३
उद्‍गृह्णाति तन्निधनम्	२	३	२	१६०
उद्दालको हारुणिः	६	८	१	६४१
उद्यन्हिङ्कार उदितः	२	१४	१	१९२

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
उपकोसलो ह वै	...	४	१०	१	४००
उपमन्त्रयते स हिङ्कारः	...	२	१३	१	१९१
ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि	...	७	१	२	७१३
ऋतुषु पञ्चविधम्	...	२	५	१	१६३
एकविꣳशत्यादित्यम्	...	२	१०	५	१८५
एतꣳसंयद्वाम इत्याचक्षते	...	४	१५	२	४२२
एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳसः	...	६	४	५	६१९
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह	...	३	१६	७	३२८
एतमु एवाहमभ्यगासिषम्	...	१	५	२	८४
,, ,,	...	१	५	४	८६
एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभि०	...	३	१	३	२४४
एतेषां मे देहीति	...	१	१०	३	१२४
एवं यथाऽश्मानमाखणमृत्वा	...	१	२	८	५६
एवꣳ सोम्य ते षोडशानाम्	...	६	७	६	६३७
एवमेव खलु सोम्य	...	६	६	२	६२९
,, ,,	...	६	११	३	६७४
एवमेव खलु सोम्येमाः	...	६	१०	२	६६९
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच	...	१	१०	११	१३०
एवमेवैष मघवन्निति	...	८	९	३	८९२
,, ,,	...	८	११	३	९०३
एवमेवैष सम्प्रसादः	...	८	१२	३	९२४
एवमेवोद्गातारमुवाच	...	१	१०	१०	१३०
एवमेषां लोकानामासाम्	...	४	१७	८	४३८
एष उ एव भामनीरेष हि	...	४	१५	४	४२३
एष उ एव वामनीरेष हि	...	४	१५	३	४२२
एष तु वा अतिवदति	...	७	१६	१	७७४
एष म आत्मान्तर्हृदये	...	३	१४	३	३११
एष वै यजमानस्य	...	२	२४	१५	२४०
एष ह वा उदक्प्रवणः	...	४	१७	९	४३९
एष ह वै यज्ञो योऽयम्	...	४	१६	१	४२८
एषां भूतानां पृथिवी रसः	...	१	१	२	३३
ओ ३ मदा ३ मो ३ पिबा०	...	१	१२	५	१४२

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत	...	१	४	१	७७
,, ,,	...	१	१	१	३१
औपमन्यव कं त्वम्	...	५	१२	१	५४५
कं ते काममागायानीत्येषः	...	१	७	९	१०४
कतमा कतमर्क्कतमत्	...	१	१	४	३५
कल्पन्ते हास्मा ऋतवः	...	२	५	२	१६४
कल्पन्ते हास्मै	...	२	२	३	१५८
का साम्नो गतिरिति	...	१	८	४	१०९
कुतस्तु खलु	...	६	२	२	५८८
क तर्हि यजमानस्य	...	२	२४	२	२३४
गायत्री वा इदꣳ सर्वम्	...	३	१२	१	२७९
गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते	...	७	२४	२	७९१
चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	...	३	१८	५	३४२
चक्षुरेवर्गात्मा	...	१	७	२	९८
चक्षुर्होच्चक्राम	...	५	१	९	४४९
चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयः	...	७	५	१	७३४
जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः	...	४	१	१	३५२
तं चेदेतस्मिन्वयसि	...	३	१६	२	३२५
,, ,,	...	३	१६	४	३२६
,, ,,	...	३	१६	६	३२७
तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदम्	...	८	१	४	८११
तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्	...	८	१	२	८०७
तं जायोवाच तप्तः	...	४	१०	२	४०१
तं जायोवाच हन्त	...	१	१०	७	१२७
तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद	...	४	८	२	३९४
तꣳ हꣳस उपनिपत्याभ्युवाद	...	४	७	२	३९२
तꣳ ह चिरं वसेत्याज्ञा०	...	५	३	७	४७९
तꣳ ह प्रवाहणः	...	१	८	८	११५
तꣳ ह शिलकः	...	१	८	६	११२
तꣳहाङ्गिरा उद्गीथम्	...	१	२	१०	५९
तꣳ हाभ्युवाद रैक्वेदम्	...	४	२	४	३६६
तꣳहैतमतिधन्वा	...	१	९	३	११९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
तꣳहोवाच किंगोत्रः	४	४	४	३८२
तꣳहोवाच नैतदब्राह्मणः	४	४	५	३८४
तꣳहोवाच यं वै	६	१२	२	६७७
तꣳहोवाच यथा सोम्य	६	७	५	६३६
तꣳहोवाच यथा सोम्य	६	७	३	६३५
त इमे सत्याः कामाः	८	३	१	८२६
त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा	६	९	३	६६५
त एतदेव रूपमभि०	३	६	२	२५९
,, ,,	३	७	२	२६२
,, ,,	३	८	२	२६४
,, ,,	३	९	२	२६८
,, ,,	३	१०	२	२७०
तत्रोद्गातॄनास्तावे	१	१०	८	१२८
तथामुष्मिँल्लोके	१	९	४	१२०
तथेति ह समुपविविशुः	१	८	२	१०८
तदुताप्याहुः साम्नैनमुपा०	२	१	२	१५१
तदु ह जानश्रुतिः	४	१	५	३५९
,, ,,	४	२	१	३६३
तदु ह शौनकः कापेयः	४	३	७	३७४
तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म	३	१८	२	३३९
तदेतन्मिथुनमोमिति	१	१	६	३९
तदेष श्लोकः	८	६	६	८६३
तदेष श्लोको न पश्यः	७	२६	२	७९९
तदेष श्लोको यदा	५	२	८	४७०
तदेष श्लोको यानि	२	२१	३	२०६
तदैक्षत बहु स्याम्	६	२	३	५९५
तद्धैतत्सत्यकामः	५	२	३	४६३
तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः	३	१७	६	३३३
तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतये	३	११	४	२७५
,, ,,	८	१५	१	९४३
तद्धोभये देवासुराः	८	७	२	८६८
तद्य इत्थं विदुः	५	१०	१	५००

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
तद्य इह रमणीयचरणाः	५	१०	७	५२९
तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम्	८	४	३	८४०
तद्य एवैतावरं च	८	५	४	८४७
तद्यत्प्रथमममृतम्	३	६	१	२५७
तद्यत्रैतत्सुप्तः	८	६	३	८५७
,, ,,	८	११	१	९०१
तद्यथा महापथ आततः	८	६	२	८५६
तद्यथा लवणेन	४	१७	७	४३८
तद्यथेषीकातूलमग्नौ	५	२४	३	५७०
तद्यथेह कर्मजितो लोकः	८	१	६	८१९
तद्यृक्तो रिष्येद्भूः	४	१७	४	४३५
तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्	५	१९	१	५६३
तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी	३	१९	२	३४७
तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि	१	१	८	४१
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्	३	१	४	२४७
,, ,,	३	२	३	२५०
,, ,,	३	३	३	२५१
,, ,,	३	४	३	२५२
,, ,,	३	५	३	२५४
तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम	४	६	२	३८९
तमु ह परः प्रत्युवाच	४	१	३	३५६
तमु ह परः प्रत्युवाचाह	४	२	३	३६४
तयोरन्यतरां मनसा	४	१६	२	४३०
तस्मा आदित्याश्च	२	२४	१६	२४१
तस्मा उ ह ददुस्ते	४	३	८	३७६
तस्मादप्यद्येहाददान०	८	८	५	८८५
तस्मादाहुः सोष्यति	३	१७	५	३३२
तस्मादु हैवंविद्यद्यपि	५	२४	४	५७१
तस्माद्वा एतꣳ सेतुम्	८	४	२	८३९
तस्मिन्निमानि सर्वाणि	२	९	२	१७४
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ	५	४	२	४८४
,, ,,	५	५	२	४८८

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ	...	५	६	२	४९०
,, ,,	...	५	७	२	४९१
,, ,,	...	५	८	२	४९४
तस्मिन्यावत्संपातम	...	५	१०	५	५१४
तस्मै श्वा श्वेतः	...	१	१२	२	१४०
तस्य क मूलꣳस्याद्	...	६	८	४	६५१
,, ,,	...	६	८	६	६५६
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम	...	३	१५	२	३१८
तस्य यथा कप्यासम्	...	१	६	७	९४
तस्य यथाभिनहनम्	...	६	१४	२	६८६
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः	...	३	१	२	२४४
तस्यर्क्च साम च गेष्णौ	...	१	६	८	९६
तस्य ह वा एतस्य	...	३	१३	१	२८९
तस्य ह वा एतस्यात्मनः	...	५	१८	२	५६१
तस्य ह वा एतस्यैवम्	...	७	२६	१	७९८
तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्	...	४	२	५	३६६
तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतत्	...	३	१३	८	३००
त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रयः	...	२	२१	१	२०४
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञः	...	२	२३	१	२१४
त्रयो होद्गीथे	...	१	८	१	१०६
ता आप ऐक्षन्त	...	६	२	४	५२२
तानि वा एतानि यजूꣳष्येतम्	...	३	२	२	२४९
तानि वा एतानि सामानि	...	३	३	२	२५१
तानि ह वा एतानि	...	७	४	२	७२९
,, ,,	...	७	५	२	७३५
,, ,,	...	८	३	५	८३४
तानु तत्र मृत्युर्यथा	...	१	४	३	७९
तान्यभ्यतपत्तेभ्यः	...	२	२३	३	२३१
तान्होवाच प्रातर्वः	...	५	११	७	५४३
तान्होवाचाश्वपतिर्वै	...	५	११	४	५४०
तान्होवाचेहैव	...	१	१२	३	१४०
तान्होवाचैते वै खलु	...	५	१८	१	५५९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
तावानस्य महिमा	३	१२	६	२८४
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम्	६	३	३	६१०
,, ,,	६	३	४	६१२
तेजसः सोम्याश्यमानस्य	६	६	४	६३०
तेजो वावाद्भ्यो भूयः	७	११	१	७५५
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते	६	५	३	६२५
तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः	५	११	५	५४०
तेन तꣳह बकः	१	२	१३	६२
तेन तꣳह बृहस्पतिः	१	२	११	६१
तेन तꣳहायास्य	१	२	१२	६१
तेनेयं त्रयी विद्या	१	१	९	४२
तेनोभौ कुरुतो यश्चैतत्	१	१	१०	४४
ते यथा तत्र न विवेकम्	६	९	२	६६४
ते वा एते गुह्याः	३	५	२	२५४
ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरसः	३	४	२	२५२
ते वा एते पञ्च	३	१३	६	२९६
ते वा एते रसानाꣳरसाः	३	५	४	२५५
तेषां खल्वेषां भूतानाम्	६	३	१	६०४
ते ह प्राणाः प्रजापतिम्	५	१	७	४४७
ते ह नासिक्यम्	१	२	२	५०
ते ह यथैवेह	१	१२	४	१४१
ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालकः	५	११	२	५३८
ते होचुरुपकोसलैषा	४	१४	१	४१६
ते होचुर्येन हैवार्थेन	५	११	६	५४२
तौ वा एतौ द्वौ	४	३	४	३७२
तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि	८	७	३	८७०
तौ ह प्रजापतिरुवाच	८	७	४	८७१
,, ,,	८	८	२	८७८
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिः	८	८	४	८८३
तौ होचतुर्यथैवेद०	८	८	३	८८१
दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य	६	६	१	६२९
दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्	१	१३	४	१४७
,, ,,	२	८	३	१७२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
देवा वै मृत्योर्बिभ्यतः	१	४	२	७८
देवासुरा ह वै यत्र	१	२	१	४७
द्यौरेवर्गादित्यः	१	६	३	९१
द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः	१	३	७	७२
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः	७	६	१	७३८
नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः	१	६	४	९१
न वधेनास्य हन्यते	८	१०	२	८९५
,, ,,	८	१०	४	८९६
न वै तत्र न निम्लोच	३	११	२	२७३
न वै नूनं भगवन्तस्ते	६	१	७	५८०
न वै वाचो न चक्षूꣳषि	५	१	१५	४५३
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति	१	१०	४	१२४
न ह वा अस्मा उदेति	३	११	३	२७४
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्	२	४	२	१६२
नान्यस्मै कस्मैचन	३	११	६	२७६
नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः	७	१	४	७१८
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति	८	९	२	८८९
निधनमिति त्र्यक्षरम्	२	१०	४	१८४
नैवैतेन सुरभि न	१	२	९	५८
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदम्	६	१२	१	६७६
पञ्च मा राजन्यबन्धुः	५	३	५	४७६
परोवरीयो हास्य भवति	२	७	२	१६८
पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः	५	५	१	४८७
पशुषु पञ्चविधम्	२	६	१	१६५
पुरा तृतीयसवनस्योपा०	२	२४	११	२३९
पुरा प्रातरनुवाकस्योपा०	२	२४	३	२३५
पुरा माध्यन्दिनस्य	२	२४	७	२३८
पुरुषꣳसोम्योत	६	१६	१	६९८
पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनम्	६	१५	१	६९४
पुरुषो वाव गौतमाग्निः	५	७	१	४९१
पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य	३	१६	१	३२३
पृथिवी वाव गौतमाग्निः	५	६	१	४८९

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षम्	२	१७	१	१९८
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्	२	२३	२	२३०
,, ,,	४	१७	१	४३४
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथः	५	१३	२	५५०
प्रस्तोतर्या देवता	१	१०	९	१२८
प्राचीनशाल औपमन्यवः	५	११	१	५३६
प्राण इति होवाच	१	११	५	१३३
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः	३	१८	४	३४२
प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति	५	१९	२	५६४
प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः	२	७	१	१६७
प्राणो वा आशायाः	७	१५	१	७६७
प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि	७	१५	४	७७२
प्राप हाचार्यकुलम्	४	९	१	३९७
बलं वाव विज्ञानाद्भूयः	७	८	१	७४५
ब्रह्मणः सोम्य ते पादम्	४	६	३	३९०
,, ,,	४	७	३	३९२
,, ,,	४	८	३	३९५
ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति	४	५	२	३८७
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	२	२४	१	२३३
ब्रह्मविदिव वै सोम्य	४	९	२	३९७
भगव इति ह प्रतिशुश्राव	४	१४	२	४१७
भगवाँस्त्वेव मे	१	११	३	१३२
भवन्ति हास्य पशवः	२	६	२	१६६
मघवन्मर्त्यं वा इदम्	८	१२	१	९०६
मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या	१	१०	१	१२२
मद्गुष्टे पादं वक्तेति	४	८	१	३९४
मनो ब्रह्मेत्युपासीत	३	१८	१	३३८
मनोमयः प्राणशरीरः	३	१४	२	३०६
मनो वाव वाचो भूयः	७	३	१	७२४
मनो हिङ्कारो वाक्	२	११	१	१८७
मनो होच्चक्राम	५	१	११	४५०
मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्	४	१७	१९	४४०

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
मासेभ्यः पितृलोकम्	५	१०	४	५११
मासेभ्यः संवत्सरम्	५	१०	२	५००
यं यमन्तमभिकामः	८	२	१०	८२४
य आत्मापहतपाप्मा	८	७	१	८६६
य एते ब्रह्मलोके	८	१२	६	९३५
य एष स्वप्ने महीयमानः	८	१०	१	८९४
य एषोऽक्षिणि पुरुषः	४	१५	१	४२०
यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपम्	६	४	३	६१५
यत्र नान्यत्पश्यति	७	२४	१	७८६
यथा कृतायविजितायाधरेयाः	४	१	४	३५७
,, ,,	४	१	६	३५९
यथा विलीनमेवाङ्ग	६	१३	२	६८१
यथा सोम्य पुरुषम्	६	१४	१	६८५
यथा सोम्य मधु मधुकृतः	६	९	१	६६३
यथा सोम्यैकेन	६	१	४	५७७
यथा सोम्यैकेन नख०	६	१	६	५७९
यथा सोम्यैकेन लोह०	६	१	५	५७९
यथेह क्षुधिता बाला मातरम्	५	२४	५	५७२
यदग्ने रोहितꣳरूपम्	६	४	१	६१३
यदादित्यस्य रोहितम्	६	४	२	६१५
यदाप उच्छुष्यन्ति	४	३	२	३७०
यदा वा ऋचमाप्नोति	१	४	४	८०
यदा वै करोत्यथ	७	२१	१	७८२
यदा वै निस्तिष्ठत्यथ	७	२०	१	७८१
यदा वै मनुतेऽथ	७	१८	१	७७९
यदा वै विजानात्यथ	७	१७	१	७७६
यदा वै श्रद्दधात्यथ	७	१९	१	७८०
यदा वै सुखं लभतेऽथ	७	२२	१	७८३
यदुदिति स उद्गीथः	२	८	२	१७१
यदु रोहितमिवाभूदिति	६	४	६	६२१
यद्विज्ञातमिवाभूत्	६	४	७	६२१
यद्विद्युतो रोहितꣳरूपम्	६	४	४	६१६

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदम्	...	३	१२	४	२८२
यद्वै तद्ब्रह्मेतीदम्	...	३	१२	७	२८५
यस्तद्वेद स वेद	...	२	२१	४	२०६
यस्यामृचि तामृचम्	...	१	३	९	७४
यां दिशमभिष्टोष्यन्	...	१	३	११	७५
या वाक्सर्क्स्मात्	...	१	३	४	६९
यावान्वा अयमाकाशः	...	८	१	३	८०९
या वै सा गायत्रीयम्	...	३	१२	२	२८०
या वै सा पृथिवीयम्	...	३	१२	३	२८१
येनच्छन्दसा	...	१	३	१०	७५
येनाश्रुतꣳश्रुतम्	...	६	१	३	५७६
यो वै भूमा तत्सुखम्	...	७	२३	१	७८५
योषा वाव गौतमाग्निः	...	५	८	१	४९३
यो ह वा आयतनम्	...	५	१	५	४४५
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च	...	५	१	१	४४३
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	...	५	१	३	४४४
यो ह वै वसिष्ठं वेद	...	५	१	२	४४४
यो ह वै सम्पदं वेद	...	५	१	४	४४५
रैक्वेमानि षट्शतानि	...	४	२	२	३६३
लवणमेतदुदकेऽवधायाथ	...	६	१३	१	६८०
लो ३ कद्वारमपावा ३र्णू	...	२	२४	४	२३६
,, ,,	...	२	२४	८	२३८
,, ,,	...	२	२४	१२	२४०
लोकेषु पञ्चविधꣳसामोपासीत	...	२	२	१	१५४
लोम हिङ्कारस्त्वक्प्रस्तावः	...	२	१९	१	२००
वसन्तो हिङ्कारः	...	२	१६	१	१९६
वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य	...	५	२	५	४६६
वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	...	३	१८	३	३४०
वागेवर्क्प्राणः	...	१	१	५	३७
वाग्वाव नाम्नो भूयसी	...	७	२	१	७२१
वायुर्वाव संवर्गो यदा	...	४	३	१	३६९
विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः	...	७	७	१	७४२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
विनर्दि साम्नो वृणे	२	२२	१	२०८
वृष्टौ पञ्चविधम्	२	३	१	१५९
वेत्थ यथासौ लोको न	५	३	३	४७४
वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः	५	३	२	४७३
व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति	५	२०	२	५६५
श्यामाच्छबलं प्रपद्ये	८	१३	१	९३७
श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः	४	९	३	३९८
श्रोत्रꣳ होच्चक्राम	५	१	१०	४४९
श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	३	१८	६	३४२
श्रोत्रमेवर्ङ्मनः	१	७	३	९९
श्वेतकेतुर्हारुणेयः	५	३	१	४७२
,, ,,	६	१	१	५७४
षोडशकलः सोम्य	६	७	१	६३३
संकल्पो वाव मनसः	७	४	१	७२७
स एतां त्रयीं विद्याम्	४	१७	३	४३५
स एतास्तिस्रो देवताः	४	१७	२	४३५
स एवाधस्तात्स उपरि०	७	२५	१	७९३
स एष परोवरीयानुद्गीथः	१	९	२	११८
स एष ये चैतस्मात्	१	७	६	१०३
स एष रसानाꣳ रसतमः	१	१	३	३४
स जातो यावदायुषम्	५	९	२	४९८
सत्यकामो ह जाबालः	४	४	१	३८०
सदेव सोम्येदमग्ने	६	२	१	५८२
स ब्रूयान्नास्य जरयैतत्	८	१	५	८१३
समस्तस्य खलु	२	१	१	१४९
समान उ एवायं चासौ	१	३	२	६६
समाने तृप्यति मनस्तृप्यति	५	२२	२	५६७
स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते	७	१२	२	७६०
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते	७	१४	२	७६५
स य इदमविद्वानग्निहोत्रम्	५	२४	१	५६९
स य एतदेवं विद्वानक्षरम्	१	४	५	८१
स य एतदेवं विद्वान्	२	१	४	१५२

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
स य एतदेवममृतं वेद	३	६	३	२५९
,, ,,	३	७	३	२६२
,, ,,	३	८	३	२६४
,, ,,	३	९	३	२६८
,, ,,	३	१०	३	२७०
स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलम्	४	५	३	३८८
,, ,,	४	६	४	३९१
,, ,,	४	७	४	३९३
,, ,,	४	८	४	३९५
स य एतमेवं विद्वानादित्यम्	३	१९	४	३५०
स य एतमेवं विद्वानुपास्ते	४	११	२	४१०
,, ,,	४	१२	२	४१२
,, ,,	४	१३	२	४१४
स य एवमेतत्साम	२	२१	२	२०५
स य एवमेतद्बृहदादित्ये	२	१४	२	१९३
स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु	२	१९	२	२००
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ	२	१२	२	१९०
स य एवमेतद्गायत्रम्	२	११	२	१८८
स य एवमेतद्राजनं देवतासु	२	२०	२	२०२
स य एवमेतद्वामदेव्यम्	२	१३	२	१९१
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	२	१६	२	१९६
स य एवमेतद्वैरूपम्	२	१५	२	१९५
स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु	२	१७	२	१९८
स य एवमेता रेवत्यः	२	१८	२	१९९
स य एषोऽणिमैतदात्म्यम्	६	८	७	६६१
,, ,,	६	९	४	६६६
,, ,,	६	१०	३	६६९
,, ,,	६	१२	३	६७९
,, ,,	६	१३	३	६८४
,, ,,	६	१४	३	६९३
,, ,,	६	१५	३	६९६
स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते	७	४	३	७३२

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	१३	२	७६३
स यथा तत्र	···	६	१६	३	७०१
स यथा शकुनिः सूत्रेण	···	६	८	२	६४६
स यथोभयपाद्व्रजन्रथः	···	४	१६	५	४३२
स यदवोचं प्राणम्	···	३	१५	४	३२०
स यदशिशिषति	···	३	१७	१	३३०
स यदि पितरं वा मातरम्	···	७	१५	२	७७०
स यदि पितृलोककामः	···	८	२	१	८२१
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	५	३	७३६
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	११	२	७५७
स यावदादित्य उत्तरतः	···	३	१०	४	२७१
स यावदादित्यः	···	३	६	४	२६०
स यावदादित्यः पश्चात्	···	३	९	४	२६९
स यावदादित्यः पुरस्तात्	···	३	७	४	२६३
स यावदादित्यो दक्षिणतः	···	३	८	४	२६४
स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	६	२	७४१
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	१	५	७१९
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	९	२	७५१
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	१०	२	७५३
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	८	२	७४७
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	३	२	७२६
स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	२	२	७२३
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	···	७	७	२	७४३
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	···	३	१४	१	३०३
सर्वकर्मा सर्वकामः	···	३	१४	४	३१२
सर्वास्वप्सु पञ्चविधम्	···	२	४	१	१६१
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः	···	२	२२	३	२१०
सर्वे स्वरा घोषवन्तः	···	२	२२	५	२१२
स वा एष आत्मा हृदि	···	८	३	३	८२९
स समित्पाणिः पुनरेयाय	···	८	१०	३	८९५
,, ,,	···	८	११	२	९०३

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	खं०	मं०	पृ०
स ह क्षत्तान्विष्य	४	१	७	३६१
स ह खादित्वातिशेषान्	१	१०	५	१२६
स ह गौतमो राज्ञः	५	३	६	४७७
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य	६	१	२	५७५
स ह पञ्चदशाहानि	६	७	२	६३४
स ह प्रातः संजिहानः	१	१०	६	१२६
स ह व्याधिनानशितुम्	४	१०	३	४०२
स ह शिलकः	१	८	३	१०९
स ह सम्पादयाञ्चकार	५	११	३	५३९
स ह हारिद्रुमतं गौतमम्	४	४	३	३८२
स हाशाथ हैनमुपससाद	६	७	४	६३६
स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तम्	१	१०	२	१२३
स होवाच किं मेऽन्नम्	५	२	१	४५८
स होवाच किं मे वासः	५	२	२	४६०
स होवाच भगवन्तं वा	१	११	२	१३१
स होवाच महात्मनः	४	३	६	३७३
स होवाच विजानाम्यहम्	४	१०	५	४०४
सा ह वागुच्चक्राम	५	१	८	४४८
सा हैनमुवाच नाहम्	४	४	२	३८१
सेयं देवतैक्षत	६	३	२	६०६
सैषा चतुष्पदा षड्विधा	३	१२	५	२८३
सोऽधस्ताच्छकटस्य	४	१	८	३६१
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि	७	१	३	७१४
स्तेनो हिरण्यस्य सुराम्	५	१०	९	५३४
स्मरो वावाकाशाद्भूयः	७	१३	१	७६१
हꣳसस्ते पादं वक्तेति	४	७	१	३९२
हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति	१	८	७	११४

मिलनेका पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)